जीवनादर्श
एवं
आत्मानुभूति

"आत्मने मोक्षार्थ जगत् हिताय च"

श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

प्राप्तिवाले महापुरूष का समग्र जीवन एक धार्मिक आचार–संहिता हुआ करता है, जिसे देखने से साधकों को बड़ा सहारा मिलता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर पूज्य गुरुदेव जी के जीवन में घटित घटनाओं का वर्णन निष्पक्षता के आलोक में इस उद्देश्य से किया गया है कि सनातन एवं मूल सत्य की प्राप्ति के लिए महाराज जी की विद्या को लिखा जाय जिससे प्रयासरत साधकों को दिशा–निर्देश मिल सके।

–स्वामी अड़गड़ानन्द

6.2 V2

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय।।

जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति

संकलनकर्ता एवं व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंसजी महाराज का कृपा–प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम
शक्तेषगढ़, चुनार–मिर्जापुर (उ० प्र०)
फोन–(05443) 238040

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

२९ए, पहला महला, डॉ. आत्माराम रांगणेकर मार्ग,
ब्रज मंडल हॉल के उपर, गिरगाँव चौपाटी, मुम्बई - ४०० ००७

प्रकाशक
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
२९ए, पहला महला, डॉ. आत्माराम रांगणेकर मार्ग,
ब्रज मंडल हॉल के उपर, गिरगाँव चौपाटी, मुम्बई - ४०० ००७
फोन - (०२२) ६६५५५३००
फैक्स - (०९१-२२) २३६४३१०९
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com
वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

© लेखक

संस्करण– सन् 1994 से जुलाई सन् 2011 तक 40,500 प्रतियाँ
पुनः संस्करण जुन सन् 2012 – 3,000 प्रतियाँ
पुनः संस्करण दिसंबर सन् 2012 – 10,000 प्रतियाँ

मूल्य : रुपये 350/- मात्र

मुद्रक :
जॅक प्रिंटर्स प्रा. लि.
जॅक कंपाऊंड,
दादोजी कोंडदेव क्रॉस लेन,
भायखळा (पूर्व)
मुंबई - ४०० ०२७, भारत
फोन नं. (००९१-२२) २३७७ २२२२
ई-मेल - mail@jakprinters.com

ISBN 81-89308-14-9

अनन्तश्री विभूषित,
योगिराज, युग पितामह
परमपूज्य **स्वामी श्री परमानन्दजी**
श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया (चित्रकूट)
के
परम पावन चरणों में सादर समर्पित
अन्तस्प्रेरणा

परमानन्द

अनन्तश्री विभूषित, योगिराज, युग पितामह
परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्दजी
के हस्ताक्षर

स्वामी श्री परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६८ (१९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई.

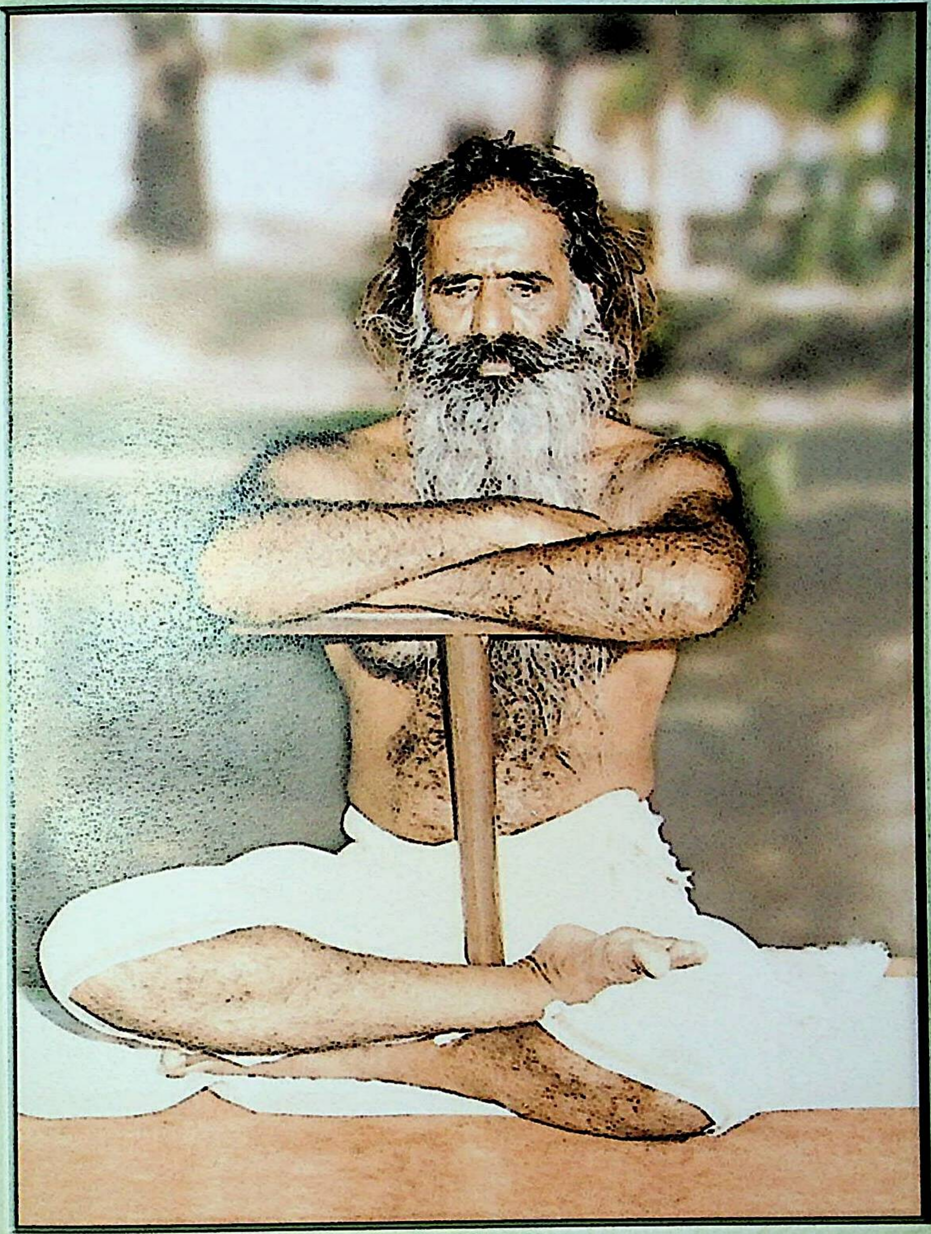

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

SHRI SWAMI ADGADANANDJI MAHARAJ

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमरं शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।
सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुखराशी, सदा एकरस निर्विकारी।।
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।
चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।
हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

"सद्गुरु की शरण में जाओ, सम्पूर्ण योग की कुंजी मिलेगी।"

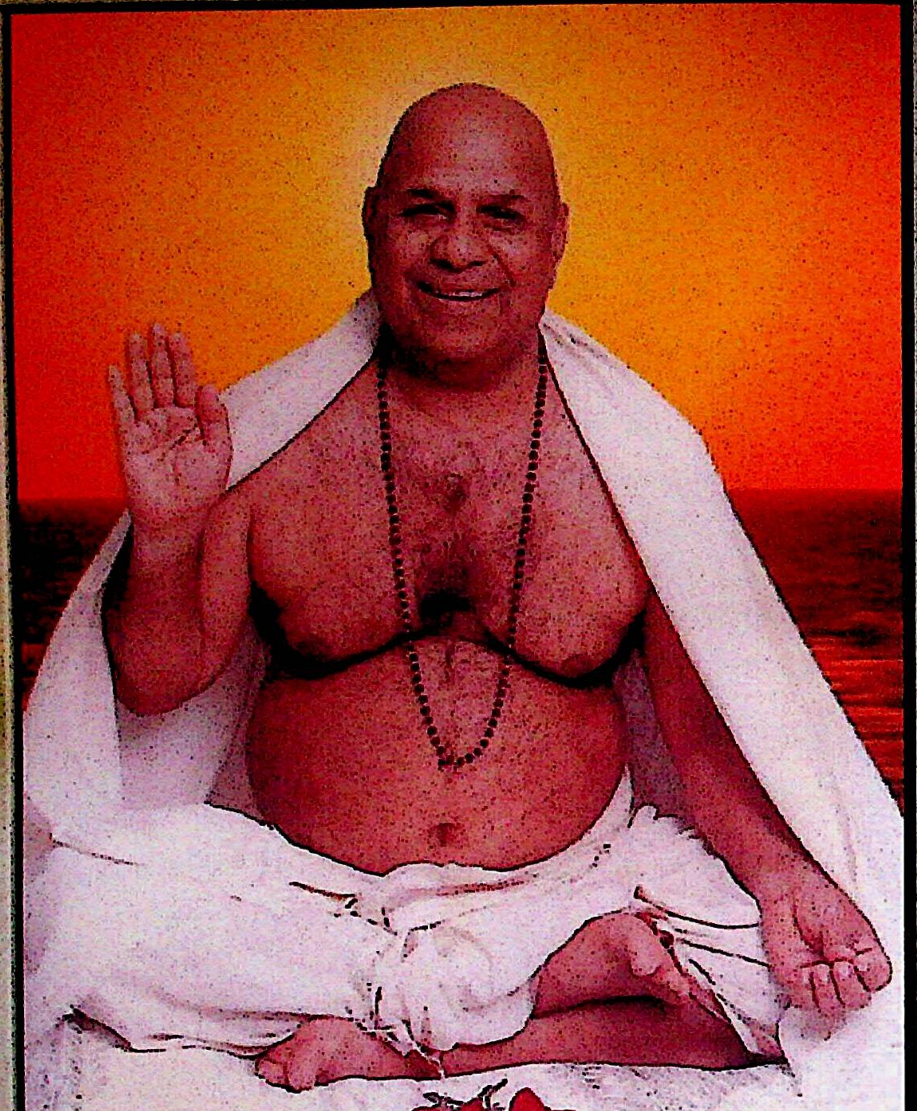

श्री गुरुदेव भगवान के शिष्यों में प्रथम स्थितप्रज्ञ विभूति
स्वामी श्रीसच्चिदानन्द जी महाराज
श्री परमहंस आश्रम, धारकुण्डी, सतना – मध्यप्रदेश

"सद्गुरु की आज्ञा-पालन ही सच्ची साधना है।"

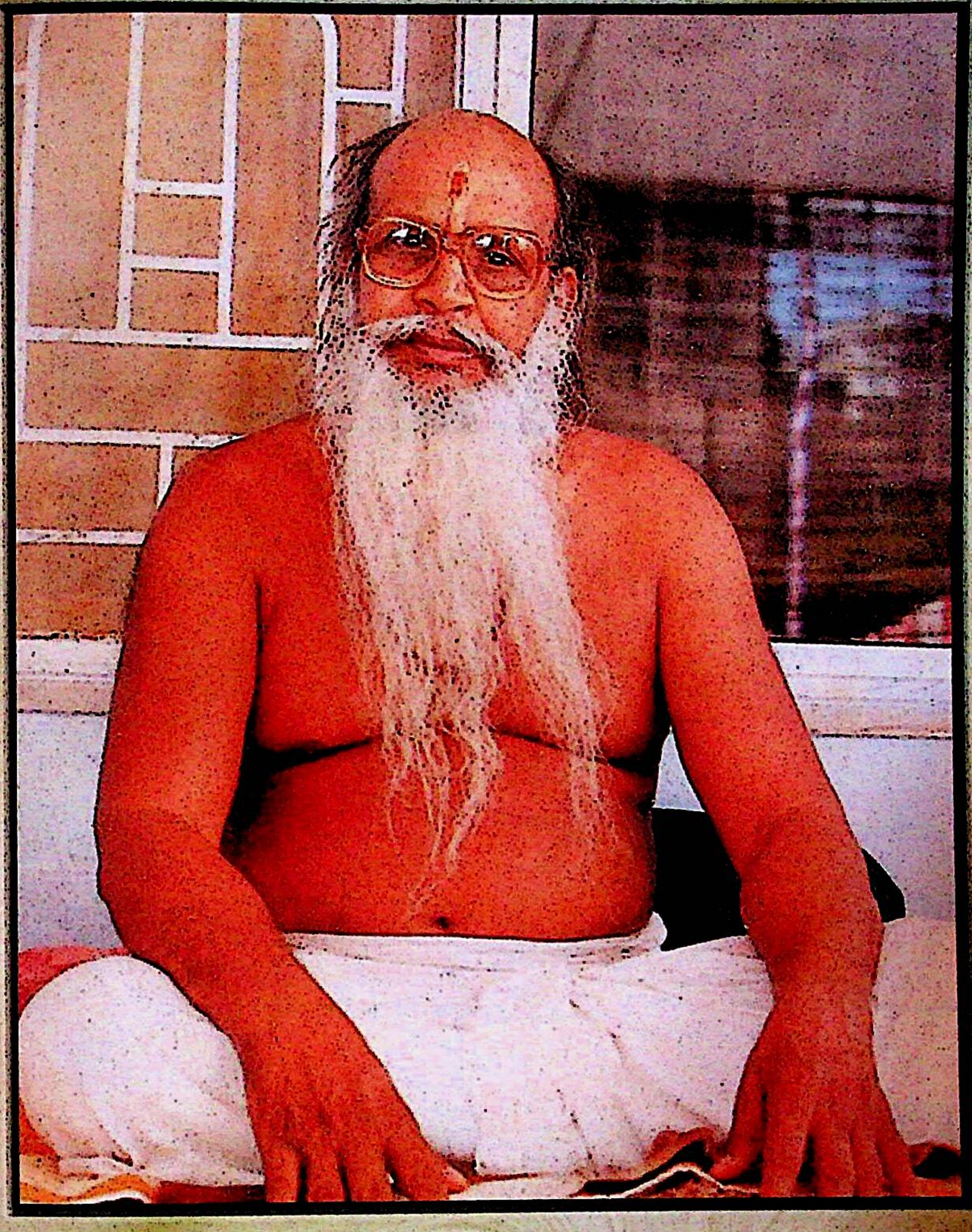

श्री गुरुदेव भगवान के शिष्यों में द्वितीय स्थितप्रज्ञ विभूति

स्वामी श्री भगवानानन्दजी महाराज

श्री परमहंस आश्रम, अनुसुइया, सतना - मध्यप्रदेश

महाप्रयाण : १२ अक्टूबर २००८ ई.

हमारे प्रकाशन

यथार्थ गीता -

'यथार्थ गीता' में
श्रीकृष्ण की वाणी के
आशय को भली प्रकार
यथावत् समझाया है।
यह एक कालजयी कृति है।

२८ भाषाओं में

अंग क्यों फड़कते हैं और क्या कहते हैं? -

मानव शरीर के विभिन्न हिस्सों में
होने वाले स्पन्दनों का कारण और
उसके संकेतों का विश्लेषण किया गया है
जो कि साधना में काफी सहायक है।

४ भाषाओं में

जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति -

पूज्य गुरु परमहंस
स्वामी श्रीपरमानन्दजी महाराज
के जीवन के वृत्तान्त, उनकी
अनुभूतियों एवं उपदेशों को
संकलित किया है। साधकों के लिए
यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है।

४ भाषाओं में

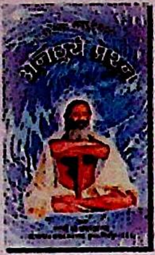

अनछुए प्रश्न -

वर्ण, मूर्तिपूजा, ध्यान, हठ, चक्र-भेदन
और योग जैसे विषयों को स्पष्ट कर
भ्रमित समाज का मार्गदर्शन किया गया है।

३ भाषाओं में

शंका समाधान -

समाज में प्रचलित सभी कुरीति,
रूढ़ि, आडम्बर और अन्धविश्वासों
का शमन एवं समाधान किया है।

५ भाषाओं में

एकलव्य का अंगूठा -

शिक्षा-गुरु और सद्गुरु में अन्तर
बतलाया गया है। शिक्षक, लोकजीवन
की कला सिखाते हैं जबकि
सद्गुरु जीवन में समृद्धि के साथ
परमश्रेय की जागृति और उस परमपद
की प्राप्ति कराते हैं जिससे पुरुष
आवागमन से मुक्त हो जाता है।

३ भाषाओं में

भजन किसका करें?-

लोग गाय, पीपल, देवी-देवताओं,
भूत-भवानी की पूजा, धर्म के नाम पर
कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी
भ्रान्तियों का निवारण करते हुए स्पष्ट
किया गया है कि सनातन धर्म क्या है?
इष्ट कौन है?
भजन किसका करें व कैसे करें?

६ भाषाओं में

षोडशोपचार
पूजन
पद्धति

षोडशोपचार पूजन पद्धति -

इस पुस्तक में यह बताया गया है कि
एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर कराकर,
उस एक परमात्मा का चिन्तन सिखाना ही
कर्मकाण्ड है।

३ भाषाओं में

पुनर्जन्म

बौद्धिक स्तर पर यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। मनुष्य जन्मा, जीवन-यापन किया; शरीर छूटा, चला भी गया; कुछ समझ ही नहीं पाया कि पुनर्जन्म है या नहीं। किन्तु योगाभ्यास की एक निश्चित ऊँचाई से मनुष्य जब गुजरता है तो उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि पुनर्जन्म है? मैं क्या था? आगे कहाँ जाना है?

हृदय

शरीर में हृदय कहाँ है जिसमें परमात्मा का निवास है? हृदय का परिचय तथा परमात्मा को जानने की सम्पूर्ण विधि पर प्रकाश डाला गया है। क्रमोन्नत तीन शरीर हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। क्रमशः कारण शरीर के अन्तिम स्तर पर साधन पहुँचता है, जहाँ ईश्वर का निवास है। यह पुस्तिका इन्हीं प्रश्नों का पूर्ण परिचय देती है।

हिन्दी भाषा में

मैं कौन हूँ?

जन्म से ही नाना प्रकार के सम्बन्धों में भ्रम हो जाता है कि मैं कौन हूँ? यह जिज्ञासा यौगिक है। 'वासांसि जीर्णानि.......'- शरीर एक वस्त्र है। यह शरीर छूटा, दूसरा मिला। तामस गुण के कार्यकाल में मृत्यु को प्राप्त हुआ पुरुष पशु, कीट-पतंग इत्यादि अधम योनि प्राप्त करता है। राजसी गुण के कार्यकाल में यह मनुष्य तन पाता है। सात्त्विक गुण के कार्यकाल में देव इत्यादि उन्नत योनि पाता है- हर हालत में योनि पाता है। अतः यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों है कि मैं कौन हूँ? वास्तव में जब द्रष्टा यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है तो यही आपका वास्तविक स्वरूप है।

हिन्दी भाषा में

हमारे प्रकाशन

योगशास्त्रीय प्राणायाम –
योगशास्त्रीय प्राणायाम में आपने बताया है कि यम, नियम और आसन के सधते ही श्वास-प्रश्वास का शान्त प्रवाहित होना ही प्राणायाम है। अलग से प्राणायाम नाम की कोई क्रिया नहीं है। यह योग चिन्तन की एक अवस्था है। इसी का समाधान इस पुस्तक में किया गया है।

३ भाषाओं में

बारहमासी –
अपने पूज्य गुरु श्रीपरमानन्द जी महाराज को आकाशवाणी से प्राप्त भजन (ईश्वरीय गायन) बारहमासी का संकलन एवं उसकी व्याख्या की है। इसमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक लक्ष्य की ओर बढ़ने का पथप्रदर्शन किया गया है।

हिन्दी भाषा में

योगदर्शन-
प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या –
महर्षि पतञ्जलिकृत इस पुस्तक में बताया गया है कि 'योग' प्रत्यक्ष दर्शन है यह लिखने या कहने में नहीं आता। क्रियात्मक चलकर ही साधक समझ पाता है कि जो कुछ महर्षि ने लिखा है उसका वास्तविक आशय क्या है? साधनोपयोगी पुस्तक है।

४ भाषाओं में

Glories of Yog

ग्लोरिस आफ योग –
हठ, चक्र, भेदन और योग, प्राणायाम, ध्यान के बारे में पूर्ण परिचय,

अंग्रेजी भाषा में

प्रश्न समाज के-
उत्तर गीता से –
इस पुस्तिका में सामाजिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक कैसे भी प्रश्न हों, उनका गीता के आलोक में समाधान किया गया है।

हिन्दी भाषा में

अहिंसा का स्वरुप –
अहिंसा एक उलझा हुआ प्रश्न है। मूलतः यह यौगिक, आन्तरिक साधना का शब्द है। इस पुस्तक में हम पायेंगे कि हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अहिंसा को किस संदर्भ में लिया है।

४ भाषाओं में

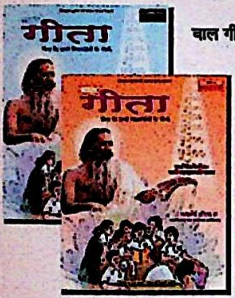

बाल गीता-

यह पुस्तिका बालक के निर्मल मन में एक परमात्मा के प्रति पूर्ण आकर्षण पैदा कर समाज एवं साधना के क्षेत्र में सहज प्रवेश के लिए उपयोगी है। इसमें समर्पण का पाठ्यक्रम अंकित है जिससे बच्चों में धर्म-सन्देश का बीजारोपण, संस्कार पड़ेंगे। वे इस राह पर चलेंगे और अपने ही भगवत्-स्वरूप को प्राप्त कर लेंगे।

३ भाषाओं में

भजन से लाभ (नवयुवकों की जिज्ञासाएँ) –
इस पुस्तिका में नवयुवकों के अनेक प्रश्नों का संक्षेप में समाधान करते हुए भजन की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। यदि एक परमात्मा में मानसिक स्तर से लगते बन गया तो उन प्रभु के संरक्षण में साधना चलती रहेगी, बाह्य कार्यों में भी मदद मिलेगी और आवागमन से मुक्ति तो मिलना ही है क्योंकि ईश्वर-पथ में आरम्भ का नाश नहीं होता।

हिन्दी भाषा में

MP3 ऑडियो सिडिज्

६ भाषाओं में

श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से निःसृत
अमृतवाणियों का संकलन वाल्यूम १ से ६० तक।

हिन्दी भाषा में

अनुक्रमणिका

विषय पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन झ-ञ

प्रथम उच्छ्वास

जीवन-परिचय ३
बाल्यकाल की विलक्षण घटना ३
शालेय शिक्षा ४
व्यायाम की प्रेरणा ४
परिणय-सूत्र ४
आकाशवाणी एवं सन्त-मिलन ४
सन्त से प्राप्त आशीर्वाद ५
वृद्धा द्वारा तरुणी का सन्देश ६
सद्गुरु दर्शन ७
भजन की शुरुआत ७
लंगडू बाबा ८
सद्गुरु के परकाया प्रवेश से मन का रुकना ८
साधना-क्रम ६
प्रभातफेरी १०
इष्ट की व्यापकता में विश्वास ११
भजन परीक्षा की कसौटी पर १२
धर्मपत्नी को उपदेश १२
नल पर गुरुदेव का स्नान और चेतावनी १३
गृह में भंयकर उत्पात १४
क्षणासक्ति पर इष्ट-आदेश १५
प्रयाग की घटना १६
प्रयाग कुम्भ के मेले में १७
परिभ्रमण काल में जौनपुर १८
जौनपुर का कब्रिस्तान १६
विचरणकाल में निस्पृह आकाशवृत्ति २०
कर्मनाशा के किनारे देवी-मन्दिर में २१
शिशिरकाल में दिगम्बरावस्था २२

विषय	पृष्ठ संख्या
रामनगर में भक्तों के बीच	२३
फकीर के साथ भोजन	२४
यमुना किनारे माताओं का भजन	२५
आगरा नगर विचरण-पथ पर	२५
कंचन-कामिनी से निवृत्ति	२६
कुपात्र को दान	२७
उज्जैन के कुम्भ पर्व पर	२८
हिमालय की उपत्यका में	३०
इष्ट की आज्ञा का महत्त्व	३१
मधवापुर ग्राम्यांचल में चातुर्मास्य	३२
पुनर्जन्म	३५
बिल्व फलों की रक्षा	३६
मरणासन्न को जीवनदान	३६
भविष्यद्रष्टा महाराजजी	३७
सन्तकृपा से परमार्थ-पथ	३७
कण्ठमाला	३८
जनकोलाहल के बीच ध्यानस्थ	३९
नारियल खाने की इच्छा	४०
दूधभिक्षा में मछली	४१
जंगल में सहायता	४१
जन्मभूमि की ओर	४१
जम्मू से चित्रकूट प्रस्थान	४२
ज्योतिषी पर कृपा	४३
यात्रा-पथ पर काशी एवं प्रयाग (हठयोग)	४४
देहाध्यास	४५
कर्बी स्टेशन पर विचित्र स्वप्न	४८
चित्रकूट में महाराजजी	४९
अनुसुइया की ओर	४९
द्रौपदीबाई	५०
सिद्धबाबा का करामाती तख्त	५१
भोजन के लिए आदेश	५२

विषय	पृष्ठ संख्या
अनुसुइया में आरम्भिक कुछ दिन	५३
हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं के बीच	५४
कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन	५५
मलेरिया का प्रकोप	५७
अनुपान में दूध का विधान	५७
महर्षि अत्रि की विद्यमानता	५९
रामलखनदासजी का आगमन	६०
द्रौपदीबाई का षड्यन्त्र	६१
शास्त्रार्थ में विजय	६३
हाथ में फोड़ा	६४
अनुसुइया के सिद्धबाबा	६५
पापग्रह का अन्त	६५
सिद्धबाबा का तख्त और महात्मा	६७
साम्प्रदायिकता का शमन	६७
आकाशवृत्ति से आश्रमीय व्यवस्था	६९
जातिगत मोह	७२
अनुसुइया आश्रम के पूर्व ब्रह्मचारीजी	७४
ब्रह्मचारीजी शिष्य के रूप में	७५
भविष्यद्रष्टा सन्त	७५
पशु-पक्षियों के प्रति समत्वभाव	७७
सतयुग के महात्मा	७८
अनुसुइया का जंगल	८०
पुलिस अधीक्षक आश्रम में	८२
आसामी पण्डित तीर्थयात्रा पर	८२
ज्वर से निवृत्ति	८३
दर्शन की छात्रा सत्य की खोज में	८४
निर्मलदासजी का दुराग्रह	८८
चरखारी के पुरोहित	९१
आश्रम में डा. रामकुमार वर्मा	९२
शिष्यों की नियुक्ति	९७
एक शिष्य (अखण्डानन्दजी) का प्रवेश	१००

विषय	पृष्ठ संख्या
श्रीभगवानानन्दजी का प्रवेश	१०१
स्वयमानन्दजी का आगमन	१०४
स्वामी शिवानन्दजी	१०४
बग्गड़ बाबा	१०५
सिकटियापुरवा के भक्त	१०६
मेरा प्रवेश	१०७
आश्रमीय चर्या	११०
गुरु महाराज की छड़ी एवं स्पर्श	१११
कामरूप कमच्छा का पंडा	११२
शठे शाठ्यं समाचरेत	११४
होनी-परिवर्तन	११५
आशीर्वाद से रोगमुक्ति	११६
गोपीपुर के प्रधानजी	११६
गुरु पूर्णिमा की घटना	११८
मृतप्राय को जीवनदान	११८
शीतल पंडित	११९
शेर का बच्चा	१२२
श्री स्वरूपदासजी	१२३
सिद्धबाबा का उद्धार	१२४
निवृत्ति का स्वरूप	१२५
सेवा में प्रवृत्त लक्ष्मी-दर्शन	१२६
नेहरूजी का राजतिलक	१२७
श्री ब्रह्मचारीजी एवं करपात्रीजी के बीच वार्ता	१२८
सेवा से भजन की जागृति	१२९
परगनाधीश चतुर्वेदीजी सेवा में	१३०
आश्रम का प्रथम निर्माण	१३१
मेरा नामकरण	१३२
चित्रकूट में पूर्ण स्थिति के महात्मा	१३४
रामानन्दजी का समर्पण	१३४
दूधभिक्षा	१३४
साधकों की देखरेख	१३४

विषय	पृष्ठ संख्या
अतीन्द्रिय ग्राह्यता	१३५
ब्रह्मचारी बन्दर	१३६
गीता-आपूर्ति	१३८
साधकों का वैराग्य	१३८
साधकों का योगक्षेम	१४१
धारकुण्डी जाने का निर्देश	१४२
पशु-पक्षियों को मानव-तन की प्राप्ति	१४३
तहसीलदार स्वामी	१४६
रामनगर की रामलीला	१४८
जंगल में रेडियो	१४६
दान में दान	१५०
गाछी-बाछी-दासी	१५१
ईश्वर-पथ में नकल नहीं	१५२
महाराजजी द्वारा भण्डारा	१५४
महाप्रयाण की बेला	१५६
बारहमासी (पूज्य श्री परमहंसजी की वाणी एवं उपदेश)	१६१

द्वितीय उच्छ्वास

सदुपदेशों की झलकियाँ

भगवत्-पथ में सम्प्रदाय-भेद क्यों?	१८८
परहित क्या है?	१८८
शाश्वत आत्मा का हित कैसा?	१८६
कल्याण का सरल उपाय क्या है?	१८६
क्या घर में भजन संभव नहीं है?	१६०
जब घर में निवृत्ति नहीं है तो रहना क्यों?	१६०
भजन की पराकाष्ठा क्या है?	१६१
क्या भगवान मिलते हैं?	१६१
क्या ब्रह्म शून्य है?	१६१
निशाचर का स्वरूप क्या है?	१६२
क्या गाँजा पीने से ध्यान में सहयोग मिलता है?	१६३
यथार्थतः सनातन-धर्म क्या है?	१६४

विषय **पृष्ठ संख्या**

अवध का स्वरूप (अवध तजे तनु नहिं संसारा।) १९७
मुक्तिदात्री सरयू कहाँ प्रवाहित होती है? श्वास-प्रश्वास की क्रिया क्या है? २०१
नर-तन का स्वरूप? २०४
कामधेनु एवं कल्पवृक्ष की स्थिति? २०६
क्या अध्यात्म में युद्ध अनिवार्य है? २०९
अमृत-वर्षा का प्रभाव निशाचरों पर क्यों नहीं पड़ा? २१२
“उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन”-किस स्थिति में भगवान प्रेरणा करते हैं एवं किस विडम्बना में माया? २१४
मानस का वास्तविक स्वरूप क्या है? २१५
वह कौन-सा सेतु है, जिसके दर्शन से मानव भव-पार होता है? २१६
जब जलचर सागर से बड़े थे तब रुके कहाँ? २२०
क्या बाह्य तीर्थों का कोई महत्त्व नहीं है? २२१
वह कौन-सा मंत्र था- “जाते लाग न क्षुधा पिपासा।” २२२
अवतार का वास्तविक स्वरूप? २२४
सगुण एवं निर्गुण उपासना क्या है? २२५
प्रातः एवं सन्ध्याकालीन वन्दना का महत्त्व? २२८
अवतरण-विधि- अवतार किस प्रकार होता है? २३०
राम का वास्तविक स्वरूप-राम का वास्तविक स्वरूप क्या है?
क्या राम की मूर्ति की पूजा निरर्थक है? २३७
मानस में नारी का स्वरूप- क्या गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में नारियों को हेयदृष्टि से देखा है? २५२
नारियों को समान अधिकार- नारियों के समान अधिकार क्या हैं? २६३
निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई। २६६
युग-धर्म? २७२
स्वार्थ- स्वार्थ के रहते परमार्थ कैसे होगा? २८१
शिक्षा और विद्या-विद्या क्या अनावश्यक है?
विद्या के पश्चात् क्या विवेक की आवश्यकता है?
क्या हृदय के भीतर का संकेत ही विद्या है? २८६
साइंस का भाषानुवाद ‘विज्ञान’-
प्राचीनकाल की अपेक्षा क्या आजकल विज्ञान प्रगति पर है? ३०३
गो-प्रकरण- क्या गो-रक्षा के लिए अवतार नहीं हुआ? ३१२

विषय	पृष्ठ संख्या
आर्य- आर्य किसे कहते हैं?	३१९
अवतार	३३०
साधक का आचरण- साधक का आचरण कैसा होना चाहिए?	३३५
महाभारत का प्राण गीता और उसका क्षेत्र	३४०
देवता- देवता क्या है?	३४४
श्रीकृष्ण एक योगी थे	३४७
यज्ञ- यज्ञ क्या है?	३५४
कर्म- कर्म क्या है?	३६७
गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था- गीता में वर्ण का स्वरूप क्या है? क्या वर्ण-व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती है?	३८१
वर्णसंकर- वर्णसंकर क्या है?	३९४
ज्ञानयोग एवं कर्मयोग- ज्ञानयोग एवं कर्मयोग में क्या अन्तर है?	३९९
गीतोक्त युद्धस्थल- गीतोक्त कुरुक्षेत्र कहाँ है? कुरुक्षेत्र क्या विजातीय पार्टी को कहते हैं?	४०६
गीतोक्त युद्ध- गीता में युद्ध का स्वरूप क्या है?	४१६
सनातन धर्म- सनातन धर्म (हिन्दू-धर्म) क्या है?	४२५
जाति-प्रथा- जाति-प्रथा का उपयोग क्या है?	४३४
विप्र- विप्र का वास्तविक स्वरूप क्या है?	४४१
भिक्षा- भिक्षा का अन्न कैसा होता है?	४४६
भगवान कर्ता हैं अथवा अकर्ता?	४४८
योग-विधि ही यज्ञ है, जगत् हवन-सामग्री है।	४५२
एक भाविक का प्रश्न	४५५
धर्म के नाम	४५९
सन्तों का उद्भव एवं उनकी परम्परा	४६१
परमहंसजी की लोकोक्तियाँ	४६५
महाराजजी की विद्या	५०८
भाव-सुमन	५१६
मानवता का चरमोत्कर्ष	५१८

।। ॐ ।।

चित्र-सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	पूज्य स्वामी श्री परमहंसजी महाराज का चित्र	
२.	पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज का रंगीन चित्र	
३.	पूज्य स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी महाराज का रंगीन चित्र	
४.	पूज्य स्वामी श्री भगवानानन्दजी महाराज का रंगीन चित्र	
५.	सती अनुसुइया के पहाड़ की उपत्यका में स्थित श्री परमहंस आश्रम	
६.	श्री परमहंसजी की दुर्लभ मुद्रायें	२
७.	सन्त से प्राप्त आशीर्वाद	६
८.	पूज्य श्री परमहंसजी महाराज एवं श्री सत्संगी महाराजजी	१०
९.	प्रयाग की घटना	१६
१०.	कंचन-कामिनी से निवृत्ति	२६
११.	मरणासन्न को जीवनदान	३६
१२.	कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन	५६
१३.	पूज्य स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी महाराज एवं परम पावन धारकुण्डी आश्रम	७४
१४.	श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया (प्राचीन महर्षियों की तपस्थली) पशु-पक्षियों के प्रति समत्व भाव	७८
१५.	श्री परमहंस आश्रम स्थानासीन स्वामी श्री भगवानानन्दजी महाराज	१०२
१६.	परमपूज्य स्वामी श्री परमानन्द परमहंसजी महाराज की छड़ी	११२
१७.	परमश्रद्धेय स्वामी श्री परमानन्दजी महाराज भक्तों के साथ	१३०
१८.	परमश्रद्धेय पूज्य सद्गुरुदेव श्री परमहंसजी महाराज	१४४
१९.	विशेष पर्वों पर साधकों एवं भक्तों के बीच श्री परमहंसजी महाराज	१५४
२०.	ध्यानावस्थित सद्गुरुदेव पूज्य श्री परमहंसजी महाराज	१६०
२१.	परमपूज्य श्री परमहंसजी महाराज शिष्यों के साथ	४४२

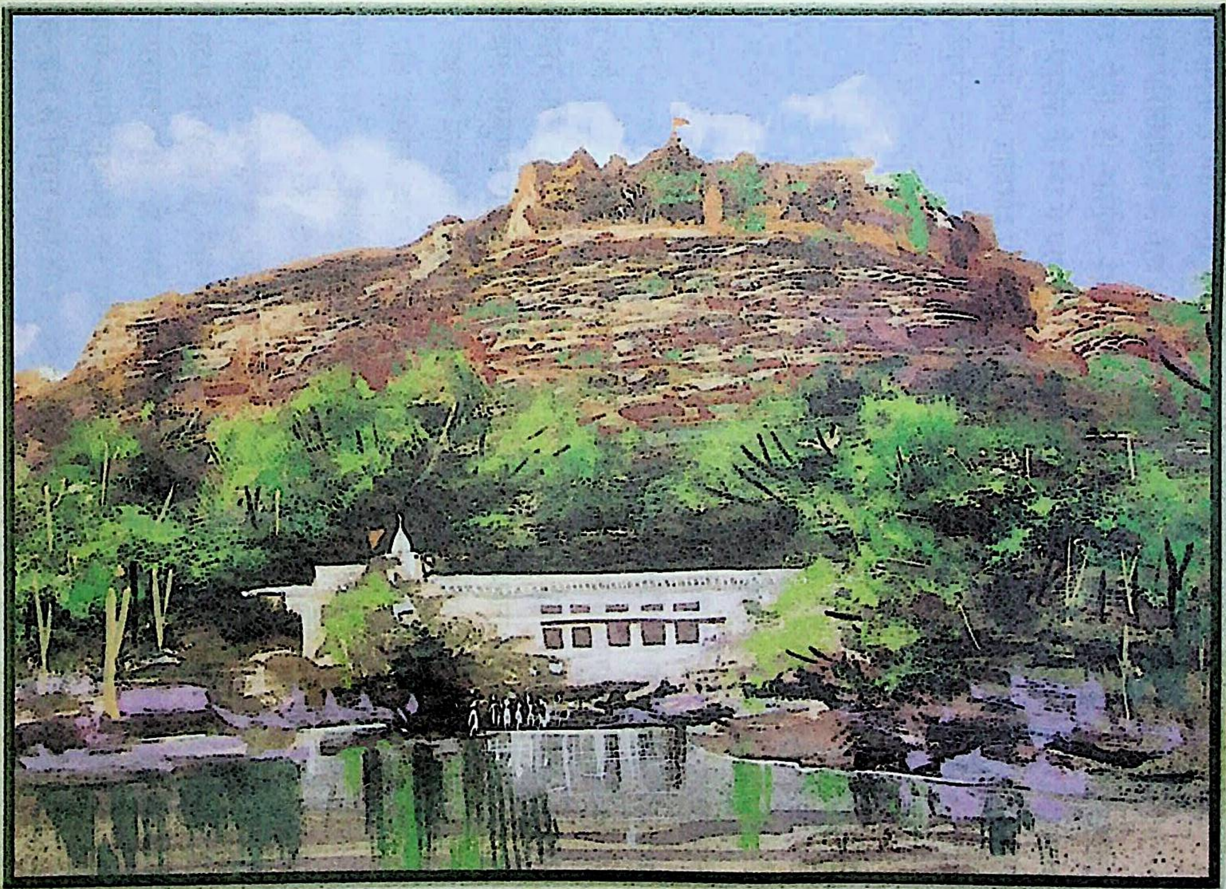

सती अनुसुइया के पहाड़ की उपत्यका में श्री परमहंस आश्रम

प्राक्कथन

यह सार्वभौमिक सत्य है कि जब-जब जनमानस में आसुरी प्रवृत्तियों का बाहुल्य होने लगता है तथा सत्प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी होकर प्रश्रय चाहती हैं, तब-तब समाज की विषम परिस्थितियों के बीच नवजागरण का सन्देश लिये महापुरुषों का अभ्युदय होता है। कुछ ऐसी ही धार्मिक साम्प्रदायिकता एवं आडम्बर के शमनहेतु सच्चे अध्यात्म पथ-प्रदर्शक के रूप में परमपूज्य श्री परमहंसजी का सृष्टि में अभ्युदय हुआ। श्री परमहंस स्वामीजी का आविर्भाव एक ऐसे प्रकाशपुंज के रूप में जनमानस के बीच हुआ था, जिनकी ज्योतिर्मयी रश्मियों ने धार्मिक आडम्बर एवं तिमिराच्छादित अन्तर्मल को नष्ट कर अखिल संसृति को आलोकित कर दिया।

वास्तव में वह गुरु, गुरु नहीं जो आती हुई मौत से न बचा ले और वह शिष्य, शिष्य नहीं जो गुरु के हाथ का यंत्र बनकर, उनके आदेशों में प्रवृत्त होकर गुरु की स्थिति को न पा ले। ऐसी ही परमपावन विभूति श्री परमहंसजी महाराज के जीवन-दर्शन के प्रति कुछ न कुछ लिखने के लिये न जाने कब से मेरे मानस में भाव तरंगित हो रहे थे, किन्तु अन्तर्जगत् से किनारा न मिलने के कारण उनकी अभिव्यक्ति न हो सकी। सौभाग्यवश इस वर्ष (सन् १९७३) ग्रीष्मकाल में श्री परमहंस आश्रम धारकुण्डी में रुकने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। परमार्थ-पथ को प्रशस्त करनेवाले ब्रह्मज्ञ श्री स्वामीजी, परमहंस आश्रम धारकुण्डी महाराजजी ने मुझे अन्तर्देश से सम्बल प्रदान कर इस कृति के संकलन में अक्षुण्ण प्रेरणा से अनुप्राणित किया है। उनके अतुलनीय योगदान और महती कृपा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने में वाणी असमर्थ है तथापि इस महती कृपा के लिये मैं कोटिशः हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ। लेखनी केवल इस आशा और विश्वास के साथ उठ रही है कि श्री स्वामीजी आद्यान्त भावों को स्वरूप देने में प्रेरणात्मक आशीर्वाद देते रहेंगे, साथ ही अनुसुइया आश्रम के वर्तमान स्वामी श्री भगवानानन्दजी के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनकी बहुत पूर्व से ही मुझ पर असीम कृपा रही है। यह एक परम्परागत प्रवृत्ति हो गयी है कि किसी न किसी रूप में सभी अनुयायी शिष्यगण अपने-अपने गुरुजनों की प्रशंसा करने में नहीं थकते, किन्तु प्रशस्ति-गायन से शिष्य गुरु-ऋण से निवृत्त नहीं होता। उसे क्रमशः यौगिक प्रक्रिया के द्वारा प्रयोगात्मक पथ पर चलकर गुरु के गुरुत्व को प्राप्त करना पड़ता है। शुद्ध स्तुति तो वह है कि सद्गुरु परमात्मा की जिस पराकाष्ठा में स्थित है, साधक क्रमशः चलकर उसी पराकाष्ठा में लीन

हो जाय। वास्तव में उसी साधक के द्वारा गुरु के गुणधर्म प्रगट होते हैं। अतः उसी की अन्तिम उपलब्धि के फलस्वरूप गुरु का नाम सार्थक होता है। समर्थ सद्गुरु के उत्कृष्ट जीवन-चरित्र को लिपिबद्ध करना सामान्य सामर्थ्य के परे है। यह जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उन्हीं महापुरुष की महती अनुकम्पा का प्रतिफल है।

समय के प्रवाह में जीवन्मुक्त महापुरुष श्री परमहंसजी भी अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर हमारे बीच से ठीक उसी प्रकार उठ गये, जिस प्रकार राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि। जो विशेषतायें उपरोक्त महापुरुषों में थीं, वे पूर्णतया श्री परमहंसजी के जीवन-वृत्त में भी अवतरित हैं। उपरोक्त महापुरुषों के जीवन में कुछ ऐसी अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण समस्याओं का शमन पाया गया, जिन्हें देखकर जन-समाज उनके प्रति आकर्षित हुआ। कुछ ऐसी ही विलक्षण घटनाओं का हल श्री परमहंसजी के सान्निध्य से भी जन-जीवन को मिला, जो असंख्य मानवों के सन्तोष का अमरस्रोत बन गया है।

चित्रकूट की जनता स्वभावतः राम के प्रति श्रद्धा रखनेवाली है। इसी विशेष गुण के कारण धनी कही जा सकती है। वैसे यहाँ आये दिन डाकुओं के क्रूर बर्बरता के उदाहरण मिलते हैं। ऐसी सामाजिक क्रूरता के बीच श्री परमहंसजी के आगमन ने जन-जीवन को सद्मार्ग की नयी दिशा देने में अभूतपूर्व कार्य किया है। सैकड़ों पागल उनके दर्शन से तत्काल ठीक होते देखे गये हैं। वे आज भी जीते-जागते उनकी दुहाई देते हैं। कतिपय घटनायें तो ऐसी विलक्षण हैं जिन्हें देख-सुनकर बुद्धि चकाचौंध हो जाती है। कुछ ऐसे रुग्ण व्यक्ति चिकित्सकों से जवाब पाकर आपके पास कृपायाचना-हेतु आये, जों अद्यावधि जीवित हैं।

श्री परमहंस महाराजजी के सान्निध्य में विरक्त शिष्यत्व के लिये अनेक व्यक्ति आये, परन्तु शरण कुछ ही लोगों को मिली। जनसाधारण की स्थिति आप हृदय से टटोलते और परीक्षण करने के उपरान्त शरण देने से इनकार कर देते थे। कुछ लोग तो ऐसे भी थे जो इन अप्रिय शब्दों को सुनकर अनशन कर देते थे; परन्तु स्थान पात्र-सुपात्र का मूल्यांकन करने के पश्चात् उपयुक्त अधिकारी को ही दिया जाता था। श्री महाराजजी के देदीप्यमान शिष्यों में पावन विभूति श्री स्वामी सच्चिदानन्दजी, परमहंस आश्रम धारकुण्डी आज क्षेत्रीय समाज के लिये उपलब्ध हैं, जिनकी अन्तश्चेतना से निःसृत ज्ञान की पीयूष-धारा अनवरत धारकुण्डी की अपार्थिव गुफा से प्रवाहित है।

प्रस्तुत कृति के प्रथम उच्छ्वास में जीवनादर्श पर प्रकाश डालनेवाली कतिपय आश्चर्यजनक घटनाओं का परिचयात्मक पद्धति में उल्लेख किया गया है तथा

आत्मानुभूति के चरमोत्कर्ष पर आसीन करनेवाली उनकी अमरवाणी बारहमासी की व्याख्या एवं सदुपदेशों का चयन किया गया है जिन्हें हृदयंगम कर जीवन-पथ पर चलनेवाले पथिक सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। कृति के द्वितीय उच्छ्वास में पूज्य महाराजजी के उपदेशों की झलकियाँ एवं उनकी विद्या का संकलन है जिनके माध्यम से वे भाविकों का पथ-प्रदर्शन एवं अनेकानेक साधनोपयोगी भूमिकाओं का निदर्शन करते थे। सरल, सरस मुहावरों से गम्भीर तात्त्विक सिद्धान्तों का विवेचन कर सकना परमहंसजी की अपनी विशेषता थी, जिसके अवगुण्ठन में ब्रह्मविद्या की शुष्कता तिरोहित हो जाती थी। किन्तु इन सबसे विलक्षण तो महाराजजी की अपनी शैली थी, जो अन्तरतम तक प्रविष्ट होती चली जाती थी।

इस कृति को मैं अपनी सामर्थ्य से नहीं अपितु सेवाभाव से अन्तर्जगतीय प्रेरणानुकूल भाषाबद्ध कर रहा हूँ। इसके संकलन में त्रुटियों व विचारों की क्रमबद्धता का विशेष ध्यान रखा गया है तथापि विचारों के स्पष्टीकरण में विश्रृंखलता होने पर प्रिय पाठकगण व साधक अपनी ही एक उपलब्धि समझकर हृदयंगम करेंगे।

श्रीगुरुपूर्णिमा, सन् 1974

– सद्गुरु कृपाश्रयी, जगत्बन्धु

स्वामी अड़गड़ानन्द

प्रथम उच्छ्वास

परमपूज्य श्री परमहंस परमानन्दजी महाराज
(सती अनुसुइया, चित्रकूट)
का जीवन-वृत्त

जीवनादर्श पर प्रकाश डालनेवाली
कतिपय आदर्श घटनायें
एवं
बारहमासी

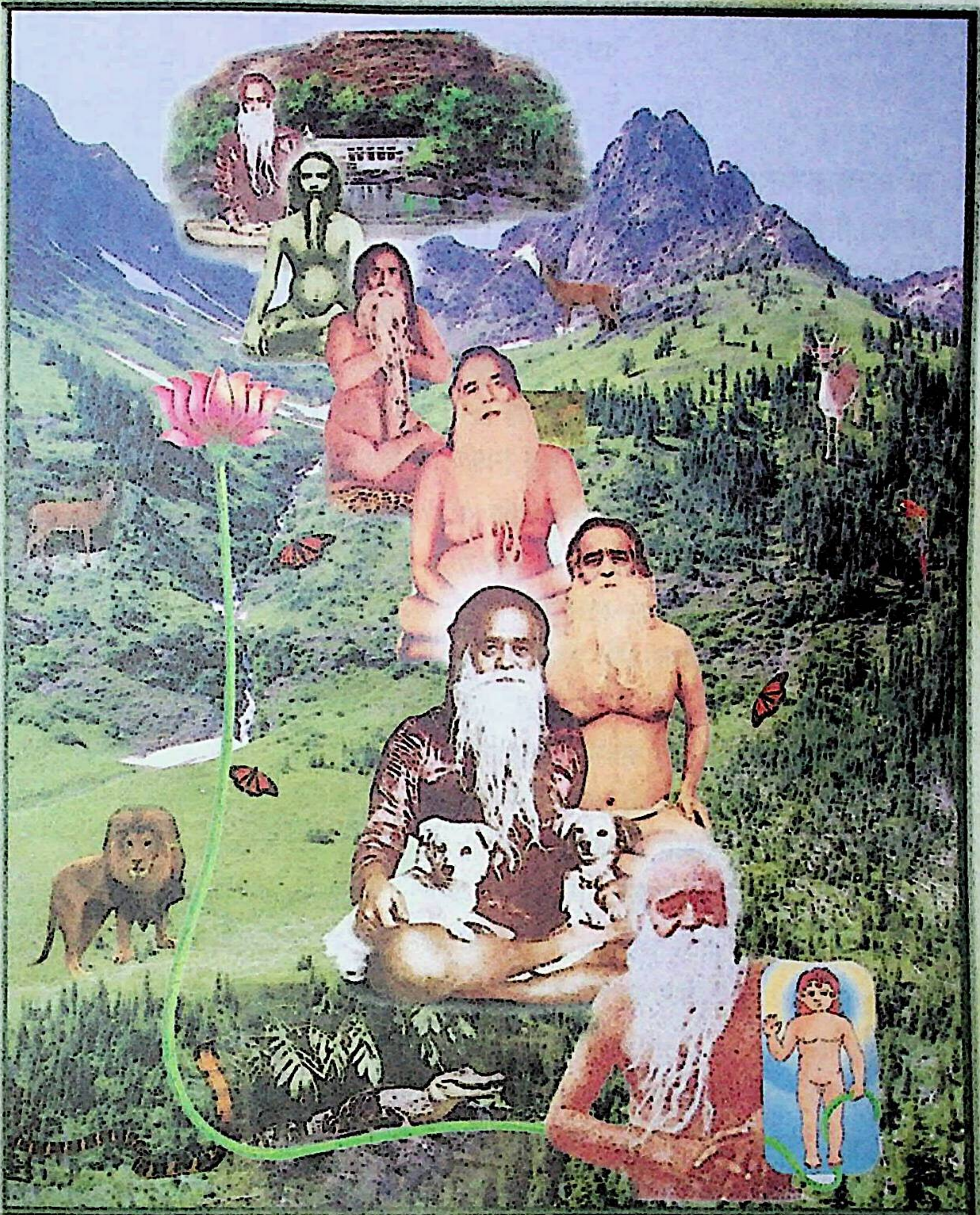

श्री परमहंस जी की दुर्लभ मुद्रायें

आदर्श जीवन

जीवन–परिचय

(सन् १९११ ई० से १९६९ ई० तक)

परिवर्तनशीलता निखिल संसृति का शाश्वत विधान है। अपराजेय कालचक्र की चपेट में बड़े-से-बड़े साम्राज्य के उत्थान एवं पतन की कहानियाँ अंकित रहती हैं। अजेय शक्तियाँ भी पलभर में धराशायी हो जाती हैं। भौतिक वैभव की विशाल अट्टालिकायें न जाने कहाँ अन्तराल में विलीन हो जाती हैं; परन्तु देश–काल, परिस्थितियों की सीमा से उपराम, जीवन्मुक्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व युग–युगान्तर तक विश्व–वाटिका को सुरभित जीवन–पुष्प से सुवासित करता रहेगा। ऐसे ही परमशान्तिप्राप्त महापुरुषों की इकाई में परमपूज्य श्री परमहंस महाराजजी का जीवन–वृत्त भी अवतरित है।

आपका जन्म गोरखपुर के अंचल में, जो इस समय दो भागों में विभक्त है, वर्तमान देवरिया जिले के रामकोला नामक ग्राम में सन् १९११ ई० में हुआ था। आपका सस्नेह लालन–पालन करनेवाली माता फूलमानी देवी और पिता श्री जगरूप शर्मा जी हुए। प्रायः जन्म से ही महापुरुषों की अलौकिकता का दिग्दर्शन होने लगता है। रमलशास्त्रियों ने शिशुरूप में श्री परमहंस महाराजजी को भी देखकर उनके दिव्य भावी जीवन का संकेत करते हुए उनकी माँ से पूछा कि, यह असाधारण बालक तुम कैसे पा गयी? यह तो तुम्हारे योग्य नहीं है। पहले तो मातृ–हृदय भावी अनिष्ट की कल्पना से काँप उठा; परन्तु ज्योतिषी के यह कहने पर कि यह या तो राजा होगा या योगी, मातृ–हृदय आश्वस्त होकर पुनः शिशु–स्नेह में प्रवृत्त हो गया। नमक-मिर्च उतारकर माँ शिशु को घर के भीतर ले आयी कि कहीं नजर न लग जाय।

बाल्य–जीवन की विलक्षण घटना

जब आपकी अवस्था लगभग छः मास की थी, लोकदृष्टि में उस बाल्यावस्था में ही एक कालवत् हृदय विदारक घटना घटित हुई। अचानक एक दिन आपके पलंग के ऊपर एक भयानक सर्प चढ़ गया और देखते–ही–देखते शरीर पर कुण्डली मारकर बैठ गया। व्यक्तियों के द्वारा उस विषधर को हटाने का भरसक प्रयास किया गया। अन्त में एक रज्जु में मेढक बाँधकर उसकी ओर सर्प को आकर्षित करने का यत्न किया गया। मेढक को देखकर भक्षण की लालसा से सर्प ज्योंही हटा कि माँ के हृदय का वात्सल्य उमड़ पड़ा। दौड़कर माँ अपने शिशु को पुचकारने लगी।

शालेय शिक्षा

पाँच वर्ष की अवस्था में आपकी शिक्षा प्रारम्भ हुई; परन्तु पढ़ने-लिखने में आपका मन नहीं लगता था। पाठशाला में प्रवेश हुए अभी तीन दिन ही हुए थे कि पण्डितजी ने किसी अपराध के परिणामस्वरूप स्केल उठाई और हथेली पर तीन रेखायें उकेर दीं। लड़का मचल गया। रुलाई बन्द ही न हो। पुत्र-स्नेहवश माँ का हृदय करुणा से भर गया, जिसके फलस्वरूप बालक पुनः पाठशाला न जा सका। इसके उपरान्त अध्ययन की शृंखला सदा के लिये टूट गयी। एक घटना आज भी स्मरणीय है कि एक बार चित्रकूट में हस्ताक्षर की आवश्यकता पड़ने पर आपको चार दिन अभ्यास करना पड़ा था। यह थी आध्यात्मिक अध्यापक के पार्थिव अध्ययन की सीमा!

व्यायाम की प्रेरणा

जिस क्षेत्र में आपका जन्म हुआ था, वह पहलवानों के मल्ल-प्रदर्शन का केन्द्र था। इसलिये पाँच वर्ष की अवस्था में ही पहलवानों के दाँव-पेंच देखकर आपका झुकाव शारीरिक व्यायाम व पहलवानी की ओर हो गया। पहलवानी में रुचि देखकर आपके बड़े भाई सदैव दूध की व्यवस्था रखते थे। पहलवानी का क्रम चल निकला। नियमतः व्यायाम करके शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने में आप विशेष ध्यान देने लगे। परिणामतः कालान्तर में आपने सुप्रसिद्ध पहलवान के रूप में ग्रामीण क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर ली।

परिणय–सूत्र

बहू के लिये लालायित माँ ने पीछे पड़कर आपका विवाह भी करा दिया। विवाह हो तो गया; किन्तु पहलवान को अपना शरीर इतना प्रिय होता है कि उससे बढ़कर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पत्नी से कोई प्रयोजन नहीं था। कुछ दिन तो ऐसे ही चला; किन्तु माँ के प्रयत्नों के फलस्वरूप क्रमशः चार सन्तानें हुईं, जो दीर्घजीवी हैं और आज भी हैं।

आकाशवाणी एवं सन्त–मिलन

एक बार आप इसी पहलवानी के नशे में कुछ दूर स्थित बाजार की तरफ जा रहे थे कि अनायास मार्ग में झण्डा लिये हुए 'सीताराम-सीताराम' ध्वनि-उच्चारण के साथ कोई महात्मा दिखाई पड़े। उनके चले जाने के पश्चात् यह आवाज आती है कि इस साधु को भोजन कराओ। इस प्रभावपूर्ण वाणी को सुनकर मस्तिष्क चकरा गया। सड़क की पुलिया का सहारा लेकर अपने को संयत करते हुए आसपास के लोगों से पूछा कि कुछ सुनायी पड़ा? इस पर उत्तर मिला कि यहाँ सुनने की कौन-सी बात है?

महाराज जी कहा करें कि अज्ञात आवाज इतनी तेज थी कि लगता था मीलों सुनायी पड़ी होगी। हमें आश्चर्य होता था कि मस्तिष्क के बीच में कौन बोल पड़ा? ऐसा प्रतीत

होता था कि कोई दैवी घटना है। कुछ भी हो, महात्मा को भोजन कराना ही चाहिये- ऐसा सोचकर उनको खोजना प्रारम्भ कर दिया। दिनभर खोजने के उपरान्त भी जब महात्मा न मिले तब आप निराश होकर घर लौटने लगे। इसी बीच अकस्मात् पथ में आते हुए उन्हीं महामूर्ति के दर्शन हुए। आतुरतापूर्वक प्रणाम करके उनसे आपने पूछा कि महाराज जी! 'सीताराम-सीताराम' का ही उच्चारण करते रहेंगे या कुछ खायेंगे भी। तब महात्मा ने पूछा कि क्या खिलाओगे?

संयोग की बात, आपके पास केवल तीन पैसे थे, जो तत्कालीन भोजन-सामग्री के लिये पर्याप्त थे। बाल्योचित स्वभाव के कारण इसी सीमित धनराशि से आपने सोचा कि घर के लिये सामान भी ले लिया जाय और महात्मा को भोजन भी करा दिया जाय। इसी धारणा से आपने विनम्रतापूर्वक सत्तू ग्रहण करने का आग्रह किया। महात्मा बिगड़ खड़े हुए, "सत्तू भी कोई भोजन है।" पुनः उसी वेग से एक तरफ जाने लगे। आप दौड़कर पुनः चरणों में प्रणत हुए, बोले, "बाल स्वभाववश ऐसी वाणी निकल गयी। आपकी जो रुचि हो, पायें।" बारम्बार आग्रह के उपरान्त उन महात्मा ने भोजन-प्रसाद ग्रहण किया। भोजन से तृप्त होकर उन्होंने आपसे पूछा कि भोजन क्यों कराये, क्या चाहते हो? मन में किसी भी वस्तु की अभिलाषा न होने के कारण बहुत समय तक विचार करने के उपरान्त आपने कहा कि, "मैं किसी से कुश्ती में पराजित न होऊँ।" यह सुनकर महात्माजी ने हँसकर गालियाँ देते हुए कहा कि 'एवमस्तु', और चले गये ।

महापुरुष की दृष्टि में जीत नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। प्रकृति के सामान्य बन्धन को जीतने के अभिमान से ही संस्कार साधक के मानस पर पड़ जाते हैं। इसीलिये महाबली काल से भी अपराजेय होने का आशीर्वाद देकर वे चले गये। अब आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि आशीर्वाद साथ-ही-साथ चल रहा है, जबकि अभी दृष्टि सांसारिक ही थी।

उनके चले जाने पर पता चला कि वे महात्मा सात दिन से निराहार थे। उनका प्रण था कि यदि भगवान खिलायेंगे तभी भोजन करेंगे। प्रायः लोग सोचते हैं कि किसी को वे खिलाते हैं किन्तु यह भ्रम है। पुण्यात्माओं को प्रेरित कर भगवान अपने भक्तों को खिलाते हैं। जो खिलाता है वह भी सन्त-आत्मा है।

सन्त से प्राप्त आशीर्वाद

उन महापुरुष के आशीर्वाद से आपको विश्वास हो गया कि मुझे किसी से भी कुश्ती में पराजित न होना पड़ेगा। सोचने लगे, दो-एक लोगों से दाहिने-बायें हाथ मिलाकर सीधे गामा से टक्कर लेंगे। एक बार नाम तो हो जाय। इस क्षेत्र में आता ही

रहता है और अब तो उसके आने का समय भी समीप है, कुश्ती में गिरना तो है नहीं। उक्त घटना के ठीक तीन दिन बाद ही कुश्ती का आयोजन हो गया। यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी आपकी दृष्टि के अन्दर ही था; परन्तु दैवयोग से मल्लयुद्ध में शीघ्र ही आपको उससे पराजित होना पड़ा। आप सिर नीचा करके चले आये और तीन दिनों तक लज्जावश घर के बाहर नहीं निकले। आप निरन्तर यही सोचते रहे कि कहाँ गया वह आशीर्वाद और कहाँ गयी वह वाणी। आगे चलकर जब उसी आशीर्वाद के फलस्वरूप अनुसुइया आश्रम में अनुभव हुआ कि अब जन्म-मरण का बन्धन टूट चुका है, तो आन्तरिक प्रसन्नता से विह्वल हो उठे और विचार करने लगे कि भगवान या महापुरुष की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। यदि उस समय मल्लयुद्ध में विजयी भी हो जाता, तो परिणाम हार ही तो था। शरीर भी तो आखिर एक दिन जीर्ण हो जाता। यथार्थतः कालजयी होना ही सन्तप्रवर के आशीर्वचन की अपराजेयता थी।

वृद्धा द्वारा तरुणी का सन्देश

यह एक अत्यधिक रोमांचकारी घटना है, जिसके फलस्वरूप ही भावी साधनात्मक जीवन का शुभारम्भ है। घटनाक्रम इस प्रकार है--

निकट के किसी गाँव के एक परिवार में किसी लड़के का गौना हुआ था। नवविवाहिता तरुणी के रूप-रंग से आकर्षित होकर कुछ मनचले नवयुवकों ने वासनेच्छा से उसके घर आना-जाना प्रारम्भ कर दिया; परन्तु उस तरुणी ने किसी की तरफ झुकाव नहीं लिया। उसने एक वृद्धा के हाथ पत्र भेजकर आपको बुलवाया। पहलवान होने के कारण आपका जीवन संयमित था; परन्तु उस समय संस्कारवश युवावस्था के नशे में चूर आपको ऐसा प्रतीत हुआ, 'जनम रंक जनु पारस पावा।' *(मानस, १/३४६/७)* किसी प्रकार दो-चार घण्टे व्यतीत कर, सायंकाल सज-धजकर अँधेरी निशा में शनैः-शनैः बगीचा पार करते हुए मिलन-स्थल की तरफ बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। रह-रहकर यह भावना मन में कसक जाती थी कि कहीं मैं पाप-कर्म में तो नहीं प्रवृत्त हो रहा हूँ। इसी विचार-विमर्श में निमग्न होकर जैसे ही आप आगे बढ़ रहे थे कि अचानक आवाज आयी--"महान् पाप करने जा रहे हो, नरक में जाओगे।" अत्यन्त भय के कारण शरीर रोमांचित होकर काँप उठा। करीब आधे घण्टे बाद जब अधीर होकर आप लौट रहे थे तो मन्द स्वर में सुनायी पड़ा, "आगे देवालय में तुम्हारे गुरुदेव हैं।"

सद्गुरु-दर्शन

उपरोक्त वाणी के आधार पर आप देवालय की ओर धीरे-धीरे चल पड़े। घने अन्धकार के कारण उस देवालय के अन्तःकक्ष में कोई दिखायी न पड़ा। अब आप

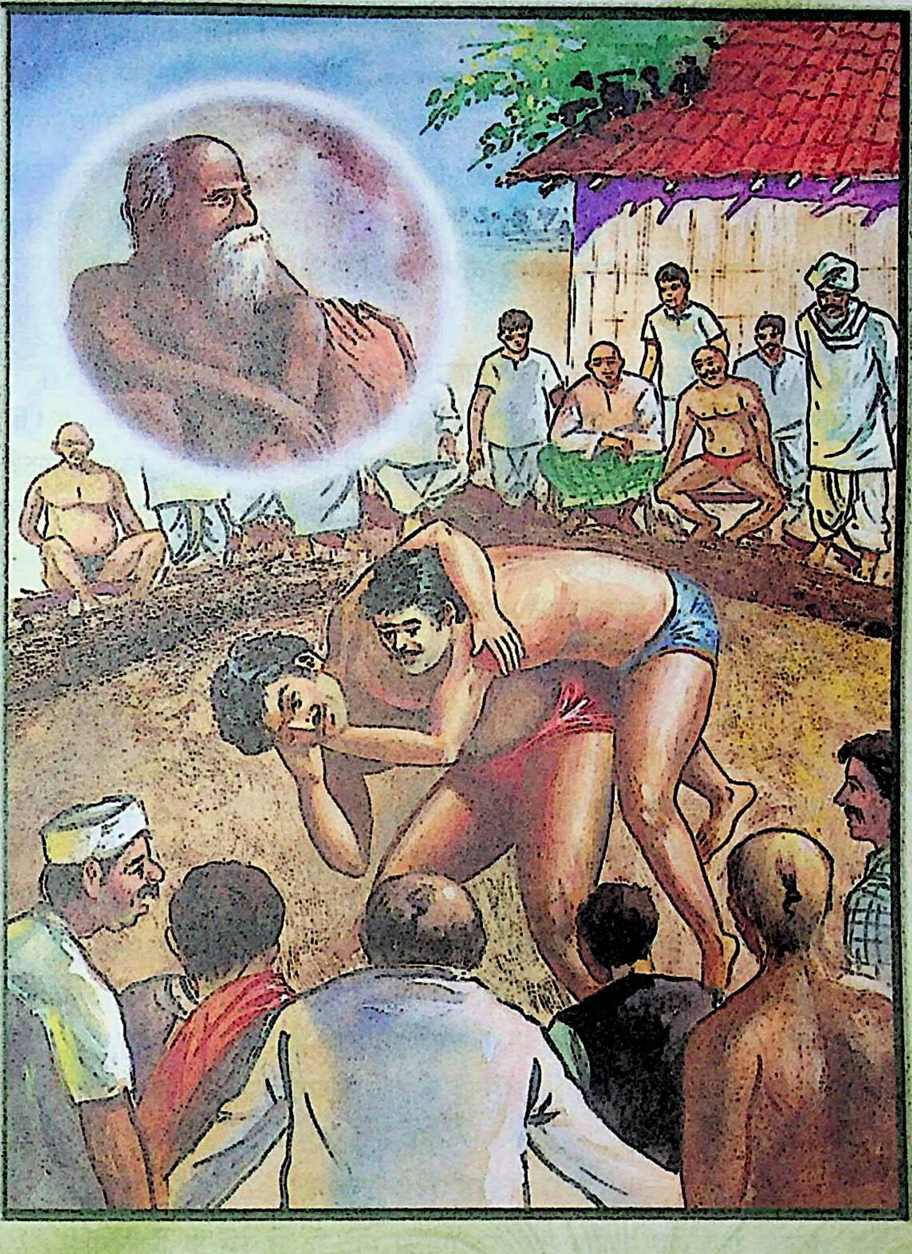

सन्त से प्राप्त आशीर्वाद

विचार करने लगे कि अतीव विचित्र लीला है, पता नहीं कौन जोर से बोलता है और कौन धीरे से। ठीक उसी समय मन्दिर से किसी के खाँसने की आवाज आयी। पहुँचकर देखते हैं कि एक महात्मा मन्दिर के कोने में बैठे हैं। साष्टांग प्रणाम करके प्रकाश व भोजन की व्यवस्था की। भोजनादि के उपरान्त सम्पूर्ण रात्रि सत्संग चलता रहा और आप चरण चापते रहे। सद्गुरुदेव महाराजजी से आप बारम्बार प्रश्न करते और वे शंकाओं का शमन करते हुए यथोचित उत्तर देते गये। त्रिदिवसीय अल्पावधि में ही साधन-भजन की युक्ति बताकर गुरु महाराजजी बाहर चले गये। अब आप घर से विरक्त रहकर तत्परतापूर्वक साधना में रत हो गये। इसी बीच श्वास पकड़ में आने लगी और ध्यान जमने लगा।

पूज्य महाराजजी कहते थे कि उन्होंने साधु बनने का कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था। भरा-पूरा परिवार था, बाल-बच्चे थे, परिवार से लगाव भी था; किन्तु भगवान ने चेतावनी देकर बलात् साधु बना दिया। जब तक भगवान न कहें, घर छोड़ना पाप है; किन्तु जब भगवान कह दें तो घर में रहना भी पाप है। जैसे, प्रधानमंत्री जब चाहे किसी नागरिक को अपने पास बुला सकता है, भले ही वह कितना ही व्यस्त क्यों न हो, उसी प्रकार भगवान विषयों मे फँसे, अत्यन्त जकड़े जीव को जब चाहे अपने पास बुला सकते हैं। **लीला करन चहत प्रभु जबहीं। कारण खड़ा करत हैं तबहीं।।** वे ऐसा जुगाड़ लगा देते हैं कि उसे करना ही पड़ता है।

हमने प्रश्न किया--"महाराजजी! आपको आकाशवाणी क्यों हुई? सामान्य जनों के साथ तो ऐसा नहीं होता?" उन्होंने बताया--"हो, यह शंका मुझे भी थी। एक दिन भगवान ने अनुभव में बताया कि मैं पिछले सात जन्मों से साधु रहा हूँ। चार जन्मों में कहीं तिलक लगाये तो कहीं कमण्डलु लिये विचरण कर रहा हूँ। सच्चे मन से साधुता के लिये प्रयत्नशील था किन्तु योगक्रिया जागृत नहीं थी। पिछले तीन जन्मों से युक्तियुक्त योगोत्कृष्ट अच्छा साधु रहा, जैसा कि होना चाहिये। योगक्रिया जागृत थी। पिछले जन्म में पार लग गया था, निवृत्ति हो चली थी; किन्तु दो इच्छायें मन में बनी रहीं--एक विवाह की, दूसरी गाँजा पीने की। भगवान ने थोड़े ही समय में सबकुछ दिखा-सुनाकर अपनी शरण में ले लिया।

भजन की शुरुआत

महाराजजी के घर से दो-तीन फर्लांग दूर एक बगीचा था। वहाँ एकान्त देख महाराजजी उसी बगीचे में झाड़ियों की ओट में बैठ गये, चिन्तन में लग गये। आरम्भ के चार-छः दिन तक लोग समझ ही न सके कि वे कहाँ चले गये। क्रमशः लोगों को

पता चला तो वे अटकल लगाने लगे कि इन्हें हो क्या गया? कोई बीमारी तो नहीं हो गयी? किसी ने कहा कि जब से लंगडू बाबा मिले हैं तभी से ऐसा है। लगता है, उन्होंने कोई जादू-टोना कर दिया। कोई मंत्र पढ़ दिया।

लंगडू बाबा

शिवमन्दिर में जिन गुरु महाराज ने साधन-क्रम बताया था, सम्पूर्ण क्षेत्र उन महामानव को लंगडू बाबा या सत्संगी महाराज के नाम से जानता था। महाराजजी ने पहले भी पचासों बार उन्हें देखा था। वे एक पाँव के लंगड़े थे, इसलिये कोई उन्हें लंगडू भी कहता था। दुनिया पागल कहती थी और महाराजजी भी उन्हें पागल ही जानते थे। किन्तु आकाशवाणी ने बताया कि आपके गुरु महाराज हैं, तभी वे समझ पाये। वस्तुतः वे तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। योग की रहस्यमय ब्रह्मविद्या उनके पास थी। सद्गुरु के सारे गुण उनमें थे, किन्तु लोग उन्हें पागल ही समझते रहे।

घर और गाँव के लोग सत्संगी महाराज को ढूँढ़ने में लगे थे। संगी-साथी सभी खोज में जुट गये कि मिलें तो उनकी पिटाई की जाय। उन्होंने हमारे लड़के को न जाने क्या सिखा दिया। लोग ढूँढ़ते ही रह गये किन्तु सत्संगी महाराज का कहीं पता ही न चला। चार माह पश्चात् वे दीख पड़े तो पूरा गाँव ही उमड़ आया। माँ तो पीछे पड़ गयी--"बाबा! कौन-सा जादू-टोना कर दिया, हमारे लड़के को बर्बाद कर दिया।" वे जोर से बिगड़े--"हूँ, हमने बर्बाद कर दिया। अपना कर्म नहीं देखती। कोई पागल होता है, कोई मरता है, कोई जीता है तो इसमें हम क्या करें? अपने लड़के को घर क्यों नहीं ले जाती?" सचमुच बाबा का मंत्र बड़ा प्रभावशाली निकला। उन पर जब विश्वास हो गया तो कोई क्या उठा ले जाता।

सद्गुरु के परकाया प्रवेश से मन का रुकना

पर्यटन करके चार माह पश्चात् जिस दिन सद्गुरु महाराज लौटे, उस दिन आपका मन भजन करने में अधिक रमा। आपने गुरु महाराजजी से विनीत भाव में प्रार्थना की कि क्या कारण है कि भजन में आज की तरह मेरा मन कभी स्थिर नहीं हुआ? आश्वासनपूर्ण सहज वाणी में गुरुदेव बोले कि मैं तुम्हारे मन को पकड़ ध्यानस्थ हो जाता हूँ। अब परमहंस महाराजजी विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुरुदेव महाराजजी के छः शिष्यों का विकास शायद इसी कारण से नहीं हो पाया कि महाराजजी मन पकड़कर छोड़ देते हैं। फलतः मन की अस्थिरता के कारण कुछ समयोपरान्त उन्हें अशान्ति का अनुभव होने लगता है। आपने इस प्रक्रिया को समझकर सानुरोध गुरु महाराजजी से प्रार्थना की कि कृपया मेरा मन न पकड़ा जाय वरन् मेरे ध्यान में वह क्षमता

प्रदान की जाय, जिससे मैं पूर्णरूपेण मन के चांचल्य को अवरुद्ध कर स्थिर कर लेने में समर्थ हो सकूँ। मन यदि पकड़ने के उपरान्त पुनः आपके द्वारा छोड़ दिया जायेगा तो स्वाभाविक चंचलता आ जायेगी। अतः आन्तरिक सम्बल प्रदान कर ही मुझे अनुग्रहीत करने की कृपा करें। तब आशीर्वाद देते हुए गुरु महाराजजी ने कहा कि ऐसा ही होगा।

परकाया प्रवेश करके किसी के मन को उन्नतोन्मुख कर देना, मोड़ देना, ध्यानस्थ कर देना आदि गुरु महाराजजी के लिये एक साधारण बात थी। इस विलक्षण प्रक्रिया के द्वारा मुमुक्षु साधकों के लिये परमकल्याण का पथ प्रशस्त हो जाता है। किन्तु भजन की उत्कट लगन के कारण आप स्वयं करना चाहते थे।

उस दिन से महाराजजी स्वयं प्रयत्न कर ध्यान में लगने लगे। चार महीने में ही हृदय में स्वरूप पकड़ में आ गया और ध्यान लगने लगा।

साधना–क्रम

आप रात्रि दो बजे से प्रातः छः बजे तक आत्मचिन्तन में अनुरक्त रहते थे। प्रातःकालीन दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होने के पश्चात् पुनः ध्यानस्थ हो जाया करते थे। आत्मचिन्तन के लिये उपयुक्त एकान्त वातावरण चाहने के उपरान्त भी प्रायः सत्संगप्रेमियों से अनिच्छित भाव से सत्संग करते थे। निशा के प्रथम प्रहर में नौ बजे तक सत्संग से निवृत्त हो जाया करते थे। पुनः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर इष्टोपासना में रत हो जाते थे। निरन्तर साधनारत रहने के परिणामस्वरूप परमहंस महाराजजी की यह स्थिति हो गयी कि दिन-प्रतिदिन कृशकाय होने लगे और उनकी पाचनशक्ति बिगड़ गयी। भोजन की इच्छा ही नहीं होती थी। निद्रा संयत होने लगी। कोई पास में आकर बैठ जाता तो महाराजजी को ऐसा लगता कि यह कब उठकर चला जाय। किसी का बैठना और बोलना अच्छा

श्री परमहंसजी की वाणी (निद्रा का विधान)

चौबीस घण्टे में चार घण्टे से अधिक सोना योगी के लिये अत्यन्त घातक है। तीव्र अनुराग एवं विरह-वैराग्य वाले साधकों को निद्रा आती ही नहीं। उनका एक-एक दिन तो सदियों की तरह कटता है। इन लक्षणों से विहीन मायिक शत्रुरूपी निद्रा से पराजित होकर आज सोते हैं और जन्मान्तरों में सोना ही है। योगी के लिये श्वान निद्रा का विधान बताया गया है। जिस प्रकार रात्रि में पत्ता हिलते ही कुत्ता उठकर भौंकने लगता है, उसी प्रकार योगी भी इस भय से चिन्तित निद्रालाभ लेता है कि कहीं विजातीय परमाणु आक्रमण न कर दें। विरही को नींद कब आती है। अतः मन को धिक्कारते हुए इससे सतत संघर्ष करते रहना चाहिये।

नहीं लगता था। लोगों का आना कम हो गया; किन्तु पुत्र की इस शारीरिक दशा को देखकर माता का हृदय करुणा से भर गया। वह उनके साधना-स्थल में ही पहुँचकर उन्हें स्वल्पाहार के लिये बाध्य किया करती थी। क्रमशः शारीरिक क्षीणता को देखकर जनमानस में यह संदेहास्पद चर्चा हो गयी कि आप पीलिया के रोगी हैं न कि योगी। जब ऐसी संदिग्ध चर्चा व्यापक रूप से होने लगी तो यदा-कदा आपके मन में भी खिन्नता की लहर दौड़ जाती थी। ऐसी विषम परिस्थिति में अन्तर्देश से आश्वस्त रहने के लिये अनुभव हुआ करे कि साधना में प्रवृत्त रहो, भावी उपलब्धि मंगलमय है ।

जब महाराजजी गृह त्यागकर साधनरत हो गये, साथी पहलवानों ने निश्चय किया कि सन्तजी की कुछ-न-कुछ सेवा कर दिया करें। उनसे भजन सीखा जाय, उनकी बुद्धि सुलझाकर घर-गृहस्थी की ओर मोड़ दिया जाय। वे महाराजजी की सेवा में लग गये। उन्होंने वहाँ बगीचा लगाया।

प्रभातफेरी

कुछ दिनों पश्चात् इन पहलवानों ने प्रस्ताव रखा--"सन्त जी! प्रभातफेरी हो जाय। सवेरे-सवेरे गाँववालों में भी भक्ति की लहर फैल जायेगी।" महाराजजी को भी यह प्रस्ताव पसन्द आया। प्रातः चार बजे महाराजजी उन लोगों को जगा देते। ढोलक-मजीरा लेकर महाराजजी के साथ 'सीताराम-सीताराम' की धुन लगाती हुई पूरी टोली गाँव की परिक्रमा करती और अँधेरा रहते ही महाराजजी सहित सभी लोग कुटिया में लौट आते थे। तत्पश्चात् अपने-अपने घरों को प्रस्थान कर देते थे। यह कीर्तन लगभग चार महीने चला। प्रारम्भ में तो पन्द्रह-बीस लोगों से ही प्रभातफेरी चली। धीरे-धीरे भक्ति की लहर दौड़ गयी। काफी लोग प्रभातफेरी में सम्मिलित होने लगे। संख्या बढ़ती गयी। लोग प्रभातफेरी की प्रतीक्षा में पहले से ही जागकर तैयार रहते थे।

एक दिन महाराजजी नित्य की तरह दो बजे रात से भजन में बैठे थे, ठीक चार बजे से कुछ पहले आपको हठात् झपकी आ गयी। आँख खुली तो उजाला हो चुका था। आप पश्चाताप करने लगे कि आज नियम टूट गया। प्रभातफेरी नहीं हुई। वे किसी को जगा नहीं सके। सब लोग दुःखी मन से बोले- "सन्तजी, आज आपने जगाया नहीं।" आप कुछ नहीं बोले।

सूर्योदय के साथ ही गाँव से लोग आने लगे। वे बोले, "सन्तजी! आज आप किस रास्ते से प्रभातफेरी करते निकल गये। बड़ी मधुर ध्वनि सुनायी दे रही थी। हम प्रतीक्षा कर रहे थे कि आप जब सामने से निकलें तो हमलोग भी टोली में सम्मिलित हो जायँ; किन्तु आज आप किस मार्ग से निकल गये?"

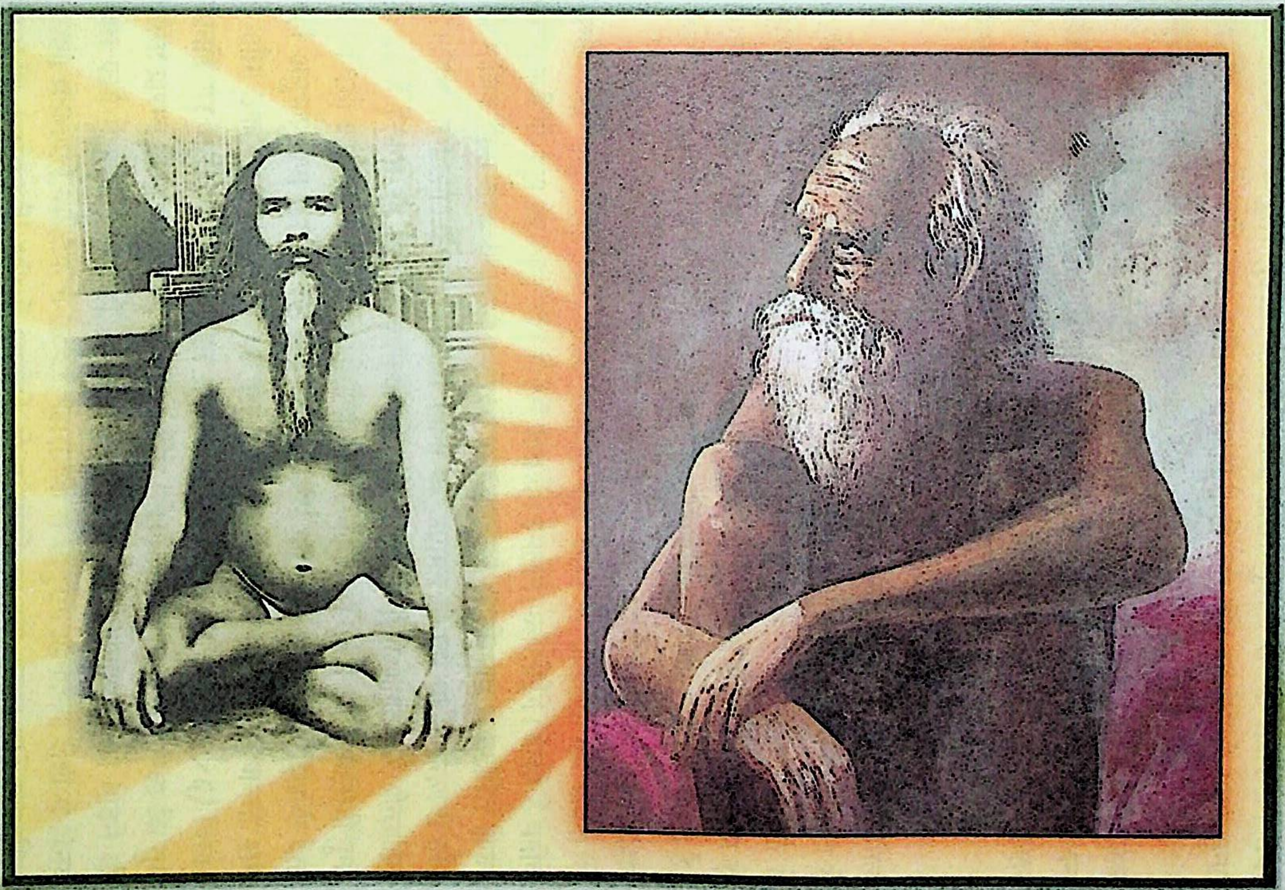

पूज्य श्री परमहंस जी महाराज एवं पूज्य श्री सत्संगी महाराज जी

महाराजजी ने सोचा कि आज तो हम गये ही नहीं, कदाचित् ये लोग खिल्ली उड़ा रहे हों। तब तक दूसरे मुहल्ले के लोग आये, तीसरे मुहल्ले से भी आये। उन सबने पूछा कि आज तो बड़ी मधुर ध्वनि में प्रभातफेरी हो रही थी। हमलोगों ने स्पष्ट सुना। आप किस रास्ते से निकल आये?

महाराजजी को बड़ी ग्लानि हुई कि आज भगवान को मेरे लिये कितना कष्ट उठाना पड़ा। उन्होंने मेरे लिये प्रभातफेरी की। अब आज से कीर्तन बन्द। कीर्तन तो बन्द हो गया; किन्तु इस घटना से इतना विश्वास बढ़ा कि महाराजजी जी-जान से चिन्तन में जुट गये।

इष्ट की व्यापकता में विश्वास

भजन कुटीर से थोड़ी दूरी पर किसी सज्जन का बगीचा था। उस बगीचे से नित्य आम्रफलों की चोरी हो जाया करती थी। बगीचे का मालिक आपको सन्देहास्पद भाव से गालियाँ दिया करता था। एक दिन आपने अन्तर्देश के माध्यम से गुरु महाराजजी से विनयपूर्वक प्रश्न किया कि, मैं फलों को न तो तोड़ता ही हूँ और न उन्हें पाने की इच्छा ही रखता हूँ तब क्यों यह बागवान मेरे ऊपर मिथ्यारोपण करके भला-बुरा कहा करता है?

नियमित रूप से सत्संग में भाग लेनेवाले सज्जनों को बागवान का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। एक दिन साग्रह रुककर कुछ लोगों ने प्रतिशोध की भावना से महाराजजी से कहा कि आप रात्रि में हमें जगा दें। हमलोग फल तोड़ेंगे। देखते हैं बगीचे का मालिक किस तरह से अपने फलों की रक्षा करता है। इसी भाव से उत्प्रेरित होकर निद्रालाभ करने लगे। क्रमशः निःस्तब्ध रजनी का आगमन हो रहा था, महाराजजी इसी विचार में निमग्न रहे कि उन व्यक्तियों को फल तोड़ने के लिये जागृत कर प्रोत्साहित करना कहीं अनुचित तो नहीं होगा। ऐसी ही विचार-वीथियों में उलझे हुए परमहंसजी पुनः वहीं अनुभव प्राप्त करते हैं कि कोई व्यक्ति कुटीर की ओर आता हुआ दिखायी देता है और उनके समीप पहुँचकर वह इस सूक्ति का उच्चारण करता है, **'जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष ते बिष भारी।।'** *(मानस, २/१२६/६)* विचार करना प्रारम्भ किया तो भयावह अपशकुन होने लगे। निश्चयात्मक निर्णय मिला कि तुम जिस कार्य में प्रवृत्त हो रहे हो, वह महान् पाप है। निशा में आम्रफलों को तोड़ने की योजना बनानेवाले व्यक्तियों ने उठकर महाराजजी से सानुरोध प्रश्नात्मक शैली में विनय किया कि, महाराजजी! रात्रि में हमलोगों को न जगाने का क्या कारण था? स्वाभाविक रूप से सरलतापूर्वक आपने उत्तर दिया कि इष्ट ने मना कर दिया था। यह है सर्वव्यापी इष्टदेव की व्यापकता! ठीक ही है, **'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।'** *(मानस, १/१८४/४)*

वह महाप्रभु अन्यान्य माध्यमों से हमें सतत सजग रहने के लिए चेतना प्रदान करते रहते हैं। वह व्यक्ति उसी रास्ते से चार वर्षों से रात्रि में अपने खेत आया-जाया करता था परन्तु उक्त वर्णित सूक्ति का गायन कभी भी नहीं किया। इस तरह श्री परमहंस महाराजजी को साधनात्मक जीवन के आरम्भ में ही ईश्वर की सार्वभौमिकता का आभास हुआ।

भजन परीक्षा की कसौटी पर

साधनरत जीवन की परीक्षा लेने के लिये प्रतिस्पर्धा के आवेश में एक सम्पन्न रईस के द्वारा आपके प्रतिकूल यह षड्यंत्र किया गया कि शासकीय व्यवधान पैदा कर आपको पथभ्रष्ट किया जाय। इसी भावना को कार्यान्वित करने के लिये उस सम्पन्न व्यक्ति ने उपेक्षा भाव से कहा कि ये पाखण्डी और ढोंगी हैं। हम देखते हैं कि हमारे द्वारा आयोजित मुकदमे को राम-नाम की पैरवी से कैसे जीतते हैं? तब आपने सहज भाव से उत्तर दिया कि जब पारिवारिक जीवन एवं आत्मीयजनों से ही सम्बन्ध-विच्छेद हो गया तो मुझे मुकदमे से क्या प्रयोजन? उस रईस ने व्यंग्यात्मक चुटकी ली कि यदि राम-नाम सत्य होगा तो ये अवश्य मुकदमा जीत जायेंगे।

जिस दिन मुकदमे का निर्णय था, अचानक एक दिन पूर्व गुरुदेव आ पहुँचे और दृढ़तापूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा कि- जाओ, ध्यानस्थ होकर न्यायाधीश के स्वरूप को अपने अन्तःकरण में पकड़कर स्वानुकूल भावनात्मक परिवर्तन उसके हृदय-देश में कर लेना, तुम्हारी विजय होगी। कारण यह कि उस रईस ने राम-नाम को चुनौती दी है। यद्यपि न्यायाधीश का निर्णय आपके प्रतिद्वन्द्वी के अनुकूल होनेवाला था परन्तु अन्ततः निर्णय आपके पक्ष में ही घोषित हुआ। आप सस्नेह जमींदार से बोले, "देख, राम-नाम सच्चा है या नहीं। मुझसे खेत-क्यारी से कुछ भी मतलब नहीं है।" रईस की गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा हो गयी। इस घटना का विवरण सुनाते हुए महाराज जी कहा करें, "हो! भगवान चाहें तो पत्थर पर भी दूब जम सकती है।"

धर्मपत्नी को उपदेश

सत्पथिक होने के पूर्व आपका एक भरापूरा खुशहाल परिवार था। आपके पारिवारिक जीवन में धर्मपत्नी, कुछ बच्चे और अन्य लोग थे। क्रमशः भजन में आपकी तल्लीनता देखकर एक बार आपकी धर्मपत्नी पूर्ववत् शृंगार करके शान्त रजनी में आपसे मिलने की इच्छा लेकर कुटीर में पहुँचीं। महाराजजी उनके भावों को परखते हुए स्वभावतः बोल पड़े कि अभी यह ठन-गन समाप्त नहीं हुआ? उत्तर मिला, "क्या मैं विधवा हूँ?" आपने कहा, "विधवा नहीं तो क्या! साधु होना और मरना बराबर है।"

यह सुनकर पत्नी के करुण क्रन्दन की चीत्कार ने सारे वातावरण को स्तम्भित कर दिया। सुहाग के सभी अलंकरण धर्मपत्नी ने उतारकर फेंक दिये। पत्नी का आर्तनाद सुनकर ग्रामवासी देखने आये। अन्ततः उन्हें इस रहस्यात्मक घटना का पता चला। धर्मदेवी नैराश्य भाव से गृह वापस आ गईं। घटनोपरान्त आने-जाने वाले व्यक्तियों से आप इसका दृष्टान्त दिया करते थे, **'त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्, दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।'**

भगवत्पथ पर चलनेवाले पथिकों को नारी का आकर्षण पथ-भ्रष्ट कर देता है। अतः शृंगारिक हावभाव से बचकर ही हम साधनोन्मुखी हो सकते हैं। जैसा कि आप कहा करते थे, ''जब माया परीक्षा लेती है, तो नामर्द मर्द हो जाते हैं और बूढ़े जवान हो जाते हैं।'' तात्पर्य यह है कि माया-बन्धन से इष्टदेव की महती कृपा से ही बचा जा सकता है।

नल पर गुरुदेव का स्नान और चेतावनी

प्रायः दस-बीस दिन के अन्तराल पर सत्संगी महाराज आ जाया करते थे। उनके आगमन पर महाराजजी उनकी सेवा में लग जाते थे। सेवा साधना की आधारशिला है। महाराजजी भली प्रकार सेवा में रत रहते और सत्संगी महाराज साधना के सूक्ष्म उतार-चढ़ाव से अवगत कराते रहते थे।

महाराजजी के आचरण पर सत्संगी महाराजजी की सतर्क दृष्टि रहती थी। महात्मा सरल हृदय होते हैं; किन्तु साधक की भूल की सम्भावना पर वे बड़े कठोर हुआ करते हैं।

एक बार महाराजजी अपने गुरुदेव सत्संगी महाराजजी को एक हैण्ड पम्प पर स्नान करा रहे थे। इतने में एक कन्या भी घड़ा लेकर जल लेने वहीं आ गयी। वह कुछ देर खड़ी रही। महाराजजी ने देखा कि वह ऊब रही थी। आप उसे धैर्य बँधाने के लिए उसकी ओर देख लेते कि किंचित् रुको, गुरुदेव को स्नान कर लेने दो। गुरुदेव ने उस कन्या की ओर दृष्टिपात करते हुए देखा तो नहीं; किन्तु जान गये। तमककर बोले, 'बन्द करो' और एक ओर हट गये। उन्होंने उस कन्या से पानी भर लेने को कहा। वह घड़ा भरकर चली गयी।

सत्संगी महाराज पुनः स्नान करने लगे और बोले, ''जानते हो, मछली कैसे फँसती है? कँटिये में थोड़ा-सा चारा चिपकाकर पानी में फेंकते हैं। पहले तो मछली उसे दूर से देखती है, फिर उसे जरा-सा चाटती है, इधर-उधर देखती है और भाग जाती है। पुनः वह चारे के पास आती है, अपने को रोक नहीं पाती। ज्योंही वह चारे को झपटती है त्योंही कँटिया गले में फँस जाती है। जहाँ डोरी हिली कि मछली मारनेवाला उसे

खींचकर पानी से बाहर जमीन पर 'धम्म' से पटक देता है। समझे मछली कैसे पकड़ी जाती है?" महाराजजी बोले, "जी, मैंने देखा है।" सत्संगी महाराज पुनः तड़के, "अभी कहता है कि देखा है।" महाराजजी के मुँह में उँगली डालकर बोले, "इस प्रकार उसे बाहर जमीन पर धों से पटक देते हैं।"

अब महाराजजी ने शान्त रहने में ही भलाई समझी; क्योंकि ज्योंही कुछ कहने का प्रयास करते, गुरु महाराज चौगुने वेग से गालियाँ देने लगते थे। समझ में नहीं आया कि क्यों गालियाँ दे रहे हैं?

सायंकाल दर्शनार्थी, सत्संग सुननेवाले कुटी पर आने लगे। सत्संगी महाराज को प्रणाम कर लेने के पश्चात् वे उधर बढ़ने लगे, जिधर महाराजजी बैठे थे। सत्संगी महाराज ने उन्हें टोकते हुए कहा, "अरे बाबू! कहाँ जा रहे हो, आओ बैठो।" उन्होंने कहा, "थोड़ा सन्तजी को भी प्रणाम कर लेते।" सत्संगी महाराजजी ने कहा, "सन्तजी, कैसा सन्त? यह तो मेहरिया ताक रहा था।" लोगों ने महाराजजी से पूछा, "सन्तजी! गुरु महाराज यह क्या कह रहे हैं?" महाराजजी बोले, "भाई हमें तो पता नहीं!" सत्संगी महाराज पुनः तमककर बोले, "फिर कहता है कि हमें पता नहीं है। वह लड़की जो पानी भरने आयी थी, उसे तुमने नहीं देखा था?" महाराजजी ने निवेदन किया, "महाराजजी! मेरे मन में उसके प्रति कोई दुर्भाव नहीं था।" सत्संगी महाराजजी ने कहा, "हाँ बेटा! नानी के आगे ननिअउरे का बखान। अब हमीं को समझाने चला है। अरे! मछली पहले उसी प्रकार ताकती है, जिस प्रकार तू ताक रहा था। ऐसे ही क्रमशः समीप होते-होते माया जीव को मछली की तरह फँसाकर चौरासी लाख योनियों में पटक देती है।" पचासों लोगों के बीच सत्संगी महाराजजी की ताड़ना का क्रम आधे घण्टे तक चलता रहा। इस ताड़ना से महाराजजी को बड़ा सन्तोष हुआ। इस निर्देश का उन्होंने कड़ाई से पालन किया, जो आगे चलकर निराधार विचरणकाल में आपका गुरु के समान सहायक सिद्ध हुआ।

गृह में भयंकर उत्पात

जब परमहंसजी भजन करने में अनुरक्त हो गये, तो कुछ समय के उपरान्त घर में भयंकर उत्पात प्रारम्भ हो गया। इसका कारण चाहे जो भी रहा हो, अनायास घर के छप्पर की बड़ेर चर्र-चर्र करने लगी, जिसके परिणामस्वरूप समस्त परिवार सशंकित हो गया। यहाँ तक कि आगे चलकर परिवार के सदस्यों का क्रमशः निधन होने लगा। एक सदस्य की अन्त्येष्टि-क्रिया पूरी नहीं हो पाती थी कि दूसरा भी काल कवलित हो जाता था। पारिवारिक जन आपके समक्ष शव रखकर रुदन करते हुए कोसते थे कि, जब

से तुम भजन करने लगे तब से घर का सत्यानाश हो गया। मृत्यु का यह क्रम यहाँ तक चला कि धीरे-धीरे परिवार के ग्यारह सदस्य काल के कराल गाल में पिस गये। इस प्रकार की रोमांचकारी घटनाओं का भावी संकेत देते हुए पहले ही गुरु महाराजजी कह जाते थे कि अब तुम्हारी परीक्षा है, सतर्क रहना- कभी अनुभव में, कभी प्रत्यक्ष। यह रोना-पीटना लगा ही रहता था; परन्तु इस प्रकार की स्तम्भक घटनाओं के बीच भी आप अनवरत साधना में तल्लीन रहे। मात्र यह गुरु महाराजजी की ही कृपा थी।

एक दिन आप भजन में बैठे थे कि आपको आदेश मिला कि, "जिस धूनी पर बैठकर तापते हो, उसी की विभूति लेकर जाओ और घर में छिड़क दो। इसके बाद आज से न तो बड़ेर चर्र-चूँ करेगी और न किसी का अन्तकाल होगा। परिवार में जो बचे हैं, वे दीर्घजीवी होंगे। वहाँ पर बैठना नहीं, खड़े-खड़े ही लौटकर चले आना।"

भगवान का आदेश था इसलिये महाराजजी उठे, विभूति उठाया, घर के भीतर गये। चारो ओर ऊपर-नीचे विभूति छिड़ककर बाहर निकल आये। माँ से आपने कहा, "देखो, आज से न तो बड़ेर चर्र-चूँ करेगी और न कोई मरेगा। अब तेरा घर ठीक हो गया।" ऐसा कहकर महाराजजी कुटी की ओर चल पड़े। माँ ने पीछा किया। वह अनुरोध करती रहीं; किन्तु आप निर्विकार भाव से आकर अपनी कुटीर में बैठ गये।

क्षणासक्ति पर इष्ट-आदेश

जहाँ महाराजजी भजनरत थे, उस बगीचे की समीपस्थ पगडण्डी से आने-जानेवाले आपकी क्षीण काया देख आक्षेप करते कि इन्हें कोई घातक रोग हो गया है, घड़ी टल रही है। ये आक्षेप यदा-कदा आपके कर्णकुहरों तक पहुँच जाते थे। इसलिए प्रायः नित्य ही आप भगवान से प्रार्थना करते कि आदेश होता तो हम कहीं अन्यत्र जाकर भजन करते। गाँव में तो लोग कुछ-न-कुछ कहते ही रहेंगे। किन्तु भगवान आदेश न दें।

गृह-निष्क्रमण का पाँचवाँ वर्ष हो चला था। बगीचे में बौर आने लग गये थे। उन्हें देखकर महाराजजी के मन में विचार आया- अच्छा तो है, अब कहीं नहीं जायेंगे। भजन ही तो करना है। बौर आया है तो फल भी आयेंगे। यहीं फल-फूल खायेंगे और भजन करेंगे।

ज्योंही बगीचे के प्रति क्षणिक आसक्ति हुई तत्काल अन्तर्जगत से इष्टदेव का आदेश मिला कि प्रयागराज जाओ। महाराजजी को इस आदेश से इतनी प्रसन्नता हुई मानो किसी पक्षी को पिजड़े से मुक्ति मिल गयी हो। आप प्रयाग की ओर चल पड़े। छः भाविक भक्त भी महाराज के साथ हो लिये।

दूर हटो!" सरल भाव से मुस्कराते हुए कुछ दूर जाकर गंगा के किनारे बालू पर बैठकर आप ध्यानस्थ हो गये।

उसी समय एक प्रतिष्ठित साधुप्रेमी किसी सेठ द्वारा साधु-मण्डली निमंत्रित हुई और उन्हीं के साथ यह अज्ञात लोक में विचरण करनेवाला अवधूत भी निमंत्रित किया गया। साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना से प्रेरित उन साधुओं ने आपकी उपेक्षा करते हुए उस सेठ को ललकारा कि इस खड़िया को खिलाना है या साधुओं को। सेठ ने विनीत भाव से कहा कि- "ये चाहे जैसे भी हों, मेरे निमंत्रित साधु हैं। मैं इनका तिरस्कार नहीं होने दूँगा।"

भोजन के पूर्व जैसे ही पत्तल पड़ना प्रारम्भ हुआ कि पास के साधुओं ने घृणास्पद भाव से कहना आरम्भ कर दिया कि ऐसा लगता है, यह खड़िया कई दिनों से स्नान नहीं किया है। परन्तु, उस श्रद्धालु सेठ ने महाराजजी की भोजन-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से की। आप कई दिनों से क्षुधापीड़ित थे। जैसे ही दो-तीन ग्रास ग्रहण कर पाये कि निर्दय आकाश से बड़ी-बड़ी बूँदे टपकने लगीं। सन्तवाणी से उत्तेजित होकर इन्द्र के लिए दो-चार शब्द प्रस्फुटित हुए कि ऐसे ही समय में तुम्हें जलवृष्टि करनी थी। सन्त-महिमा के फलस्वरूप जलवृष्टि रुक गयी और मेघाच्छन्न आकाश निर्मल हो गया। सारा समाज इस अलौकिकता को देखकर आश्चर्यचकित हो गया।

भोजन के उपरान्त आप जैसे ही निर्विघ्न हस्त-प्रक्षालन करने लगे, सभी उपस्थित साधुओं एवं गृहस्थों ने आपको घेर लिया। यह कहकर कि 'गंगाजी में हाथ धोऊँगा', आप चल पड़े। सारा समाज आपके पीछे हो लिया। आप शीघ्रता से गंगाजी में प्रवेश कर उस पार निकल गये और वहाँ बाँसों के एक प्रकोष्ठ में स्थिर मन होकर बैठ गये। आपके पीछे दौड़नेवाली भीड़ ने यत्र-तत्र आपको खोजने का प्रयास किया। कुछ लोग नौका लेकर उस पार पहुँचे, परन्तु सारा प्रयास असफल रहा। वे लोग महाराजजी को पुनः न पा सके। अब वे हताश होकर एक दूसरे को कोसने लगे कि हम दुर्भाग्यशाली हैं; क्योंकि एक अद्‌भुत महापुरुष हमारे बीच से अन्तर्ध्यान हो गये। हम लोग ठीक से दर्शन भी नहीं ले पाये, बस हाथ मींजना ही हाथ लगा।

अपने प्रवचन के दौरान महाराजजी यदा-कदा इस घटना की ओर संकेत करके कहा करते थे कि, "सुनो, भगवान ही वाणी को पूरा करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि कुछ नहीं होती। परन्तु पूर्ण विश्वास व स्थिरता होनी चाहिये।"

प्रयाग कुम्भ के मेले में

विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण करते हुए एक बार पुनः कुम्भ मेले में आप प्रयाग पधारे। आप पागल की भाँति इतस्ततः भ्रमण कर रहे थे। कोई बैठने भी नहीं देता था। इसी

प्रयाग की घटना

तीर्थराज प्रयाग इलाहाबाद के पास गंगा और यमुना इन दो नदियों का पवित्र संगम है। आप इसी संगम में नौका विहार कर रहे थे। गाँव के वे भक्त आपके साथ थे। संगम के बीच नौका पर होनेवाले सत्संग के परिणामस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों को माननेवाले साधु-महात्माओं के साथ वाद-विवाद हो गया। तर्क-वितर्क में काफी तनाव बढ़ गया। इसके बाद आपने सत्संग करनेवाले महात्मा का अनजान में ही एक फूटा लोटा लेकर उसे गंगाजल से पूरित कर दिया। इस चमत्कारपूर्ण कार्य को देखकर वे सभी महात्मा आश्चर्यचकित हो गये। वे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि इस फूटे हुए लोटे में गंगाजल कैसे रुक गया। अन्ततः वे निश्चय करते हुए बोले कि यदि आपके स्पर्शमात्र से छिद्रित पात्र में भी जल रुक जाता है तो आपकी वाणी निःसन्देह हर देश-काल और परिस्थिति में सत्य और हमारे लिए अनुकरणीय है। यह सुनकर आपके मन में बड़ा विस्मय हुआ। आपने इष्टदेव से क्षमा प्रार्थना की कि मैं यह समझ भी नहीं पाता कि भगवन्! आप क्या-क्या चमत्कार दिखाते हैं।

सायंकाल भोजनोपरान्त भाविक भक्त रेत में बिस्तर बिछाकर शयन करने लगे। रात्रि के लगभग नौ बज रहे थे। आपने इष्टदेव से निवेदन किया, "भगवन्! प्रयाग तो आ गये, अब क्या करें?" भगवान ने कहा, "इन लोगों का साथ छोड़ दो।" महाराज उन लोगों को सोता छोड़कर धीरे-से उठे और चल पड़े। आप गंगा के किनारे-किनारे रात्रिपर्यन्त चलते ही रह गये। प्रातः होते-होते आप पर्याप्त दूर निकल आये थे। प्रातःक्रिया से निवृत्त हो हाथ-मुँह प्रक्षालन कर पुनः चिन्तन में बैठने से पूर्व महाराजजी ने पूछा, "भगवन्! उन लोगों का साथ तो छूट गया, अब क्या करें।" भगवान ने कहा, "शरीर पर जो वस्त्र पहन रखा है, उसे उतार कर पूर्णतः निर्वस्त्र हो जाओ।" महाराजजी ने आदेश का पालन किया, दिगम्बर हो गये। उन्होंने पुनः निवेदन किया, "प्रभो! अब क्या आज्ञा है?" भगवान ने कहा, "कमण्डल उठा लो और गंगा का किनारा पकड़कर इस दिशा में निकल जाओ। महाराजजी प्रयाग से पूर्व गंगातट के साहचर्य में हँडिया की ओर अग्रसर हो चले।

इस घटना के बाद आप कई बार विशेष पर्वों पर प्रयाग पधारे। माघ का मेला था। चतुर्दिक गंगा के पावन कूल पर महात्माओं की धूनियाँ एवं तम्बू लगे थे। आपके पास कुछ भी नहीं था। ऐसी अवस्था में परिभ्रमण करते हुए आप त्यागियों की जमात में जा पहुँचे। वे सब-के-सब आपको देखकर बोल पड़े--"चल खड़िया कहीं का! बस बनकर आ गये साधु, न तिलक का पता न माला का! लगे साधुओं की नकल करने! चलो! चलो!

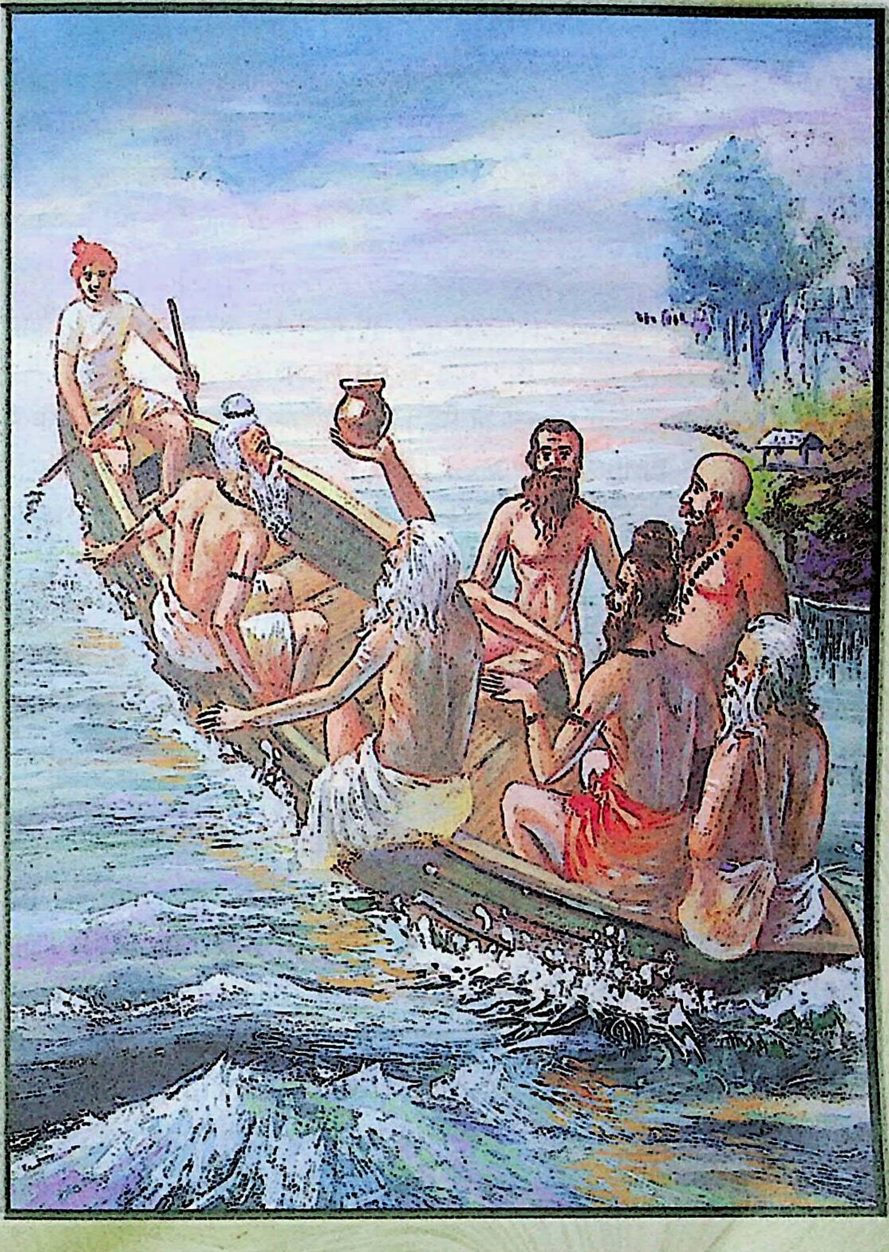

प्रयाग की घटना

दूर हटो!" सरल भाव से मुस्कराते हुए कुछ दूर जाकर गंगा के किनारे बालू पर बैठकर आप ध्यानस्थ हो गये।

उसी समय एक प्रतिष्ठित साधुप्रेमी किसी सेठ द्वारा साधु-मण्डली निमंत्रित हुई और उन्हीं के साथ यह अज्ञात लोक में विचरण करनेवाला अवधूत भी निमंत्रित किया गया। साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना से प्रेरित उन साधुओं ने आपकी उपेक्षा करते हुए उस सेठ को ललकारा कि इस खड़िया को खिलाना है या साधुओं को। सेठ ने विनीत भाव से कहा कि- "ये चाहे जैसे भी हों, मेरे निमंत्रित साधु हैं। मैं इनका तिरस्कार नहीं होने दूँगा।"

भोजन के पूर्व जैसे ही पत्तल पड़ना प्रारम्भ हुआ कि पास के साधुओं ने घृणास्पद भाव से कहना आरम्भ कर दिया कि ऐसा लगता है, यह खड़िया कई दिनों से स्नान नहीं किया है। परन्तु, उस श्रद्धालु सेठ ने महाराजजी की भोजन-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से की। आप कई दिनों से क्षुधापीड़ित थे। जैसे ही दो-तीन ग्रास ग्रहण कर पाये कि निर्दय आकाश से बड़ी-बड़ी बूँदे टपकने लगीं। सन्तवाणी से उत्तेजित होकर इन्द्र के लिए दो-चार शब्द प्रस्फुटित हुए कि ऐसे ही समय में तुम्हें जलवृष्टि करनी थी। सन्त-महिमा के फलस्वरूप जलवृष्टि रुक गयी और मेघाच्छन्न आकाश निर्मल हो गया। सारा समाज इस अलौकिकता को देखकर आश्चर्यचकित हो गया।

भोजन के उपरान्त आप जैसे ही निर्विघ्न हस्त-प्रक्षालन करने लगे, सभी उपस्थित साधुओं एवं गृहस्थों ने आपको घेर लिया। यह कहकर कि 'गंगाजी में हाथ धोऊँगा', आप चल पड़े। सारा समाज आपके पीछे हो लिया। आप शीघ्रता से गंगाजी में प्रवेश कर उस पार निकल गये और वहाँ बाँसों के एक प्रकोष्ठ में स्थिर मन होकर बैठ गये। आपके पीछे दौड़नेवाली भीड़ ने यत्र-तत्र आपको खोजने का प्रयास किया। कुछ लोग नौका लेकर उस पार पहुँचे, परन्तु सारा प्रयास असफल रहा। वे लोग महाराजजी को पुनः न पा सके। अब वे हताश होकर एक दूसरे को कोसने लगे कि हम दुर्भाग्यशाली हैं; क्योंकि एक अद्‌भुत महापुरुष हमारे बीच से अन्तर्ध्यान हो गये। हम लोग ठीक से दर्शन भी नहीं ले पाये, बस हाथ मींजना ही हाथ लगा।

अपने प्रवचन के दौरान महाराजजी यदा-कदा इस घटना की ओर संकेत करके कहा करते थे कि, "सुनो, भगवान ही वाणी को पूरा करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि कुछ नहीं होती। परन्तु पूर्ण विश्वास व स्थिरता होनी चाहिये।"

प्रयाग कुम्भ के मेले में

विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण करते हुए एक बार पुनः कुम्भ मेले में आप प्रयाग पधारे। आप पागल की भाँति इतस्ततः भ्रमण कर रहे थे। कोई बैठने भी नहीं देता था। इसी

बीच किसी धर्मपरायणा रानी द्वारा साधुओं को आमंत्रित किया गया। साधुओं की भीड़ में आप भी साथ-साथ चल पड़े। आपको देखते ही किसी सिपाही ने धक्का देते हुए दुतकारकर कहा, ''चल पगले कहीं का! यह भण्डारा महात्माओं के लिये है न कि तुम जैसे पागलों के लिये!'' और बरबस आपका हाथ मरोड़कर आपको पीछे ढकेल दिया।

क्षणिक करुणा का संचार मानस-पटल में होने के फलस्वरूप आप विचार करने लगे कि जब सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता महाप्रभु सबके हृदय से बोलता है तो मेरी यह विडम्बना कैसी! ऐसा लगता है कि साधुत्व की सीमा को हमने उपलब्ध ही नहीं किया। इन्हीं विचारों के भँवर में पड़े हुए कुछ दूरी पर दृढ़प्रतिज्ञ होकर आप बैठ गये कि अब मैं क्षुधा-तृप्ति के लिए किसी के यहाँ नहीं जाऊँगा। मुझे इस मार्ग में प्रवृत्त करनेवाला इष्टदेव ही मुझे भोजन प्रदान करेगा तो खाऊँगा अन्यथा नहीं। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् एक सन्तसेवी सेठ ने वहाँ पहुँचकर आपसे भोजन के लिये आग्रह किया। आपने निस्पृहतापूर्वक उत्तर दिया कि यदि भगवान यहीं भोजन देंगे तो करूँगा, नहीं तो उपवास ही सह्य है। ऐसा सुनकर वह सेठ विभिन्न प्रकार के व्यंजनों का थाल उसी स्थान पर ले आया। भोजन से निवृत्त होकर आप घूमने-फिरने लगे और उसी स्थान पर पहुँचे जहाँ कि सिपाही ने धक्का दिया था। देखते हैं कि सिपाही वहीं पड़ा कराह रहा है। उसे आभास हो रहा था कि आज मैंने एक सन्त का अपमान किया है, हो सकता है उसी का प्रतिफल मुझे मिल रहा हो। आपकी इधर-उधर खोज हो रही थी। सौभाग्यवश आप स्वतः विचरते हुए वहाँ पहुँच गये, जहाँ वह सन्तरी उदरशूल से पीड़ित था। देखते ही लोगों ने आपको घेर लिया और विनम्र शब्दों में प्रार्थनीय ढंग से कहा कि महाराजजी क्षमा करें, यह प्रहरी आपसे अवगत नहीं था। सन्त स्वभावानुसार आपने उसके प्रति दयार्द्र होकर स्पर्श किया। तत्क्षण ईश्वर की अनुकम्पा से उसके पेट का दर्द समाप्त हो गया। ऐसा चमत्कारपूर्ण दृश्य देखकर रानी भी भावविभोर हो गयी। देखते-ही-देखते दर्शकों की अपार भीड़ उमड़ने लगी। आप किसी प्रकार रात्रि के घने अन्धकार में उस स्थान का परित्याग कर आगे चल पड़े।

परिभ्रमणकाल में जौनपुर

एक समय विचरण करते हुए आप जौनपुर जा निकले। वहाँ व्यक्तियों से भेंट न होने के कारण रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में आप किसी समीपस्थ बगीचे में मीठे अमरूद के फल खाकर पुनः ध्यान और जप की प्रक्रिया में संलग्न हो जाते थे। संयोगवश एक दिन बागवान ने आपको अमरूद तोड़कर खाते हुए देख लिया। उसने कहा, ''भगवन्! मेरा यह बगीचा आपका ही है, स्वच्छन्दतापूर्वक आप फलास्वादन करें; परन्तु

आपको स्वतः अपने सुकोमल हाथों से फल तोड़ने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयमेव आपकी सेवा में फलार्पण करूँगा।"

कुछ समय के पश्चात् वहाँ ग्रामीण लोगों का आवागमन प्रारम्भ हो गया। भाविकगण नियमित रूप से विविध भोज्य सामग्री आपकी सेवा में पहुँचाने लगे। आप सभी खाद्य सामग्रियों को एक साथ उबालकर खा लिया करते थे। भोजन-पात्र के रूप में आपके पास मिट्टी की एक हँड़िया थी, जो अमरूद की डाली में लटकी रहती थी। सामग्री समाप्त होने पर भाविक लोग पुनः उस हँड़िया को भर जाते थे। इस तरह निस्पृह होकर आप भजन में मस्त रहते थे।

जौनपुर का कब्रिस्तान

एकान्तप्रिय होने के कारण जनकोलाहल से दूर परिभ्रमण करते हुए आप शहर से बाहर कब्रिस्तान जा पहुँचे। प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में सर्वत्र नीरवता छायी हुई थी। वहाँ एक कुएँ के सहारे आप ध्यान लगाकर बैठ गये। इसी बीच अनायास आपको अनेक प्रकार की कुत्सित आत्माओं की आवाजें सुनायी देने लगी। महाराजजी का ध्यान जैसे ही टूटा, वे इतस्ततः देखने लगे। भीमकाय विभिन्न प्रकार की आत्मायें अनेक आकार-प्रकार में दृष्टिगोचर होने लगीं। जो दूर से प्रकट होतीं, विकास करते हुए एक सीमा तक बढ़तीं; फिर घटने लगतीं और शान्त हो जातीं। यह क्रम कई बार चला। उनकी ओर से दृष्टि हटाकर पुनः ध्यान में आप बैठे तो तत्काल आपको संकेत मिला कि ये वे आत्मायें हैं, जो अपने पूर्वजन्म के कुसंस्कारों का भोग भोग रही हैं। इनके पूर्वजन्म के संस्कार व पाप इतने जघन्य थे कि ये न पुनः मानव-शरीर धारण करने योग्य हैं और न मुक्त होने योग्य ही। इसलिये यत्र-तत्र इस जन्म से उस जन्म में अपने कल्याण की खोज में भटक रही हैं। अन्तर्जगत् से संकेत प्राप्त करने के पश्चात् जब महाराजजी ने पुनः सामने दृष्टि डाली तो वही विविध आकार-प्रकार वाली दूषित आत्मायें आपके चरणों के नीचे गिड़गिड़ा रही थीं। उन आत्माओं ने विनय करते हुए कहा कि हमलोग पूर्वजन्म में व्यभिचार, कत्ल, चोरी आदि पापकर्मों में प्रवृत्त रहे; इसलिये दिशाविहीन होकर भटक रही हैं। कृपा कर आप हमारा इस निकृष्ट योनि से छुटकारा दिलाकर कल्याण करें। सन्त स्वभाववश करुणार्द्र होकर महाराजजी उनके प्रति दयालु हो गये। द्रवीभूत हो उन्हें कल्याण का आशीर्वाद देकर आपने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। इस तरह अनायास ही सन्त-महात्माओं के सामीप्य में आने से जन्म-जन्मान्तर के पाप कट जाते हैं और मन निर्मल होकर कल्याण-पथ में प्रवृत्त हो जाता है।

विचरणकाल में निस्पृह आकाशवृत्ति

जौनपुर से प्रस्थान के पश्चात् आप इष्टदेव को हृदय में धारण कर निरावलम्ब विचरने लगे। काशी, आगरा, मथुरा, उज्जैन, मुम्बई, गोण्डा आदि स्थानों का परिभ्रमण करते समय आप भिक्षाटन नहीं करते थे। स्वाभाविक रूप से जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाता था, उसी का भोग लगाकर अलमस्त भजन में लगे रहते थे। आप क्षुधा-शान्ति की धारणा से कभी किसी के यहाँ माँगने नहीं गये; क्योंकि प्रारम्भ से ही यह दृढ़ विश्वास था कि- **मोर दास कहाइ नर आसा**। तात्पर्य यह कि ईश्वरावलम्बित होने पर सांसारिक लोगों से सहयोग की अपेक्षा रखना निरर्थक है। विचरणकाल में निरन्तर आठ-दस दिनों तक का उपवास आपके लिये साधारण बात थी। आपके अटपटे स्वरूप को देखकर बहुत से व्यक्ति आपको पागल की संज्ञा प्रदान करने लगते थे, परन्तु थोड़ी-सी वार्ता होने के पश्चात् उनके अज्ञानान्धकार से पूरित हृदय में सन्त-वाणी की ज्ञानरश्मियाँ प्रवेश करने लगती थीं। वे आपके पीछे चल देते थे। उपेक्षा करने पर भी वे आग्रहपूर्वक संग नहीं छोड़ते थे। आप रात्रि के समय किसी आश्रम या गाँव का अवलम्ब लेकर इसलिये नहीं रुकना चाहते थे कि कहीं हृदय में प्रवाहित होनेवाली अविच्छिन्न भजन की धारा टूट न जाय।

शिशिरकाल में विकम्पित कर देनेवाली असहनीय ठण्डक की रात में भी आप बाँसों के प्रकोष्ठ में बैठकर भजन-ध्यान की स्थिति में लीन रहते थे। प्रातःकाल उठकर आप एक-दो घण्टा धूप में विश्राम किया करते थे। लोगों के उत्कण्ठापूर्वक यह पूछने पर कि, महाराज जी! आप सर्प-बिच्छुओं के अड्डे में किस तरह छुपे रहते हैं? तब आप मुस्कराते हुए उनसे कह दिया करते थे कि देखो, सर्प-बिच्छू लौकिक दृष्टि में ही हैं। साधक की दृष्टि इष्टमयी होती है। इष्टदेव उसे जिस तरह रखते हैं, उन्हीं के आदेशों पर यन्त्रवत् चलता रहता है।

गंगा के किनारे-किनारे विचरण का यह क्रम चलता रहा। दो उपवास, तीन उपवास आये दिन की घटना थी। एक दिन महाराजजी गंगा के किनारे बैठे थे कि एक किसान उधर से निकला। वह बोला, "यहाँ क्या बैठे हो? बस्ती में जाओ और भिक्षा कर लो!" महाराजजी ने कहा, "मुझे भिक्षा नहीं करनी है।" वह बोला, "ऐसे कैसे चलेगा?" प्रेम से मुस्कराकर महाराजजी ने कहा, "भगवान जिसे डण्डा खटखटायेंगे वही खिलायेगा! तू क्यों चिन्ता करता है?" वह किसान 'अच्छा महाराजजी!' कहकर चला गया। लगभग एक घण्टे पश्चात् वही किसान भोजन लेकर आया। उसने निवेदन किया कि भगवन्! प्रसाद ग्रहण कर लें। महाराजजी ने पूछा, "तू क्यों चला आया?" उसने हँसकर कहा, "समझ लें, भगवान ने मुझे ही डण्डा खटखटाया है, इसलिये चला आया।"

कर्मनाशा के किनारे देवी–मन्दिर में

गंगा के दाहिनी ओर विचरण करते महाराजजी बिहार की सीमा पर पहुँचे। आगे कर्मनाशा नदी थी। घाट पर साधारण-सा मेला लगा था। एक वैष्णव महात्मा कुटी बनाकर वहीं रहते थे। उन्होंने महाराजजी को देखा तो बैठने के लिये कहा। भोजन कराया और बोले, "सन्तजी! यहीं कहीं आसन लगा दूँ?" महाराजजी ने कहा, "नहीं, यहाँ भीड़भाड़ है, हमें कहीं एकान्त बता दें।" उन्होंने कहा, "इस ओर निकल जायँ।" महाराजजी ने कर्मनाशा नदी का किनारा पकड़ा। लगभग एक किलोमीटर चलने पर एक मन्दिर-जैसा दिखाई पड़ा।

अँधेरा फैल चुका था। मन्दिर के समीप ही दो-तीन सघन पेड़ थे। वहाँ अँधेरा कुछ अधिक ही था। ठंडक का विचार कर महाराजजी ने उन घने वृक्षों के नीचे ही रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। मन्दिर के भीतर भी उन्होंने देखा। मन्दिर देवी का था। फर्श पर लाल-लाल कुछ चमक रहा था। पैर रखने पर कुछ चिपचिपा-सा प्रतीत हुआ। मन्दिर के छत की ओर दृष्टि गयी, तो घण्टे के बगल में एक सर्प लटक रहा था। कुछ दुर्गन्ध भी आ रही थी। इतने में दो कुत्ते पीछे से हाँव-हाँव करते दौड़े। महाराजजी ने डाँटा तो कुत्ते पीछे हट गये। महाराजजी ने विचार किया कि मन्दिर के भीतर कुछ गन्दगी प्रतीत होती है अतः वे पुनः वृक्षों की छाया में जाकर बैठ गये। दोनों कुत्ते भी कुछ दूरी पर बैठ गये।

आप सम्पूर्ण रात्रि भजन में तल्लीन रहे। सूर्योदय से पहले देवी मन्दिर का पुजारी कुछ लोगों के साथ आया। उसने पूछा, "सन्तजी! आप यहाँ कब आये?" महाराजजी ने बताया कि उन महात्मा के यहाँ प्रसाद पाया और कुछ ऱात होते ही यहाँ आ गये। समाचार सुनकर वह महात्मा भी चले आये। गाँव में जो भी सुनता, वहाँ एकत्र होने लगा। महाराजजी ने पूछा, "बात क्या है?" बड़ा पुजारी कहने लगा, "महाराजजी! आप सिद्ध पुरुष हैं। यहाँ रात रुकने पर आज तक कोई जीवित नहीं बचा। बहुत-सी दुर्घटनायें यहाँ हो चुकी हैं। आप पूरी रात यहाँ बैठे रह गये और जीवित भी हैं, यह महान् आश्चर्य का विषय है।" वे लोग महाराजजी को छोड़ते ही न थे। उन्होंने महाराजजी का स्वागत बड़े भाव से किया। तीन दिन तक वे लोग महाराजजी को रोके ही रह गये। एक दिन महाराजजी रात्रि में उठे और धीरे से प्रस्थान कर गये।

महाराजजी ने बताया, "हो! जब सुबह उठकर देवी का मन्दिर देखा तो खून पड़ा था। ऊपर देखा तो बकरों की बहुत-सी टाँगें लटक रहीं थी पेड़ों पर। इसलिये कुत्ते भी वहाँ रात को रहते थे। जहाँ भी भोजन रहेगा, कुत्ते, साँप या मेढक भी तो वहीं रहेंगे। लोग अकारण ही 'भूत-भूत' करके मर जाया करते थे। **'यह भ्रम भूत सकल जग खाया। जिन-जिन पूजा तिन-तिन गाया।।'**" कहीं कुछ भी न था।

महाराजजी पुनः गंगा-तट की ओर लौट पड़े। विचरण चलता रहा। जहाँ शाम होती, वे वहीं रुक जाते थे। गाँव के बाहर कुछ दूर एकान्त देखकर वे बैठ जाते थे। कोई सन्त-कुटी दिखाई पड़ती तब भी वे उसके भीतर नहीं जाते थे। महाराजजी का विचार था कि यदि कुटी में कोई होगा तो व्यर्थ के व्यवहार और वाद-विवाद में भजन का समय ही तो नष्ट होगा अतः वे रात्रि बाहर एकान्त में ही व्यतीत करना पसन्द करते थे। प्रातः धूप निकलते समय महाराजजी का ध्यान टूटता तो बाँस-वृक्षों की छाया से बाहर आ जाते और धूप में लेट जाते। एक ही नींद में दस-ग्यारह बज जाते थे। बस इसके अतिरिक्त महाराजजी सोते नहीं थे।

शिशिरकाल में दिगम्बरावस्था

परिभ्रमणकाल की इसी शृंखला में आप काशी जा पहुँचे। वहाँ रात्रि के नीरव वातावरण में बिच्छू-सा डंक मारनेवाली सर्दी का अतिक्रमण करते हुए आप कई घण्टे भजन में निमग्न रहते थे। जब सुरति अन्तर्देश में स्थिर हो जाती थी तो बाह्य सर्दी का प्रभाव नगण्य हो जाता था। काशी में रुकने के बाद आप मैदानी क्षेत्र की ओर बढ़ने लगे। कुछ देर चलने के बाद किसी गाँव के समीप दो लड़कियाँ महाराजजी को देखकर दौड़ती हुई समीप आ गईं। आप पूर्णतः दिगम्बर थे, ऐसी स्थिति में आपको देखकर वे हँसने लगीं और आपस में कहना प्रारम्भ कर दिया कि अरी! ये तुम्हें पसन्द कर रहे हैं। दूसरी बोली, "नहीं, तुम्हें पसन्द कर रहे हैं।" उनके वार्तालापों का आपके मन पर कोई असर नहीं पड़ा बल्कि आप अपनी मस्ती में ही डूबे रहे।

इसी बीच एक ग्रामीण व्यक्ति जाता हुआ दिखाई पड़ा। उसे देखकर वे लड़कियाँ शर्म के कारण चिल्लाकर भागने लगीं। उस व्यक्ति ने उन लड़कियों से पूछा कि क्यों भाग रही हो? उन लड़कियों ने उत्तर दिया कि इन्हें नग्न देखकर हमें भय लग रहा था। उनके इस कथन को सुनकर वह ग्रामवासी महाराजजी को देखते ही सन्त समझकर प्रणाम किया और आग्रह के साथ आपको गाँव ले जाने के लिए हठ करने लगा परन्तु आप गाँव के बाहर ही दस दिन तक उसके आग्रह करने पर रमे रहे। इसके पश्चात् उस स्थान को छोड़कर पुनः आप आगे बढ़ गये। ऐसी विषम परिस्थिति और एकान्त में भगवान ही वैराग्य की रक्षा करते हैं, नहीं तो बड़े से बड़े साधक भी काम की चपेट में आकर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं।

उन दिनों आपके दिगम्बर शरीर पर शिशिर, ग्रीष्म तथा पावस ऋतुयें व्यतीत होती चली जा रही थीं। बाँस का प्रकोष्ठ आपको बहुत प्रिय था; क्योंकि सर्दी के दिनों में यह स्थान अन्य खुले स्थानों की अपेक्षा अधिक गरम रहता है। आप शाम होते ही बाँसों के

प्रकोष्ठ में बैठकर ध्यान करने लग जाते थे। जब तक ध्यान नहीं लगता था तब तक तो ठण्डक लगती थी किन्तु ज्योंही ध्यानस्थ होते, बाहर से शरीर पर कुछ ठण्डक-सी प्रतीत होती, रोयें भी फूटे रहते; किन्तु शरीर पर भली प्रकार गर्मी आ जाती थी। वातावरण सहन करने योग्य हो जाता था। सुरत ध्यान में लग जाती थी। वे एकाध बार सुरत लगाये-लगाये ही पाँव नीचे-ऊपर कर लेते थे और सवेरा हो जाता था। इसी क्रम में दिन-मास-वर्ष व्यतीत होते जा रहे थे।

कभी-कभी रात्रि में ध्यान उचट जाता था। ध्यान हटते ही इतनी ठंडक लगती थी कि शरीर काँपने लगता था। हवा तीर की तरह लगती थी। ठण्डक हड्डियों तक धँसती चली जाती थी। ऐसी दशा में ठण्डक से बचने के लिये महाराजजी लगभग एक फर्लांग तेजी से दौड़ते और पुनः उसी वेग से लौटते। इस दौड़ से उनके शरीर में कुछ गर्मी आ जाती थी। उसी गर्मी में वे पुनः बैठकर ध्यानस्थ हो जाया करते थे। प्रायः ध्यान लग जाता था। बाहर की गर्मी शान्त होते-होते शरीर के भीतर गर्मी आ जाती थी और वह रात्रि सुरत की डोरी के साथ बीत जाती थी।

महाराजजी के उस विचरण में दो-चार रात्रियाँ ऐसी भी रहीं कि सारे प्रयत्नों के उपरान्त भी ध्यान नहीं पकड़ में आया। रात्रि का एक-एक पल बड़ी मुश्किल से व्यतीत हुआ। तब पूछा जाय कि, महाराजजी! वह रात्रि कैसे बीती? बोले, "हो, हम ही जानते हैं कि वह कैसे बीती। यूँ समझो कि बीत गयी।" गंगा किनारे घूमते-घूमते पैर में बिवाई फट गयी थी। ठण्डी-ठण्डी रेत उसमें बिंधती तो सम्पूर्ण शरीर में एक टीस की लहर-सी कौंध जाती थी। "फूटे करम तो फटे बिवाई।" किन्तु वे करते भी क्या? भगवान का आदेश था कि तुम्हें इसी प्रकार रहना है। आदेश में घट-बढ़ नहीं करना चाहिए।

रामनगर में भक्तों के बीच

विचरण करते हुए महाराजजी काशी की गलियों से होते हुए रामनगर किले के पीछे गंगा के किनारे पहुँच गये। वहाँ नोनिया लोगों की बस्ती थी। लोग सम्पन्न थे। पहले तो उन लोगों ने आपसे एक मन्दिर में रहने का प्रस्ताव रखा, किन्तु आपकी असहमति देख उन सबने किले की दीवार से सटकर एक झोपड़ी बना दी। आप उसी में बैठ गये। सब-के-सब बड़ी श्रद्धा से आपकी सेवा करने लगे। उनके बाल-बच्चे भी वहाँ आने लगे। एक लड़की रात दो बजे से ही आपके सामने खड़ी हो जाती और पाँच बजे तक एक स्थान पर खड़ी एकटक देखती रहती, पुनः गायब हो जाती। दो दिन बाद आपको आभास हो पाया कि कोई खड़ा है। आपने देखा तो बिटिया थी। आपने उसके घरवालों

का पता लगने पर बुलवाया। उन लोगों को उस कन्या के शादी-विवाह का परामर्श दिया और आशीर्वाद देकर विदा कर दिया।

आप कहा करें, "हो! भगवत्पथ के पथिकों के लिए एकान्त में विघ्न ज्यादा हैं। जो एकान्त में भी अपने वैराग्य की रक्षा कर लेता है, वह महान् है। साधु को अपनी टेक का पक्का होना चाहिये, प्रतिज्ञाबद्ध रहना चाहिये। देखो न! दिगम्बर वेश का कौतूहल ही उसे खींच ले आया था।"

फकीर के साथ भोजन

महाराजजी को निराधार विचरण पसन्द था। चलने से पूर्व आप कोई योजना बनाकर नहीं चलते थे। साधारण टहलने-जैसी चाल से आप किसी भी दिशा में चल पड़ते थे। कहाँ जाना है, मार्ग में कौन-सा स्थान पड़ेगा- इत्यादि सुविधा-असुविधा का आपको भान ही नहीं होता था। चलते समय भी आपका ध्यान श्वास-प्रश्वास पर ही रहता था। नाम-जप और सुरत पर अनवरत दृष्टि रहती थी। उपवास आपके लिये सामान्य-सी बात थी। कोई भोजन करा देता तो आप स्वीकार कर लिया करते थे।

चलते-चलते आप एक कुटी में पहुँच गये। वहाँ एक मुसलमान फकीर रहता था। उसने प्रणत हो निवेदन किया, "महाराजजी! हम मुसलमान फकीर हैं। हमारे हाथ की रोटी क्या आप खायेंगे?" महाराजजी ने कहा, "भाई! सन्त के लिये जाति-पाँति, कबीला, सम्प्रदाय, कुल, गोत्र, मज़हब का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इस पथ में तो केवल एक लक्ष्य रह जाता है, उस परमतत्त्व परमेश्वर का चिन्तन! हमें तो हिन्दू-मुसलमान में कोई अन्तर समझ में नहीं आता। हाँ, तुम फकीर हो, यह बताओ तुम्हारे अन्दर कोई भेदभाव तो नहीं है?" उसने कहा--"नहीं महाराज! हमारे अन्दर भी कोई भेदभाव नहीं है।"

महाराजजी ने कहा, "जैसे 'अल्लाह-अल्लाह' कहते हो, उसी तरह दो बार 'राम-राम' कहो तो खा लेंगे।" अब उसके मुख से राम का नाम निकलता ही न था। आपने कहा, "जब तुम्हारे अन्दर इतना भेद भरा है तो हम कैसे खा लें?" जब उसने देख लिया कि नाम का उच्चारण किये बिना आप प्रसाद ग्रहण नहीं करेंगे तो उसने चार बार 'राम-राम' कहा। आपने उसके हाथ का प्रसाद पाया।

भोजनोपरान्त महाराजजी ने उससे सत्संग वार्ता की। उसने बताया, "भेद तो कुछ भी नहीं है किन्तु कूट-कूटकर ऐसा भ्रम भर दिया गया है कि शीघ्र हृदय से निकलता ही नहीं है। इसलिये राम-राम कहने में मुझे भी संकोच हो रहा था।" आपने कहा, "परमात्मा का चिन्तन करते रहो, गुरु महाराज में सुरत लगाये भर रहो, भगवान् यह

भ्रम स्वयं मिटा देंगे।" उस फकीर को योग-साधन और चिन्तन का उपदेश देकर महाराजजी आगे बढ़ चले।

यमुना किनारे माताओं का भजन

एक दिन आप यमुना के किनारे भजन में बैठे थे। ब्राह्मवेला में महिलायें स्नान इत्यादि के लिए भजन गाते जा रही थीं--

तैंने हीरा सों जनम गँवायो, भजन बिनु बावरे।।
कदे न आयो साधु सरन में, कदे न हरिगुन गायो।
पचि-पचि मर्‌यो बैल की नाईं, सोइ रह्यो उठि खायो।।
.....भजन बिनु बावरे।।

सवेरे का समय! इतना अच्छा भजन कि मन करता था याद हो जाय। परन्तु आगे की पंक्तियाँ वे माताएँ न जाने किस भाषा में अथवा किस आरोह-अवरोह के साथ गा रही थीं कि समझ में ही नहीं आता था। मात्र उपर्युक्त पंक्तियाँ ही पकड़ में आयीं, जिन्हें महाराजजी कभी-कभी गुनगुनाया करते थे।

महाराजजी का कहना था कि कहीं लाख दुर्गुण क्यों न हो, एकाध गुण अवश्य होगा। साधक बस उसी एक गुण को ले लेता है।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।। *(मानस, ४/१३/७)*

भगवान दत्तात्रेय ने कुत्ते में भी सद्‌गुरुओं का एक गुण देखा। कुत्ते में अनेक अवगुण होते हैं; फिर भी उसमें यह गुण तो है ही कि किसी ने डण्डा उठाया तो भाग गया, पुचकारा तो चला आया। अवधूत को इसी प्रकार मान-अपमान से रहित, सन्तोषी होना चाहिए। श्री परमहंसजी भी साधना में सहायक गुणों पर सतर्क दृष्टि रखते थे। अतः हर साधक को सतर्कता बनाये रखनी चाहिए। विरह, वैराग्य और चेतावनी से भरपूर उक्त भजन को महाराजजी ने अपनी स्मृति-पटल पर सँजो लिया।

आगरा नगर विचरण--पथ पर

आप विचरण करते हुए आगरा पहुँचे। सम्पूर्ण दिन यमुना नदी के किनारे इधर-उधर घूमते रहे। संध्यावेला में आप गल्ला मण्डी में घूमते हुए पहुँच गये। सेठ-साहूकार अपनी-अपनी दुकानें बन्द कर रहे थे। आपको वहाँ जहाँ कहीं भी अनाज के दो-चार कण बिखरे हुए दिखाई देते थे, उन्हें चुन-चुनकर चबाया करते थे। आपको ऐसा करते हुए देखकर धनीमानी सेठ-साहूकारों में उत्कण्ठा जागृत हुई। वे परस्पर वार्तालाप भी करने लगे, परन्तु आपसे बोलने का साहस उन्हें नहीं हुआ। दूसरे दिन भी

आपका यही क्रम देखकर उन सम्पन्न सेठों ने एक-एक मुट्ठी चना आपकी तरफ फेंकना प्रारंभ कर दिया। आपने उन चनों को नहीं उठाया। आप उठे और यमुना किनारे चले गये। आपको अनिच्छा से यह कर्म करते हुए देखकर क्रमशः सभी लोग आपके व्यक्तित्व की ओर आकर्षित होने लगे। यहाँ तक कि महाराजजी को रोककर वे लोग अनवरत सेवा में लग गये। उनके यहाँ आवासकाल में श्रद्धालुओं का ताँता लगा रहता था। कोई उन्हें वस्त्राभूषण भेंट करता, तो कोई उन्हें सेवा द्वारा सन्तुष्ट करना चाहता था; परन्तु आप सबको सन्तुष्ट करने के पश्चात् भेंट में प्राप्त वस्त्राभूषणों को दर्शनाभिलाषियों के बीच वितरित कर दिया करते थे। उनके भेंट-भाव से अलग रहकर आप निस्पृहतापूर्वक इष्ट के ध्यान में निमग्न रहते थे।

कंचन–कामिनि से निवृत्ति

जहाँ आप मन्दिर में निवास करते थे, वहाँ एक विधवा स्त्री भी विविध भेंट सामग्रियाँ लेकर पहुँच जाया करती थी, जिसे समीपवर्ती लोग 'बुआ' कहकर सम्बोधित करते थे। धीरे-धीरे क्रमागत आने-जाने से उस नारी के हृदय में कुत्सित विचारों का अंकुरण हुआ। वह एक दिन सज-धजकर एक बड़ी धनराशि का प्रलोभन देकर कामेच्छा से आपके प्रति सर्वस्व न्योछावर करने को उद्यत हो गयी और कहने लगी, "हमलोग इस धनराशि से खा-पीकर एक साथ भजन करेंगे।" परन्तु साधकों का जीवन इतना लचीला नहीं होता कि वह दिशाहीन होकर किसी तरफ भी परावर्त हो जाय, फिर भी साधनावस्था में कुछ संस्कार पड़ ही जाया करते हैं। रात्रि में आपको स्वप्न-संकेत मिलता है कि आपके गुरुदेव दो ब्राह्मणों को पीले वस्त्र धारण करवाकर पहुँच गये और बोले, "यह औरत को लेकर भागा जा रहा है, इसको पकड़ो और शुद्ध करो।" अनुभव में ही आपको स्नान कराकर मंत्रोच्चारण के साथ पवित्र किया गया। आदेश मिला- शीघ्र इस स्थान का परित्याग कर दो, इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है। ज्योंही महाराजजी की आँख खुली, वे तुरन्त उठे और वहाँ से चल दिये। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर होनेवाले प्रबल मायिक आक्रमणों से आपको इष्टदेव बचाते गये।

जैसा कि आप प्रायः सत्संग के दौरान कहा करते थे, "माया किस स्तर पर अनुकूल है और कब प्रतिकूल- यह साधक की समझ के बाहर की चीज है। भगवान अथवा गुरुदेव ही प्रेरक का स्थान ग्रहण करते हैं तब वह बच पाता है। भगवान सर्वत्र हैं और माया भी सर्वत्र है; किन्तु क्रियारूप से हृदय में स्थान पा लेने से सद्गुरु ही सर्वत्र मिलते हैं। इस अवस्था में आप कहीं भी रहें, मानसिक विचारों के उठते ही वे आपकी रक्षा करेंगे।"

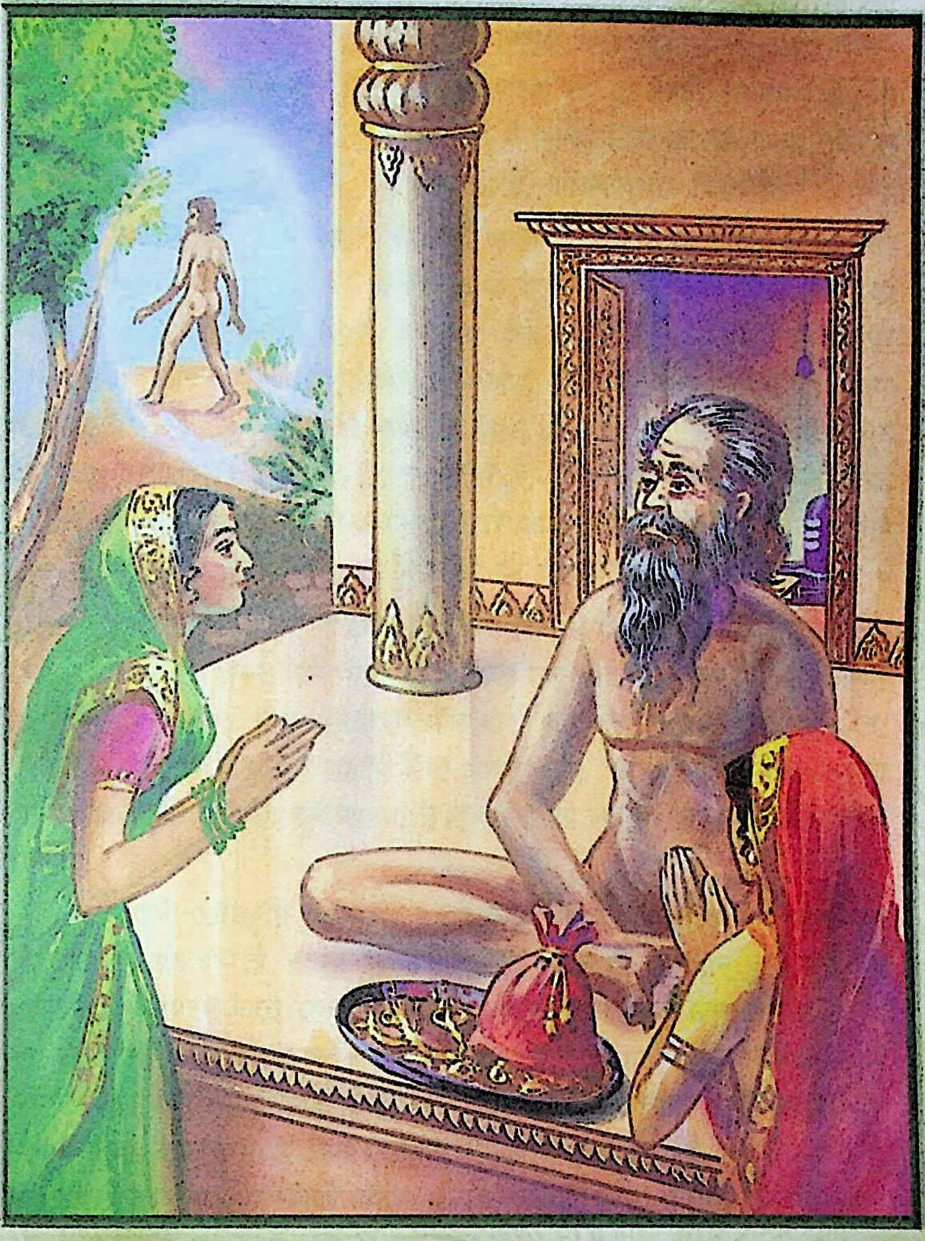

(इष्टदेव के संरक्षण में)
कंचन-कामिनी से निवृत्ती

कुपात्र को दान

एक दिन आप यमुना तट पर भ्रमण कर रहे थे। रास्ते में पाँच रुपये का एक नोट गिरा था। ज्योंही आपकी दृष्टि उस पर पड़ी, आदेश मिला- इसे ले लो। आप सोचने लगे कि इसे लेकर करूँगा क्या? किन्तु आदेश मिलता रहा तो आपने उस रुपये को उठा लिया और मन्दिर पर चले आये। आपको इष्ट से आदेश मिला कि यह रुपया राधेलाल दलाल को दे दो। उसने तुम्हारी बड़ी सेवा की है, आजकल वह विपन्न है।

राधेलालजी व्यापार में दलाली का कार्य करते थे। उन्होंने बहुत धन कमाया था। बाजार में उनकी बड़ी साख थी। वह स्वभाव के बहुत सरल थे किन्तु जुआ खेलने का व्यसन था। सट्टे में 'गुब्बा' और न जाने क्या-क्या लगाते थे। उस जमाने में उन पर अस्सी हजार रुपये का कर्ज था। आपने उनसे कहा, "राधेलाल! देख ताखे में पाँच रुपया रखा है, तू ले ले।" यह सुनते ही राधेलाल उदास हो गये। वह कहने लगे, "अरे गुरु महाराज, आपकी कृपा ही पर्याप्त है। आपने मेरे लिये पैसा क्यों छू दिया?" बहुत आग्रह पर भी उन्होंने वह रुपया नहीं उठाया। वह ठहरे पहले के धनी आदमी! कितना भी वह टूट गये थे तो क्या हुआ, सन्त का पैसा लेने की मनोवृत्ति ही नहीं बना सके।

महाराजजी सोचने लगे, "भगवान ने कहा कि इसे दे दो और यह लेता नहीं है। क्या किया जाय?" उसके जाने के पश्चात् उसका एक छोटा-सा लड़का आया। आपने उससे कहा, "ताखे से फूल निकालकर फेंक दो।" वह फूल निकालने लगा तो बोला, "महाराजजी! इसमें तो पाँच रुपया भी है।" आपने कहा, "अच्छा, तो तू पाँच रुपया पा गया। ठीक है, ले जा और कुछ खा-पी ले।" लड़का तो लड़का! वह रुपया लेकर चला गया।

महाराजजी आगरा से चलते समय राधेलाल से बोले, "देख! तू कर्ज-कर्ज बहुत चिल्लाता है, अब हम तो जा रहे हैं; किन्तु तुझे धन मिले तो कुछ दान-पुण्य कर देना और मेरा भी स्मरण करते रहना।" कालान्तर में जब महाराजजी अनुसुइया में स्थायी रूप से रहने लगे थे, पता लगाते-लगाते राधेलाल दलाल भी वहाँ पहुँच गये। वह कहने लगे, "महाराजजी! आपके जाने के दो दिन बाद ही मैंने तीन लाख रुपये कमाये। कर्ज भी पट गया, दान-पुण्य भी किया। आगरा में जितने भी गरीब मेहतर और डोम थे, उन सबको खिलाया और सबको छककर शराब पिलायी। ऊपर से उन्हें पैसा भी बाँटा।

महाराजजी बिगड़े, " क्यों रे! दान तो सुपात्र को दिया जाता है। दान में शराब पिलायी जाती है क्या? तुम्हारे देने से उनके पास पैसा टिकेगा? बोल टिका?" उन्होंने बताया, "नहीं महाराजजी! लोग दूसरे दिन उस पैसे की शराब छान-फूँककर मस्त हो

गये लेकिन मैं कठिनाइयों से फिर घिर गया हूँ और तभी से आपकी खोज में हूँ।" महाराजजी बोले, "हूँ बेटा! कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो जाता है। अब जुआ बन्द करके भजन कर, तभी तेरी कठिनाइयाँ दूर होंगी।" इस प्रकार आश्वासन देकर महाराजजी ने उन्हें विदा कर दिया।

पूज्य महाराजजी प्रायः कहा करते थे- हो! जिस दिन से आप छोटा-सा भी दान करते हैं, उस दिन से संसार को किसी-न-किसी मात्रा में त्यागते हैं। दान मुक्ति की ओर ले चलता है। दान कई प्रकार के होते हैं, जैसे- स्वास्थ्यदान, विद्यादान, अन्नदान इत्यादि। अन्न सबका जीवन है किन्तु आयु पूरी होने पर अन्न रहते हुए भी काम नहीं देता। अन्त में विद्या भी काम नहीं आती। इन सबसे श्रेष्ठ दान अभयदान है। परमात्मा में ही अभय है। उसमें प्रवेश दिला देना सद्गुरुओं का दान है। हो! संसार में सब दानी ही बने हैं। **'हाथी स्वान लेवा देई'** *(विनय०, पद ७५)*- दस रुपया चढ़ाते हैं तो बदले में हाथी माँगते हैं। असली दानी तो मैं हूँ, जो मोक्ष देता हूँ और बदले में कुछ भी नहीं लेता। **सोई महि मण्डित पंडित दाता**- एक ओर सन्त दानी है, दूसरी ओर भगवान महादानी!

'माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि।।' *(मानस, १/१४८)*

'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।'

(मानस, ७/४६/५)

अहैतुकी कृपा करनेवाले इस संसार में या तो भगवान हैं या भगवान के अनन्य सेवक! वही मौलिक दाता हैं। इस सर्वोत्कृष्ट दान को पाने के लिए साधक को भी एक दान देना होता है- वह है मन का दान, विचारों का दान, इष्ट के प्रति मन-क्रम-वचन से समर्पण!

शीश काटि चरनन धरे, तब पैठे घर माँहि।

उज्जैन के कुम्भ-पर्व पर

एक समय उज्जैन में कुम्भ-पर्व पर लाखों महात्माओं की भीड़ एकत्रित हुई थी। वहाँ आप भी पर्यटन करते हुए अनायास ही पहुँच गये। वहाँ पर बहुत से मठाधीश हजारों साधुओं को आमंत्रित कर भोजन करा रहे थे। किसी नागा बाबा के साथ आपको भी एक भण्डारे में जाना पड़ा। पहले तो आप जाने से इनकार कर रहे थे परन्तु संगवश चले गये। वहाँ भीड़भाड़ में बहुसंख्यक लोगों को भोजनार्थ आया देखकर आप यह विचार करने लगे कि यह कौन साधु है जो हजारों सन्त-महात्माओं को निमंत्रित कर भोजन करा रहा है और एक मैं हूँ कि स्वतः भोजन की कामना से चला आया हूँ? इस प्रकार विचार-विमर्श में भटकती हुई आपकी बुद्धि इस निर्णय पर पहुँचती है कि मैं यहाँ

से भण्डारे की उपेक्षा करके चला जाऊँगा और तत्काल लौट पड़े। शनैः-शनैः चलकर एक मील दूर क्षिप्रा नदी के तट पर किसी वृक्ष की छाया में आप बैठ जाते हैं। आश्वस्त होकर दृढ़तापूर्वक मन-ही-मन आप निर्णय लेते हैं कि यदि भगवान यहीं खिलायेंगे तभी खाऊँगा अन्यथा नहीं। निराहार तीन दिन बीत गये। चौथे दिन प्रातःकाल ही एक महात्मा उस रास्ते से निकले और बोले कि बैठे रहिये, लक्ष्मी मिलेंगी। ठीक उसके एक प्रहर उपरान्त ही एक माई हाथ में लोटा लिये वहाँ से निकली। किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर उस माई ने महाराजजी के आसपास सफाई करके उनके भोजनादि की पूर्ण व्यवस्था की। वह अनवरत तीन-चार घण्टे तक सेवा में खड़ी रह गयी। उसके सेवाभाव को देखकर महाराजजी ने पूछा, "भवानी! क्यों खड़ी हो? क्या चाहती हो? तुम कहाँ जा रही थी और क्यों लौट पड़ी? तुम्हें क्या हो गया?" उसने अति विनम्र भाव से कहा कि मैं स्नान करने जा रही थी। अचानक मेरे मस्तिष्क में यह आवाज आयी कि इनकी सेवा करो, ये साधु हैं। मैं आश्चर्य में पड़ गयी कि कौन-सी सेवा करूँ? तब से मैं निरन्तर यही सोच रही हूँ कि आपकी सेवा किस तरीके से करूँ? मैं तो आपके चरण कमलों का दर्शन करके ही तृप्त हो गयी। अब आपकी कृपा चाहिये। इसके पश्चात् वह नियमित रूप से वहाँ आने-जाने वालों को भोजन कराती थी व प्रसाद वितरण की व्यवस्था आदि करती थी। यह व्यवस्था श्री महाराजजी की तरफ से उस महिला के माध्यम से होती थी।

उपरोक्त महिला एक ख्यातिप्राप्त अधिवक्ता की धर्मपत्नी थीं। उनके पास कुछ धनराशि व्यक्तिगत रूप से थी, जिसे वह आपके सेवार्थ अर्पित करना चाहती थीं। बार-बार आग्रह करने पर भी आप विचलित नहीं हुए वरन् उस स्थान को त्यागकर अन्यत्र चले गये।

उज्जैन में ही कुम्भ के पुनीत पर्व पर परम्परानुसार चारो मठों के शंकराचार्यों ने सन्त वेषधारियों को संन्यास में सम्मिलित होने का आह्वान किया। उनके उद्घोष को सुनकर महाराजजी के मन में भी यह संकल्प उठने लगा कि मैं बहुत दिनों से इधर-उधर भटक रहा हूँ, क्यों न संन्यास-दीक्षा में सम्मिलित हो जाऊँ। उक्त विचार उठते ही आपके अन्तर्देश में हलचल मच गयी। उसी क्षण इष्ट का संकेत मिलता है कि तुम्हारे जैसा चेला और तुम्हारे जैसा गुरु कहीं है ही नहीं, तुम किस जमात में सम्मिलित होने जा रहे हो? यह सुनकर आप हार्दिक प्रसन्नता से उछल पड़ते हैं। इष्ट से क्षमायाचना करते हैं।

अपने उपदेशों के समय आप इस घटना का दृष्टान्त देकर समझाया करते थे कि साधक को इष्ट के अधीन होकर लगनरत रहना चाहिये। समय-समय पर अन्तर्जगत् से आदेश देकर इष्टदेव स्वतः उसे पथ-विचलित होने से बचा लेते हैं।

हिमालय की उपत्यका में

गंगोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ की ओर भी महाराजजी ने पर्याप्त भ्रमण किया था। आप बताया करते थे कि उस क्षेत्र में प्रायः कुहरा-जैसा छाया रहता है। कुहरा छँटने पर हिममण्डित शिखर चाँदी की तरह चमकते थे। सूर्य निकलने को होता तो सर्वत्र नारंगी रंग में शिखर रंग जाते। थोड़ी ही देर में सोने की तरह पीला रंग सर्वत्र बिखर जाता। प्राकृतिक दृश्य पल-पल पर परिवर्तित होता रहता था। सीढ़ी बना-बनाकर पहाड़ के ऊपर तक खेती होती थी। एक-एक मीटर तक के छोटे-छोटे खेत, शिखर से ढलान उतरते हुए तलहटी तक! झरनों से सिंचाई! देखने में बड़ा अच्छा लगता था। उस कड़ाके की सर्दी में भी वही दिगम्बर वेश! कहीं आपको धूना मिल जाता, तो कहीं वह भी नहीं।

भ्रमण करते-करते आप देवप्रयाग पहुँचे। एक स्थान पर चार महात्मा बैठकर गाँजा बना रहे थे। आप भी वहीं पहुँच गये। उन महात्माओं में से एक ने कहा, "आइये सन्तजी! बैठें! दम लगायेंगे?" आपने सोचा कि ठण्डक अधिक है, दो फूँक ले लेंगे तो कदाचित् गर्मी आ जाय- ऐसा सोचकर आप भी उन सबके समीप ही बैठ गये। गाँजे में अन्य मादक पदार्थ भी मिलाया जाता रहा। गँठकर तैयार हुआ तो बोले, "सन्तजी, चेताओ!" एक बाबाजी गाँजे के लिये अधिक व्यग्र थे। वे झटके से उठे, चिलम लिया और चेताने लगे। थोड़ा सुलगा! पहली बार खींचते ही चिलम से लपट ऊपर उठी और वे लटपटाकर गिरे। उनकी साँस ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे ही रह गयी।

सभी बाबा भाग खड़े हुए। आप भी बिना कुछ सोचे-विचारे दौड़ पड़े। दस-पन्द्रह कदम जाने के बाद आपने सोचा कि, मैं भाग क्यों रहा हूँ और ये सभी क्यों दौड़ रहे हैं? भागने का कारण समझ में आया कि गाँजा पीनेवाला बाबा मर गया। भय का कारण समझ में आते ही उन महात्माओं के ऊपर आप बिगड़े- "देखो! रुक जाओ, भाग क्यों रहे हो? इसमें कौन-सा अपराध हो गया है? सभी साथी ही तो थे। नशा कुछ अधिक होने से यह मर गया। तुम खींचते तो तुम भी मर जाते और हम खींचते तो हम भी मर सकते थे। किसी ने जान-बूझकर तो इसे मारा नहीं। फिर निर्दोष सन्तों को भय कैसा?" इतना सुनते ही वे सभी लौट पड़े। सबने बैठकर विचार किया। पुलिस को सूचना दी गयी। थाने से लोग आये। पंचनामा हुआ। दाह-संस्कार हुआ। पाँच अंजली जल उन महात्मा को महाराजजी ने भी अर्पित किया। आपने सबको ढाँढ़स बँधाते हुए कहा कि यदि समय शेष है तो सन्मुख होने पर भी बाघ नहीं खा सकता और यदि आयु के दिन पूरे हो गये हैं तो पाँव की पनही ही काल है। सुन्दर भोजन, उत्तम शैया यहाँ

तक कि सुरक्षा-व्यवस्था भी काल है। अतः सुमिरन करो, उन सन्त एवं आप सबको शान्ति प्राप्त होगी और आप देहरादून के पथ पर अग्रसर हो गये।

> **उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।**
> **निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।।** *(मानस, ७/११२ ख)*

इष्ट की आज्ञा का महत्त्व

उन महात्माओं का साथ छोड़ आप दुर्गम घाटियों से गुजर रहे थे। एक सुनसान पथ दिखाई पड़ा। आपने विचार किया कि यदि रास्ता है तो आगे कोई स्थान भी होगा; किन्तु वह वन विभाग का निर्जन पथ था। गगनचुम्बी विशाल वृक्षों का घना जंगल, जहाँ-तहाँ हाथियों की लीद! शाम उतर आयी। पहाड़ों की ओट में सूर्य बहुत पहले ही छिप चला। एक स्थान पर कुछ मैदान जैसा था। उसके मध्य में एक विशालकाय वृक्ष देखकर आप उसी के नीचे बैठ गये। रात्रि में आप वृक्ष की छाया में बैठकर आत्म-चिन्तन कर रहे थे कि इष्ट का आदेश हुआ, "यहीं बैठे रहो, तुम्हारा योगक्षेम यहीं पूर्ण होगा एवं मानवीय कल्याण-पथ तुम्हारे द्वारा प्रशस्त होगा।" अनुभव की उसी शृंखला में ही आप देखते हैं कि सम्पूर्ण वातावरण प्रकाशित है।

इष्ट से ऐसा निर्णय पाकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। आप यह समझकर बैठ गये कि जब भगवान का यही मन है तो ठीक है। तीन दिन बैठे-बैठे ही बीत गये। निरन्तर शकुन भी मिलता रहा कि "ठीक है। सब वैसा ही होगा, बैठे भर रहो।" न तो भोजन की व्यवस्था थी और न तो निवास का प्रबन्ध! चौथे दिन इष्ट से निर्देश मिला, "आज एक सिपाही दूध लेकर आयेगा किन्तु पीना मत!" आपने सोचा, जब इष्ट का यही आदेश है तो दूध छूयेंगे भी नहीं।

प्रातः के लगभग सात-आठ बजे होंगे, दूर पगडण्डी से एक व्यक्ति आता दिखाई पड़ा। कुछ देर में वह आपके समीप आ गया और बोला, "महाराजजी! यह दूध पी लिया जाय।" महाराजजी चौंके, देखा तो सिपाही सचमुच दूध लेकर खड़ा है। कटोरे में लगभग तीन पाव दूध था। महाराजजी बोले, "आज हम दूध नहीं पियेंगे, फिर कभी सेवा करना।" वह गिड़गिड़ाने लगा, "महाराजजी! क्या हम इतने अभागे हैं कि आप हमारा दूध ग्रहण नहीं करेंगे। हमने आपको चौथे दिन देखा, परसों देखा, कल भी हमारी दृष्टि पड़ी, आप तभी से भूखे-प्यासे बैठे हैं, यह देखकर बड़े भाव से आपके लिये दूध लाया हूँ। हम यहाँ के वनरक्षक हैं।" जो भी उसकी बुद्धि में आता था, वह निवेदन करता जाता था।

उस वनरक्षक को हटाने के लिये महाराजजी जितना प्रयास करते, उसका आग्रह उतना ही बढ़ता जा रहा था। अपशकुन निरन्तर हो रहा था। आपने यह भी बताया कि भगवान का आदेश नहीं है किन्तु वह समझ ही नहीं रहा था। वनरक्षक से पीछा छुड़ाने के लिये आपने खीझकर, आदेश की अवहेलना कर कटोरा उठाया और दूध पी लिया।

सिपाही तो चला गया, किन्तु उसी क्षण महाराजजी को आदेश मिला, "उठो यहाँ से! अब यहाँ कुछ भी नहीं होगा। तुमसे रहते ही नहीं बनेगा।" आपने क्षमायाचना की, भरसक चरणों पर गिरकर रोये और गिड़गिड़ाये; परन्तु आंशिक रूप से इष्ट की अवहेलना का परिणाम आपको भोगना पड़ा। चार दिन के भूखे-प्यासे महाराजजी अनिश्चित गन्तव्य की ओर चल पड़े।

इस घटना के उपरान्त अपने उपदेशों में आप कहा करते थे, "साधनावस्था में साधक को अन्तर्जगत् से प्राप्त होनेवाले इष्ट के आदेशों का अक्षरशः पालन करना चाहिये। ऐसा न करने पर लक्ष्य की प्राप्ति में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। यहाँ तक कि इष्ट की अवहेलना करनेवाले को जयन्त की तरह कहीं ठिकाना नहीं मिलता। समर्थ इष्ट की कृपा से ही साधक साधना-क्षेत्र में क्रमागत सफलता प्राप्त करता है।"

मधवापुर ग्राम्यांचल में चातुर्मास्य

परिभ्रमणकाल में महाराजजी काशी, अयोध्या, मुम्बई, नासिक, उज्जैन, हरिद्वार, गया और कलकत्ता तक गये। गंगा, यमुना, नर्मदा, कर्मनाशा इत्यादि विशिष्ट नदियाँ आपकी भ्रमणस्थली रही हैं। यही आपका विचरण क्षेत्र था। एक बार आप अयोध्या में थे। रात्रि में विश्राम करते हुए विचार किया कि वर्षा-ऋतु आ गयी है, ऐसे में विचरण नहीं हो पाता, अतः कहीं रुककर चातुर्मास्य करना चाहिये। इस संकल्प के अनन्तर ज्योंही आप चिन्तन में बैठे, अनुभव (इष्ट का आदेश) में दिखाई पड़ा- एक बियावान कानन, बीच में सड़क और आवाज आयी, "इधर माँ का घर है, उधर पिता का घर है, पास में बेल का एक पेड़ है उसी के नीचे रहो।"

समाधि से चैतन्य होकर आप विचार करने लगे कि भगवान भी कितने विनोदी हैं। मेरे माता-पिता तो न जाने कब के छूट गये और भगवान कहते हैं- इधर माँ का घर है और उधर पिता का घर है। अस्तु, जिधर संकेत हुआ आप उधर ही चल पड़े। सूर्यास्त हो चुका था, निशा का अन्धकार गहराता जा रहा था। आप रुक गये। जब आपने इधर-उधर देखा तो सड़क के एक ओर देवी का मन्दिर और दूसरी ओर शंकरजी का। आपने विचार किया कि कहीं यही तो माँ-बाप नहीं हैं। तुरन्त शकुन मिला कि यही स्थान है। आपको याद आया, तब तो बेल का पेड़ भी होना चाहिए। जहाँ उन्होंने इधर-उधर दृष्टि

दौड़ाई, एक पेड़ दिखाई पड़ा। समीप जाकर देखा तो वह पेड़ बेल का ही था। पेड़ के नीचे बैठते ही अच्छे शकुन मिलने लगे कि यही चातुर्मास्य स्थली है।

आसपास के क्षेत्र में यह प्रचार हो गया था कि देवी मन्दिर पर एक पागल आया है इसलिए औरतों के साथ दो-चार जवान लाठी लेकर आते। महिलाएँ पूड़ी-हलुआ बनाकर देवी को चढ़ातीं और लौट जाती थीं। महाराजजी को किसी से कोई प्रयोजन ही न था। एक-एक करके दिन बीतते जा रहे थे। पाठशाला में पढ़नेवाले बच्चों को भी ज्ञात हुआ कि वहाँ एक पागल बैठा है। प्रातः पाठशाला जाते समय बच्चे उधर से ही जाते थे। अबोध बच्चे पत्थर फेंकते अपने रास्ते पर बढ़ जाते थे। वे परस्पर कहते भी थे, "देखो रे! वह रहा पगला!"

छठें दिन देवी का दर्शन करनेवाली एक महिला ने महाराजजी से कहा- "सत्तू लेंगे! हमें अकेले वहाँ आने में डर लग रहा है। मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि आप कौन हैं? यदि सन्त हों तो यह सत्तू ले लें।" आपने हाथ उठाया, सत्तू लिया। इस प्रकार आपने छठें दिन थोड़ा-सा सत्तू खाया, पानी पीया और पुनः चिन्तन में लग गये।

विद्यालय जानेवाले बच्चे क्रमशः प्रगल्भ हो चले थे। पत्थर मारने में उन्हें मजा मिलने लगा। चुपचाप बैठे महाराजजी से उन्हें अनिष्ट की आशंका भी नहीं थी, अतः वे समीप आकर पत्थर फेंकने लगे। सातवें दिन एक बच्चे ने अत्यन्त समीप आकर पत्थर फेंका। वह पत्थर आपकी पीठ पर जा लगा।

महाराजजी ने सोचा, अब तो ये निडर होते जा रहे हैं। बालक और बन्दरों का स्वभाव एक-जैसा होता है। अतः वे उठ खड़े हुए, बिगड़े और ललकारा, "धर-धर, जाने न पाये।"

अचानक अप्रत्याशित परिवर्तन देख बालकों का झुण्ड भागने की हड़बड़ी में एक दूसरे से टकराकर गिर पड़ा। वे चींखते हुए, उठते-गिरते भागकर घर पहुँचे। किसी

चतुर वही है जो एक परमात्मा की शोध में संलग्न है।

चतुराई चूल्हे पड़ी, घूरे पड़ा अचार।
तुलसी राम भजन बिनु, चारों बरन चमार।।

अर्थात् वह चतुराई चूल्हे में पड़ने योग्य है, जलने योग्य है, वह आचार-विचार, शिष्टाचार कूड़ेदान में पड़ने योग्य है- यदि एकमात्र राम, उन परम प्रभु का भजन नहीं है। भजन के बिना चारों वर्ण केवल अस्थि-चर्म मात्र हैं। मात्र शरीर के पोषक हैं कि 'यह मेरा है, यह तेरा है।' एक परमात्मा की भक्ति ही सच्ची चतुराई है।

प्रकार सबने बताया, ''पगला खा गया।'' पन्द्रह-बीस जवान लाठी-बल्लम लेकर दौड़ पड़े। सभी बच्चों की खोज होने लगी कि कौन-सा लड़का विद्यालय से नहीं आया। चारों ओर से घेरा डालते, एक-दूसरे को सचेत करते वे आपकी ओर बढ़ते आ रहे थे। वे आपस में कह भी रहे थे, ''देखना, भागने न पाये।''

ग्रामीणों का अनुमान था कि कोई पागल होगा तो शोर सुनकर भाग जायेगा; किन्तु आप यथास्थान ध्यान में बैठे थे। ग्रामीणों में से कोई लाठी घुमा रहा था, कोई गाली दे रहा था। किसी ने कहा, इनमें तो बड़ी शान्ति है- जैसी अच्छे साधु-महात्माओं में होती है, पागलों में नहीं। पहले पता तो लगा लें। पदारथ काका को बुला लिया जाय।

ठाकुर रामपदारथ सिंह मधवापुर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे बड़े सत्संगी तथा साधुसेवी थे। कबीर की वाणियों से वे अधिक प्रभावित थे; किन्तु सेवा हर महापुरुष की करते थे। आते ही उन्होंने एक दोहा पढ़ा-

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सूरज रबिका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान।।

दोहा पढ़कर उन्होंने प्रणाम किया। आशीर्वाद की मुद्रा में महाराजजी ने हाथ उठाया। उन्होंने दोहे का आशय जानना चाहा तो आपने मुस्कराते हुए उन्हें सम्बोधित कर कहा कि सर्वस्व का हरण करनेवाले एकमात्र हरि हैं। वे जब मन में प्रवाहित हो जाते हैं तब हरि से प्रेरित और पूरित मन ही घोड़ा है। हरि के विरह में हरि से संयुक्त मन ही घोड़ा है। चराचर जगत् में भागनेवाला, असंख्य योनियों में दौड़ लगानेवाला यही मन है, यही घोड़ा है। जब यह हरि से संयुक्त हो जाता है तो यह चढ़ने योग्य हो जाता है। **ब्रह्मा भये लगाम-** बुद्धि ही ब्रह्मा है। **'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।'** *(मानस, ६/१५ क)*- यह साधारण बुद्धि नहीं, इष्टमयी बुद्धि ही लगाम है। ऐसी बुद्धि से ही इस मनरूपी घोड़े को पकड़ा और नियंत्रित किया जाता है। **चाँद सूरज रबिका भये-** चन्द्र अर्थात् इंगला (ईड़ा), सूर्य अर्थात् पिंगला नाड़ी अर्थात् भीतर जानेवाली और बाहर आनेवाली दोनों श्वास, बायाँ और दायाँ दोनों स्वर- यह दोनों श्वास ही घोड़े के दोनों ओर लटकनेवाली दो पायदान (रकाब) हैं। श्वास-प्रश्वास के यजन द्वारा इसी पायदान पर कदम रखकर चतुर लोगों ने मन का निरोध कर लिया अर्थात् घोड़े पर चढ़ गये।

इतना सुनते ही उनके हृदय के कपाट खुल गये। वे चरणों में गिर पड़े और सभी ग्रामवासियों को समझाया कि ये एक उच्चकोटि के सन्त हैं। वे गाँववालों पर बरस पड़े- ''तुम लोगों को शर्म नहीं आती। सात दिन से ये सिद्ध महापुरुष भूखे-प्यासे बैठे हैं। पूरा गाँव जल जायेगा। इनकी सेवा करो। कम-से-कम हमें ही बताया होता। सभी

अपने-अपने घरों की ओर दौड़ पड़े। कोई दूध ले आया तो कोई दही, तो कोई कुछ सामग्री लिये चला आ रहा है। व्यवस्था हो चली। बात-की-बात में भक्तिभाव की एक लहर सम्पूर्ण गाँव में दौड़ गई। सफाई होने लगी। पूरा गाँव ही सेवारत हो गया।

बूँदाबाँदी होने लगी थी। आप बेल के नीचे ही आसीन थे। लोगों ने मन्दिर में चलने को कहा; किन्तु आपने कहा, "नहीं यहीं रहना है।" सबने निश्चय किया कि सवेरे पहला कार्य आपके लिए झोपड़ी बनाना होगा, कल और कोई कार्य नहीं होगा। सवेरा हुआ। महाराजजी ने देखा, वे सभी लोग हल के साथ जा रहे हैं। जबकि शाम को सभी ने झोपड़ी बनाने का निर्णय स्वयं लिया था।

अचानक बादल घिर आये। मूसलाधार पानी बरसने लगा। सबने हल पुनः घर रखा और आपके पास आ गये। आपने कहा, "अब करो न जुताई! चले क्यों आये? अब कुछ मत करो, भागो यहाँ से।" आप बिगड़ते ही रहे किन्तु लोग झोपड़ी बनाने में जुट पड़े। तीन दिनों तक बूँदाबाँदी का क्रम नहीं टूटा किन्तु तीनों दिन वे सब भींगते हुए झोपड़ी सजाते ही रह गये। झोपड़ी बन गई, आपका धूना झोपड़ी में लग गया और चातुर्मास्य प्रारम्भ हो गया।

पुनर्जन्म

मधवापुर में एकान्त पाकर आप टहला करते थे। श्वास में सुरत लगाई और चल पड़े। एक मकान के पार्श्ववर्ती पथ से आप जब भी निकलते, उस घर से लगाव हो जाया करता था। कई दिनों तक ऐसा हुआ। आपको लगा कि इस घर को हमने कभी देखा है क्या? इस स्थान से इतना आकर्षण क्यों है? इष्ट से उत्तर मिला, "पिछला जन्म इसी घर में हुआ था। पैदा होकर मात्र ढाई माह तक जीवित थे। वही संस्कार अब तक पीछा कर रहा है।" अब आपने उस घरवालों से पूछा तो घरभर एकत्रित हो गया। उन्होंने बताया- "महाराजजी! बड़ा होनहार लड़का था। उसके फिर कोई सन्तान नहीं हुई।" पचासी वर्ष की वृद्धा (ठकुराइन साहिबा) माताजी भी पहुँच गईं और लगी आँसू बहाने। महाराजजी अपने उपदेशों में कहा करें- हो! न जाने इस जीव ने कितनी माताओं को रुलाया है, अपनत्व का प्रसार किया है। कितनी योनियों का भ्रमण कर यह मानव-तन मिला है। इसे सार्थक करना चाहिए।

विमूढाः नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषाः। *(गीता, १५/१०)*

इस आत्मा को केवल ज्ञान-चक्षुवाले ही जानते हैं, मूढ़लोग नहीं जानते। हो! मुझे कई जन्मों का हाल भगवान ने बताया है; किन्तु कोई पतिआई? विश्वास तभी होता है

जब हम स्वयं देखें। महाराजजी ने उन सबको सान्त्वना देकर विदा कर दिया; किन्तु इसका रहस्योद्घाटन नहीं किया।

बिल्वफलों की रक्षा

मधवापुर में आप जहाँ निवास करते थे, उसके समीप ही एक बेल के वृक्ष के फलों में (जो आज भी है) अत्यधिक मिठास होने के कारण कीड़े पड़ जाया करते थे। ग्रामवासियों के विशेष आग्रह पर श्रीमद्भागवत पुराण के पारायण का आयोजन किया गया। इस धार्मिक आयोजन से लाभान्वित होने के लिए विशाल जनसमूह उपस्थित हुआ। जब आप कार्यक्रम का निरीक्षण करके प्रशान्त मुद्रा में बैठे थे कि एकाएक इसी बीच लगभग ढाई-तीन किलो वजन का एक बिल्व फल आपके सिर के ऊपर गिर पड़ा। आप सिर पकड़कर रह गये। थोड़ी देर में अपनी सरल वाणी में आपने उपस्थित विशाल जनसमूह के बीच यह घोषणा की कि, आज से यह बेल कभी कीड़ों से सड़कर नहीं गिरेगा। आज तीस-पैंतीस वर्षों की एक लम्बी अवधि बीत चुकी है परन्तु अद्यावधि एक फल भी सड़कर उस वृक्ष से नहीं गिरा। मधवापुर ग्राम में आज भी उस बेल के फलों का वितरण प्रसाद-रूप में किया जाता है।

मरणासन्न को जीवनदान

ग्रामवासियों के महान् अनुरोध एवं अनुकूल वातावरण होने के कारण महाराजजी कुछ दिनों तक मधवापुर में रुक गये। वहाँ एक भोलाभाला वनरक्षक शासकीय सेवा में रहता था। सन्तप्रेमी होने के कारण आप में उसकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उसने चातुर्मास्य के लिए पर्याप्त लकड़ियों की व्यवस्था कर दी और समय-समय पर पहुँचकर आपकी यथासाध्य सेवा करता था। दैविक प्रकोप के फलस्वरूप वह ब्राह्मण एक बार हैजे की चपेट में आकर मरणासन्न हो गया। उसके मृतप्राय होने की सूचना आपके पास भी पहुँची। लोगों ने बताया, "महाराजजी! वह वनरक्षक मिश्रा, जो आपकी सेवा में रहता था, बिस्तर पर पड़ा हुआ अन्तिम साँसें ले रहा है। यहाँ तक कि वैतरणी के लिए उसे गाय भी दी जा चुकी है। पता नहीं किस क्षण साँसों का क्रम टूट जाय।" महाराजजी थोड़ी देर तक मौन रहे; फिर बोले, "मरने-जीने को तो संसार पड़ा है, फिर साधु की सेवा करने से क्या लाभ? जब मरना ही था तो भगवान ने हमारी सेवा क्यों करवायी? क्यों, क्या वह सचमुच ही मर गया?" आपने विभूति ले जाकर उसे खिलाने की आज्ञा दी। पहले तो लोगों को आपकी गरिमा पर विश्वास नहीं हुआ, लेकिन प्रातः जब मिश्राजी बैलगाड़ी में बैठकर आये तब सबके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने बताया कि आपकी

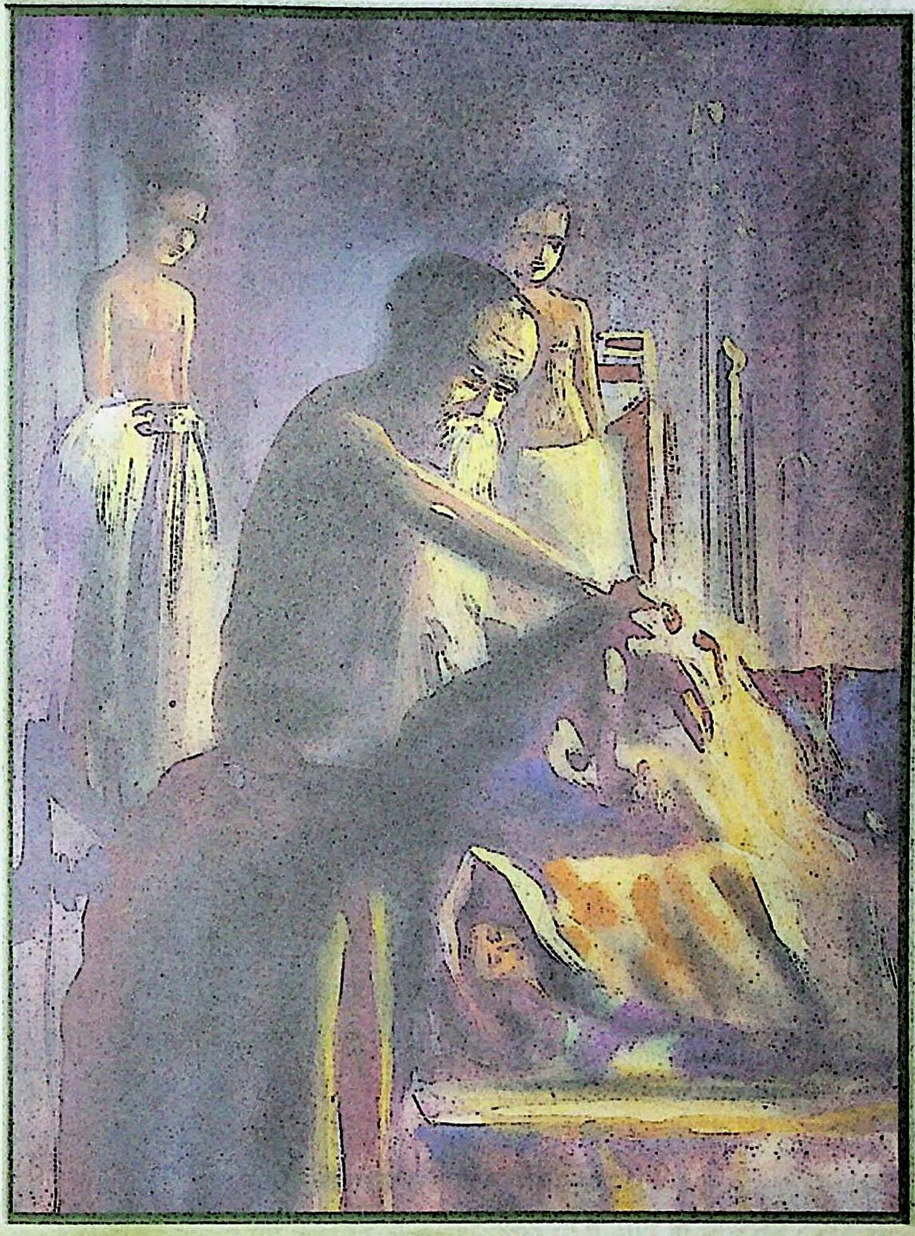

मरणासन्न को जीवनदान

विभूति लगाते ही मैं अपने को स्वस्थ महसूस करने लगा। मैं नीचे से उठकर चारपाई पर लेट गया। मैंने देखा कि आप मेरी चारपाई पर बैठे हैं, मेरे सीने और मस्तक को सहला रहे हैं और कह रहे हैं- "घबड़इहे न! मैं आ गया हूँ। अब मरिहे न।" मैं रातभर आपको देखता रहा, प्रातः चार बजा तो थोड़ी आँख लग गई। महाराजजी! आप कब चले आये?

मिश्राजी के शरीर में आशातीत सुधार से श्रद्धालुओं का विश्वास आपके प्रति और भी सुदृढ़ हो गया। मिश्राजी पूर्ववत् सेवा-कार्य में प्रवृत्त हो गये। यह थी भगवत्-कृपा की अप्रतिम देन! आज भी इस घटना को प्रत्यक्ष देखनेवाले व्यक्ति जीवित हैं, पूज्य परमहंसजी के शुभचिन्तक हैं।

भविष्यद्रष्टा महाराजजी

मधवापुर में मरती-जीती अनेक घटनायें हुईं। एक बार कीर्तन चल रहा था। रात्रि के दस बजे थे। महाराजजी बोले, "कीर्तन बन्द कर दो।" लोगों ने पूछा, "क्यों महाराजजी?" आपने बताया, "लगता है कोई विकल होकर आ रहा है, उसका काम होने लायक नहीं है।"

लोगों ने निवेदन किया, "महाराजजी! भला इतनी रात गये कौन आयेगा?" तब तक दूर जंगल में एक लालटेन दिखाई पड़ी। मनकापुर स्टेट के चार-छः लोग आये। उन्होंने बताया कि उनका लड़का लखनऊ में पढ़ता है। इस समय अस्पताल में भर्ती है। शाम को तार मिला है। हमलोगों ने सोचा कि आपका दर्शन कर लें।"

महाराजजी ने कहा, "भैया! मैं अभी इन लोगों से यही कह रहा था कि अब तो निराशा ही हाथ लगेगी। हाँ, आप लोग शीघ्र यहाँ से निकल जायँ तो सहयोग मिलेगा।"

वे लोग गये और उस लड़के को दिवंगत पाया; किन्तु पार्थिव शरीर प्राप्त करने में सफल हो गये। प्रायः महाराजजी हर बात जान जाया करते थे; किन्तु प्रस्तुत उतना ही करते थे जितने की आवश्यकता समझते थे। यह स्वभाव हर महापुरुष का रहा है। **'जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी।'** *(मानस, ३/८/७)*- भगवान राम जानते हुए भी अनजान की तरह व्यवहार करते थे।

सन्तकृपा से परमार्थ-पथ

भजन की सुविधा एवं जनस्नेह के कारण मधवापुर में आप दो बार रुके। रात्रि में लगभग ग्यारह बजे तक भाविक लोग बैठे रहा करते थे और आपको गाँजा बनाकर दिया करते थे। उनमें से एक गरीब पासी भक्त भी ठाकुरों के भय से दूर बैठा रहा करता

था। जब सब सत्संगप्रेमी वहाँ से चले जाते तो वह भी आपके पास बैठकर विनय किया करता कि, "मैंने अच्छी शराब बनायी है, कृपया पान कर लिया जाय।" एक दिन आपने उसे डाँटते हुए कहा कि, "यह तुमलोगों के व्यवहार की वस्तु है। साधु-महात्माओं के प्रति ऐसा कहना अशोभनीय है।" वह हठ करता रहा, तब आपने उसके दुराग्रह को देखते हुए यह कहकर शराब होंठों से लगा लिया कि, "पाप-दोष के भागीदार तुम होगे।" प्रातःकाल ही सूचना मिली कि वह पासी पेट की पीड़ा से मर रहा है। जब कई बार लोगों ने पेट के पीड़ा की चर्चा की तो आप बोल पड़े कि रात में वह मुझे शराब पिलाने की हठ कर रहा था। हो सकता है, उसी के दुष्परिणाम में वह असाध्य न हो जाय। अन्त में मरणासन्न स्थिति में ही वह महाराजजी के पास लाया गया। उसे स्पर्श करते हुए आपने विभूति खिलाने की आज्ञा दी। विभूति खिलाने के साथ ही वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। तत्पश्चात् सदा-सदा के लिए वह शराब त्यागकर सन्त हो गया। उसके जीवन में यह विलक्षण परिवर्तन देखकर ग्रामवासी स्तब्ध हो दाँतों तले उँगली दबाने लगे। लोगों को विश्वास हो गया कि- **'सठ सुधरहि सतसंगति पाई। पारस परसि कुधात सुहाई।।'** ***(मानस, १/२/६)*** का आदर्श दृष्टान्त सत्य ही है। इसी प्रकार सहज दयालु सन्त किसी के द्वारा दुराग्रह करने पर भी उसका कल्याण कर देते हैं। **'जिमि कुठार चन्दन आचरनी।'** ***(मानस, ७/३६/७)*** की ही भाँति उसका पथ प्रशस्त हो जाता है। ऐसा ही तिलस्मी परिवर्तन शराब पिलानेवाले पासी के जीवन में भी हुआ।

कण्ठमाला

मधवापुर से विदा होने पर महाराजजी को कण्ठमाला का रोग हो गया। फूलों के हार की तरह पीव से भरी छोटी-छोटी फुंसियाँ गले के चारों ओर निकल आईं। किंचित् दुर्गन्ध का आभास हो रहा था। आपने भगवान से पूछा कि कोई पाप न करने पर भी इतना घृणित रोग क्यों हो गया? अनुभव में भगवान ने बताया, "फिर कभी शराब छुओगे?" आप कहते थे, "हो! उस श्रद्धालु सेवक को भी दण्ड मिला और मुझे भी। साधक को शराब कदापि नहीं पीना चाहिए। इससे चेतना लुप्त हो जाती है और भजन छूट जाता है।" आपका जब अनुसुइया में निवास हुआ, उस समय से आपके लिए विधि-निषेध नहीं रह गया। क्योंकि निवृत्ति के पश्चात् महापुरुष के कर्मों का परिणाम न पाप होता है, न पुण्य। गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण बताते हुए कहते हैं, "अर्जुन! जिसे आत्मा का साक्षात्कार हो गया, जो आत्मा से तुष्ट है, ओतप्रोत और स्थित है, उस योगी के लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि।"

प्रायः महाराजजी साधकों से कहते, "अब मेरे लिए विधि-निषेध नहीं है। तुमलोग साधक हो। साधना में हर शील का पालन आवश्यक है।" गृहस्थों को वे कहते, "गृहस्थी का निर्वाह करते हुए भजन करो। यदि भूल भी होगी तो भगवान क्षमा कर देंगे; किन्तु विरक्त साधु को भगवान कभी क्षमा नहीं करते। उसे नारद की तरह कड़ा प्रायश्चित करना पड़ता है।"

जनकोलाहल के बीच ध्यानस्थ

मधवापुर से एक बार आपकी अभिलाषा जन्मभूमि की ओर जाने की हुई; परन्तु जाने का निश्चय करते ही भयंकर अपशकुन होने लगा। तत्पश्चात् आपको संकेत मिलता है कि जन्मभूमि का जाना हानिकारक होगा। आप जन्मभूमि जाने के विचार को त्यागकर पश्चिम दिशा में विचरण करते हुए मुम्बई पहुँच गये। मुम्बई-जैसे व्यस्त एवं कोलाहलपूर्ण शहर में महाराजजी की स्थिति एक पागल की ही भाँति थी। आप दो-तीन दिनों से निराहार थे। घूमते-फिरते किसी हलवाई की दुकान के पास पहुँच गये। जलेबियाँ देखते ही मन में खाने की इच्छा जागृत हुई। आप खाली हाथ! पैसा छूते भी न थे, माँगने का विधान भी नहीं; किन्तु जलेबी के लिए मन जोर मारने लगा। मन में हो रहा था कि जलेबी का थाल उठा लें। फिर विचार आया कि यह सन्तपुरुषों का कार्य नहीं है। अतः आपने मन को समझाया- तुम तो भजन करने आये थे, यह बीच में जलेबी कहाँ से आ गई? जलेबी में ऐसा क्या है कि तू हठ करने लगा है? आज भूखा है तो क्या हुआ! भोजन की व्यवस्था तो भगवान करते हैं। वे जब आवश्यकता समझेंगे, खिलायेंगे। तू क्यों चिन्ता करता है?

अपने मन को इस प्रकार समझाकर आप सड़क के किनारे जनकोलाहल के बीच ही ध्यान लगाकर बैठ गये। उनका ध्यान यहाँ भी ठीक उसी प्रकार स्थिर हो गया, जिस प्रकार एकान्त वातावरण में होता था। साधक जिस समय अपनी चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर, मन को स्थिर करते हुए साधनात्मक प्रक्रिया की क्षमता प्राप्त कर लेता है, ऐसी स्थिति में वह कहीं भी ध्यानस्थ हो सकता है। ध्यान में आप इस प्रकार लीन हो गये कि सारा दिन ध्यान-तन्द्रा में ही संसार को भूले रहे। क्रमशः ध्यान समाधि में परिणत हो गया।

उस भीड़ से एक श्रद्धालु निकला। उसने कहा, 'सन्तजी!' महाराजजी को सुनाई पड़ा, 'गुन्न!' वह तो समाधि में थे। उसके दुबारा जोर देकर पुकारने पर महाराजजी को सुनाई पड़ा, 'सन्तजी!' महाराजजी सोचने लगे कि कदाचित् भगवान मुझे सन्त कह रहे हैं। उस भक्त ने पुनः पुकारा तब आपकी समाधि टूटी। उन्होंने देखा कि सामने हाथ में

थाल लिये एक भक्त खड़ा निवेदन कर रहा था, "महाराजजी! भोजन कर लें।" उसने महाराजजी को विधिवत् भोजन कराया, पानी पिलाते हुए हस्तप्रक्षालन कराया, सादर प्रणाम किया और चला गया। महाराजजी अपने को भीड़ से घिरा हुआ पाते हैं और किसी तरह उससे बचकर एकान्त की ओर चल पड़ते हैं।

नारियल खाने की इच्छा

समुद्र के किनारे एक खोमचेवाले ने नारियल का आधा-आधा टुकड़ा एक के ऊपर एक विधि से सजाकर रखा था। देखने में बड़ा आकर्षक लग रहा था। महाराजजी के मन में आया कि एक टुकड़ा मिलता तो खाते। आपने तुरन्त मन को समझाया कि भजन छोड़कर कुछ भी दिखाई पड़ेगा वहीं दौड़ जाओगे क्या? आप आगे बढ़ गये। एक पेड़ के नीचे बैठ गये। अचानक नारियल का एक टुकड़ा ठीक सामने गिरा। ऊपर देखा तो एक कौआ था। वह कहीं से उठा लाया था। खाने के प्रयास में वह नारियल उसके चंगुल से छूट गया था। आपने उसे उठा लिया तो शकुन मिला। महाराजजी उसे खा गये और इस आपूर्ति पर भगवान को बहुत धन्यवाद दिया। योग की चरमोत्कृष्ट अवस्था में इच्छा का स्फुरण होते ही व्यवस्था हो जाया करती है।

जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।

(मानस, ७/११३/४)

दूधभिक्षा में मछली

एक दिन बहुत सबेरे ही महाराजजी मुम्बई की गलियों से गुजर रहे थे। लोग अभी सो रहे थे। चहलपहल का शोर अभी फूटा न था। एक महिला दूसरी मंजिल से कुछ पराठे नीचे सड़क पर फेंकने जा रही थी। आपको देखकर उसका विचार बदल गया। उसने कहा, "ओ बाबाजी! पराठे हैं, लोगे?" आपने सोचा कि बिना माँगे मिल रहा है, यह दूधभिक्षा है अतः खड़े हो गये। वह महिला तेजी से नीचे उतरी और आपके हाथ पर पराठे रख दिया। चिकने-चिकने तीन-चार पराठे और उस पर घुइयाँ-जैसी सब्जी!

चलते-चलते महाराजजी ने एक ग्रास मुँह में डाला। मछली-जैसा स्वाद लगा। आप विचार करने लगे कि साधु को तो माँस, मछली, मदिरा इत्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए। इसने बिना माँगे दिया है। बिना माँगे जो मिले, उसका त्याग भी नहीं करना चाहिए। हमने तो माँगा भी नहीं था, फिर भगवान ने यह क्यों दिला दिया? इसे खायें या न खायें! कभी मन करता था इसे फेंक दें तो कभी विचार आता था कि बिना माँगे मिला है, दूधभिक्षा है। भगवान भी जैसे रूठ गये हों। कोई निर्देश भी नहीं दे रहे थे कि खाओ या न खाओ। न शकुन, न अपशकुन। इसी ऊहापोह में सोचते-सोचते आप मीलों

निकल गये। ग्रास मुँह में ही था। अन्ततः आपने सब-का-सब फेंक दिया। एक नल पर मुँह धोने लगे। बगल में पान की एक दुकान थी। दुकानदार ने आपको देखा तो दौड़कर आया, बोला, "लीजिए सन्तजी मुखशुद्धि! पान खा लें।" आपने पान खाया और उसे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ गये।

महाराजजी को स्मरण हो आया कि जब वे रेलगाड़ी में बैठकर मुम्बई आ रहे थे, तो उस समय बगल की सीट पर एक यात्री मछली खा रहा था। आपके मन में आया कि मछली खाने का इसका तरीका अलग है। मछली इस प्रकार पकड़ना चाहिए, इस तरह से खाना चाहिए इत्यादि। भगवान ने देखा कि यह भजन छोड़कर मछली का चिन्तन कर रहा है इसलिए भगवान ने उसे दिलाकर उससे घृणा पैदा करायी और उसे फेंकते ही मुखशुद्धि की व्यवस्था देकर आपका समर्थन किया। पुनः भगवान बोलने, बताने और आदेश देने लगे।

जंगल में सहायता

महाराजजी पैदल ही मुम्बई से बाहर आ गये। रेल की पटरी के बगल से चलते जा रहे थे। अँधेरा फैलने लगा। न कोई आदमी दिखाई पड़ता था, न कोई गाँव! आप धीरे-धीरे अपनी धुन में, योगाभ्यास में सुरत लगाये बढ़ते जा रहे थे। इतने में पटरी से खटखट की आवाज आने लगी। आपको लगा कि कोई रेलगाड़ी आ रही है। आप खड़े हो गये। मालगाड़ी आ रही थी। ज्योंही गार्ड का डिब्बा सामने आया, गाड़ी रुक गयी। गार्ड ने आपको बुलाया। आप गार्ड के डिब्बे में चढ़ गये। उसने झंडी दिखाई और गाड़ी पुनः चल पड़ी। गार्ड ने टिफिन डिब्बे से अपना भोजन निकाला और बड़े आग्रह से आपको खिलाया। कटनी रेलवे स्टेशन के पास, जहाँ आप उतरना चाहते थे, उसने जंगल में गाड़ी रोककर आपको विदा किया। इस प्रकार भगवान ही प्रेरणा करके अपने भक्तों को सुविधा दिला देते हैं अन्यथा जंगल में कोई गाड़ी क्यों रोकता, जबकि जंगल में गाड़ियों के लुटने का भय बना रहता है।

जन्मभूमि की ओर

विचरण करते-करते जन्मभूमि की ओर जाने के लिए आपकी इच्छा पुनः बलवती हो गई। अपशकुन के बावजूद भी आप गन्तव्य स्थान के प्लेटफार्म पर पहुँच गये। तत्क्षण आपको चेतावनी के रूप में इष्ट का आदेश होता है कि आ तो गये, उतरना मत! ऐसी इच्छा साधक के लिए अभिशाप है। लेकिन दुराग्रह कर आप गाड़ी से नीचे उतर ही गये। उतरते ही आपको ऐसा आभास होता है कि आपके इष्ट निर्देशन में कोसते हुए कह रहे हैं कि तुम साधु नहीं हो, घर चले जाओ। आप अवाक् किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सोचने

लगते हैं कि इतने में हृदय से एक प्रकाशपुंज निकलकर शून्य में विलीन हो जाता है। इस अपौरुषेय घटना से आपकी भावना पर ऐसा कुठाराघात हुआ कि आप डेढ़ वर्ष तक भजन कुटीर में पड़े निरन्तर रोते ही रह गये, साथ ही भगवान से क्षमायाचना करते रहे। आपने प्रतिज्ञा की कि अब जन्मभूमि आने की अभिलाषा कभी न करूँगा। दयालु इष्टदेव ने आपको क्षमा करते हुए आदेश दिया, "अब तुम बाहर चले जाओ।" रात्रि की नीरवता में जब आप गाँव के बाहर निकल रहे थे, एक परिचित व्यक्ति से भेंट हो गयी। उसको समझाते हुए आपने कहा कि अब मैं जन्मभूमि कभी भी वापस न आऊँगा।

आप प्रायः अपने उपदेशों के दौरान यह कहा करें, "देखो, साधु होना और मरना बराबर है। दुनिया में और कोई है भी परन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं है। भगवान परम दयालु हैं। वे ऐसे बातें करते हैं जैसे हम और आप।" **जानि गरल जे संग्रह करहीं। कहहु उमा ते काहे न मरहीं।।** जब भगवान रक्षक हो जाते हैं तो विष नहीं पीने देते। ईश्वर के प्रति असीम विश्वासपूर्ण हृदय के साथ आप इसके उपरान्त सदा के लिए जन्मभूमि का ममत्व छोड़कर पुनः साधना के प्रशस्त मार्ग में प्रवृत्त हो गये। इस घटना का उदाहरण देकर आप समझाया करें कि साधनाकाल में जन्मभूमि के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि इस भावना से प्रेरित होने पर पथभ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। साधुओं का मार्ग तो ऐसा है कि, **जो घर फूँके आपना, चलै हमारे साथ।**

जम्मू से चित्रकूट प्रस्थान

उपरोक्त घटनोपरान्त आपने कश्मीर की ओर प्रस्थान कर दिया और चलते-चलते जम्मू पहुँचे। वहाँ स्टेशन पर उतरकर खड़े ही हुए थे कि एक सरदार ने आकर प्रणाम किया और पूछा, "क्यों महाराजजी! आप कश्मीर जाना चाहते हैं?" आपने सहज वाणी में स्वीकारात्मक उत्तर दिया कि कश्मीर जाकर आजीवन समय बिताना चाहता हूँ। वह भाविक सरदार आपकी वेशभूषा को देखकर वस्त्रों के अभाव का अनुभव किया और विनययुक्त वाणी में बोला, "वहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, आप वस्त्रविहीन रहकर सर्दी से किस प्रकार बचेंगे? यदि आप रुक जायँ तो वस्त्रों की व्यवस्था कर दूँ।" उसने आपके पास कुछ देर में अंगूर लाकर सेवा में अर्पित कर दिया और स्वयं कपड़ा तैयार कराने की भावना से वहाँ से रवाना हो गया। उसके जाने के बाद आप यह विचार करने लगे कि जीवनपर्यन्त किस तरह रहूँगा। अन्तर्द्वन्द्व में आपका मन अनिर्णीत स्थिति में भटक रहा था कि इसी बीच आकाशवाणी हुई कि चित्रकूट चलो। आप आध्यात्मिक सन्त थे। फिर यह शंका हुई कि चित्रकूट तो हृदय-देश में है, उस चित्रकूट के लिए या बाह्य चित्रकूट के लिए प्रस्थान करूँ। यथार्थतः जब चित्त कूटस्थ हो जाय तब वही चित्रकूट है।

तत्काल इष्ट द्वारा निर्णय मिलता है कि शरीर से रहना हो तो बाह्य चित्रकूट के लिए प्रस्थान करो। उसी रात्रि में आप वहाँ से चल दिये। वस्त्रों की व्यवस्था करनेवाले उन सज्जन को क्या सुख-दुःख हुआ होगा, यह कल्पनातीत है।

ज्योतिषी पर कृपा

जम्मू से चित्रकूट की यात्रा के क्रम में महाराजजी जौनपुर आ गये। वहाँ से आपका विचार बनारस जाने का था। मार्ग में एक घर दिखाई दिया। घर के मालिक ठाकुर साहब की दृष्टि महाराजजी पर पड़ी, वह दौड़कर आये। सादर प्रणाम कर आपको उन्होंने एक तख्त पर बैठाया और विधिवत् भोजन कराया। एक पण्डितजी वहाँ पर पहले से ही बैठे थे। वे आपसे भोजनोपरान्त अपनी व्यथा कहने लगे, "महाराजजी! हमने व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की है फिर भी न जाने कौन-सा कुसंस्कार है कि बच्चों का उदर-पोषण भी नहीं हो पाता। ऐसी शिक्षा से क्या लाभ?" आप शीघ्र ही द्रवीभूत होकर बोले, "अच्छा जाओ, कल तुम्हें पाँच रुपये मिलेंगे।" उन दिनों पाँच रुपयों का बड़ा मूल्य था। घी एक रुपये का दो सेर बिकता था। पण्डितजी ने पूछा, "महाराजजी! क्या सचमुच पाँच रुपये मिल जायेंगे?" आपने हँसते हुए कहा, "जुबान से निकल ही तो गया है, मिल जाय तो मान लेना। देखो, क्या होता है?" फिर साधनोपयोगी चर्चा होने लगी। रात काफी बीत गयी थी। आपने वहीं विश्राम किया।

दूसरे दिन सवेरे एक धोबी उसी रास्ते से बड़ी तेजी से चला जा रहा था। ठाकुर ने पूछा, "कहाँ इतने सवेरे?" उसने बताया, "पण्डितजी को बुलाने जा रहा हूँ, पास के गाँव में। हमें कथा सुननी है।" ठाकुर साहब ने बताया, "पण्डितजी! यह क्या बैठे हैं।" पण्डितजी गये, कथा सुनायी। उस धोबी ने पण्डितजी को धोती-कुर्ता, बीस किलो गल्ला और पाँच रुपये दक्षिणा भी दिया। पण्डितजी काफी कुछ पा गये।

दोपहर से कुछ पहले ही प्रसाद पाकर महाराजजी प्रस्थान कर चुके थे। अभी वे दस कदम ही आगे बढ़े थे कि सिर पर गठरी रखे पण्डितजी भागे चले आ रहे थे। कुछ दूर से ही बोले, "अरे महाराजजी! थोड़ा-सा रुक जाइए।" उन्होंने गठरी नीचे रखी और आपके चरणों में दण्डवत् किया। वे संस्कृत में आपकी स्तुति करने लगे, "परमहंसाय नमः, महापुरुषाय नमः, दिव्यविभूतये नमः" और न जाने क्या पढ़ते रहे। कहने लगे, "महाराजजी! जैसा आपने कहा था, पाँच रुपये मिले और भी बहुत कुछ मिल गया। महाराजजी आप तो सिद्धपुरुष हैं।"

महाराजजी ने सोचा, संसार ही दुःखी है। अभी पूरा गाँव टूट पड़ेगा तो आफत खड़ी हो जायेगी इसलिए आप बोले, "नहीं हो, वाणी निकल गई तो क्या हो गया? ये वस्तुएँ

जो प्राप्त हुई हैं यह तो हमने नहीं कहा था।" पण्डितजी बोले, "नहीं महाराजजी! महापुरुष सदैव अपना रूप छिपाये रहते हैं। हमलोगों का अहोभाग्य है कि जो आपके चरण यहाँ पड़ गये।" वे जोर-जोर से प्रशंसा करने लगे। लोग जुटने लगे।

प्रकरण बदलने के उद्देश्य से महाराजजी ने कहा, "पण्डितजी! आप ज्योतिषी हैं न, मेरा हाथ तो देखें!" पण्डितजी कहने लगे, "महाराजजी! आप तो कर्म-संस्कार से ऊपर हैं, कर्मों के बन्धन आप काट चुके हैं। आपका हाथ क्या देखना?" आपने कहा, "फिर भी देख लेने में क्या आपत्ति है?" पण्डितजी ने कहा, "महाराजजी! क्या आप सचमुच कह रहे हैं?" आपने कहा, "हाँ भाई! सचमुच ही कह रहा हूँ।"

पंडितजी बहुत देर तक महाराजजी के दाहिने हाथ की रेखायें देखते रहे, बीच-बीच में महाराजजी की ओर भी देख लेते थे। अन्ततोगत्वा बोले, "महाराजजी! आपका स्वरूप देखने से तो ऐसा नहीं लगता; किन्तु यदि ज्योतिष सही है तो आपको पापग्रह लगा है।"

पंडितजी के मुख से ऐसा निकलते ही महाराजजी की बायीं बाँह तड़तड़ लगी फड़कने। फड़कन बन्द ही न हो। आप विचार करने लगे, "कहता तो यह है किन्तु मेरी बाँह क्यों फड़कने लगी? क्या पण्डित ने सच कहा है?" आपको तुरन्त समर्थन मिला कि पण्डितजी ठीक कह रहे हैं। आप उदास हो गये। कुछ प्रसन्नता भी हुई कि भगवान ने पहले ही सतर्क कर दिया। उन लोगों से पीछा छुड़ाकर आप अपने पथ पर आगे बढ़ गये।

यात्रा-पथ पर काशी एवं प्रयाग (हठयोग)

जौनपुर से चलकर महाराजजी काशी विश्वनाथ मंदिर पहुँचे। मन्दिर परिसर में आप ध्यानस्थ बैठे थे। रात्रि में विचार आया- भोलेनाथ शिव की तपस्थली क़ाशी में इस समय कोई महापुरुष है अथवा नहीं? प्रातः चार बजे आपके अनुभव में आया- 'गंगा तट पर नाव में हरिहर बाबा शिव स्वरूप में स्थित हैं। इसी स्वरूप में आपको भी स्थित होना है।' महाराजजी तुरन्त वहाँ से चलकर उस नाव की पटरी पर पहुँच गये जिसमें हरिहर बाबा थे। प्रज्ञाचक्षु हरिहर बाबा ने अपने सेवक विश्वनाथ से कहा, "देखना, कोई सन्त आये हैं क्या?" विश्वनाथ ने कहा, "नाव की सीढ़ी पर पागल जैसा कोई है।" हरिहर बाबा बिगड़े, "और सन्त कैसे होते हैं रे! उन्हें सादर ले आ।" महाराजजी ने हरिहर बाबा को प्रणाम किया। आशीर्वाद और प्रसाद देते हुए हरिहर बाबा ने कहा, "ठीक है, लगे रहो। पार होने में अब अंधिक समय नहीं है।" महाराजजी उनसे विदा लेकर प्रसन्नतापूर्वक प्रयाग की ओर बढ़ चले।

प्रयाग बाँध पर कुछ हठयोगी निवास करते थे। आपको भजन में बैठा देखकर एक नवयुवक योगी ने प्रश्न किया, "मैं यह देख रहा हूँ कि आप दो बजे रात्रि से ही ध्यान में लगे हैं। अरे, जब अन्दर मल भरा है तो ध्यान कैसे होगा? मैं तो अभी तक यह

समझ पाया हूँ कि पेट में मल रहते हुए भजन का होना असम्भव है। नेती-धौती आवश्यक है परन्तु आप इन क्रियाओं के किये बिना ही ध्यान में रत हैं।"

महाराजजी ने हँसते हुए उत्तर दिया, "मल तो मन में होता है, स्थूल शरीर की आँतों को साफ करने से क्या होगा? जन्म-जन्मान्तर के दूषित संस्कार ही हमारे लिए मल हैं। उन्हीं का पर्दा पड़ा हुआ है इसलिए मलावरण हैं, जो भजन में चित्त को चलायमान कर देता है इसीलिए विक्षेप है। ये सभी मल ही तो हैं। जिसके द्वारा मन का मैल साफ हो जाय और मन रुक जाय, वही यौगिक प्रक्रिया है। यह साधन अनुभवी महापुरुषों द्वारा ही जागृत किया जाता है जो जन्म-जन्मान्तरों के मलों को मिटाकर इष्ट में नियुक्त कर देता है। इस मानसिक चिन्तन का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता योगशास्त्र है; किन्तु उसका एक भी सूत्र नेती-धौती-वस्ति से सम्बन्धित नहीं है। रामचरितमानस भी उसी इष्ट से योग कराता है किन्तु उसमें भी नेती-धौती आदि का वर्णन नहीं मिलता। महर्षि पतञ्जलि और कबीर इत्यादि ने भी इसके लिए कहीं स्थान नहीं दिया। प्राचीन महापुरुषों ने इसका कोई वर्णन नहीं किया, जबकि वे प्रभु की पूर्ण एवं अभिन्न स्थितिवाले थे। नेती-धौती-वस्ति इत्यादि शारीरिक उपचार हैं। पेट के विकार में धौती व नवली क्रिया करने से लाभ होता है। शीर्षासन करने से सिर के विकार दूर होते हैं। इस प्रकार कठिन-से-कठिन शारीरिक विकारों का शमन हम इन माध्यमों से कर सकते हैं; परन्तु योग की पराकाष्ठा अर्थात् प्रभु को नहीं पा सकते। योग में पायी जानेवाली प्रक्रिया एक ही है-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। *(गीता, २/४१)*

इस कल्याण-मार्ग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं में बँटी रहती है इसलिए अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।

महात्मा जंगल में भजन करते थे, जहाँ अनेक प्रकार की बीमारियों का प्रकोप रहता था। औषधियाँ सुलभ न होने के कारण इनको उन्होंने चिकित्सा का माध्यम बना रखा था। प्राचीनकाल में आज की तरह चिकित्सा की सुविधायें न थीं। मलेरिया बुखार में तीन-तीन महीने तक लोग पड़े रहते थे। दीर्घकाल तक अस्वस्थ रहने के कारण चिन्तन-क्रम टूट जाता था; इसलिए योगियों ने अपने भजन में से कुछ क्षण निकालकर इस प्रक्रिया में लगाना प्रारम्भ किया।" इस प्रकार हठयोगियों को साधन-पथ की उपयुक्त दिशा देकर आप चित्रकूट के लिए चल पड़े।

देहाध्यास

एक बार आप प्रातः चार बजे अयोध्या पहुँचे। सुनसान सड़क पर आप ध्यानावेश

में चले जा रहे थे। हवा चलने लगी। बादल घिर आये। कुछ बूँदाबाँदी होने से ठण्डक भी बढ़ चली। महाराजजी को एक विशाल कक्ष दिखाई पड़ा। आपको वह किसी साधु का आश्रम जैसा लगा। आप उस कक्ष में प्रविष्ट हो गये और जाकर एक कोने में बैठ गये। आपका विचार था कि बूँदाबाँदी बन्द हो तो आगे बढ़ें। ऊपरी मंजिल पर औरत-बच्चों का स्वर सुनाई दे रहा था। उसी समय पाँच किलो का एक बड़ा-सा लोटा हाथ में लिए, यज्ञोपवीत कान पर चढ़ाते, पहलवानी अन्दाज में डग भरते एक महात्मा सीढ़ियों से उतरे।

महाराजजी पर दृष्टि पड़ते ही वह महात्मा बोले, "ऐं! कौन हो तुम? यहाँ कैसे चले आए? जानते नहीं यह किसका निवास है?" महाराजजी बोले, "हमें रुकना नहीं है। बूँदाबाँदी कम होते ही हम चले जायेंगे। हमें कुछ चाहिए भी नहीं। इसलिए हमने आपको कष्ट देना उचित नहीं समझा।" वह महात्मा तड़के, "ऐं! सन्तों-जैसी बातें करता है।" कुछ अनाप-शनाप कहते हुए उन्होंने महाराजजी की गर्दन पकड़ी। महाराजजी ने भी वहाँ से चल देना अच्छा समझ आगे बढ़ने लगे; फिर भी वह महोदय इतने क्रोध में थे कि आपकी गर्दन से हाथ नहीं हटाया। दरवाजे के बाहर दो-तीन सीढ़ियाँ उतरनी शेष थीं। महाराजजी को अपनी गर्दन पर दबाव बढ़ता प्रतीत हुआ। आप समझ गये कि अब यह धक्का देकर गिराना चाहता है। ज्योंही उसने बल लगाया, महाराजजी पूर्व पहलवान तो थे ही, पैतरा बदलकर पुट्ठों में हाथ डाल उसे सीढ़ियों पर पटक दिया और दो-चार हाथ ऊपर से भी लगाया तथा कहा, "अब बोलो! मुझे क्यों धक्का दे रहे थे? सड़क पर गिरता तो पट्टी कौन बाँधता? तुम्हारे आगे-पीछे तो स्त्री-बच्चे हैं। अब कर सेकाई और खा हलवा!" वह चिल्लाया, "बचाओ रे, पगला मारा।" उसे उसी स्थान पर छोड़ महाराजजी सड़क से आगे निकलकर रेलवे स्टेशन पहुँच गये।

वहाँ दो महात्मा तिलक लगाए, स्वरूप बनाए आपस में बातें करते चले आ रहे थे, "क्यों सीतारामजी! वह जो अमुक महन्थ है उस स्थान का, कभी किसी साधु को जिसने एक रोटी तक नहीं दी, रामजी की इच्छा से एक पगले से आज भेंट हो गयी। अच्छी पिटाई की। हम अभी देखकर आ रहे हैं।" वह लोग महाराजजी के समीप ही खड़े होकर वार्तालाप कर रहे थे। इधर महाराजजी सोच रहे थे कि मुझे देखकर कहीं ये आकार-प्रकार मिलाने न लगें! कहीं मुझे पहचान न लें! इनका कौन भरोसा? अभी तो ये उसकी निन्दा कर रहे हैं, मुझे पहचानते ही काँव-काँव करके सभी घेर लेंगे। तब तक गाड़ी आ गई। महाराजजी तुरन्त चढ़ गये। गाड़ी चल पड़ी। तभी महाराजजी का मन भजन में लग पाया अन्यथा मन रह-रहकर उचट जाता था। इस घटना तक महाराजजी को अपने शरीर की ऐंठ बनी रहती थी कि हमारे भीतर इतना बल या हममें

यह गुण हैं; किन्तु क्रमशः आपने इस देहाध्यास पर भी विजय पा ही ली। उन्मुक्त विचरण चलता रहा। कभी मुट्ठी भर चना तो कभी घी घना, कभी वह भी मना।

एक बार आप ग्रामीण अंचलों से गुजर रहे थे। खेतों के मध्य ही आपने आसन लगा लिया। फाल्गुन महीने का उत्तरार्ध था। प्रातःकालीन सनसनाती वायु जड़-चेतन को प्रकम्पित कर रही थी। शीतनिवृत्ति-हेतु महाराजजी ने चतुर्दिक देखा। दूर अग्नि जलती दिखायी पड़ी। आपने सोचा, फसलों की सुरक्षा करते किसी कृषक ने आग जलायी होगी। अस्तु, उधर ही बढ़ गये। समीप पहुँचकर आपने पाया, वहाँ सन्तों की कुटिया थी। पाँच त्यागी महात्मा मात्र केले की छाल पहने शरीर पर विभूति मलने, योगासन करने और गोमुखी में हाथ डाल भजन करने में व्यस्त थे। महाराजजी ने नमन की मुद्रा में किंचित् सिर झुकाया एवं धूनी के समीप बैठ गये।

अकस्मात् उन सन्तों का स्वर गूँज उठा, "धूना छू लिया! धूनी का मंत्र जानते हो? आग प्रज्वलित करने का मंत्र सीखा है?" महाराजजी ने सहज भाव से कहा, "ठण्डक लग रही थी। थोड़ा ताप लेने दें फिर मंत्र भी बता देंगे।" उनमें से एक महात्मा ने महाराजजी का हाथ पकड़ा, ढकेल दिया और बोले, "खड़िया कहीं का! सन्तों-जैसी बातें करता है।" महाराजजी के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उनकी अन्तश्चेतना में केवल इतना ही आया कि ठण्डक तगड़ी लग रही थी किन्तु इन लोगों ने तापने नहीं दिया। शान्तभाव से वे पुनः चिन्तनरत अग्रसर हो गये। उसी दिन भगवान ने बताया, "आज तुम्हारा देहाभिमान समाप्त हो गया।" महाराजजी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

कालान्तर में जब महाराजजी अनुसुइया में प्रतिष्ठित हो गये, उनमें से तीन महात्मा तीर्थाटन करते वहाँ आये। आपने उन्हें देखते ही पहचान लिया। उन्हें सादर बैठाया, लस्सी पिलाया, भोजन-प्रसाद-धूना इत्यादि की व्यवस्था दी। प्रातः सत्कारसहित उन्हें विदा किया और कहा, "त्यागीजी, दर्शन देते रहिएगा!" उन्होंने कहा, "महाराजजी! हम लोग किस अर्थ में त्यागी हैं? गाँव में पड़े हैं। निर्धारित ग्रामों से अन्न एकत्र कर जीवनयापन कर रहे हैं। त्यागी तो आप हैं जो इस घोर जंगल में भगवान अत्रि की तरह विराजमान हैं। हम सब आपका दर्शन कर कृतकृत्य हैं।" महाराजजी ने उन्हें आश्वस्त किया, "त्यागीजी! आपने दर्शन दिया भी और लिया भी, एक ही स्वरूप है।"

वे अभी सौ ही कदम गये थे कि महाराजजी ने हँसते हुए विनोद में बताया, "हो, हमने जिनकी चर्चा की थी कि हमें धूनी नहीं तापने दिया, हाथ मरोड़ा और धकेला, वह यही थे।" भक्तों में से एक ने लाठी उठायी और कहा, "हमारे गुरु महाराज का हाथ मरोड़ा, इन त्यागियों की ऐसी की तैसी।" महाराजजी ने उसे रोका और समझाया, "इसमें त्यागियों का दोष नहीं था। वह तो भगवान ने ही उन्हें प्रेरित कर हमारी परीक्षा

ली कि इसका देहाध्यास गया या नहीं। उस दिन यदि मन में किंचित् भी कुढ़न आ जाती तो हम यहाँ न होते, न जाने कहाँ होते!"

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! देहाभिमानियों की गति नहीं होती। शरीर सौष्ठव, विद्या, कुलीनता, सम्पन्नता इत्यादि का देहाध्यास निराधार विचरण से ही निर्मूल होता है। **'सम मानि निरादर आदरही। सब सन्त सुखी बिचरन्ति मही।।'** *(मानस, ७/१३/८)* देहाभिमान की निवृत्तिहेतु इष्ट में समर्पित भाव से विचरण एवं चिन्तन अपरिहार्य है।

कर्बी स्टेशन पर विचित्र स्वप्न

इसी चित्रकूट यात्रा-क्रम में क्रमशः चलकर महाराजजी कर्बी पहुँचे। अन्तर्जगत् से महाराजजी को निर्णय मिला, "अब ठीक है, अब भगवान के दरबार में नौकरी लग गयी।" आपको इस सूचना से बड़ी प्रसन्नता हुई। आपने निश्चय किया कि स्टेशन पर बैठकर सम्पूर्ण रात्रिपर्यन्त भजन ही करेंगे।

रात्रि के नौ बजे थे। अभी आप आसन लगाकर बैठे ही थे कि ध्यान में एक दिव्य रूप आया। सफेद वस्त्र पहने एक महिला आई। गोरा दमकता हुआ चेहरा! ममतामयी दृष्टि से स्नेहपूर्वक देखते हुए उसने कहा, "हाथ खोलो!" आपने हाथ फैला दिया। उस देवी ने आपकी हथेली पर एक मणि रख दी, जिससे जगमग-जगमग प्रकाश चारों ओर फैल रहा था। पुनः वह बोली, "अब मुट्ठी बन्द कर लो, आपको मणि प्राप्त हो गयी है; किन्तु आज सोना मत!" एक आवाज आयी - **राम भगति मनि उर बस जाकें।** *(मानस, ७/११९/६)*

महाराजजी ने सोचा कि यह कौन-सी बड़ी बात है। वे विधिवत् आसन लगाकर बैठ गये किन्तु थोड़ी देर बाद ही नींद सताने लगी। महाराजजी आँख धोकर बैठे किन्तु नींद के झोंके आते ही रहे। जीवन में उतनी नींद पहले कभी नहीं आयी थी। आपको रात-रात भर भजन करने का अभ्यास था किन्तु उस दिन नींद के ऐसे झोंके आते रहे मानो दो-तीन दिन से सोये ही न हों।

निद्रा से संघर्ष करते-करते चार बज गये। आपने सोचा कि अब तो सवेरा हो रहा है, घंटे-दो घंटे की बात है, थोड़ी कमर सीधी कर लें। अतः स्टेशन की छड़दीवार से पीठ सटाकर बैठ गये। अभी दो ही इंच दीवार से पीठ लगी ही थी कि तत्काल नींद आ गयी। नींद में ही एक दृश्य आया। काला कपड़ा पहने एक कुरूप औरत की प्रतिमा आयी। उसने कहा, "मुट्ठी खोलो!" आपने मुट्ठी खोल दी। उस औरत ने आपके हाथ से मणि ले ली और उसके स्थान पर मदार-जैसा एक रद्दी फल रखकर कहा, "मुट्ठी बन्द

करो! क्यों सो गये?" आपने तुरन्त जाकर घड़ी देखी। चार बजकर दस मिनट हुए थे। ठीक से नींद भी नहीं आयी थी। आप अपने को कोसने लगे, "सोओ न, अब मणि तो गई! जन्मभर सोते रहो!" फिर सोने का प्रयत्न किया किन्तु नींद नहीं आयी।

महाराजजी कहा करते थे, "हो! आज्ञापालन ही भजन है। भगवान कोई असम्भव आज्ञा देते ही नहीं। आज्ञा में किसी प्रकार की अपनी इच्छा नहीं जोड़नी चाहिए और न भगवान की आज्ञा का उल्लंघन ही करना चाहिए। सीताजी ने जरा-सी अपनी इच्छा कर ली, रेखा (आज्ञा) का उल्लंघन किया, भोगना पड़ा।

हरि की आज्ञा उल्लंघि के, करै जो स्वेच्छाचार।
जहाँ जाय तहाँ काल है, कहैं कबीर विचार।।

उस दिन यदि न सोते तो इसी अनुसुइया में पत्ते-पत्ते में सर्वत्र बिजली लग जाती, मेरे चारों ओर पहरा लगा रहता, तुम लोग मेरा दर्शन न पाते और मैं न जाने क्या-क्या कर देता। साधुता की महिमा का प्रकाश फैल जाता। अब तो मेरा खुला दरबार हो गया।"

चित्रकूट में महाराजजी

कर्वी से महाराजजी चित्रकूट पहुँचे। आपने इष्ट से पूछा, "चित्रकूट तो लम्बा-चौड़ा है। चौरासी कोस में फैला क्षेत्रफल चित्रकूट कहलाता है। साठ-सत्तर किलोमीटर की तो पंचक्रोशी परिक्रमा ही होती है। अब रहें कहाँ?" अनुभव में इष्ट से आदेश मिला, "अनुसुइया जाओ!"

चित्रकूट में महाराजजी रामघाट पर रुके थे। यज्ञवेदी नामक मन्दिर में एक महात्मा भण्डारा कर रहे थे। आप भी वहाँ चले गये। महाराजजी से पूछा गया कि वे किस अखाड़े के हैं। महाराजजी का कोई अखाड़ा या सम्प्रदाय तो था नहीं, इसलिए उन लोगों ने कहा, "भरपेट प्रसाद नहीं मिलेगा। एक मालपुआ और दो पूड़ी लेकर पंगत से दूर बैठो, पता नहीं कौन जाति के हो?" महाराजजी ने कहा, "खायेंगे तो भरपेट खायेंगे अन्यथा कैसा भण्डारा!" आप वहाँ से लौट आये।

थोड़ी दूर निकल जाने पर दूसरे मंदिर के एक महात्मा ने आपको प्रणाम किया, सादर बैठाया। उन्होंने साग, रोटी, कढ़ी इत्यादि परोस कर विधिवत् भोजन कराया और श्रद्धापूर्वक विदा किया। आप कहा करें, "हो! भगवान ही अपने भक्तों को खिलाया करते हैं।"

अनुसुइया की ओर

स्फटिक शिला से आगे बढ़ने पर घनघोर जंगल प्रारम्भ हो गया। इतनी सँकरी पगडण्डियों से अनुसुइया जाना पड़ता था कि कपड़े फट जाते थे। शरीर कँटीली झाड़ियों

से बिंध जाता था। मन्दाकिनी के किनारे-किनारे कभी नाले और घाटियों में चढ़कर, तो कभी उतरकर महाराजजी आगे बढ़ रहे थे। कहीं-कहीं झाड़ियाँ इतनी घनी थीं कि बैठकर, झुककर उनके नीचे से अपने निर्वस्त्र शरीर को किसी प्रकार बचाने का प्रयास करते आप अनुसुइया की ओर अग्रसर हो रहे थे। उस समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यहाँ कभी सड़क भी बन सकती है। बाबूपुर से आगे दुर्गम घाटियों से गुजरते समय महाराजजी को थोड़ी प्रसन्नता हुई कि वे ऐसे जंगल में जा रहे हैं, जहाँ न आदमी हैं और न आदिम जाति। चलो, पापग्रह से तो पीछा छूटा; क्योंकि साधु के लिए स्त्री ही पापग्रह कही जाती है। ऐसे भयावह जंगल में साहसी व्यक्ति भी जाने से डरते हैं तो वहाँ औरत क्यों जाएगी?

इन्हीं विचारों के बीच महाराजजी झूरी नदी तक आ गये। वहाँ आपको एक चरवाहा मिला। आपने पूछा, 'अनुसुइया कितनी दूर है?' उसने बताया, "बस आगे अनुसुइया ही है। उस पहाड़ी के नीचे! एक कोस!" महाराजजी का यद्यपि अनुमान था कि वहाँ कोई रहता नहीं होगा फिर भी मुँह से निकल ही गया, "वहाँ कोई रहता तो नहीं?" वह बोला, "हाँ, एक बाईजी रहती हैं- द्रौपदीबाई!"

महाराजजी विचार में पड़ गये कि पापग्रह तो स्वरूप बनाकर वहाँ पहले से ही बैठा है और वहीं रहने का आदेश है। हम अकेले हैं। एकान्त में खतरे भी ज्यादा हुआ करते हैं। हमारा वेश भी दिगम्बर है, किया क्या जाय?

इसी तर्क-वितर्क में आप अनुसुइया पहुँच गये। आपने सोचा, पहले द्रौपदीबाई से ही मिल लें। 'माताजी' या 'बहनजी' कहकर उसे सम्बोधित कर प्रणाम कर लेंगे। उसके भाव गन्दे भी होंगे तो बदल जायेंगे। है तो कुछ गड़बड़; क्योंकि उसका नाम लेते ही अपशकुन होने लगा है। ऐसा सोचते-विचारते महाराजजी सीधे वहीं पहुँच गये, जहाँ अनुसुइया मन्दिर के पास वह एक कोठरी में दिनभर बन्द रहा करती थी।

द्रौपदीबाई

महाराजजी ने आवाज लगायी, "माताजी! दरवाजा खोलिए, दर्शन दीजिए, हम एक साधु हैं।" भीतर से खटखट की आवाज आती थी। लगता था कोई भीतर है किन्तु दरवाजा नहीं खुला। लगभग पाँच मिनट तक महाराजजी दरवाजे पर खड़े ही रह गये। पुनः होश आया कि, मुझको हो क्या गया है? मैं किस बाई का दर्शन करने चला आया? पापग्रह ही नहीं, पापग्रह का बाप भी क्यों न हो, रक्षा तो भगवान करते हैं। मैं अपनी रक्षा स्वयं क्यों करने लगा हूँ? आप वहाँ से चल पड़े। अनुसुइया मन्दिर के समीप ही सिद्धबाबा के आश्रम के भग्नावशेष दिखाई पड़ रहे थे। आप सीढ़ियों से ऊपर की

ओर बढ़ चले। वहाँ एक तख्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा था, महाराजजी उसी पर आसीन हो गये।

जब जंगल में कोई भी नहीं रह जाता, द्रौपदीबाई अपनी कोठरी से निकलकर मंत्रोच्चारण के साथ अगरबत्ती जलाकर, लोटे में जल लेकर तीर्थ में स्थापित सम्पूर्ण मूर्तियों पर जल छिड़कते, अगरबत्ती घुमाते हुए आगे बढ़ जाती थी। यही उसकी पूजा थी। सिद्धबाबा के स्थान में भी हनुमानजी की एक छोटी-सी मूर्ति थी। वहाँ भी पूजा करने के लिए द्रौपदीबाई नित्य की तरह सीढ़ियाँ चढ़ती गई।

महाराजजी तख्त पर शान्तिपूर्वक लेटकर ध्यान में लगे थे कि कुछ दूर से ही द्रौपदीबाई की दृष्टि उन पर पड़ गई। वह स्तब्ध रह गई। उससे न तो भागते बनता थां और न आगे ही बढ़ते बनता था। जिन हनुमान की पूजा करनी थी, महाराजजी के तख्त के समीप थे। महाराजजी की धड़कन बढ़ने लगी। आप सोचने लगे कि यह घबड़ाहट कैसी, कोई खतरा है क्या? जंगल तो है ही, कहीं शेर-भालू तो नहीं है? आपने अगल-बगल देखा, कुछ दिखाई नहीं पड़ा। पीछे पलटकर देखा तो बाईजी! वे बोले, "अच्छा बाईजी! आओ पूजन कर लो। हम बाबा हैं। वह हम ही थे जो दर्शन करने गये थे।" उसे आगे बढ़ता न देखकर आपने सोचा, यह डर रही है इसलिए दस कदम दूर हट गये। द्रौपदीबाई दौड़कर ऊपर चढ़ी। हनुमानजी के ऊपर अगरबत्ती, पानी फेंका और भाग गयी। अगले तीन दिनों तक आप वहीं रहे किन्तु वह ऊपर दुबारा नहीं दिखाई पड़ी।

सिद्धबाबा का करामाती तख्त

महाराजजी उसी तख्त पर आसीन थे। जब भली प्रकार अँधेरा हो गया, नीरव रजनी में उस तख्त से आवाज आयी, "यह हमारी जगह है।" महाराजजी ने चारों तरफ देखा, बड़ा आश्चर्य हुआ कि तख्त भी बोलता है। दूसरे दिन पुनः आवाज आयी, "यह हमारी जगह है। आप नीचे जाइये।" तीसरे दिन पुनः आवाज आयी, "हम पतित हो गये हैं, यह हमारी जगह है। आपकी जगह नीचे है।" आपने विचार किया कि लगता है कोई अच्छे महापुरुष थे, जो पतित हो गये। जब ये पतित ही हो गये तो इस जगह से हमें क्या लेना-देना! ये इतना भी जानते हैं कि हमारी जगह इस पहाड़ी के नीचे है। अतः हम अपनी जगह में ही क्यों न बैठें! आप वहाँ से उठे अपनी जगह की तलाश में।

सिद्धबाबा की सीढ़ियों से उत्तर मन्दाकिनी के किनारे एक विशाल शिलाखण्ड था, लोग उसे ब्रह्मशिला कहते थे, आप उसी पर जाकर बैठ गये। इष्ट ने थोड़ा दक्षिण की ओर बढ़ने का आदेश दिया। आप दक्षिण आकर सीढ़ियों के पास बैठ गये। पुनः कुछ

उत्तर की ओर बढ़ने का हल्का संकेत मिला। आप धीरे-धीरे कदम रखते हुए उस स्थान पर आ गये, जहाँ वर्तमान आसन है। तुरन्त ही आपको आदेश मिला,"बैठ जाओ! जीवनपर्यन्त यहीं रहना है। यही जगह है। केवल बैठे भर रहो।" इष्ट के आदेशानुसार आपने आसन लगा लिया और समाधिपर्यन्त वहीं विराजमान रहे।

भोजन के लिए आदेश

धीरे-धीरे महाराजजी को बैठे चौदह दिन हो गये। खाने-पीने का वहाँ कोई भी प्रबन्ध नहीं था। गर्मी का महीना था। भूख और प्यास के कारण शरीर कृश हो गया। इन्द्रियाँ क्रमशः शिथिल पड़ने लगीं। चौदहवें दिन लघुशंका के साथ कुछ रक्त भी गिरा अतः करुणा-सी हो आई। इष्टदेव के प्रति भी कुछ शब्द प्रस्फुटित हो गये- "इष्टदेव बने बैठे हो, घोर जंगल में लाकर पटक दिया, न खाने को न पीने को! जब शरीर ही नहीं रहेगा तो भजन कौन करेगा?" उसी दिन इष्ट का रूखा-सा आदेश मिला, "खाना ही है तो कल से खाओ!"

दूसरे दिन लगभग बारह बजे आपको आभास हुआ कि सीढ़ियों से ऊपर कोई गया और थोड़ी देर पश्चात् वापस भी चला आया। आसन समीप ही था किन्तु घने जंगलों की ओट में दस कदम भी आगे तक देख पाना सम्भव न था। लगभग चार बजे आप सीढ़ियों की ओर घूमते हुए आये। आपने देखा कि सीढ़ियों के ऊपर आधा मन (लगभग बीस किलो) चना रखा है। ज्योंही दृष्टि चने पर पड़ी, आदेश मिला कि आज यही खाना है। आपने एक मुट्ठी चना सेवन किया और पानी पी लिया। थोड़ा चना खप्पर में रख लिया। उस समय महाराजजी के पास यही एक पात्र था। इतने में बन्दर आ गये और लड़-भिड़कर, चूँ-चूँ करके सब चना खा गये।

इस दिन के पश्चात् किसी-न-किसी को प्रेरणा हो जाती और उस घोर जंगल में भी आपकी भोजन-व्यवस्था अयाचित स्वतः होने लगी। सन्तों की भाषा में यह आकाशवृत्ति है। महाराजजी न कभी किसी से कुछ माँगते थे, न भिक्षा किया करते थे। व्यवस्था तो चलने लगी; किन्तु आप असमंजस में पड़ गये कि भगवान ने यह रूखा वचन क्यों कहा, "खाना ही है तो कल से खाओ।" वस्तुतः वे चाहते क्या थे? उसी दिन आपको अनुभव में बताया गया कि यदि इक्कीस दिन भोजन न करते तो आजीवन आपको भोजन की आवश्यकता न पड़ती, ज्यों-के-त्यों बैठे रहते और चेहरा इसी प्रकार दमकता रहता।

महाराजजी बिफर पड़े, "हो, क्या कहें! उस दिन खून देखकर हमारी बुद्धि में पत्थर पड़ गया था। अरे, चौदह दिन तो हो ही गये थे, सात ही दिन शेष थे। वे भी बीत जाते।

भगवान भी ऐसी परीक्षा लेते हैं कि बुद्धि काम नहीं करती। यदि भगवान सीधे कह देते कि बेटा! अभी सात दिन और धैर्य रखो, तो क्या हो जाता? जन्मभर खाना न पड़ता। मैं ज्यों-का-त्यों बैठा रहता और चेहरे में रंचमात्र भी अन्तर न होता।" अन्त में आप कहा करें, "हर साधक को चाहिए कि भगवान के आदेश में अपनी बुद्धि न लगाये, अन्यथा अपना ही जीवन भार हो जाता है।

अनुसुइया में आरम्भिक कुछ दिन

जहाँ महाराजजी बैठे थे, पीछे टूटी-फूटी कोठरियाँ थीं। दरवाजा किसी में नहीं था। उनमें सेहुड़ के मोटे-मोटे पेड़ और लघु झाड़ियाँ उग आयी थीं। सामने ही एक कुआँ भी था, जो झाड़ियों से आच्छादित था। छः महीने के बाद आपको पता चल पाया कि यहाँ कोई कुआँ भी है। झाड़ी-झंखाड़ कटवाकर उसे साफ किया गया, जिसमें एक नरकंकाल मिला। बड़े-बड़े मच्छरों का प्रकोप था। झाड़ियों में इधर-उधर चलने में छः-छः हाथ लम्बे सर्प पैर में लिपट पड़ते थे, रोंगटे खड़े हो जाते थे। पाँव झटकने पर वे दूर गिरते और लम्बे होकर धीरे-धीरे चल देते थे। उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता था।

शेर के आगमन पर शाम होते ही जंगल में तहलका मच जाता था। बन्दरों की चिक-चिक, कहीं चीते की आवाज, कहीं भालू की गुर्राहट! पूरा जंगल अशान्त हो उठता था। इसी वातावरण में आपका निवास वहाँ आरम्भ हुआ।

एक दिन आपने आसन के आसपास घूमते हुए पुरानी कोठरी की तरफ विहंगम दृष्टि डाली। उसमें रक्तयुक्त कई कंकाल-जाल पड़े थे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे हाल ही में किसी की हत्या की गई हो। आप सोचने लगे कि यहाँ कौन आता होगा? इसी विचारक्रम में जैसे ही रात्रि का अन्धकार बढ़ता गया, त्योंही आपको एक चीता कोठरी की तरफ जाता हुआ दिखाई दिया। वह हिंसक पशु बार-बार आपकी तरफ देख रहा था और आप मुस्कराते हुए आसन से ही उसे गालियाँ दे रहे थे। चीते के चले जाने के पश्चात् आप यह निश्चय करते हैं कि इसी पशु के द्वारा ये अस्थियाँ एकत्रित की गयी हैं। आप यह भी समझ गये कि हिंसक पशुओं ने इन खण्डहरों को अपना निवास बना रखा है। यह तो उसका घर है।

दूसरे दिन एक आदिवासी आया। आपने उससे कहा, "क्यों रे! तुम कोठरी की सफाई कर दोगे?" उसने कहा, "हाँ महाराजजी!" उसने जंगली टहनियों से झाड़ू बनाया, तुमड़ी से पानी लाया और कोठरी की सफाई कर दिया। उसके पश्चात् शेर ने उसमें आना बन्द कर दिया; किन्तु जब तक जीवित रहा (लगभग पन्द्रह वर्ष) वह वहीं

अगल-बगल ही रहा करता था। जब लोगों की निगाह पड़ती तो वे संकेत करते, ''महाराजजी! वहाँ तो शेर बैठा है।'' तब आप हँसते हुए कहा करते थे, ''हो! मोर पहरेदार है।''

हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं के बीच

जैसा कि सर्वविदित है, चित्रकूट के समीप अनुसुइया का भयावह वन्य-प्रान्तर हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं का केन्द्र था। ऐसी दुरूह और विषम परिस्थितियों के मध्य भी आप इष्ट के आदेशानुसार प्रकृति की प्रतिकूलताओं को स्वानुकूल बनाकर स्थिरचित्त से चिन्तन में लगे रहे।

चौदहवें दिन कुछ डाकू टहलते हुए उधर ही आ निकले। उनकी दृष्टि महाराजजी पर पड़ी। एक ने कहा, ''यहाँ बाबा बैठे हैं!'' सरदार बोला, ''उसे भगाओ!'' छोटा सरदार श्रद्धालु था, उसने कहा, ''बाबा नीक है, उपद्रव करेगा तो भगा देंगे।'' आपस में कुछ वाद-विवाद करते आश्वस्त होकर वे चले गये। महाराजजी शान्तभाव से अपने आसन पर यथावत् भजनरत रहे।

भजन का क्रम अहर्निश चलता रहा; परन्तु भयावह वन की नीरवता में हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं का भय लोगों को बना ही रहता था। इसी कारण से कोई भी महात्मा अनुसुइया में स्थिर होकर रहने का साहस नहीं करता था। आसपास के लोग भी वहाँ से आने-जाने में भयभीत रहते थे। यदि वहाँ किसी साधु व तीर्थयात्रियों द्वारा कभी रुकने का साहस किया भी जाता था तो निश्चित रूप से उन्हें प्राणों की बलि देनी पड़ती थी। आये दिन ऐसी घटनाएँ घटती रहती थीं, जिनमें से एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

मन्दाकिनी के किनारे आकर चोरी-डकैती करनेवाले अपनी धनराशि का विभाजन किया करते थे। उस समय छोटी-छोटी रियासतों के कारण राज्य कर्मचारियों द्वारा सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। आसपास के गाँवों में आये दिन चोरी-डकैती एवं हत्याएँ हुआ करती थीं। एक बार कुछ डाकू आसन से निकट ही थोड़ी दूर पर बैठकर अपने धन का बँटवारा करने लगे और हास-परिहास के साथ शर्बत बनाने में लग गये। इसी बीच एक डाकू की नजर महाराजजी पर पड़ी। उसने अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा, ''यहाँ कोई बाबा भी बैठा हुआ है।'' उनमें से एक ने कहा, ''बैठा है तो हम क्या करें?'' पहला डाकू कुछ उदारचित्त था। उसने कहा कि बाबाजी को भी शर्बत दे दिया जाय। उसके तीन-चार बार आग्रह के बावजूद महाराजजी ने यह कहते हुए कि ''मैं चोरी का धन नहीं खाता''- शर्बत लेने से इनकार कर दिया। इतना सुनकर एक क्रूर

स्वभाववाला डाकू आगबबूला होकर हाथ में लाठी ले मारने के लिए सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। तत्काल उसके दूसरे साथी ने हाथ से शर्बत फेंककर उसे पकड़ लिया और वापस नीचे आकर अपने-अपने हिस्सों को बाँट रात्रि में ही वहाँ से रवाना हो गये।

आश्रम से लगभग दो मील दूर झूरी नदी पर उन्हें एक भयंकर घटना का शिकार होना पड़ा। वे दूसरे दिन घर से प्रतिशोध की भावना से चले थे। अचानक किसी व्याघ्र की भयंकर गर्जना सुनाई पड़ी। ऐसी घटना उनके समक्ष कभी भी नहीं घटी थी, जबकि प्रायः वे उसी रास्ते से आया-जाया करते थे। परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि लगता है बाबा कुछ जानता है, उसी की यह करतूति है। किसी तरह पुनः वे घर पहुँच गये लेकिन उनमें जो लाठी लेकर मारने दौड़ा था, सन्निपात के भीषण रोग से पीड़ित हो गया। कई दिन निरन्तर उपवास करने के कारण वह मरणासन्न हो गया। उसका साथी, जो शर्बत पिलाने को कह रहा था, पता नहीं किस अज्ञात प्रेरणा से प्रभावित होकर आपके पास कृपायाचना के लिए पहुँचा। उसे देखते ही महाराजजी ने मुस्कराते हुए पूछा, "क्या हालचाल है?" आद्योपान्त वह सभी घटनाओं का विवरण देकर क्षमायाचना करने लगा और विनम्र शब्दों में कहा, "महाराजजी! मेरे साथी की हालत मरणासन्न है।" अपनी स्वाभाविक दयालुता के कारण आपने विभूति ले जाकर खिलाने को कह दिया। विभूति-सेवन से उसे पूर्ण स्वास्थ्यलाभ हो गया। स्वस्थ होने के उपरान्त अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करता हुआ उसने आपके चरणों में पड़कर क्षमायाचना की और सदा-सदा के लिए चोरी का कार्य छोड़ दिया। इस अलौकिक हृदय-परिवर्तन को देखकर जनमानस में सन्त-महात्माओं के प्रति असीम श्रद्धा एवं विश्वास की लहर दौड़ गई। समस्त क्षेत्र इन चोरों और बर्बर डाकुओं के भीषण आतंक से मुक्त हो गया।

कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन

भगवान राम के समय से ही चित्रकूट की भूमि कोल-भीलों की निवासस्थली रही है। सन्त-महात्माओं को भला ये क्या जानें; क्योंकि बीहड़ों के वातावरण एवं शिक्षा के अभाव के फलस्वरूप ये स्वभावतः असभ्य एवं जड़बुद्धि हुआ करते हैं।

एक समय कुछ कोल-भील अनुसुइया आश्रम के पास जंगल में शहद तोड़ने के लिए आए। उन्हें मना करते हुए आपने कहा कि तुम लोगों का आश्रम के पास शहद तोड़ना उचित नहीं है। कोलों ने प्रथमतः स्वीकारात्मक भाव प्रकट किया परन्तु थोड़े समय उपरान्त ही श्रीमुख वाणी की अवहेलना कर पहाड़ के ऊपर चढ़कर शहद तोड़ने का प्रयास करने लगे। इस पर आपने पुनः बिगड़ना प्रारम्भ कर दिया, तब उनमें से एक ने कहा कि आप पूरा जंगल अपने अधिकार-क्षेत्र में ले रहे हैं, यह तो हमारा कार्य ही

है। तत्पश्चात् अच्छी स्थिति के एक साधक ने विनम्रपूर्ण शब्दों में कहा, ''महाराजजी! ये कोल-भील हैं, इन्हें क्या मालूम सन्त किसे कहते हैं? कहीं ऊपर पत्थर न फेंक दें।'' आपने हँसते हुए कहा, ''अच्छा बेटा! कैसे तोड़ते हो? अब मैं उल्टी माला फेरता हूँ।''-ऐसा कहते हुए आप आसन पर विराजमान हो गये। इतने में ही जिस बाँस पर वह चढ़ा था, शहद तोड़ने से पूर्व ही उसमें आग लग गयी। वह चिल्लाया-- बचाओ! बचाओ! नीचेवालों ने बचाने के उद्देश्य से ज्योंही आगे बढ़ना चाहा कि पाँव की धमक से एक भयानक अजगर फुँफकार मारकर खड़ा हो गया। सभी किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में आ गये और उनके देखते-ही-देखते बाँसों पर चढ़ा हुआ व्यक्ति धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। उसके घायल हो जाने पर वे सभी आपस में चर्चा करने लगे कि लगता है बाबाजी ने कुछ कर दिया। वहाँ से कुछ दूर चलकर पुनः एक वट वृक्ष के ऊपर दूसरा कोल चढ़कर शहद तोड़ने लगा। पता नहीं कैसे अव्यवस्थित होकर वह तत्काल नीचे आ गिरा, उसकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। उसके साथी उसे लादकर गाँव ले गये। संयोग से दो-तीन दिन पश्चात् पूरा गाँव भयंकर अग्निकाण्ड के फलस्वरूप जलकर राख हो गया। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि कुछ लोग गाँव छोड़कर अन्यत्र चले गये।

एक माह पश्चात् वे सब पथरा गाँव के पण्डित गणेश नम्बरदार के पास जाकर बोले, ''हमलोगों से बतियावत नहीं बनत है, आप चलकर महाराजजी से माफी दिलवा दीजिए।''

उन पण्डितजी को आगे करके, पूजा-सामग्री अगरबत्ती, नारियल, बतासा के साथ सभी कोल-भील अनुसुइया आश्रम में आये। पण्डितजी ने कहा, ''महाराजजी! ये अज्ञानी हैं, भोले हैं, सन्तों से सद्व्यवहार करना ये क्या जानें! भगवान राम से भी इन्होंने यही कहा था-

पाप करत निसि बासर जाहीं।
नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।। *(मानस, २/२५०/५)*

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई।
लेहिं न बासन बसन चोराई।। *(मानस, २/२५०/३)*

तब भी एक भील खटखटा नाम का था। वह सीताजी के कपड़े-गहने उठाकर भागा, जिसे लक्ष्मणजी ने गुप्त गोदावरी में जाकर पकड़ा। इन कोल-भीलों के अपराध के परिणामस्वरूप गाँव जलकर राख हो गया है। महाराजजी! अब इन्हें क्षमा किया जाय।''

महाराजजी ने मुस्कराते हुए उन्हें आश्वासन दिया कि भटकने की आवश्यकता नहीं है। जाओ, कुशलतापूर्वक जीवनयापन करो। वे सभी प्रणाम करके वापस लौट गये। इस

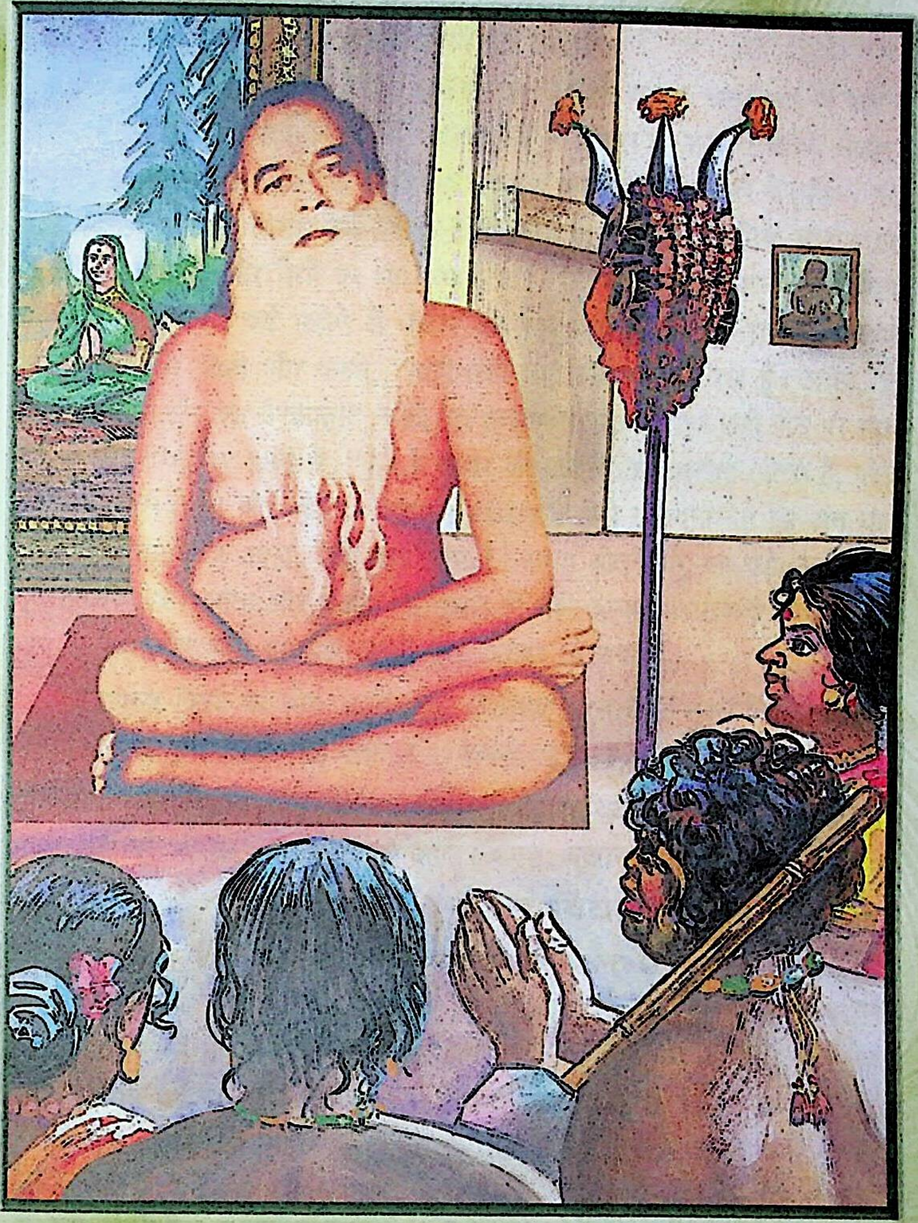

कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन

घटना के फलस्वरूप जड़बुद्धि कोल-भीलों का भी हृदय परिवर्तित हो गया और वे लकड़ी आदि पहुँचाकर यथाशक्ति आश्रम की सेवा करने लगे।

मलेरिया का प्रकोप

मन्दाकिनी का उद्गम एवं समशीतोष्ण जलवायु के कारण अनुसुइया के सघन जंगलों में मच्छरों का प्रकोप अधिक था। महाराजजी के निवास के अनन्तर क्षेत्रीय श्रद्धालु दर्शनार्थ आने लगे थे, उनमें से अधिकांश मलेरिया ज्वर से ग्रस्त रहते थे। किसी को दूसरे दिन, किसी को तीसरे दिन तो किसी को चौथे दिन बुखार नियमित आता। उन बीहड़ों में डाक्टरों और वैद्यों का भी अभाव था। लोग आकर महाराजजी से निवेदन करते, "महाराजजी! कई महीने से बुखार आ रहा है, अब तो मर रहा हूँ।" आप स्नेहिल दृष्टि से देखते और कहते, "पापी कहीं का! कहता है मर रहा हूँ। अच्छा, ले विभूति खा ले और कर दण्डवत्!" ज्योंही वह झुकता, महाराजजी एक छड़ी पीठ पर मार देते थे और हँसते हुए पूछते थे, "कब है बुखार की बारी?" कोई बताता अँतरा है, कोई कहता तिजारी है तो कोई चौथिया बताता। महाराजजी उसे सान्त्वना देते कि अब यह बारी बिता करके ही आना, देखो क्या होता है? समय बीतने पर वह बड़े उत्साह से दूध इत्यादि लेकर आता और बताता कि बुखार तो नहीं आया। महाराजजी कहते, "हूँ! पाप तू करो और भोगें बाबाजी! जाओ बेटा, बुखार तो गया।"

महापुरुष किसी का भोग अपने ऊपर ले लिया करते हैं। **"तुरत बिभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।।"** *(मानस, ६/९३/२)*

इस प्रकार आये दिन कोई-न-कोई आश्रम पहुँचता ही रहता था। अस्तु, महाराजजी को भी मलेरिया बुखार हो आया। क्रमशः बुखार प्रतिदिन आने लगा।

अनुपान में दूध का विधान

महाराजजी की ख्याति सुनकर 'वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन' के संचालक रामनारायण शास्त्री मित्रों सहित आने लगे थे। वे आपके लिए मलेरिया की दवा, सेवन-विधि समझाते हुए ठीक होने की गारण्टी देकर रख जाते। आप हाँ, हूँ! कर लेते किन्तु वे लोग जब पुनः आते तो वह दवा ज्यों-की-त्यों रखी मिलती। वे लोग उदास होकर उलाहना देते, "अभी तक आपने दवा क्यों नहीं ली? देखिए आपका शरीर काला पड़ गया है, बुखार ज्यों-का-त्यों है।" वे दवा लेने का आग्रह करते किन्तु महाराजजी कहते थे, "हो! भगवान का आदेश नहीं है।" वे लोग प्रार्थना कर पुनः दवा रख जाते फिर भी आप उसका प्रयोग नहीं करते थे। अपने उपदेशों में आप कहा करें, "हो! जब भी दवा पर दृष्टि पड़े, भगवान मना कर देते थे कि मत सेवन करो, यह भोग है।"

ज्वर का प्रकोप शान्त न हुआ। वैद्यजी की दवा अभी ज्यों-की-त्यों रखी थी। उसके अनुपान में दूध का विधान था। संयोग से उन दिनों एक यादव कुछ गायों के साथ अनुसुइया में रहने लगा था। गायों के रहने की जानकारी पाते ही आपने विचार किया कि एक-दो दिन दवा सेवन कर लेते तो वैद्यजी का भी मान रह जाता, अतः उसके पास गये और पूछा कि क्या तुम्हारे यहाँ दूध होता है? मुझे दवा के लिए आवश्यकता है, दोगे?" उसने सादर प्रणाम किया और कहा, "दूध तो होता है देंगे क्यों नहीं! सब आपका है; किन्तु आप द्रौपदीबाई से कह लेते तो अच्छा होता क्योंकि सम्पूर्ण दूध मैं उन्हें दे देता हूँ। बदले में वे रोटी बनाकर मुझे देती हैं।" आप स्त्री से वार्ता करना उचित न समझकर चुपचाप लौट पड़े।

द्रौपदीबाई को महाराजजी के आगमन की आहट लग चुकी थी। वह ग्वाले के पास गयी। जानकारी प्राप्त कर पहाड़ी के ऊपरी किन्तु संक्षिप्त रास्ते से अनुसुइया मन्दिर में आ गयी। आप मन्दाकिनी के किनारे-किनारे आश्रम की ओर लौट रहे थे। मन्दिर से द्रौपदीबाई ने कहा, "दण्डवत् परमहंसजी! इधर कहाँ गये थे? कोई काम था क्या?" आप बोले, "कोई खास काम नहीं था, योंही घूमने निकले थे।" उसने कहा, "फिर भी कोई बात तो होगी ही!" महाराजजी ने कहा, "नहीं, कोई बात नहीं है।"

मन्दाकिनी के किनारे से ही महाराजजी ने द्रौपदीबाई को ग्वाले से पूछताछ करते देख लिया था। वह सब कुछ जानकर भी अनजान बन रही थी इसलिए उसके हर वाक्य पर ज्वरसंतप्त महाराजजी की अप्रसन्नता बढ़ती ही जा रही थी। उसने पुनः कहा, "कम से कम अनुसुइया माता का दर्शन तो कर लीजिए।" आपने कहा, "नहीं करना है दर्शन।" वह बोली, "जब आप देवी-देवताओं के दर्शन नहीं करते तो यहाँ भजन किसका करते हैं?"

उन दिनों महाराजजी को एक अलफी मिल गई थी। घुटने से नीचे ढीला कुर्ता! वही आप शरीर पर डाले थे, नीचे से तो पूर्ववत् दिगम्बर ही थे। अलफी उठाकर आप बोले, "इसका भजन करता हूँ! न भजन न चिन्तन, चुड़ैल कहीं की! पीछे पड़ गयी है।"

द्रौपदीबाई हँसते हुए भाग गयी और बहुत देर तक हँसती ही रही। समीपवर्ती गाँव से एक नाटा-सा पुजारी आया करता था। एक घंटे पश्चात् वह आया। उसने हँसने का कारण पूछा तो द्रौपदीबाई ने बताया, "परमहंसजी विलक्षण महात्मा हैं"- और पुनः हँसने लगी। पुजारी भागकर महाराजजी के पास आया और पूछने लगा कि बाईजी को आपने क्या बता दिया, आज वे बड़ी प्रसन्न हैं, हँसती जा रही हैं? महाराजजी ने कहा, "वह पूछ रही थी कि किसका भजन करते हैं? मैंने बता दिया कि इस जननेन्द्रिय की

संयम-पूजा कर रहा हूँ; क्योंकि जो नाभ्या और जिह्वा को वश में कर ले वही सन्त है। लाख पूजा करो, यदि इन्द्रिय-संयम नहीं है तो सब व्यर्थ है। पहली पूजा है मनसहित इन्द्रिय-संयम।"

बात भी ठीक थी कि यदि इन्द्रिय-संयम नहीं है तो भजन कैसा? यही उपदेश भगवान राम के वनवासकाल में लक्ष्मण को चित्रकूट के अधिष्ठाता भगवान शिव ने बन्दर-भेष में जिह्वा और जननेन्द्रिय पकड़कर दिया था। भगवान राम ने इसका आशय बताते हुए कहा था कि यदि जिह्वा और जननेन्द्रिय संयम है तो साधक कहीं भी रह सकता है।

इस प्रकार महाराजजी व्यवहार में भी योगविद्या के गुह्यतम रहस्यों को उद्घाटित कर दिया करते थे। इस घटना के पश्चात् महाराजजी का दर्शन होने पर द्रौपदीबाई बड़ी श्रद्धापूर्वक प्रणाम करती थी।

महर्षि अत्रि की विद्यमानता

अनवरत बुखार से महाराजजी का शरीर दुर्बल हो चला। उन्होंने सोचा कि आगरा चल चलें, वहाँ भाविक भक्त हैं। दस दिन रहेंगे, ठीक होकर पुनः चले आयेंगे। आप आसन से उठे और ट्रेन से आगरा पहुँच गये। वहाँ के लोग बड़ी श्रद्धा से मिले।

उसी रात लगभग दो बजे महर्षि अत्रि का स्वरूप आपको ध्यान में दिखाई पड़ा। उन्होंने कहा, "जब शरीर की इतनी चिन्ता करेंगे तो भजन कैसे होगा? आश्रम चलें!" महाराजजी संकुचित होकर बोले, "आपने क्यों कष्ट किया? वहीं से संकेत कर दिया होता, हम पहुँच जाते।" अत्रि महाराजजी ने कहा, "जब आप चले आये तो हमें आना ही पड़ा।" महाराजजी चिन्तन से उठ बैठे और उसी समय चल पड़े। भगवान ने दवा भी नहीं करने दी।

इस घटना के काफी दिनों बाद महर्षि अत्रि ने एक बार पुनः महाराजजी को दर्शन दिया। एक पण्डितजी मुम्बई से अनुसुइया आये हुए थे। वे अनुसुइया मन्दिर के समक्ष किसी कामना से पड़े थे। महाराजजी भी जानते थे कि ऐसा कोई मुम्बई से आया है। एक रात्रि महर्षि अत्रि का स्वरूप आया। वे कहने लगे, "यह पण्डित सात दिन से धरना दिये हुए है। यह प्राण देने पर तुला है। आप कहें तो इसे कुछ दे दिया जाय।"

महाराजजी ने विनम्र भाव से कहा, "आप हमसे क्यों पूछते हैं? आपकी जो इच्छा हो दे दें।" उन्होंने कहा, "आप ही तो यहाँ हैं फिर पूछें किससे?"

महाराजजी बताते थे कि अत्रि, अनुसुइया सभी अपने सूक्ष्म शरीर सहज स्वरूप से अपने स्थान पर ज्यों-के-त्यों हैं। स्थूल शरीर तो राम और कृष्ण का भी नहीं रहा,

मेरा शरीर भी किसी-न-किसी बहाने जाना ही है लेकिन सूक्ष्म शरीर से मैं सदैव रहूँगा। किसी भी ऋषि-महर्षि ने अपना स्थूल शरीर नहीं रखा। जो भी श्रद्धा से स्मरण करेगा, मैं मिलूँगा। वास्तव में आज भी महाराजजी दर्शन देते हैं। जो कोई मन-क्रम-वचन से आपका चिन्तन करता है उसके आगे-पीछे और साथ दिखाई पड़ते हैं।

रामलखनदासजी का आगमन

महाराजजी के ज्वर ने उग्र रूप धारण कर लिया था। उनकी कमजोरी बढ़ती जा रही थी। शरीर इतना कमजोर हो चला कि पानी पीने जाने की हिम्मत नहीं रह गई। सामने मन्दाकिनी सौ गज नीचे से ही बह रही थी। वहाँ तक जाना, पानी पीना, लौटकर आसन तक आना भी कठिन हो चला था। आप किसी प्रकार घिसटते हुए जाते, पानी पीते, खप्पर भरते और लेकर आते थे। आते ही उसे पी जाते और फिर वही क्रम--आना और जाना। उनकी वह प्यास! लगता था कि जमाने भर की प्यास सिमटकर उन दिनों महाराजजी के पास आ गई थी।

एक दिन ज्वर के ही आवेश में महाराजजी इष्ट को बहुत कुछ कह गये, "इष्ट बने बैठे हो! घोर जंगल में लाकर पटक दिया। आगे-पीछे देखनेवाला भी यहाँ कोई नहीं। क्या मेरी तकदीर में एक भी सेवक नहीं जो दो घूँट पानी तो पिलाता।" ज्वर के आवेश में कुछ खरी खोटी निकल गई।

इसके तीन दिन पश्चात् एक महात्मा आये और आपकी सेवा में लग गये। वह दौड़कर पानी पिलाते, धूना चेताते तो कभी सफाई करने लगते। कभी कुछ तो कभी कुछ करते ही रहते। तीन दिन पश्चात् महाराजजी ने उनसे पूछा, "करे, तू कौन है? क्यों हमारे पीछे पड़ा है?" उन्होंने बताया, "महाराजजी! मैं साधु हूँ। मेरा नाम रामलखनदास है। मैं बचपन से ही इस साधुवेष में हूँ। इस समय मेरी आयु साठ वर्ष है। जहाँ तक हो सका, सन्त-नियमों का मैंने पालन किया है। तीर्थों में मेरी रुचि रही है।

तीन दिन पूर्व मैं प्रयाग के मेले में था। वहाँ रात्रि में मुझे स्वप्न आया कि तुम्हारा गंगा-यमुना-सरस्वती स्नान यही है कि अनुसुइया के परमहंसजी की सेवा करो। दूसरे दिन भी ऐसा स्वप्न मिला। तीसरे दिन पुनः आदेश मिला कि तुम्हारा कल्याण इसी में है कि जाकर उन महापुरुष की सेवा करो। तुम्हारे गंगा-यमुना तीर्थस्नान का यही फल है। जब लगातार तीन दिन तक यही स्वप्नादेश मिला तो हमने गंगा-यमुना को प्रणाम किया, भागकर यहाँ आये और आपको पा गये। महाराजजी ने पूछा, "स्वप्न में जिन महात्मा की सेवा का निर्देश मिला था, क्या वह मैं ही हूँ? कोई और न हो, ढूँढ़ लो!"

उन्होंने कहा, "महाराजजी! यही स्वरूप लगातार तीन दिनों तक मुझे दिखाई पड़ा। अब आप मुझे अपनी सेवा से विरत न करें।" इस प्रकार पूज्य श्री महाराजजी की सेवा का प्रथम सौभाग्य दैवी प्रेरणा से श्री रामलखनदासजी को प्राप्त हुआ।

द्रौपदीबाई का षड्यन्त्र

महाराजजी के निवासोपरान्त सती अनुसुइया का आश्रम बाधाओं से मुक्त हो गया। यात्री और विरक्त सन्त स्वेच्छापूर्वक आने-जाने लगे। कुछ सन्त भजन के लिए उपयुक्त स्थान समझकर वहाँ रहने लगे। थोड़े ही दिनों में उनकी संख्या नौ हो गई। वे जंगल में घास की कुटी बनाकर रहते थे।

एक दिन महाराजजी भजन में बैठे थे। प्रातः के लगभग चार बजे का समय रहा होगा। आपको किसी औरत की आवाज सुनाई पड़ी। आपने रामलखनदासजी से कहा, "यह सवेरे-सवेरे कौन बोलता है? देख तो!" उन्होंने देखकर बताया कि महाराजजी! द्रौपदीबाई आई हैं। आप बोले, "क्यों महारानी! हमने तुम्हें कई बार मना किया था कि रात्रि में इधर कभी मत आना, क्यों आ गयी?"

द्रौपदीबाई ने बताया--"कोई बदमाश मेरी कुटिया में घुस गया था। उसने मेरा संयम नष्ट करने का प्रयत्न किया। महाराजजी, उसे खोजा जाय।"

महाराजजी ने कहा, "क्यों महारानी! तुझे मैंने हजारों बार सावधान किया कि तू यहाँ कभी सफल नहीं होगी, यह जंगल है-**"बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी।" (मानस, २/६२/२)**- चित्रकूट जाकर रहो; किन्तु तुमने कभी ध्यान ही नहीं दिया। प्रकृति सर्वत्र है, सदैव सावधान रहना चाहिए। वैसे भी स्त्रियों को घर से बाहर निकलकर भजन करने का विधान नहीं है। शास्त्र मना करते हैं। स्त्रियों को अपने पति, भाई या पुत्र के संरक्षण में रहकर ही भजन करना चाहिए। हाँ, जब उदात्त अवस्था आ जाय, तब मीरा की तरह बाहर भी जाया जा सकता है। कदाचित् निकल भी पड़ीं तो वहाँ रहना चाहिए जहाँ स्त्रियों का समूह हो, उनकी अपनी व्यवस्था हो। देख लिया, कैसा विघ्न उपस्थित हुआ है। अभी यहाँ से जाओ, सवेरे आना।"

विकल द्रौपदी वहाँ पहुँच गयी जहाँ अन्य महात्माओं का निवास था। उन महात्माओं के उकसाने पर द्रौपदीबाई ने श्रद्धा होते हुए भी पुलिस में महाराजजी के विरुद्ध रिपोर्ट लिखा दी कि परमहंसजी मेरी कुटिया में आये थे। उस समय भारत छोटे-छोटे राजे-रजवाड़ों के शासन में विभक्त था। चित्रकूट के ही क्षेत्र में सात स्टेट थी। एक स्टेट में एक कोतवाल और पाँच-सात सिपाही, इतनी ही पुलिस बल हुआ करती थी। दरोगा

अपनी फोर्स लेकर आया और महाराजजी से कहा, ''आपके नाम से एक आरोप है, आप थाने चलिये।'' महाराजजी ने कहा, ''देखो, मैं सचमुच का साधु हूँ। भगवान ने मुझे साधु बनाया है। मुझसे छेड़छाड़ न करो। क्या हम तुम्हें अपराधी दिखाई दे रहे हैं? यहाँ और भी लोग रहते हैं। तू अपने ढंग से सबसे पूछताछ कर ले, जो अपराधी है उसे पकड़। पहले पता तो कर!''

दरोगा उन नौ महात्माओं और द्रौपदीबाई को साथ लाकर बोला, ''इन सबको मैं ले आया, अब आप भी थाने चलिये।'' आपने कहा, ''पहले तू इन सबकी अलग-अलग जाँच कर ले। हमें इस आसन से न उठा अन्यथा तुम्हारे ही सभी करम हो जायेंगे।''

दरोगा अपनी जिद पर अड़ा रहा। वह कहने लगा, ''महाराजजी! हम कानून से बँधे हैं।'' आपने इष्ट से प्रार्थना की, ''भगवन्! यह कैसा षड्यंत्र?'' आदेश मिला, ''पापग्रह का प्रभाव है किन्तु तुम निर्भय भजन करो।'' सगुन मिलते ही आप आसन से उठकर चलने लगे। वे सोचते जाते थे कि देखें भगवान पापग्रह का प्रभाव कैसे काटते हैं? सब लोग तो सिपाही के घेरे में जा रहे थे किन्तु महाराजजी कुछ दूर रहते हुए सहज भाव से शान्तिपूर्वक ध्यानस्थ होकर चल रहे थे।

थाने तक पहुँचते-पहुँचते द्रौपदीबाई पागल हो गयी। उसने अपनी साड़ी फाड़कर फेंक दिया। कामतानाथ गाँव की कुछ स्त्रियों ने दौड़कर उसे साड़ी पहनायी; किन्तु वह पुनः-पुनः निर्वस्त्र हो जाती थी। वह कहने लगी, ''परमहंसजी ने हमें कुछ कर दिया है। हमें यह क्या हो गया? परमहंसजी निर्दोष हैं। इन्हीं में से कोई था।'' भीड़ में सन्नाटा छा गया। लोगों ने समझा कि परमहंसजी ने ही उसे शाप दे दिया है। द्रौपदीबाई चींख-चींखकर कहने लगी, ''इन्हीं साधुओं के कहने से मैंने परमहंसजी का नाम लिया था, वे महात्मा निर्दोष हैं।'' और चरणों में आ गिरी, ''महाराजजी! मुझे क्षमा करें।'' आपने आशीर्वाद देते हुए प्रसन्न मुद्रा में कहा-

बिना बिचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय।।

दरोगा का समाधान हो गया। उसने कहा-''ठीक है, ठीक है महाराजजी! अब आप जाइये। कोई बात नहीं है।'' महाराजजी ने कहा, ''बात क्यों नहीं है? तू मुझे आसन से उठाकर यहाँ तक लाया- यही गलत किया।''

कुछ माह पश्चात् द्रौपदीबाई सती अनुसुइया में रहने की इच्छा से लौट आयी। उसके साथ फिर कुछ विघ्न दृष्टिगोचर हुए तब उसने निर्णय लिया कि परमहंसजी ठीक कहते हैं। वे महापुरुष हैं। अतः उसने अनुसुइया सदा के लिए त्याग दिया।

महाराजजी कहा करें, "हो! भगवान रक्षा करते हैं तभी साधक बच पाता है। अपने बल-बुद्धि के भरोसे चलनेवाले भटक जाते हैं।"

धरी न काहूँ धीर सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ।। *(मानस, १/८५)*

कुछ दिनों पश्चात् जब स्टेटों का उन्मूलन हो गया; तब उन दरोगाजी की नौकरी समाप्त हो गई। अपने सेवाकाल में उन्होंने जो कुछ अर्जित कर रखा था उससे एक ट्रक खरीदा। एक दुर्घटना में वह ट्रक खड्ड में गिरकर चकनाचूर हो गया। कुछ समय पश्चात् एक हाफ शर्ट और हाफ पैण्ट पहने दरोगाजी अनुसुइया आये और सादर प्रणाम किया। महाराजजी ने कहा, "अरे दरोगाजी! आओ बैठो।" वह बोले, "दरोगा क्या महाराजजी, अब तो कुछ भी नहीं रहा। जितना धन था वह सब समाप्त हो गया। परिवार में छोटे-छोटे बच्चे हैं। पूरा परिवार भुखमरी के कगार पर है। महाराजजी! अब दया हो जाय। मैं लाला हूँ, कोई सहारा भी नहीं है। क्षमा करें! महाराजजी आशीर्वाद दें।" महाराजजी ने कहा, "ठीक है, ठीक है! विभूति खाओ और अब जाकर अपना परिवार देखो।" आपका आशीर्वाद प्राप्त कर वे प्रसन्न मन से चले गये और सानन्द रहते हुए सत्पुरुषों की सेवा करने लगे।

शास्त्रार्थ में विजय

द्रौपदीबाई तथा भक्तों को सान्त्वना देकर आप वहाँ से विचरण करते हुए राजापुर की ओर निकल गये। राजापुर प्रसिद्ध सन्त और महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्मभूमि होने से विख्यात है। रात्रि में आपको अनुभव में दिखाई पड़ा कि शास्त्रार्थ हो रहा है और आप विजयी हो गये हैं। महाराजजी की पार्थिव शिक्षा शून्य थी। शास्त्रार्थ या वाद-विवाद में पड़ना आपका स्वभाव भी न था। अतः ऐसे अनुभव से महाराजजी को बड़ा कुतूहल हुआ।

दूसरे दिन विचरण करते हुए आप राजापुर पहुँचे। उस समय वहाँ सचमुच शास्त्रार्थ छिड़ा हुआ था। लोगों ने बताया कि तीन दिन से मानस की एक पंक्ति पर बहस चल रही है कि गोस्वामीजी ने अयोध्याकाण्ड में राम-वनगमन प्रसंग में- **'तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा।।'** (मानस, २/१०९/७) कहकर जिस तपस्वी का वर्णन किया है, वह वास्तव में कौन था? उन लोगों ने महाराजजी से इस सन्दर्भ में विचार व्यक्त करने का अनुनय किया। महाराजजी ने कहा- "भाई, मान लें आप किसी के दरवाजे पर पहुँचते हैं, वह भला आदमी होगा तो दस कदम आगे ही आकर

आपका स्वागत करेगा। इसी तरह भगवान राम जब चित्रकूट पधार रहे थे, कामतानाथजी स्वयं विप्र का रूप धारण कर स्वागतार्थ आगे आकर मिले और लौट गये।"

यद्यपि महाराजजी ने विनोद में ही यह सब कहा था किन्तु वह इतना स्वाभाविक लगा कि सब वाह-वाह कर उठे। आपको विजयी घोषित कर उन सबने माला पहनायी। महाराजजी ने उनसे कहा- "यह मानस है। मानस अन्तःकरण को कहते हैं। यह तुम्हारे अन्तःकरण की कथा है। यह तुम्हें तब समझाऊँगा जब और अधिक अभ्यास कर लोगे। खूब नाम जपा करो।" उन सबको सान्त्वना देकर आप आश्रम लौट आये।

हाथ में फोड़ा

अनुसुइया के समीपस्थ ग्राम नवस्ता के एक पाण्डेयजी हैं- बलदेव पाण्डेय, उनके हाथ में फोड़ा हो गया। भयंकर दर्द के कारण वे तीन दिन और तीन रात सो न सके। विकल होने पर वे महाराजजी का दर्शन करने चले आये। महाराजजी ने कहा- "पांडे, पूड़ी न बनइहे?" उन्होंने कहा, "मैं तो मरत हौं महाराजजी!" आपने कहा-"क्यों मर रहे हो, अभी तो पूड़ी बनानी है। जाकर बनाओ।" उन्होंने निवेदन किया- "हाथ ही नहीं उठ रहा है।" महाराजजी ने कहा, "ला! हाथ इधर ला! देखें तो।" महाराजजी ने उसे थोड़ा दबाकर ठोक-ठाँक दिया। वह पाण्डेय तो धीरे-धीरे पूड़ी निकालने लगे। लोग खा-पीकर चले गये तो महाराजजी के हाथ में दर्द उठने लगा।

नौवें दिन तो महाराजजी के हाथ में इतना दर्द होने लगा कि न दिन को चैन पड़ता था और न रात को। आप बैठे-बैठे फोड़े पर पानी का झरना देने लगे। इतना असह्य दर्द उठता कि आँखों में आँसू आ जाते थे। उन्होंने भगवान से पूछा कि जब निवृत्ति हो गई तब यह फोड़ा क्यों? अनुभव में ही आपको बताया गया कि उस पण्डित का फोड़ा आपने स्पर्श करके स्वयं ले लिया। उसे इस फोड़े का कष्ट बारह महीने झेलना था, क्या आप इसे बारह दिन भी नहीं झेलेंगे? अब महाराजजी आँसू पोंछते और दिन भी गिनते जाते थे कि दस, ग्यारह और बारह- परसों फोड़ा ठीक हो जायेगा। वे स्वयं से कहते- "भोग लो परमहंसजी!" **दया बिन संत कसाई। दया करी तो आफत आई।।** ठीक बारहवें दिन फोड़ा बह गया और ठीक भी हो गया।

इस घटना के पश्चात् महाराजजी किसी का स्पर्श करने, अपना चरण स्पर्श कराने के प्रति और भी चौकन्ने हो गये। तब से आप दूसरों का कल्याण करते हुए भी लोगों के स्पर्श से बचने लगे। जब श्रद्धालु अपनी व्यथा लेकर आपसे कृपायाचना करते, आप मात्र कृपादृष्टि से ही उन्हें अच्छा कर दिया करते थे। विशेष कारण उपस्थित होने पर

वे स्पर्श भी करते थे। महाराजजी बताते थे कि निवृत्तिवाला महापुरुष अपनी इच्छा से स्पर्श कर ले तो यदि किसी की मृत्यु भी है तो टल जायेगी; किन्तु उन महापुरुष को भोगना पड़ेगा। कंकड़ मात्र से कोई पक्षी मर सकता है किन्तु वैसे हजारों कंकड़ किसी गजराज के लिए नगण्य हैं। इसी प्रकार जो पाप किसी शरीर को आत्मा से पृथक् कर देने में सक्षम है, महापुरुष सहज ही उसे झेलकर उसकी गति कुण्ठित कर देते हैं।

अनुसुइया के सिद्धबाबा

क्षेत्रीय श्रद्धालु महाराजजी के पास नियमित आने लगे थे। एक दिन उनसे आपने पूछा, "ये उजड़े हुए मकान किसके हैं?" उन लोगों ने बताया, "यह सब सिद्धबाबा के आश्रम के खण्डहर हैं। सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले यहाँ एक सिद्धबाबा रहते थे। वे बड़े अच्छे महापुरुष थे। उनका नाम ही सिद्धबाबा था और वे थे भी सिद्धपुरुष। एक लाख से अधिक उनके अनुयायी थे। उनके पास लगभग चार सौ गायें थीं। उनके यहाँ दस-पन्द्रह फीट व्यास की बड़ी तई में मालपुआ बनता था। भक्तों ने चार गाँव उनकी सेवा में अर्पित कर रखे थे।

महाराजजी ने पूछा, "सिद्धबाबा के वंश में क्या अब भी कोई है?" उन लोगों ने बताया, "एक लड़का जिसका नाम गुरुप्रसाद है, ठाकुरों के यहाँ रहता है।" आपने सोचा कि कुछ भी हो, वह साधु का अंश है। मेरे पास रहता तो सेवा करता। अतः आपने उसे बुलवाया। सोलह-सत्रह वर्ष का एक दुबला-पतला लड़का आया। वह सहर्ष महाराजजी की सेवा में रहने लगा।

तीन दिनों बाद वह महाराजजी से बोला, "ठाकुरों को सूचना तो दे आऊँ कि मैं अब महाराजजी की सेवा में रहने लगा हूँ।" वह अनुमति लेकर गया और जब लौटा तो उसके साथ एक लड़की भी थी। महाराजजी ने पूछा, "क्यों रे! यह भवानी कौन है?" उसने बताया, "महाराजजी! यह मेरी पत्नी है।" महाराजजी बिगड़े, "क्यों रे! तूने बताया नहीं कि व्याह हो गया है। अब भाग यहाँ से, हम तुम्हें नहीं रख सकेंगे। जाओ जहाँ से आये हो।" दोनों सुबक-सुबक कर रोने लगे। महाराजजी बड़े असमंजस में पड़ गये कि अब क्या करें? धीरे-धीरे एक-एक करके दिन बीतने लगे। चित्रकूट तक चर्चा फैल गयी कि महाराजजी के लड़का और लड़की आये हैं।

पापग्रह का अन्त

एक दिन महाराजजी धूने के पास बैठकर सत्संग कर रहे थे। सूरज पहाड़ियों की ओट में न जाने कब का जा चुका था। आपके पास चार-पाँच साधक और दो-चार भक्त

बैठे थे। गुरुप्रसाद और उसकी पत्नी दूर बैठे किसी बात पर झगड़ रहे थे। अकस्मात् गुरुप्रसाद ने अपनी पत्नी को एक तमाचा मारा। पत्नी तपाक से उठी और जंगल में ओझल हो गयी। गुरुप्रसाद ने कुछ देर तक तो प्रतीक्षा की; किन्तु जब एक घंटा बीत चला और वह न लौटी तो उसके सब्र का बाँध टूट पड़ा। वह जंगल में चारों ओर खोजकर महाराजजी के पास आकर रोने लगा। उसने बताया कि उसकी पत्नी जंगल में गायब हो गयी है। उसे खोजने का आदेश दें अन्यथा शेर-भालू उसे खा सकते हैं। आपने उसी को डाँटते हुए कहा, "जब पत्नी से इतना लगाव था तो चाँटा ही क्यों मारा?" आपने कहा, "खोजो हो! कहीं सचमुच शेर ही न खा ले।" गुरुप्रसाद तथा सभी भक्त खोजने में लग गये।

सूने जंगल में आवाज देकर लोग उसे पुकारने लगे। रात काफी बीत गयी थी। महाराजजी को भी दया आ गयी। उन्होंने खड़े होकर सगुन मिलाया, जिधर आदेश मिला उधर ही बढ़ने लगे। आप दूसरे खण्ड की छत के ऊपर चढ़ गये। उन्हें मुड़ेर के पास कुछ काला-सा पड़ा दिखाई दिया। आपको लगा, जैसे कोई अजगर पड़ा हो। और नजदीक जाने पर आप विचार करने लगे, यहाँ तो साफ-सफाई है, कोई लकड़ी गिर गई है क्या? अचानक वह उठी और महाराजजी की ओर दोनों हाथ फैलाकर दौड़ी। बायीं बाँह तड़तड़ फड़कने लगी। महाराजजी सावधान हो गये। समीप आते-आते उन्होंने गुरुप्रसाद की पत्नी को पहचान लिया और छड़ी उठाते हुए जोर से बिगड़े, "धत् चुड़ैल कहीं की! ऊपर चढ़ी चली आ रही है। देख रे! तेरी औरत यहाँ छत पर पड़ी है।" डाँटने से वह सहमकर रुक गयी। तब तक गुरुप्रसाद आया और पत्नी को ले गया।

उसी रात महाराजजी के अनुभव में आया, "आज पापग्रह समाप्त हो गया। सूपनखा के नाक-कान कट गये। अब जीवन में कोई बाधा नहीं है।" महाराजजी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि, ओह! भोले-भाले इन बच्चों के अन्दर प्रवेश कर यह पापग्रह पीछा कर रहा था। उसी दिन पथरा गाँव के एक श्रद्धालु गणेश नम्बरदार को बुलाकर कहा कि जैसे भी हो, इनके लिए गाँव में कोई व्यवस्था करो और आज ही इन्हें यहाँ से ले जाओ। देखो, कोई कष्ट नहीं होना चाहिए।

नम्बरदार ने तीन सौ रुपये का एक घर खरीदा और उसी समय दोनों को विदा कर दिया। कुल मिलाकर महाराजजी उस दिन बहुत प्रसन्न थे कि पापग्रह का अन्त हो गया और अब उनके लिए भविष्य में भी कोई खतरा नहीं रह गया था।

तुलसिदास एहि जीव मोह-रजु, जेहि बाँध्यो सोइ छोरै। *(विनय०, पद १०२)*
साधक को सदैव भगवान पर भरोसा रखना चाहिए।

सिद्धबाबा का तख्त और महात्मा

आश्रम में कोई बैठने की चौकी नहीं थी, जमीन पर ही आसन था, अतः आपने सिद्धबाबा का तख्त मँगा लिया। आप उसी तख्त पर बैठने लगे। श्रद्धालु तथा सन्त-महात्माओं का आना-जाना लगा रहता था। एक महात्मा महाराजजी से बोले, "आप सिद्धबाबा के तख्त पर क्यों बैठते हैं?" महाराजजी ने हँसते हुए कहा, "भाई, सिद्धों के तख्त पर सिद्ध ही बैठ सकता है इसीलिए तो बैठा हूँ।" उन्होंने कहा, "क्यों! मैं नहीं बैठ सकता क्या?" आपने कहा, "नहीं, इस पर कोई पात्र ही बैठ सकता है।" उन्होंने हठ किया कि सिद्धबाबा हमारे सम्प्रदाय के थे, हम इसी पर बैठेंगे। महाराजजी ने व्यर्थ के विवाद में पड़ना उचित न समझ उस तख्त को दूर रखवा दिया और नीचे अपने आसन पर जाकर बैठ गये। उन महात्मा ने गोमुखी में हाथ डाला और तख्त पर बैठ अपना आसन लगा लिया।

दूसरे दिन प्रातः महाराजजी को याद आया। उन्होंने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई किन्तु वे महात्मा कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे। आपने लोगों से कहा कि उन्हें खोजो, आखिर चले कहाँ गये? खोजते-खोजते लोगों ने उन महात्मा को एक गुफा के अन्दर पाया। उस गुफा से बुखार की गन्ध आ रही थी। भैंसे की तरह लाल-लाल आँखों से घूरते हुए महात्मा बुखार के आवेग में काँप रहे थे। एक सन्त ने कहा, "देखो, जाकर महाराजजी के चरणों में गिरो, क्षमायाचना करो, नहीं तो काँपते-काँपते मर भी जाओगे। कल अकारण ही महाराजजी से शरारत कर बैठे।" उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ। वे गये और महाराजजी के चरणों में साष्टांग दण्डवत् किया। महाराजजी ने आशीर्वाद दिया और कहा, "धूनी में प्रणाम करके विभूति उठाकर लगाओ और खा लो।" विभूति खाकर वे बैठ गये। कुछ देर में जब उनका बुखार उतर गया तो वे बोले, "महाराजजी, यह विलक्षण तख्त है। रात को हमें नीचे गिराकर यह तख्त ही हमारे ऊपर चढ़ बैठा। सवेरा होने पर किसी तरह से हम इसके नीचे से निकले और गुफा में शरण ली। किसी तरह हमारी जान बच गयी। अब हमें आशीर्वाद मिले ताकि भविष्य में कोई ऐसी अप्रिय घटना न घटे और हमें भक्ति प्राप्त हो। आप महापुरुष हैं। महाराजजी! आप रहें, यहाँ इस तख्त पर हम कभी नहीं बैठेंगे। ऐसा निवेदन कर वे चले गये।

साम्प्रदायिकता का शमन

अल्पावधि में ही अनुसुइया आश्रम में निर्विघ्न एवं शान्तिपूर्वक निवास करते हुए श्री परमहंसजी की प्रसिद्धि का प्रसार दूर-दूर तक होने लगा। साम्प्रदायिकता की संकीर्ण विचारधारा रखनेवाले गणवेशधारी सन्त-महात्माओं के बीच स्पर्धा की भावना अंकुरित हो

उठी। परिणामतः इन रूढ़िवादी वेशधारियों ने आपको अघोरी, पाखण्डी आदि शब्दों से अपमानित करने का विफल प्रयास आरम्भ किया। उन लोगों की हरकतों का प्रभाव महाराजजी के ऊपर किंचित् मात्र भी नहीं पड़ता था। आप सहज वाणी में उन लोगों को समझा दिया करते थे कि भगवत्पथ में कोई सम्प्रदाय ऊँचा-नीचा नहीं है। यह रूढ़िवादिता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं स्वतः सभी मत-मतान्तरों से होकर आया हूँ परन्तु मेरा इन पर कोई विश्वास नहीं है और न मेरा कोई सम्प्रदाय ही है। धीरे-धीरे इन रूढ़िवादी साम्प्रदायिक सन्त-महात्माओं का भ्रम दूर हो गया। उनके हृदय में महाराजजी की साधुता के प्रति पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा हो गयी।

अब भी महात्माओं का एक वर्ग ऐसा था जो आपके विरुद्ध षड्यन्त्र-रचना में क्रियाशील रहता था। उसी जमात के द्वारा किसी नागा बाबा को भड़काकर आपकी हत्याहेतु योजना तैयार की गयी। नागा बाबा हत्या की कल्पना से छूरा सहित अनुसुइया आश्रम आ पहुँचा। दूर से ही आपको छूरा दिखाकर वह कहने लगा, "परमहंसजी! यह पैनी धारवाला छूरा आपके लिए ही है। बहुत तंग करते हो सन्तों को! यह हमारी जगह है।"

महाराजजी ने भगवान से पूछा, "भगवन्! जब भजन ही करना था तब इस राग-द्वेष की जगह में लाकर क्यों पटक दिया? कोई कहता है हमारी जगह है, तो कोई कहता है काटकर फेंक देंगे, आप दूसरे सम्प्रदाय के हैं।" तब भगवान ने कहा, "जब हमने बैठाया है तो बैठे भर रहो, तुमसे क्या मतलब।" इतना सुनकर आप निश्चिन्त हो गये और पुनः चिन्तन में लग गये।

रात्रि के घने अन्धकार में जैसे ही वह दुरात्मा षड्यंत्र की पूर्तिहेतु आगे बढ़ा कि तत्काल वह लकवा से प्रताड़ित हो गया। उसके अंग-प्रत्यंग अकड़ गये। इधर महाराजजी को सगुन मिलने लगे। बड़े सवेरे चद्दर की झोली में बाँस डालकर, पालकी-जैसा बनाकर दो महात्मा उसे उसमें बैठाकर आगे-पीछे चल रहे थे। तीसरे बाबा उसके कपड़े, उसका चिमटा लिए पीछे-पीछे चल रहे थे। महाराजजी अपने आसन पर बैठे थे। सामने मन्दाकिनी के कूलस्थ रास्ते से वे सब निकले। वह नागा अपना सही सलामत एक हाथ झोली से निकालकर लड़खड़ाती आवाज में बोला, "परमहंसजी दण्डवत्!" महाराजजी चौंके, "भाई तुम कौन हो?" वह बोला, "महाराजजी! मैं वही नागा हूँ जो आपको छूरा दिखा रहा था।" आपने पूछा, "तुझे हो क्या गया?" वह बोला, "महाराजजी! लकवा मार दिया। दाहिना अंग ही बेकार हो गया है। महाराजजी आप हमें क्षमा कर दें।" महाराजजी ने दयाभाव से उस बाबा को प्रायश्चित भोग से मुक्त कर दिया। कालान्तर में उसके हृदय में महाराजजी के प्रति असीम श्रद्धा जागृत हो गयी।

इस प्रकार महाराजजी के पथ में आनेवाली समस्त विपत्तियों का स्वतः शमन हो गया। आप निर्विघ्न योग-साधना में अनुरक्त रहकर जनजीवन का कल्याण करने लगे। प्रायः महाराजजी साधकों को समझाया करते थे कि वस्तुतः जब भगवान दया कर देते हैं तो विपत्ति ही सम्पत्ति बन जाती है। ध्रुव और प्रह्लाद के जीवन में भगवत्-कृपा से विपत्तियाँ ही सम्पत्ति बन गयी थीं। इसलिए निर्भीकतापूर्वक विपत्तियों का स्वागत करना चाहिए।

जिस प्रकार विभिन्न विद्यालयों का अपना अलग-अलग गणवेश होता है किन्तु सबको शिक्षा और उनसे मिलनेवाली उपाधियाँ एक-जैसी होती हैं, उसी प्रकार साधकों के रहन-सहन में जो भेद दिखाई पड़ता है वह उनकी श्रेणी के कारण है। कोई साधन के आरम्भिक स्तर पर है कोई मध्यम, उन्नत और उच्चतम अवस्थावाला है, तो इन सबका रहन-सहन भी अलग-अलग होगा। परमात्म-पथ पर चलनेवाली योगक्रिया एक है। अनुभूतियाँ एक-जैसी हैं, परिणाम एक-जैसा है तो सम्प्रदाय कैसा? यह तिलक, स्वरूप, वेशभूषा इत्यादि तो गुरुघराने की पहचान है। हैं सब एक ही पथ के पथिक!

आकाशवृत्ति से आश्रमीय व्यवस्था

प्रयाग से आये हुए महात्मा रामलखनदासजी प्रातः नौ बजे तक महाराजजी की सेवा करके पुनः सायंकाल ही दिखाई पड़ते थे। एक दिन महाराजजी ने पूछा कि, दिन में कहाँ गायब हो जाते हो? वह बोले, "महाराजजी! मैं भिक्षाटन किया करता हूँ।" महाराजजी ने कहा कि हमारी आकाशवृत्ति है। उन्हें भीख माँगने से मना किया तो वे बोले, "ऐसा है गुरु महाराजजी! कुछ सन्त-महात्मा भी तो यहाँ आते हैं। भिक्षाटन से उनकी सेवा हो जाती है।" महाराजजी ने समझ लिया कि इसकी आदत पड़ गयी है, यह जल्दी नहीं छूटेगी। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "देखो! भिक्षाटन का एक भी दाना हमें मत खिलाना। मेरी कोठरी में कुछ दिखाई पड़े तो बनाकर खिला दिया करो अन्यथा तू मेरी चिन्ता छोड़ो।" किन्तु उनका भिक्षाटन बन्द नहीं हुआ।

रामलखनदासजी थे तो वयोवृद्ध किन्तु स्फूर्ति के भण्डार थे। सवेरे से शाम तक वे पचीसों किलोमीटर का चक्कर लगा आते थे। वैष्णव महात्माओं में उनकी बड़ी ख्याति थी। बहुत से महात्मा उनके अतिथि हुआ करते थे।

पहाड़ की तलहटी में नदी से कुछ ऊपर महाराजजी का आसन था। रामलखनदासजी का निवास आश्रम के ऊपरी खण्ड पर एक कोठरी में था, जिससे महाराजजी की शान्ति में बाधा न हो। वैष्णव महात्मा दूर से महाराजजी को नमन करते हुए सीधे रामलखनदासजी के पास पहुँच जाते थे। वहाँ पहले वे भोजन करते थे, फिर चिमटा

बजाकर बड़े अनुराग से कीर्तन करते थे- "सीताराम सीताराम, सीताराम जय सीताराम।"- यही उनकी धुन रहती थी।

महाराजजी बताते थे कि, उन सन्तों का वह कीर्तन सुनने में बड़ा अच्छा लगता था। भगवान का मधुर नाम ही तो लेते थे। घड़ीखाड़ हम भी बैठकर सुनते थे फिर मुझे लगता, यह सिर के ऊपर टन-टन कब तक चलेगा? अब तो हमारे शान्त चिन्तन में बाधा पड़ रही है। तब आप उन्हें सचेत करते हुए कहा करें, "जंगल में भी बाधा! सीताराम-सीताराम! क्या सीताराम बहरे हैं जो चिल्ला रहे हो? वे कहीं भागे जा रहे हैं जो बुलाये पड़े हो? अरे! अपने खसम का नाम जुबान से नहीं लिया जाता। इष्ट का नाम अपने हृदय में सुमिरन के साथ लिया जाता है। हृदय में सुरत की डोर लगने का नाम भजन है।"

कुछ महात्मा प्रत्युत्तर में उबल पड़ते थे कि ये कैसे महात्मा हैं? न स्वयं राम-नाम जपते हैं और न हम सबको जपने देते हैं। रामलखनदासजी उन्हें समझाते कि उनसे मत बोलो। वे सन्त हैं, भजन की प्रक्रिया जानते हैं। रामलखनदासजी से वे कुछ कह तो न पाते थे; किन्तु मन में कसक बनी रहती थी।

कुछ दिन पश्चात् उनमें से कुछ महात्मा वेदान्तीजी के पास अयोध्या गये। वेदान्तीजी अयोध्या के लब्धप्रतिष्ठ, शास्त्रों के निष्णात विद्वान् तथा क्रियानिष्ठ सन्त थे। उन महात्माओं ने उन्हें सूचित किया, "अरे वेदान्तीजी महाराज, आप इतने बड़े महापुरुष, अयोध्या के सर्वोपरि महात्मा और आपका चेला एक परमहंस महात्मा की सेवा कर रहा है। न जाने वे किस सम्प्रदाय के हैं। न नहाते हैं न धोते हैं। चलकर बचावें अपने शिष्य को। बड़ा अनर्थ हो रहा है।"

वेदान्तीजी ने कहा, "ऐसा लगता तो नहीं; किन्तु तुम कहते हो तो चलो।" अतः वे दस शिष्यों के साथ अयोध्या से चले। उन्हें प्रेरित कर लानेवाला महात्मा भी साथ में मार्गदर्शन कराता आ रहा था। शाम के समय ग्यारह महात्मा और बारहवें वे साधु भी महाराजजी के सामने की पगडण्डी से होते हुए सीधे रामलखनदासजी की कुटिया पर चले गये। रामलखनदासजी ने गुरु महाराजजी को साष्टांग दण्डवत् किया। उनके पास कुछ बोरियाँ थीं, उसी आसन पर उन सबको बैठाया। उन सबके लिए भोजन की व्यवस्था की। उस समय जो भी उनके पास था (चने की रोटी और कैंथे की चटनी) प्रेम से उन सबको खिलाया।

उन सबकी सेवा से निवृत्त होकर रामलखनदासजी रात्रि बारह बजे महाराजजी की सेवा में पहुँचे और धीरे-धीरे महाराजजी का चरण दबाने लगे। महाराजजी ने पूछा,

"आज तुम्हारे पास कौन लोग आये हैं? हैं तो ग्यारह-बारह लोग किन्तु चूँ तक नहीं। शाम से ही बड़ा सन्नाटा है।" उन्होंने बताया, "जी, हमारे गुरुजी महाराज आये हैं।" महाराजजी ने पूछा, "अच्छा, अच्छा! तो किया उनकी सेवा?" वह उदास होकर बोले, "सेवा क्या करता, अचानक जो आ गये। चने की रोटी और कैंथे की चटनी थी।" महाराजजी ने कहा, "देख गुरु महाराज हैं तो विधि से सेवा कर। हमारी कोठरी में जो भी है सब ले जा और आदरपूर्वक उन्हें खिला-पिला।"

सवेरे भोजन बना तो घी से चुपड़ी हुई गेहूँ की रोटी, दो तरह की सब्जी, दाल, चावल, चटनी इत्यादि विधिवत् महात्माओं को परोसा गया। दो-एक ग्रास ग्रहण करने के पश्चात् वेदान्तीजी रामलखनजी के प्रति उन्मुख होकर बोले, "रामलखन! मैं तुम्हारा गुरु और तू हमारा शिष्य है। बोलो है न?" वे बोले, "हाँ गुरु महाराज! इसमें कोई दो राय नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है।" उन्होंने पूछा, "मैं कुछ पूछूँ तो मेरे साथ कपट तो नहीं करेगा?" उन्होंने कहा, "कभी नहीं।"

वेदान्तीजी ने कहा, "शाम को हमलोग आये तो प्रथम स्वागत में तुमने हम सबको चने का ठर्रा टिक्कड़ खिलाया, आज सवेरे ही यह पुष्कल व्यवस्था! ऐसा अन्तर क्यों? यह सब कहाँ छिपाकर रखा था?" रामलखनदास ने कहा, "गुरुदेव, कल हमारे पास वही था।" महाराजजी के साथ हुई वार्ता से अवगत कराते हुए उन्होंने कहा, "गुरुदेव, यह सब परमहंसजी का ही प्रसाद है।"

वेदान्तीजी ने पूछा, "अच्छा यह बता, उनके पास यह राशन-पानी कहाँ से आता है और तेरे लिए कहाँ से आता है?" रामलखन ने बताया, "गुरुदेव, मैं तो दिनभर भिक्षा करता हूँ। जो भी मिल जाता है, ले आता हूँ। यह परमहंसजी न तो स्वयं भिक्षा करते हैं, न किसी को करने देते हैं और न भिक्षान्न का हमारा एक भी दाना ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं कि हमारे पास हो तो कुछ खाने को बना दिया करो, नहीं तो मेरी चिन्ता छोड़ो। फिर भी उनके पास कोई कमी नहीं रहती। कोई भक्त कुछ चढ़ाने लगता है तो उसे दो गाली जरूर देते हैं।"

वेदान्तीजी ने कहा, "तुम रात-दिन माँगते हो फिर भी चने की रोटी, वे किसी से माँगते नहीं फिर भी कोई कमी नहीं। निश्चय ही वे सिद्धपुरुष हैं।" भोजन छोड़कर वेदान्तीजी उठ खड़े हुए। हाथ धोया और आकर महाराजजी को साष्टांग दण्डवत् किया। वे कहने लगे, "महाराजजी, कुछ लुक्कड़ हमारे यहाँ अयोध्या गये और हमको भी फोड़-फाड़कर ले आये। मेरा सौभाग्य ही था जो इस प्रकार आपके दर्शन हो गये। इस घोर जंगल में आपका ऐसा निवास देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है।"

रामलखनदास की ओर उन्मुख होकर उन्होंने कहा, "देख रामलखनदास! मैं तुम्हारा गुरु हूँ इससे मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि इन महापुरुष की जीवनपर्यन्त सेवा करो। इनकी सेवा मेरी सेवा है।" वेदान्तीजी बड़े आदरभाव से मिले और अन्य तीर्थों का अवलोकन करते हुए अवध धाम को चले गये। रामलखनदास महाराजजी की सेवा में लगे रह गये।

महाराजजी समझाया करते थे, "हो! सन्तों के लिए शीलोच्छवृत्ति, भिक्षावृत्ति और आकाशवृत्ति इत्यादि मान्य वृत्तियाँ हैं। सभी उचित हैं। इनमें से आकाशवृत्ति सर्वोपरि है; किन्तु जब भजन भगवान की देखरेख में चलने लगता है तब इनमें से कोई भी वृत्ति सहायक नहीं होती। उस समय केवल एक वृत्ति रह जाती है कि भगवान चाहते क्या हैं? उन्हीं की इच्छा सर्वोपरि है। देहरादून में बिना माँगे दूध मिला, आकाशवृत्ति ही तो थी। उज्जैन में बिना माँगे बहुत कुछ मिल रहा था किन्तु भगवान ने उसे छूने भी नहीं दिया। जब भगवान भली प्रकार अपना लेते हैं, उस समय ऐसे साधक के लिए सृष्टि में न कुछ खाद्य है, न कुछ धारण करने योग्य है और न ही कहीं निवास स्थान है। उसके लिए इतना ही होता है जितना भगवान स्वीकृति देते हैं। भगवान वही देंगे जिसमें उसका शाश्वत हित है। इसलिए सब लोग श्रद्धा और समर्पण के साथ नाम का जप करो, सद्गुरु के स्वरूप को हृदय में देखो, तुम्हें भी मिलेगा। यह कहने से समझ में नहीं आता, जब तक प्रत्यक्ष घटित न होने लगे।"

जातिगत मोह

रामलखनदासजी स्वभाव के तीखे और स्वाभिमानी थे। गुस्सा तो सदैव उनकी नाक पर रहता था। ब्राह्मणों की कुलीनता का गौरव उन्हें प्राप्त था। वे वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर थे।

एक बार महाराजजी आसन पर बैठे थे। उसी समय पाँच महात्मा महाराजजी की ओर आते दिखाई पड़े। महाराजजी को अनुभव में मिला कि इन पाँचों में से कोई एक अच्छा सन्त है, जिसके पास वृत्ति है, योग-साधन है। महाराजजी को ज्योंही ज्ञात हो कि ये अच्छे सन्त हैं, उन्हें बड़े प्रेम से बुलाते, बैठाते थे। भले ही वे किसी वेश में क्यों न हों। अतः इन महात्माओं के लिए संकेत मिलते ही आपने उन्हें आदर से बुलाया--आइए सन्तजी, आइए त्यागीजी, बैठिए! उन्हें बैठाकर आपने उन्हें कुछ मिष्ठान्न प्रसाद दिया, पानी पिलाया। तदनन्तर गाँजा चढ़ने लगा।

अचानक रामलखनदासजी ऊपर से आ गये। उनका चेहरा देखा, तो बोले, "ऐं, कौन जाति के हो?" उन महात्माओं ने उत्तर नहीं दिया। रामलखनदास अपनी अवहेलना

सहन न कर सके। वे तमककर बोले, "बोलते क्यों नहीं? सुनाई नहीं पड़ता क्या?" महाराजजी ने उन्हें रोका, बोले, "सनक गये हो क्या?"

उनमें से जो एक अच्छे महात्मा थे, उन्होंने कहा, "देखिए, शरीर से तो हम पाँचों चमार हैं और पाँचों भजन कर रहे हैं।" इतना सुनना था कि रामलखनदास पुनः आवेश में आ गये। वे बोल उठे, "जब तुम लोग भजन करने लगोगे तो हल कौन जोतेगा? बड़े आदमियों का काम कैसे चलेगा?"

महाराजजी ने उन्हें शान्त किया और कहा, "क्यों मूर्खों-जैसी बातें करते हो, सन्तों की क्या कोई जाति होती है? जो जाति-पाँति में ही उलझा है वह सन्त कहाँ!" रामलखनदास ने महाराजजी को प्रणाम किया और चले गये। कुछ देर बाद वे किटकिटाते हुए पुनः चले आये और बोले, "शास्त्रों में तुमलोगों को भजन के लिए कहाँ लिखा है--'सब जाति कुजाति भए मगता।" *(मानस, ७/१०१, छन्द)* महाराजजी पुनः बिगड़े, "भाग यहाँ से।" "अच्छा महाराजजी!" कहकर वे प्रणाम कर चले गये।

कुछ ही देर में वे पुनः आ गये। वे कहने लगे- "घोर कलियुग आ गया- '**ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।**' *(मानस, ७/९९/७)* क्यों साधु बन गये? बुद्धि खराब हो गयी क्या?" उनमें जो अच्छे महात्मा थे, बोले- "अच्छा बाबाजी! तीन बार में आपने गाली तो बहुत दी लेकिन तीन महीने में आप मर भी जायेंगे।" रामलखनदास ने कहा, "अरे जाओ भी, चमारों के शाप से डांगर नहीं मरते।" वे लोग महाराजजी को प्रणाम करके चले गये। महाराजजी ने रामलखनदास को समझाया कि सन्तों का अपमान नहीं करना चाहिए।

धीरे-धीरे इस घटना को सभी भूल गये। तीसरा महीना समाप्ति पर था। एक दिन रामलखनदास ने कहा, "गुरु महाराजजी! गाँव में कुछ राशन रखा है, आज्ञा हो तो ले आऊँ।" महाराजजी ने कहा, "रहने दे, राशन क्या होगा?" वे बोले, "महाराजजी! सन्तों के लिए अब कुछ शेष नहीं है। मैंने भिक्षा माँगकर सेमरिया गाँव में रख छोड़ा है, उसे ले आता तो अच्छा रहता। अनुमति मिल जाय तो ले आऊँ।" महाराजजी ने फिर भी मना किया। जब हठ देखा तो कुछ न बोले।

'मौनं स्वीकृति लक्षणम्' समझकर रामलखनदास ने महाराजजी को प्रणाम किया और निकल पड़े। वहाँ जाते ही उन्हें बुखार हो आया। गाँव के किसी व्यक्ति ने महाराजजी को सूचना दी कि उन्हें बुखार हो आया है। दूसरे दिन महाराजजी को सूचना मिली कि बुखार तेज हो गया है। महाराजजी ने कहा, "यदि वहाँ बीमारी ठीक न होती दिखाई दे

तो हमारे पास ले आओ।" तीसरे दिन गाँववाले उन्हें लाने का उपक्रम कर ही रहे थे कि सहसा हालत बिगड़ी और शरीर छूट गया।

महाराजजी को उन महात्माओं की बात याद हो आयी। गणना करने पर वह तीसरे महीने का अन्तिम दिन निकला। महाराजजी ने कहा, "ओह! मरने का समय आया तो उसकी बुद्धि खराब हो गयी। सन्तों की वाणी सही करने के लिए ही भगवान ने उसकी बुद्धि प्रेरित कर गाँव़ भेज दिया। उसका पाप उसे वहाँ भगाकर ले गया। मेरे पास रहा होता तो कम-से-कम मरता तो नहीं। एक सन्त शाप दे सकता है तो दूसरा उतार भी सकता है।"

रामलखनदासजी को पहले से कोई बीमारी भी नहीं थी। अकस्मात् न जाने क्या हो गया। तीन दिन के बुखार में ही शरीरान्त हो गया। **'कोई कहा सन्त हम चीन्हा। तुलसी कानों पर हाथ धरि लीन्हा।।'** तुलसीदासजी से किसी ने कहा, "मैंने उन्हें पहचान लिया, वे अच्छे सन्त हैं।"-यह सुनकर तुलसीदासजी ने अपने दोनों कानों को बन्द कर लिया। वे बोले, "किन आँखों से आपने सन्त को देखा?" भगवान मन-बुद्धि से परे होते हैं और इधर सन्त भी मन-बुद्धि का निरोध कर भगवत्ता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वह सन्त भी मन-बुद्धि से परे है। भगवान बता दें तभी जाना जा सकता है- **'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'** *(मानस, २/१२६/३)* उनकी कोई अन्य पहचान नहीं होती। वे सम्प्रदाय, मज़हब, देश, जाति, वर्ण, रंगभेद से परे होते हैं।

रामलखनदास का अन्तिम संस्कार हुआ। इस प्रकार महाराजजी के प्रथम सेवक का तिरोभाव उनके जीवनकाल में ही हो गया।

अनुसुइया आश्रम के पूर्व ब्रह्मचारीजी

पुरातनकाल से ही अनुसुइया योगसाधना का केन्द्र रहा है। यह भूमि अत्रि, दत्तात्रेय, चन्द्रमा, दुर्वासा, सती नर्मदा, सिद्धबाबा आदि महर्षियों की तपश्चर्या-स्थली थी। प्राकृतिक सुषमा के बीच निर्जन गुफाओं में रहकर अनेकानेक मनीषियों ने यहीं से आत्मानुभूति प्राप्त की है। ऐसे ही एक सन्त भजन की प्रारम्भिक अवस्था में बाल ब्रह्मचारी के रूप में अनुसुइया की वनस्थली में तपश्चर्या-हेतु यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए आये और यहाँ प्रशान्त वातावरण देख रम गये। ब्रह्मचारीजी अनवरत दो माह तक कन्द-मूल-फल आदि का सेवन करते हुए भजन करते रहे। पहले आप परमहंसजी महाराज का दूर से ही दर्शन किया करते थे; क्योंकि यह जनश्रुति हो गयी थी कि परमहंस महाराज जादू जानते हैं। कुछ समयोपरान्त विचरण करते हुए ब्रह्मचारीजी जानकी कुण्ड

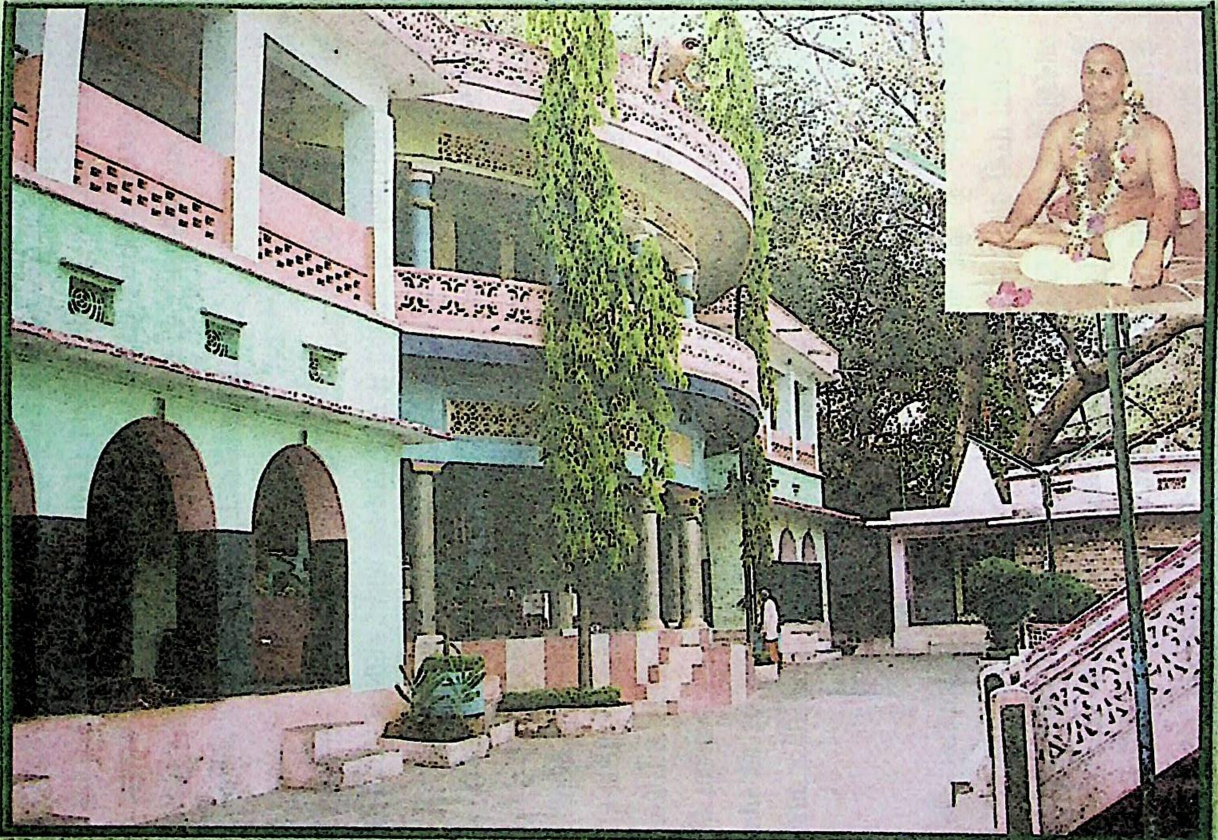

पूज्य श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज

श्री परमहंस आश्रम, धारकुण्डी, जिला-सतना, मध्य प्रदेश

यह आश्रम भगवान राम की तपस्थली चित्रकूट धाम से ५५ किमी. की दूरी पर है। यह घोर जंगल में एक प्राकृतिक जलस्रोत है। आरम्भ में स्वामीजी का निवास कन्दरा ही था, अब एक भव्य आश्रम के रुप में है।

पहुँचकर वहाँ निवास करने लगे। आपके रहन-सहन को देखकर वहाँ के प्रसिद्ध सन्त श्री रणछोड़दासजी ने ब्रह्मचारीजी को वहाँ का मालिक नियुक्त कर दिया। उन्होंने कहा, "मैं प्रायः बाहर रहता हूँ, आप ही यहाँ का कार्य-भार सँभालें।" कुछ दिन वहाँ रुकने के पश्चात् आप वहाँ की समस्त गतिविधियों से अवगत हो गये परन्तु मन शान्त नहीं हुआ। कारण कि आपकी अन्तश्चेतना परमशान्ति के लिए व्यग्र थी। परिणामतः आप जानकी कुण्ड आश्रम त्यागकर अयोध्या पहुँच गये। वहाँ पर सुनियोजित ढंग से भण्डारा करवाया परन्तु आपके अन्तस्थल में यहाँ भी अन्तर्द्वन्द्व तरंगित होता रहता था। बार-बार इस हलचल के बीच श्री परमहंस महाराजजी की वही परमशान्त मूर्ति आपके मानस-पटल पर अंकित हो जाती थी।

ब्रह्मचारीजी शिष्य के रूप में

इसी अन्तर्द्वन्द्व के बीच ब्रह्मचारीजी को स्वप्न होता है कि अनुसुइया आश्रम चलो, वहीं परमशान्ति मिलेगी। साथ-ही-साथ श्री परमहंस महाराजजी को यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि एक युवा साधक आपकी शरण में आ रहे हैं, उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये। स्वप्न-संकेत के अनुसार ही ब्रह्मचारीजी श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया के लिए प्रस्थान करते हैं। यहाँ महाराजजी भी अनुभव में निर्दिष्ट साधक की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। तब क्या था! घूमते-विचरते ब्रह्मचारीजी अनुसुइया आश्रम आ पहुँचे। यहाँ पर महाराजजी के चरणों के प्रथम दर्शन ने ही ब्रह्मचारीजी के मानस में उठनेवाले समस्त अन्तर्द्वन्द्वों का पूर्ण शमन कर दिया। हृदय गद्गद हो गया, वाणी मूक हो गयी। सदा-सदा के लिए उनके चरणारविन्दों में आत्मसमर्पण कर ब्रह्मचारीजी आत्मविभोर हो गये। श्री परमहंस महाराजजी की छत्रछाया में सतत साधनार्थ जीवन व्यतीत करते हुए सद्गुरुदेव की महती कृपा से कुछ ही वर्षों के उपरान्त आप जीवन्मुक्त होकर स्व-स्वरूप में स्थित हो गये।

भविष्यद्रष्टा सन्त

एक बार ब्रह्मचारीजी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि एक कुत्ता वेद पढ़ रहा है। आरोह-अवरोह, गति-लय के साथ मधुर ध्वनि में वेदपाठ अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हो रहा था। ब्रह्मचारीजी ने अपना अनुभव महाराजजी को सुनाया। महाराजजी ने कहा, "देख, कुत्ते की तरह ऊलजलूल वेश बनाये कोई अच्छे महात्मा आ रहे होंगे। ध्यान देना, कहीं वे निकल न जायँ।" लोग सतर्कता के साथ मन्दाकिनी के तटवर्ती मार्ग की निगरानी करने लगे। लगभग दस बजे पागलों-जैसी वेशभूषा के एक व्यक्ति उस रास्ते से होकर निकले, जो सीटी बजाने की मुद्रा में कुत्ते की तरह 'ओहूम्-ओहूम्' की ध्वनि निकालते

चले जा रहे थे। उन पर दृष्टि पड़ते ही महाराजजी को संकेत मिला कि जो कुत्ता वेद पढ़ रहा था, वह यही हैं।

महाराजजी ने उन महात्मा को सादर ले आने को कहा। किसी की समझ में नहीं आता था कि ऐसे भी महात्मा हो सकते हैं। फिर भी ब्रह्मचारीजी ने समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया और आश्रम में ले आये। आश्रम में भी वे श्वास-प्रश्वास से अस्पष्ट जाप करते रहे। महाराजजी ने कहा, "थोड़ी देर के लिए अब यह जाप बन्द करो, पहले विचार तो कर लो कि कहाँ आये हो?" वे मुस्कराते हुए शान्तिपूर्वक बैठ गये।

ब्रह्मचारीजी ने स्वयं भोजन बनाकर श्रद्धासहित उन्हें निवेदित किया। प्रसाद पाकर तृप्त हो वे बोले, "बहुत सुन्दर! बहुत बढ़िया! तीन साल, नहीं-नहीं छः साल! एकदम पार हो जायेगा। गुरु महाराजजी की सेवा में लगे रहो।" सामने पहाड़ की ओर देखकर उन्होंने कहा, "यह जंगल कट जायेगा।" कुछ क्षणों पश्चात् उन्होंने कहा, "यहाँ गायें चरेंगी।" दूसरे दिन उन्होंने प्रस्थान किया। ब्रह्मचारीजी ने कुछ दूर तक जाकर बड़े सम्मान से उन्हें विदा किया।

उन दिनों किसी को कल्पना भी नहीं थी कि यह जंगल कट सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा जंगलों को काटने का ठेका मिलने लगा। टेकरिया के भागवत प्रसादजी ने नदी पार आश्रम के सामने पहाड़ी वृक्षों का ठेका लिया। जंगल कटते-कटते आश्रम के सामने के वृक्षों की बारी आई। महाराजजी का ध्यान उधर गया। उन्होंने कहा, "यह कहाँ के कसाई आ गये। तुम लोग भागो यहाँ से। अरे! इन पेड़ों की छाया में हजारों पशु-पक्षी और मृग बैठे रहते हैं। कम-से-कम इन पेड़ों को तो छोड़ दो।"

मजदूरों ने महाराजजी का मन्तव्य भागवत प्रसादजी को कह सुनाया। पहले तो वह कुछ तैश में आये फिर बोले- "ठीक है, महाराजजी की आज्ञा का पालन करो।" वे वृक्ष आज भी हैं। वन्यपशु उनकी छाया में झुण्ड-के-झुण्ड बैठे दिखाई देते हैं।

कुछ दिनों पश्चात् एक त्यागी महात्मा उधर आ निकले। उनके पास चालीस गायें थीं। कटा हुआ साफ-सुथरा जंगल पाकर उन गायों को उसी पहाड़ी पर चराने लगे। महाराजजी की दृष्टि पड़ी तो उन्होंने पूछा, "क्यों रे! उस पहाड़ी पर वह सफेद-सफेद क्या है?" लोगों ने बताया, "महाराजजी! गायें हैं।" महाराजजी ने कहा, "अरे! उन महात्मा ने कहा था- 'जंगल कट जायेगा', देखो कट गया। उन्होंने कहा था, यहाँ गायें चरेंगी-- देखो, वे चर रही हैं। और उन्होंने क्या-क्या कहा था?" लोगों ने बताया, "ब्रह्मचारीजी को उन्होंने कहा था कि लगे रहो, छः वर्षों में लक्ष्य की प्राप्ति कर लोगे।"

ब्रह्मचारी को बड़ा हर्ष हुआ। अतिविशिष्ट अनुराग से वे चिन्तन में लग गये। सेवा और सुमिरन में उन्होंने दिन-रात एक कर दिया और छठें वर्ष ही महाराजजी की अनुकम्पा से धारकुण्डी गये और स्थिति मिल गयी।

वस्तुतः **'ना जाने किस वेश में नारायण मिल जाय।'**- वेशभूषा महात्माओं की पहचान नहीं है। महात्माओं को वही पहचान पाते हैं जिन्हें भगवान सन्देश दे देते हैं कि यह महात्मा हैं। यही वेशभूषा हमारे दादा गुरु सत्संगी महाराजजी की थी। महाराजजी को आकाशवाणी हुई कि इस मन्दिर में गुरु महाराजजी हैं। किसी को कल्पना भी नहीं थी कि वह गुरु भी हो सकते हैं; किन्तु वह अन्तर्ज्ञानसम्पन्न ब्रह्मविद्या के ज्ञाता निकले।

पशु-पक्षियों के प्रति समत्व भाव

ऋषि-परम्परानुसार आपके आश्रम में भी एक शुक पल रहा था। आप यह सोचा करते थे कि महात्माओं के तोता 'राम-राम' कहते हैं और दुष्टजनों के पालित पक्षी उनके आचरणानुकूल भला-बुरा कहना सीख लेते हैं। श्री परमहंसजी के सान्निध्य में रहने के कारण स्नेह से वह प्रतिपालित पक्षी भी 'राम-राम' रटने लगा। जरा-मरण का सम्बन्ध समस्त जीव-जगत् से है ही, अतः वह तोता भी बीमार पड़ गया। आपको शरणागत पर दया आई, उसे गोद में रखकर पुचकारने लगे। आपने विचार किया कि यती-सती का बोलबाला है। सती सावित्री ने यमराज से सतीत्व के बल पर अपने पतिदेव को बचा लिया था। अतः मैं देखता हूँ कि कैसे यह शुक काल-कवलित होता है। ऐसा कहकर आसन में बैठकर बार-बार उसके सिर पर स्नेह से हाथ फेरने लगे। उस समय आपके पास एक ब्राह्मण, एक नाई और ब्रह्मचारीजी थे। जैसे ही दिवावसान हुआ, आश्रम के सम्मुख वृक्ष के पास किसी अज्ञात सत्ताधारी के खाँसने की आवाज सुनाई पड़ी। सब लोग उस पर संदिग्ध हो गये। तत्पश्चात् वही आवाज नदी के उस पार सुनाई दी और यहाँ तक कि यत्र-तत्र सर्वत्र से विलक्षण खाँसने की आवाज आने लगी। बैठे हुए लोग भयभीत हो गये। तब आपने कहा कि शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह यमराज है- ऐसा कहते हुए सभी को विश्राम के लिए आदेश दिया और स्वयं भी आसन पर बैठ गये। अन्य व्यक्तियों को भी भय एवं जिज्ञासा की उथल-पुथल में नींद नहीं आई। खाँसने की वह चमत्कारपूर्ण आवाज रात्रि की नीरवता को लगभग एक घण्टे तक भग्न करती रही। यह उत्पात चल ही रहा था कि आप तोते को लेकर भीतर के आसन में बैठ गये और भजन करना प्रारम्भ कर दिये।

रात्रि के कुछ समयोपरान्त सहसा फाटक खुलने की आवाज आई। तब आप छड़ी लेकर टार्च जलाते हुए देखने लगे और किसी अज्ञात सत्ता को डाँटते हुए कहे कि धत्

तेरे की! यहाँ तक आने की धृष्टता कर ली। इसी बीच कुछ दूर पर दीवाल की ओट में छिपा हुआ नेवला दिखाई देता है। उसे देखकर आप विचार करने लगे कि मेरी अनुपस्थिति में काल कहीं दूसरे वेश में पहुँचकर उस तोते को खा न ले। आप दौड़ते हुए उस अबोध पक्षी के पास पहुँचते हैं और देखते हैं कि वह अभी जीवित है। पुनः बैठने के पश्चात् निश्चयात्मक शकुन मिलता है कि वह बच जायेगा।

प्रातःकाल उठकर सबको जगाते हुए महाराजजी ने कहा, "उठो! तुमलोग अभी सो रहे हो। काल आया था और चला गया।" अब तोता स्वस्थ होकर 'पढ़ो परवते सीताराम' की रट लगाने लगा। महाराजजी ने उसे डाँटते हुए कहा कि, अब तुम्हें 'सीताराम' याद आया है। भजन ही करते तो काल काहे आता।

आश्रम के आसपास घूमनेवाले बन्दरों को आप प्रायः चना दिया करते थे। आपकी एक ही आवाज पर किलकारियाँ मारते हुए बन्दर इकट्ठा हो जाया करते थे। चना फेंककर आप उनको खिलाते और हँसते रहते थे। हिंसक पशुओं का भी शिकार आपने बन्द करा दिया था। इस प्रकार आपके स्नेह से प्रतिपालित पशु-पक्षी स्वच्छन्दतापूर्वक वन में विचरण करते थे।

सतयुग के महात्मा

धर्मप्राण भारत में चार स्थलों पर कुम्भ का आयोजन होता है - प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन। महाराज जी उन दिनों अनुसुइया में प्रतिष्ठित हो चले थे। उसी समय प्रयाग का कुम्भपर्व पड़ा। तीर्थराज प्रयाग में स्नान करने के पश्चात् महात्मागण चित्रकूट अवश्य जाते हैं। चित्रकूट यात्रा-क्रम में वे दर्शन करने अनुसुइया भी पहुँचते थे। मेले के दिनों में ढाई-तीन सौ यात्री वहाँ आते ही थे। उन दिनों रास्ता पैदल पगडण्डियों का था। लोगों को चित्रकूट से अनुसुइया पहुँचने में शाम हो जाती इसलिए वे वहीं रुककर भोजन बनाते, विश्राम करते और दूसरे दिन ही वापस चित्रकूट लौट पाते थे।

प्रयाग से आनेवाले यात्रियों ने बताया कि महाराज जी! कुंभ मेले में सतयुग के एक महापुरुष हिमालय से उतरकर आये हैं। जो भी तीर्थयात्री महाराज के पास आता, ऐसी चर्चा अवश्य करता। कुछेक ने बताया- "महाराज जी! हमने भी दर्शन किया है। गोरा अंगार जैसा शरीर! वह बाबा हैं तो सतयुग के, लेकिन देखने में तीस वर्ष से अधिक के नहीं लगते। वैसे वे कई लाख वर्ष के हैं। हमें भी उनके दर्शन का सौभाग्य मिला।"

महाराज जी विचार करने लगे। मैं रोज-रोज यह क्या सुन रहा हूँ? ऐसा हो तो नहीं सकता, फिर भी महीना भर सुनते-सुनते महाराज जी के मन में होने लगा कि

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया, सतना, मध्य प्रदेश

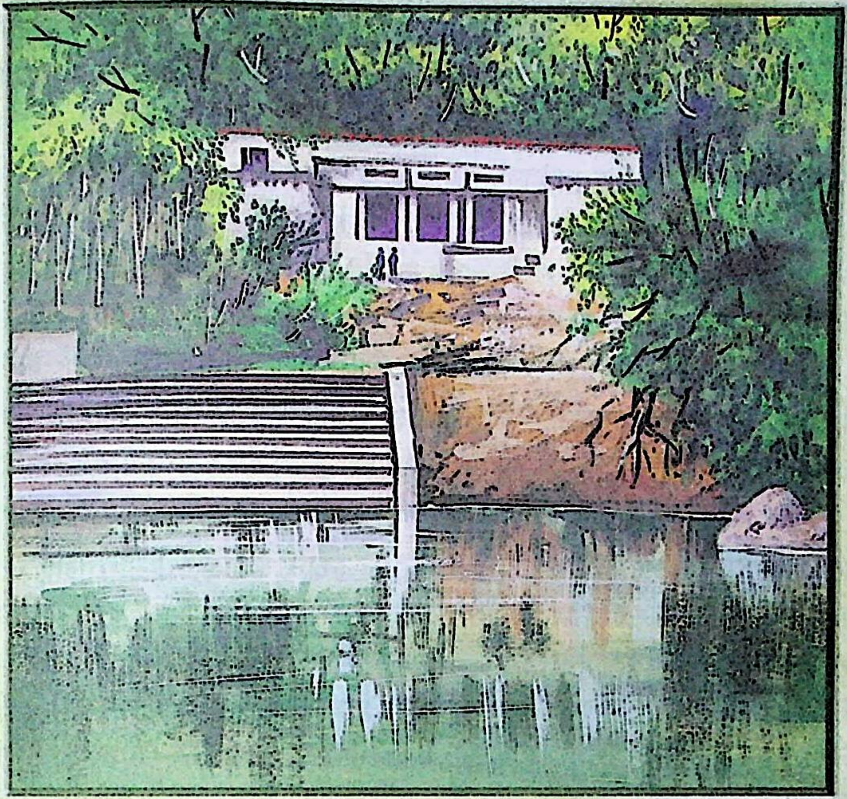

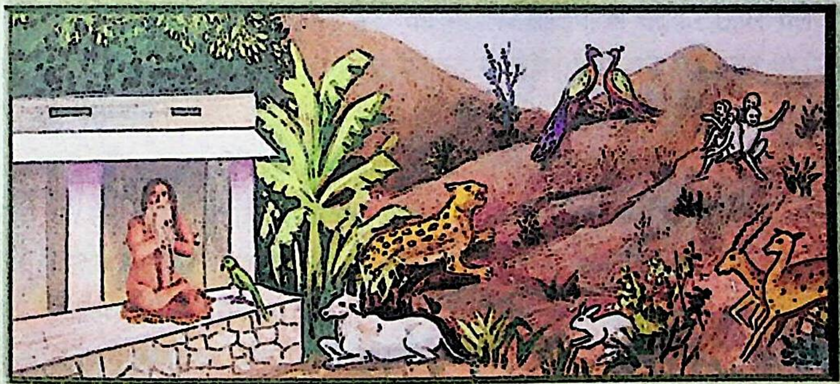

पशु पक्षियों के प्रति समत्व भाव

चलकर देख लें, क्या झूठ है क्या सच है? दिन में चला चलूँ तो रातभर में लौट आऊँगा। जहाँ ऐसा विचार हुआ कि चलें; उठकर खड़े भी हो गये तो महाराज जी को अपशकुन होने लगा कि मत जाओ। महाराज जी ने प्रयाग-यात्रा का विचार स्थगित कर दिया। फिर भी मन में कुतूहल बना रहा कि रोज-रोज यह क्या सुनाई दे रहा है? जो भी वहाँ से आ रहा है, सभी बता रहे हैं। अंततः इसमें तथ्य क्या है? है तो असंभव!

महाराज जी के मन में इतना आना था कि तीन दिन बाद एक लम्बे शरीर वाले, गोरे से सन्त अनुसुइया आये। उन्होंने महाराज जी को प्रणाम किया। महाराज ने अभिवादन का उत्तर देते हुए कहा- "बैठिये स्वामी जी! कहाँ से आगमन हुआ?" उन्होंने बताया- "प्रयाग से।" महाराज ने कहा- "हो, स्वामी जी! मैं रोज ही सुना करता हूँ कि प्रयाग में कोई सतयुग के महात्मा आये हैं! झूठ-सच क्या है?"

उन महात्मा ने कहा- "महाराज जी! लोग हमें ही ऐसा कहा करते थे। विचार था कि मेले में महीने भर रुकते किन्तु भीड़ पीछे पड़ गयी इसलिए वहाँ रुकना नहीं हो सका क्योंकि चिन्तन न हो पाता। इसलिए मेला त्यागकर हम इधर चले आये।"

महाराज जी ने कहा- "स्वामी जी! भल आ गयो, नहीं तो हम भी सोच रहे थे कि यह रोज-रोज अनाप-शनाप क्या सुनाई पड़ता है। हमें यहीं बैठे-बैठे दर्शन मिल गया, बड़ी कृपा की।" महाराज जी ने उनके भोजन-पानी का प्रबन्ध कराया। भोजनोपरान्त वह बोले, "महाराज जी! यहाँ मेले में बड़ी भीड़भाड़ है। कहीं चूल्हा जल रहा है, कहीं कोई गाना गा रहा है। कोई एकान्त स्थान बता दें जिससे मैं अपना चिन्तन-भजन पूरा कर लेता।" महाराज जी ने कहा, "एकान्त! अच्छा, यह सीढ़ियाँ चढ़कर कुछ ऊपर चले जायँ। ऊपर सब एकान्त ही एकान्त है।" वह महात्मा सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर चले गये जहाँ सिद्धबाबा का स्थान था। उस शान्त-एकान्त स्थल पर सिद्धबाबा का तख्त था, उसी पर वह बैठ गये।

रात्रि के लगभग नौ बजे पूज्य महाराज जी शौच के लिए जंगल में थोड़ी दूर जाया करते थे। उन्हें ऊपर पहाड़ी पर स्वामी जी का स्वर सुनाई पड़ा- मैं ब्रह्मदण्डी हूँ, मैं उठ नहीं सकता। प्रत्युत्तर में कोई क्षीण स्वर में कुछ कह रहा था। स्वामी जी पुनः उत्तेजित स्वर में कहते- मैं हट नहीं सकता। महाराज को विस्मय हुआ- ऐं! हमने तो स्वामी जी को एकान्त में भेजा था, वहाँ उनसे शास्त्रार्थ करनेवाला कौन पहुँच गया? हो सकता है कि मेले की भीड़भाड़ में कोई और भी ऊपर चला गया हो। लौटकर आने पर महाराज ने कहा, "हो, स्वामीजी बहुत जोर से तड़कत हैं कि मैं ब्रह्मदण्डी हूँ, हट नहीं सकता। वहाँ कौन पहुँच गया?"

महाराज जी किसी को भेजने ही वाले थे कि मेले की भीड़ में से किसी ने तवा माँगा, किसी ने आलू, तो किसी ने कुछ व्यवस्था माँगी। उसी में महाराज जी स्वामी जी के पास किसी को भेजना भूल गये। सूर्योदय होने से पहले ही स्वामी जी ने पहुँचते ही कहा, ''अरे महाराज जी! आपने हमें कहाँ भेज दिया? वहाँ तो सिद्धबाबा रहते हैं। हम ज्योंही उनके तख्त पर बैठे, वह दौड़कर हमारे पास आये, कहा- 'उठ यहाँ से! यह हमारी जगह है। यह हमारा तख्त है। कहीं और चले जाओ।' हमने सोचा यदि हम यहाँ से उठकर चलते भी हैं तो यह पीछे से गर्दन में हाथ डालकर उलट सकते हैं और हम सीढ़ियों से लुढ़कते-लुढ़कते मर भी सकते हैं। उठने में तो खतरा है। इसलिए हमने तुरन्त 'ओम्' जपते हुए अपने चारों तरफ एक गोला खींच दिया और उसके भीतर सजग होकर बैठ गये। गोले के भीतर तो वह नहीं आये लेकिन बाहर से ही कहते रहे, 'तुम्हें उठना पड़ेगा, यह हमारी जगह है।' मैं भी कहता रहा, मैं चिन्तनरत संत हूँ, उठ नहीं सकता। रातभर वह सामने खड़े रहे। जप में जरा भी लापरवाही होते ही वह पास चले आते थे। ज्योंही मैं जोर-जोर से 'ओम्' का उच्चारण करता, वह दूर हट जाते थे। न तो शान्ति से चिन्तन हो पाया, न एक पल आँख ही लग पायी। सारी रात बैठे-बैठे बीत गयी। सवेरे चार बजे के पश्चात् यह हंगामा समाप्त हो गया, तब हम सीढ़ियाँ उतरकर सीधे चले आ रहे हैं।''

महाराज़ जी ने कहा, ''हाँ हो स्वामी जी! हमें मालूम था लेकिन भीड़भाड़ में हम बताना भूल गये। हम भी उस तख्त पर तीन दिन बैठे थे। हमसे भी उन्होंने कहा था कि, 'आप नीचे जायँ। आपकी जगह नीचे है। यह हमारी जगह है। हम पतित हो गये हैं।' आपसे वह मिले लेकिन चिन्ता की कोई बात नहीं है। वह भी महात्मा ही रहे हैं। उनसे कुछ भूल हो गयी, अब न तो वह जन्म ले पा रहे हैं न आगे जा रहे हैं। अपने आसन में ज्यों-के-त्यों हैं। उन्होंने आज तक किसी का अनिष्ट नहीं किया। हाँ, ढोंगियों को सहन नहीं कर पाते। आप निर्भय होकर जायँ। उनसे आपको कोई खतरा नहीं है, न होगा।'' गुरु महाराज ने सान्त्वना देकर उन्हें विदा किया। इस प्रकार महाराज जी के मन में कुतूहल होने पर भगवान ने ही सतयुग के महात्मा का निर्णय वहीं बैठे-बैठे दे दिया और शंका का समाधान कर दिया।

अनुसुइया का जंगल

अनुसुइया आश्रम घोर जंगल में है। हाथी और गैंडा जैसे पशुओं के अतिरिक्त वहाँ हर प्रकार के छोटे-बड़े जंगली जानवर पाये जाते थे। महाराजजी के निवास के आरम्भिक दिनों में वह जंगल जानवरों से भरा-पूरा था। पाँच प्रकार के शेर उस जंगल में पाये जाते

थे। सबसे छोटे शेर को तेंदुआ कहते हैं। यह छोटे पशुओं, बछड़ों आदि को अपना शिकार बनाता है। बड़े पशुओं पर यह सफल नहीं होता। इससे बड़ा चीता होता है। चीते की चाल बड़ी तेज होती है। यह नब्बे किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार से दौड़ लेता है। यह अत्यन्त चंचल होता है और मनुष्य पर भी आक्रमण कर देता है। मनुष्य पर हमला करना इसका स्वभाव नहीं है। कठिन परिस्थिति में ही यह मनुष्यों पर आक्रमण करता है। तीसरे प्रकार के शेर को गुलबाघ कहते हैं। यह बाघ और चीते के मिश्रण से उत्पन्न होता है। यह भी बड़े जानवरों का शिकार करने में सफल है। चौथा धारीदार बाघ होता है, जो उस जंगल में बहुतायत में हैं। पाँचवाँ बब्बर शेर होता है। यह बब्बर शेर भी उस जंगल में एक जोड़ा था। शेर को अंग्रेज अधिकारी (डी.एफ.ओ.) मार ले गया, किन्तु शेरनी वहीं घूमा करती थी।

एक बार महाराजजी मन्दाकिनी नदी के किनारे चट्टान पर आसीन थे। गर्मी का महीना था। सवेरे के लगभग सात बजे होंगे। गर्मी में नदी की धारा बहुत पतली हो गयी थी। दूसरे किनारे से वह शेरनी हाथ भर की जीभ लटकाए धीरे-धीरे झूमती हुई चली आ रही थी। महाराजजी के पीछे केवल श्री ब्रह्मचारीजी खड़े थे। उन्होंने धीरे से कहा- "महाराजजी! बब्बर शेरनी" और आवाज निकल गई 'हूऽ'। महाराजजी बोले, "पागल हो गया है क्या? जंगली जानवरों का क्या भरोसा?" किन्तु उस शेरनी पर कोई प्रभाव न पड़ा। उसने घूमकर देखा भी नहीं कि कौन हमें ललकार रहा है। वह उसी चाल से चलते-चलते महाराजजी के ठीक सामने तक आयी और एक पगडण्डी पकड़कर धीरे-धीरे जंगल की ओर निकल गई।

एक दिन आश्रम के भीतर ही शेर आ गया। महाराजजी अपने आसन पर लेटे हुए थे। रात्रि के दस-ग्यारह बजे का समय था। सामने कुएँ की जगत पर श्री ब्रह्मचारी जी चिन्तन में लेटे हुए थे। आश्रम में और कोई नहीं था। जंगल में हो-हल्ला मचा हुआ था। यह शोर-शराबा आये दिन हुआ ही करता था। महाराजजी के पीछे कोठरियों की लम्बी कतारें तो थीं किन्तु किवाड़ किसी में नहीं था।

अचानक छत के ऊपर से एक जानवर धम्म से कूदा। पीछे उससे भी भारी-भरकम दूसरा जानवर भी धड़ाम से कूदा। दोनों महाराजजी और ब्रह्मचारीजी के बीच से सन्न-सन्न निकल गये। महाराजजी उठकर बैठ गये। उन्होंने पूछा, "यह आगे कौन कूदा और पीछे कौन कूदा?" ब्रह्मचारीजी उठकर खड़े हो गये। उजेली रात थी। उन्होंने देखकर बताया, "महाराजजी आगे बन्दर दौड़ रहा है, पीछे गुलबाघ लगा हुआ है और यह उसने बन्दर को पकड़ लिया।"

महाराजजी ने कहा, ''तो देखता क्या है? उसे छुड़ाओ! सन्तों के आश्रम में हिंसा नहीं होती। इसे खाना था तो पूरा जंगल पड़ा है, हमारे आश्रम में ही इसे पकड़ना था।'' श्री ब्रह्मचारीजी महाराजजी के समक्ष खड़े रहे किन्तु महाराजजी ने उसी समय पत्थर उठाया और शेर के ऊपर फेंक दिया। लद्द की आवाज आयी। पत्थर शेर के पेट में लगा, पकड़ थोड़ी ढीली हुई। बन्दर शेर के मुख से छूटते ही पेड़ पर चढ़ गया। शेर वहीं खड़ा-खड़ा महाराजजी की ओर घूरता रहा, फिर वह अपनी पूँछ ऐंठता इधर-उधर घूमकर जंगल में ओझल हो गया। महाराजजी का आश्रम उस शेर का घर ही था। वह वहीं दाहिने-बायें गुफाओं और झाड़ियों में रहता था किन्तु आश्रम के समीप उसने किसी जानवर का शिकार फिर कभी नहीं किया। वाल्मीक आश्रम का प्रभाव यहाँ भी देखने में आया कि **'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।।'** *(मानस, २/१३७/१)*

पुलिस अधीक्षक आश्रम में

बाँदा जिले के पुलिस अधीक्षक पहले से ही श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया के विषय में अनेक प्रकार की विलक्षण चर्चाएँ सुन चुके थे। जिज्ञासावश वे सपरिवार सशस्त्र सिपाहियों के साथ आश्रम आ पहुँचे एवं यथोचित दण्ड-प्रणाम करके बैठ गये। वार्ता के दौरान ही श्री महाराजजी से पुलिस अधीक्षक महोदय ने विनय किया कि रात में व्याघ्र व चीते प्रायः आते रहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं उनका शिकार करूँ। महाराजजी ने कहा कि यह सन्त-स्वभाव के प्रतिकूल है। तुम्हें स्वयं सोचना चाहिए कि हिंसा करना उचित नहीं है। रात्रि में पुलिस अधिकारी सपरिवार ऊपर ठहर गये और साथ के सशस्त्र सिपाही कुएँ की जगत पर लेट गये। सबके सो जाने पर सहसा रात्रि के दूसरे प्रहर में भयानक व्याघ्र-गर्जना सुनाई पड़ी। सारा वातावरण भयावह हो गया। पुलिस के सैनिक भागकर ऊपर कोठरी में चले गये और 'रक्षा करो, रक्षा करो!' की आवाज करने लगे। अब महाराजजी बाहर आकर हँसने लगे और बोले, ''छिपे हो शिकारियो! बाहर निकलो, शिकार आ गया है।'' विनम्रतापूर्वक अधीक्षक महोदय ने कहा, ''महाराजजी! भय लग रहा है। आपके सामने हम क्या शिकार खेलेंगे।'' प्रातःकाल पुलिस अधीक्षक ने महाराजजी से क्षमायाचना की और रात्रि में घटित होनेवाली घटना की चर्चा करके यथोचित सम्मानपूर्ण भाव से प्रणाम इत्यादि कर वापस चले गये। इसके बाद तब से वे समय-समय पर आश्रम की सेवा करते रहते थे।

आसामी पण्डित तीर्थयात्रा पर

एक बार आसाम से एक पण्डित अनुसुइया तीर्थाटन के लिए आया। स्वाभाविक

भीड़भाड़ हो गयी थी। उस पण्डित ने आधुनिक ढंग के अखाड़े और मन्दिरों की कल्पना करते हुए महाराजजी के पास सन्देश भेजा कि चाहे दो सौ रुपया किराया ले लिया जाय परन्तु मुझे ठहरने के लिए एक कमरा स्वीकृत कर दिया जाय। आपने उस पण्डित के भाव को परखते हुए डाँटकर उससे कहा कि क्या यहाँ कोई व्यापार होता है? थोड़ी देर पश्चात् आपने एक शिष्य को बुलाकर ठहरने के लिए कमरा दिला दिया। एक दिन वहाँ रहने के पश्चात् वह पण्डित आप से विनय करता है कि भगवन्! मेरी पत्नी सिर की वेदना से व्यथित है। इसकी चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा की गई परन्तु कोई राहत नहीं मिली। यहीं पर मुझे पता चला कि आपकी कृपा से असाध्य रोगी भी पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं। इसलिए मैं भी कुछ धृष्टता कर रहा हूँ, अपराध क्षमा किया जाय। आपने छड़ी से उसकी पत्नी के सिर का स्पर्श किया। उसे तत्काल राहत मिल गयी।

आश्रमीय वातावरण को देखकर पण्डित को आश्चर्य होने लगा कि यहाँ पैसा देनेवालों को दुतकारा एवं गाली दिया जाता है, जबकि अन्य मन्दिरों और अखाड़ों में धनार्पण करनेवालों को बड़े आवभगत से लिया जाता है। अब उसे अटल विश्वास हो गया कि इसी तरह महापुरुष ज्ञात-अज्ञात में अटपटी वाणी द्वारा भाविकों का कल्याण कर दिया करते हैं। वह अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ वहाँ से दूसरे दिन वापस चल पड़ा।

ज्वर से निवृत्ति

आप प्रायः संस्कारों के भोग करनेवाले पापी व्यक्तियों का भी स्पर्श करके कुकर्म-भोग से उन्हें निवृत्त कर देते थे; किन्तु उसके परिणाम को किसी-न-किसी रूप में आपको स्वयं भोगना पड़ता था। ऐसी संस्कारजन्य प्रक्रिया के फलस्वरूप आप काफी समय से ज्वर से पीड़ित थे।

आपका मलेरिया बुखार लगभग डेढ़ वर्षों तक चला। एक दिन महाराजजी के मन में विचार आया कि, आवागमन से हमारी निवृत्ति हो गयी है, यमराज का बन्धन कट गया, तब यह बुखार-जैसा भयंकर रोग क्यों? उसी दिन भगवान ने बताया कि आप अपने स्पर्श से जिन लोगों को व्यथामुक्त कर देते हैं, बुखार उतार लेते हैं, उन्हें कौन भोगेगा? महाराजजी ने पूछा, "तो क्या वह सब मुझे भोगना पड़ेगा?" उत्तर मिला, "हाँ!" आपने सोचा कि, ओह! हमने तो बहुतों को कष्ट से मुक्ति दिलाई है, यह कब तक भोगना पड़ेगा? इस पर आपको अनुभव में ही एक काला, फटेहाल डोम दिखाई पड़ा। वह बोला, "मालिक, तीन आना बाकी है।" महाराजजी ने पूछा, "करे, तीन आना का होत है?" उसने बताया, अभी तीन महीने बुखार और शेष है। महाराजजी बिगड़े- वाह

रे पाप! एक आना के लिए एक महीने तक कष्ट देगा। (आना उस समय का एक सिक्का था, जो आजकल लगभग छः पैसे के बराबर है।)

महाराजजी को प्रसन्नता हुई कि भोग की अवधि तो निर्धारित हो गई। आप कहने लगे, ''जोड़ो रे, कौन-सा महीना है यह?'' सावन-भादों-क्वार, क्वार में मेरा बुखार उतर जायेगा।'' न दवा न दारू, बुखार उतर गया। आप पूर्ण स्वस्थ हो गये। क्वार में फसली बुखार चढ़ता है किन्तु महाराजजी का उतर गया। आपको ज्वरावस्था में देखकर कुछ लोगों ने प्रश्न किया, ''महाराजजी! क्या निवृत्ति के पश्चात् भी बीमारी का आना सम्भव है?'' उन्हें समझाते हुए आपने बताया कि निवृत्ति हो जाने के बाद बीमारी नहीं आती किन्तु यदि किसी के प्रायश्चित उतार लिये जायँ तो उसका भोग स्वयं भोगना पड़ता है, अन्यथा- **'काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै।'** मैं जो बीमार हूँ, वह मात्र तुम लोगों का उतारा हुआ भोग है।

दर्शन की छात्रा सत्य की खोज में

एक समय एक बुद्धिजीवी छात्रा गृहकलह से ऊबकर चित्रकूट पहुँची। जहाँ-तहाँ चित्रकूट में वह चर्चा का विषय बन गयी कि यह या तो कोई राजकीय गुप्तचर है अथवा इसमें कोई रहस्य है। इसी प्रकार बहुत-सी भ्रान्तियों की निगाह से वह देखी जाने लगी। वह दर्शनशास्त्र की छात्रा थी इसलिए साधारण जीवन की अपेक्षा भजन करना ही सर्वोत्कृष्ट समझा। उसमें सभी सद्गुण थे, केवल विधाता ने उसका रंग श्यामवर्ण कर दिया था। किसी परिवार के एक महाशय ने इसी कमी का सहारा लेकर शादी करने से इनकार कर दिया था, जबकि सदाचार में वह सैकड़ों में एक थी। परिवार के किसी सदस्य द्वारा अपने रूप की भर्त्सना के परिणामस्वरूप वह ईर्ष्या से सुलग उठी, नारी सुलभ स्वभाव जग गया। उसने यह कहकर घर का त्याग कर दिया कि अब मैं ऐसा पति लाऊँगी जो समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, सुन्दर और ज्ञानवान् हो।

भजन-पथ में आने के लिए उपर्युक्त कारण पाकर वह सद्गुरु की खोज में चल पड़ी। दर्शनशास्त्र की जानकारी होने के कारण उसे आध्यात्मिक जिज्ञासा हुई और वह तत्काल सद्गुरु की खोज में विभिन्न तीर्थस्थानों से होती हुई चित्रकूट पहुँची। जहाँ भी वह जाती, शास्त्रार्थ खड़ा कर देती। शास्त्रार्थ में कोई महात्मा उस छात्रा के आगे टिक नहीं पाता था। ये चर्चायें महाराजजी तक भी पहुँचा करती थीं। आप कहते- ''हो! एक महारानी तहलका मचाये पड़ी हैं।''

इसी प्रकार वह घूमती-फिरती चित्रकूट स्थित सिरसावन में पहुँची। वहाँ पर बाँदा क्षेत्र के एक सुप्रसिद्ध सन्त श्री परशुरामजी अपनी जमात सहित रुके हुए थे। अपनी

जिज्ञासा-तृप्ति के लिए उस युवती ने उन महात्मा से आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर जटिल प्रश्न किया। विचार-विमर्श में प्रश्नोत्तरों का क्रम बढ़ता गया परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ। अभी विवाद चल ही रहा था कि अनुसुइया आश्रम के ब्रह्मचारीजी चित्रकूट से वापस जाते समय उस स्थान पर पहुँच गये।

ब्रह्मचारीजी का परिचय देते हुए सन्त परशुरामजी ने कहा कि "आप एक पवित्र साधक हैं" और साथ ही आसन बढ़ाते हुए कहा कि "आइये स्वामी सच्चिदानन्दजी बैठिए!" उन्हें देखते ही वह बालिका विनम्रतापूर्वक बोली कि "मेरे लिए तो सभी पूजनीय हैं, मैं स्वागत करती हूँ। आप ही उत्तर देकर मेरी शंकाओं का समाधान करें। वांछित प्रश्न इस प्रकार है- 'पूज्यवर! मोक्ष के लिए लोग घर क्यों छोड़ते हैं? परमात्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है?' भगवत्प्राप्ति के लिए इन तीर्थयात्राओं में अब तक मैंने जो पाया है उससे मुझे तृप्ति नहीं हुई; क्योंकि वेदान्त निर्दिष्ट साधन-क्रम में वह परमात्मा अपना ही स्वरूप है लेकिन काम-क्रोधादि षड्विकारों के होते उस अविनाशी का ज्ञान नहीं होता। नित्य-अनित्य का विचार करने से उस ब्रह्म की प्राप्ति होती है। मैं शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हूँ, तू भी वही है-ऐसा विचार करते-करते ज्ञान का उदय होता है। जीव और ब्रह्म की एकता का बोध होते ही अज्ञान का नाश और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वहाँ वह कह उठता है, 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि'- किन्तु मुझे सन्देह है कि बुद्धि गुणा-भाग लगाये और जिह्वा उसे प्रस्तुत कर दे, इससे मोक्ष कैसे सम्भव है; क्योंकि **'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता:'**- गीता के अनुसार बुद्धि के अचल स्थिर हो जाने पर ही योगी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।"

स्वामीजी ने कहा, "देखो देवीजी! घर कोई छोड़ता नहीं, छोड़ना पड़ता है। कोई पागल नहीं होना चाहता फिर भी हो जाता है। कोई जान-बूझकर मरना नहीं चाहता फिर भी मरना होता है। इसी तरह घर छोड़कर साधु कोई होता नहीं, हो जाना पड़ता है। यह भी एक संस्कार है। कई जन्मों के पुण्य-समूह घर छुड़ाने के संस्कार बना देते हैं। वे संस्कार ही घर छुड़ा देते हैं जिससे साधक शाश्वत शान्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाता है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों ने अपनी स्थिति पर प्रकाश डाला कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ। वहाँ सुख नहीं, दुःख नहीं; पाप नहीं, पुण्य नहीं। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों को जो धरातल मिला यह उसका चित्रण है, न कि यह कोई साधना है; न यह चिन्तन की कोई विधि है। उस स्थिति को पाने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण, उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-पद्धति में प्रवृत्त हो जाने पर जिसका नाम भजन है, वह जागृत हो जाता है। यह जागृति सद्गुरु से मिलती है। भजन जागृत हो जाने पर सद्गुरु सेवक की सँभाल करते हैं। अपना स्वरूप दिखाने व साधन बताने लगते हैं।

उनके संरक्षण में चलने का नाम भजन है। चलते-चलते प्रकृतिजन्य काम-क्रोध आदि षड्विकारों का प्रभाव हल्का होता जाता है, ध्यान और समाधि की पकड़ आने लगती है, माया का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, साधक को ईश्वरीय आलोक दिखाई पड़ने लगता है। निरोध चित्त का संस्कार जहाँ शान्त हुआ, जो भक्त भजन कर रहा था, उसमें भगवान प्रवाहित हो जाते हैं। उन्हें जानकर वह भक्त भी वही हो जाता है। यह प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों की रहनी का चित्रण है। केवल कथनी से इस स्थिति को नहीं पाया जा सकता है।''

वह बोल पड़ी, ''ओह! देखा, यह है उत्तर! कितनी सरलता से, कितना स्पष्ट और थोड़े शब्दों में आपने उत्तर दिया है। एक निवेदन और है- प्रायः सभी महापुरुषों ने नारी की निन्दा की है। नारी के लिए भजन का अधिकार यत्र-तत्र मिलता है किन्तु निन्दा कहीं उससे अधिक है। इसलिए मेरे मन में सन्दिग्धता बनी रहती है कि क्या नारी को भजन करने का अधिकार है? यदि है तो इतनी चर्चाएँ क्यों?''

ब्रह्मचारीजी ने कहा--तुम लोगों की दृष्टि स्थूल अथवा पिण्डों में अर्थ खोजती है। यह बाहरी दृष्टिकोण है। इस परिस्थिति में अर्थ असम्भव है। जब तक हमारी समझ अन्तर्मुखी नहीं हो जाएगी, तब तक आध्यात्मिक स्तर के अंग-प्रत्यंग को समझना दुरुह है। जो महापुरुष उस परमतत्त्व से सम्बन्ध रखते थे या हैं, उनकी जानकारियाँ सूक्ष्म शरीर अथवा मानस पर आधारित होती हैं। स्त्री हो अथवा पुरुष, गुण-अवगुण सबमें समान ही हैं। इन विकारों का प्रसारण ही माया है। **'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, मायारूपी नारि।'** *(मानस, ३/७३)* यह माया ही नारी है। जिसके दो भेद हैं। इसी के दूसरे पक्ष का नाम अविद्या है। इन सब विकारों का प्रसार पहले चित्त के द्वारा होता है। चित्त के साथ ही साथ लगे-लिपटे ये विकार शरीर पर भी उभर आते हैं। लोभ, मोह, काम और अविद्या इत्यादि इस चित्त के द्वारा प्रसारित होते हैं इसलिए यह चित्तवृत्ति ही माया है, यही नारी है न कि आप लोग। परमकल्याण की उपलब्धि में बस यही बाधक है। अतः इनसे पार पाने पर परमपद है। इनसे छूटने का उपाय है ध्यान व उसी से सम्बन्धित प्रक्रियायें। जब हम अपनी समझ के अनुसार एकान्त में स्थित हो आँखें बन्द कर ध्यान में लग जाते हैं तब वहाँ सभी शत्रुओं को खड़ा पाते हैं। चित्त के अन्दर परस्पर सभी विकार एक दूसरे को आगे ढकेलकर अर्थात् काम-क्रोध आदि ही मन के अन्दर दिखाई देते हैं। कभी स्त्री के नक्शे बनते हैं और कभी पुरुषों के, तो कभी मोहमयी लहरें उठती हैं जनसमूहों के स्नेह की। अब आप महापुरुषों की वाणी पर विचार करें, शायद समझ में आ गया होगा कि काम-क्रोध इत्यादि शत्रुओं का रूप इतना भयंकर है कि

अच्छे-से-अच्छे चित्त को भी भ्रम में डाल देते हैं। जब इस विकार का प्रसार चित्त पर धारावाहिक होने लगता है तो बुद्धि को नष्ट कर देता है। वस्तुतः यदि चित्त विकारों में प्रवृत्त है तो हम केवल विचारमात्र से सँभल नहीं सकते। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन! भोग भोगने से कभी न तृप्त होनेवाला यह काम एक दुर्जय शत्रु है। यह ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाला तथा ज्ञानियों का निरन्तर काल-सा बैरी है। वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा अपने हृदय में स्थित इस संशय को काटकर संग-दोष से अलग रहते हुए हृदय को निर्मल बनाइए एवं कामरूपी शत्रु को पराजित कीजिए।

मान लें, किसी ने भजन-ध्यान प्रारम्भ कर दिया है और नियमित रूप से करता अवश्य है परन्तु न चाहने पर भी विकारों का ताँता पिण्ड नहीं छोड़ता। अब विचार करें कि इन विकारों के अनुरूप ही यदि संग मिल जाता है तो उससे निन्यानबे प्रतिशत दोष लगने की सम्भावना है। साधक, साधक नहीं रह पाते बल्कि पतित हो जाते हैं। यही रूप साधिकाओं का भी है; क्योंकि यह काम बुद्धि को विकराल बनाये रहता है, सन्तुलन समाप्त कर देता है। अतः स्त्री के लिए पुरुष का संग एवं पुरुष के लिए स्त्री का संग माया का रूप ले लेता है।

बाहर निर्जन में रहकर कल्याण प्राप्त करने की सफलतायें स्त्रियों को कम एवं पुरुषों को अधिक मिली हैं। कतिपय दुष्कृत्यों की वजह से स्त्रियों के भजन का विधान घर में ही रहा है। यही कारण है कि 'किं द्वारमेकं नरकस्य नारी' कहकर साधकों को चैतन्य किया गया है। क्योंकि बाहर भजन करने का विधान पुरुषों का ही रहा है और संग-दोष का कारण स्त्रियों का होना ही सिद्ध है। इसलिए इस कल्याण-पथ में संग वर्जित है। विकारों के रहते हुए इष्ट का प्राप्त होना सर्वथा असंभव है। केवल बाहर से विकारों का त्याग कर दें और मन से उनका चिन्तन करते रहें तो इससे बड़ा विकार और क्या हो सकता है? पहले तो स्थूल शरीर का विकार बन्द करें फिर मन के विकार काटने की प्रवृत्ति आयेगी। जब मन के विकार और स्थूल शरीर के विकार शान्त हो जायेंगे, तब कारण शरीर के बन्धन काटने की स्थिति पैदा होगी। इस स्थिति के बाद चेतन सत्ता सब समझा लेती है।

महापुरुषों ने किसी पक्ष की कोरी निन्दा नहीं की है। चित्तवृत्ति ही नारी है। संग-दोष से बचने पर विशेष बल दिया गया है। साधन-पथ पर रत स्त्री के लिए जिस प्रकार पुरुष का संग-दोष व्यवधान है, उसी प्रकार साधनोन्मुख पुरुष के लिए स्त्री का संग-दोष उसकी चित्तवृत्तियों को चंचल कर अधोपतित कर देने में पर्याप्त है। अतएव सतर्कतापूर्वक संग से अछूता रहकर भगवत्पथ पर चलनेवाले पथिकों को गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ना

चाहिए। श्री ब्रह्मचारीजी द्वारा दिये गये निर्णय को हृदयंगम करके वह छात्रा पूर्ण सन्तुष्ट हो गयी और बोली, ''स्वामीजी, आप धन्य हैं।''

अब ब्रह्मचारीजी को काफी विलम्ब हो चुका था। वे मर्यादानुकूल सद्गुरुदेव के भय से तत्काल आश्रम के लिए रवाना हो गये। वहाँ पहुँचकर श्री महाराजजी से समस्त घटना आद्योपान्त वर्णन की। ब्रह्मचारीजी के आश्रम पहुँचने के दो घण्टे बाद वह भजन-पथ पर चलने के लिए लालायित तरुणी भी श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया पहुँच जाती है। वह यथोचित दण्ड-प्रणाम करके शान्तिपूर्वक बैठ जाती है। कुशलता पूछने के पश्चात् वह ब्रह्मचारीजी के साथ हुए विचार-विमर्श की चर्चा महाराजजी से करती हुई शरण में ही रहकर भजन करने का आग्रह करने लगी। श्री परमहंस महाराजजी ने उसकी भावना का समर्थन करते हुए कहा, ''बेटी! बड़ा अच्छा विचार है। सभी प्राणियों को भजन करने का अधिकार है। तुम घर में ही जाकर भजन करो।'' वह दर्शनशास्त्र की छात्रा बार-बार अनुनय-विनय करके वहाँ रुकने की इच्छा को ही दुहराती रही। तब अन्तर्जगत् से संकेत लेते हुए महाराजजी ने कहा कि अभी तुम्हारे लिए घर ही में रहकर भजन करने का विधान है। क्योंकि आजकल स्थान-स्थान पर साधुओं की जमातों में दोष आ गया है और तुम्हारी अवस्था भी कुछ ऐसी ही है कि तुम्हें संग-दोष से अवश्य बचना चाहिए। ऐसा कहने के पश्चात् आपने उसे भजन का कुछ विधान बताया और ध्यान, जप-क्रिया से अवगत कराया, उसे घर जाने की सलाह दी। किन्तु प्रबल अनुराग के कारण वह छात्रा रुकी रही।

धीरे-धीरे उसे अनुसुइया में आठ दिन बीत गये। सेमरिया ग्राम के गप्पा पाण्डेय दो-एक श्रद्धालु साथियों के साथ आश्रम आये। महाराजजी ने उन्हें आदेश दिया कि इस बालिका को आदरपूर्वक गाँव ले जायँ।

शहर की तेज-तर्रार छात्रा के प्रति गाँव की महिलाओं में आकर्षण था। उस छात्रा ने सभी औरतों को बैठाकर उपदेश दिया और कहा कि आपलोग भाग्यवान् हैं जो यहाँ जन्मे हैं। आप सब महाराजजी की सेवा करें। कुछ भी आपसे न हो सके तो केवल आँखों से उन्हें देख लें, दर्शन करें। मुझे तो महाराजजी का आदेश है, ''बेटा जाओ, वहीं से भजन करना। जो यहाँ रहकर मिलना है, मैं वह तुम्हें वहीं दे दूँगा।''

निर्मलदासजी का दुराग्रह

कर्वी के एक पण्डितजी महाराजजी के बड़े भक्त थे। उन्होंने निवेदन करना शुरू किया कि महाराजजी एक दिन कर्वी तक थोड़ा चलें। उस समय तक महाराजजी के पास एक-दो साधक ही आ पाये थे। महाराजजी की गाली और डण्डे की ख्याति चारों तरफ

फैल चुकी थी। लोगों में महाराजजी को लेकर चर्चाएँ थीं कि वे सिद्धपुरुष हैं। कोई कहता कि उन्होंने योगिनी को साधा है, तो कोई कहता कि यक्षिणी सिद्ध किये हैं। जिसके मन में जो आता वह वही कहता। उन पण्डितजी के बार-बार आग्रह करने पर महाराजजी ने कहा, "वैसे तो मैं आश्रम छोड़कर कहीं जाता नहीं; किन्तु तेरा भाव प्रबल है और भगवान भी कहते हैं तो चल थोड़ा हो लें।" पण्डितजी एक चादर, कम्बल और कमण्डल लेकर महाराजजी के पीछे चलने लगे। रास्ता पैदल का था। धीरे-धीरे महाराजजी स्फटिक शिला तक आ गये।

स्फटिक शिला वह स्थान है जहाँ भगवान राम ने जानकीजी का शृंगार किया था और जयन्त का मान भंग हुआ था। महाराजजी के समय में वहाँ एक निर्मलदास नामक महात्मा रहते थे। वह जब चलते तो उनकी लम्बी जटाएँ जमीन पर घिसटती थीं। वे प्रतिदिन रात्रि के तीन बजे उठकर कामदगिरि की पैदल परिक्रमा 'राम रट, राम रट' ऐसा उद्घोष करते हुए किया करते थे। आवाज सुनकर ही लोग समझ जाते थे कि निर्मलदास परिक्रमा कर रहे हैं। कतिपय सम्प्रदायों में परिक्रमा करने, नहाने-धोने और स्वरूप बनाने को भी भजन का अंग माना गया है। इसलिए महात्माओं में निर्मलदासजी का बड़ा सम्मान था।

उस दिन निर्मलदासजी आसन पर बैठकर कुछ लिख रहे थे। पण्डितजी ने अपना कम्बल बिछा दिया और महाराजजी बैठ गये। हाथ उठाकर 'नमो नारायण' कहा। पण्डितजी ने दण्डवतोपरान्त परिचय दिया कि आप अनुसुइया के परमहंसजी हैं। निर्मलदासजी बोले, "ऐं!" चश्मा हाथ से उतारते हुए उन्होंने कहा,"अनुसुइया के परमहंसजी! गाली क्यों देते हैं? शास्त्र में कहाँ लिखा है गाली देना? सिद्ध बनते हैं? **'मन को मारि गगन चढ़ि जावे, अमृत घर की भिक्षा पावे, उजड़ा शहर बसावै।'**- सिद्ध तो वह होता है।

जब निर्मलदास कई बार आक्षेप कर चुके कि 'बड़े सिद्ध बनते हो', तब महाराजजी बोले, "देखो, मैं सचहूँ का सिद्ध हूँ और कुछ चाहे न हो किन्तु तुम्हारे लिये तो मैं सिद्ध ही हूँ। कौन सिद्धि देखना चाहते हो? एक महीने के भीतर ही तुम्हारी सभी दुर्दशा न हो जाय तो हम बाबा नहीं। और **'मन को मारि गगन चढ़ि जावे'**- यह तुम्हारा ज्ञान नहीं, हमारा ज्ञान है। तू इसे क्या जाने? तू तो अपना पानी छिड़क और परिक्रमा कर।"

महाराजजी जब बिगड़ जाते तो किसी को भी कहने से नहीं चूकते थे। पण्डितजी ने प्रार्थना की। महाराजजी शान्त होकर आगे बढ़ गये।

उन दिनों स्फटिक शिला के समीप ही मोहकम गढ़ में राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई भी कुटी बनाकर निवास कर रहे थे। वे दोनों गाजीपुर के क्षत्रिय थे और जलसेना में नौकरी करते थे। उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा कि आप तुरन्त शासन का चार्ज गाँधीजी को सौंप दें, आप लोगों को समुद्र पार जाना ही जाना है। ऐसे पत्र को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध मानकर उनके विरुद्ध मुकदमा चलाया गया और उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया।

राम का रहन-सहन भगवान राम के आदर्शों के अनुकूल था। वे अपने को राम कहते भी थे। राम के भाई लक्ष्मण भी सच्चे आज्ञाकारी थे। उनके साथ उनकी पत्नी थी, जिनका नाम संयोग से सीता ही था। उनके दो पुत्र थे।

सीता को भागवत की कथा सुनने की लालसा हुई। लक्ष्मण ने एक पण्डितजी का प्रबन्ध कर दिया। राम ने कथा-समाप्ति पर पण्डितजी को सवा सौ रुपये के स्थान पर सात सौ रुपये दिलाये तथा वस्त्राभूषण, पात्र और विविध सामग्रियों सहित उन्हें विदा किया। इसके पश्चात् राम और लक्ष्मण जंगल में टहलने के लिए चले गये।

जंगल से लौटकर आने पर राम और लक्ष्मण ने देखा तो पण्डितजी वहीं बैठे थे। उन्होंने पूछा, "देवता! आप अभी तक यहाँ क्यों बैठे हैं?" पण्डितजी बोले, "सीताजी से भी कुछ आशा है, वे भी कुछ दें।" राम बोले, "लक्ष्मण! असन्तुष्टा द्विजा नष्टा-असन्तोषी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है। यह पण्डित कुल का कलंक है। इसे केवल सवा सौ रुपया मिलना चाहिए था, हमने इसे सात सौ दिलवाया, पर्याप्त सामान दिलवाया फिर भी यह कहता है कि अभी सीताजी से भी आशा है। राम का कर्तव्य है कि जहाँ भी दुर्व्यवस्था हो उसे ठीक करे। इसलिये हे लक्ष्मण! इस पण्डित की खूब पिटाई करो।" लक्ष्मण ने तुरन्त आज्ञा का पालन किया।

पण्डितजी रोते-बिलखते निर्मलदासजी के पास पहुँचे और आप बीती कह सुनाया। निर्मलदासजी खड़ाऊँ पहने तमतमाते हुए राम-लक्ष्मण के पास पहुँचे। राम ने कहा, "लक्ष्मण! कोई सन्त आ रहे हैं, कुर्सी लाओ।" लक्ष्मण ने कुर्सी लाकर सादर उन्हें बिठाया। बालभोग (जलपान) इत्यादि भी लाकर उनके समक्ष रख दिया; किन्तु निर्मलदासजी क्रोध से तमतमा रहे थे, खाता कौन? निर्मलदासजी ने कहा, "तुमलोग खल हो, राम-लक्ष्मण नहीं हो! तुम कलियुगी हो! तुम ढोंग करते हो! पण्डितजी को तुमलोगों ने क्यों मारा, क्यों सामान छीना?" राम ने कुछ समझाना चाहा किन्तु निर्मलदास अपने आगे किसी की सुन ही नहीं रहे थे। अन्त में राम ने कहा, "लक्ष्मण! लगता है स्फटिक शिला से जयन्त आ गया है। इसके बाल काट लो।" लक्ष्मण हँसिया लेकर दौड़े और

उनकी जटा काटकर फेंक दी। शोर हो गया कि निर्मलदास की जटा कट गयी। पुलिस में भी रिपोर्ट हो गयी।

समाचार सुनकर निर्मलदासजी का कोई एक शिष्य उनके पास आया। उसको अपनी कठोर साधना-स्थली दिखाने के लिए निर्मलदासजी उसे जंगल घुमाने ले गये। हनुमान धारा के नीचे जंगल में एक गुफा थी। उस गुफा में हाथ डालकर निर्मलदासजी ने कहा, "मैं इसी गुफा में भजन करता था।" संयोग से गुफा में जंगली भालू बैठा था। उसने निर्मलदासजी का हाथ पकड़ लिया। सहायता के लिए निर्मलदास जी चिल्लाये। वह शिष्य हाथ में खन्ती (खुरपी-जैसा औजार) लिए हुए था। उसने खन्ती से भालू के मुख पर प्रहार किया। खन्ती भालू के आँख में लगी। निर्मलदास का हाथ तो छूट गया किन्तु सन्तुलन बिगड़ने से पाँव गुफा में चला गया। भालू ने पाँव पकड़ लिया। उस शिष्य ने थोड़ा प्रयास तो किया फिर अपना प्राण बचाकर भागा। निर्मलदासजी को भालू खा गया। जब राम और लक्ष्मण को पता चला तो वे महाराजजी का दर्शन करने आये। सादर दण्ड-प्रणाम करके उनकी दुर्दशा का वर्णन कर उन्होंने कहा, "**होइ न मृषा देवरिषि भाषा'** *(मानस, १/६४/४)*- हम किसी सन्त को कैसे सता सकते हैं, यह तो आपकी वाणी का प्रभाव था।" महाराजजी ने कहा, "नहीं रे! वाणी ही तो है, निकल गई। अब उसे करने या न करने का काम तो भगवान का है।"

चरखारी के पुरोहित

चरखारी स्टेट के राजपुरोहित के मन में वैराग्य का अंकुरण हुआ। वे बिना किसी घोषणा के वहाँ से गायब हो गये और चित्रकूट आ गये। दिनभर वे सड़क के किनारे पटरी पर एक जगह बैठकर लोगों से कुछ-न-कुछ माँगा करते थे कि भाई! हमें भी कुछ दे दो। यह पेट बड़ा पापी है, इत्यादि। इससे ज्योंही कुछ पैसे मिल जाते तो वे लड़कों को बुलाकर कहते, "आओ, मेरे साथ जुआ खेलोगे?" लड़के भी उनकी प्रतीक्षा में रहते थे; क्योंकि वे जुए में सदैव हारते थे। वे जान-बूझकर यह क्रीड़ा किया करते और शान्ति से भजन करते थे।

उन्हें खोजते-खोजते चरखारी नरेश चित्रकूट आये और उन्हें पा गये। पहले तो राजा ने उनसे लौट चलने का आग्रह किया किन्तु उनकी रुचि देखकर उन्होंने चित्रकूट के दूकानदारों को निर्देश दिया कि इन महात्मा की हर प्रकार से सेवा करें और इन पर जो खर्च आये वह राजकोष से यहाँ तक पहुँच जायेगा। महाराजजी की सेवा में कोई त्रुटि न हो।

राजा ने तख्त पर आसन लगाकर निवेदन किया, "पुरोहितजी! आज तो कुछ उपदेश करें।" पुरोहितजी विद्वान् तो थे ही, राजा को उन्होंने एक दिन विधिवत् कथा सुनायी। संस्कृत वे धाराप्रवाह बोल रहे थे।

जब तक राजा साहब चित्रकूट में रहे, उन्होंने पुरोहितजी को राजसी सम्मान के साथ रखा; किन्तु उनके जाते ही पुरोहितजी ने अपना सारा सामान दीन-हीनों में बाँट दिया और स्वयं सामान्य भिक्षावृत्ति पर आ गये।

रामघाट पर पहुँचते ही महाराजजी को सगुन मिलने लगा। वे विचार करने लगे कि बात क्या है? यहाँ कोई अच्छा सन्त है क्या? उन्हें रेती में एक महात्मा दिखाई पड़े। महाराजजी उधर ही बढ़ गये। उन पुरोहित ने दूर से ही महाराजजी को आते देखा, वे उठे और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उनकी आँखों से प्रेमाश्रु बह रहे थे। स्नेह विगलित स्वर में उन्होंने कहा, "कितना अच्छा अवसर देखकर आप आये हैं।" वे बुखार से तप रहे थे। महाराजजी ने उन्हें अपनी चदरी उढ़ा दी और सस्नेह बोले, "अब रोने की कौन जरूरत है? शरीर तो नश्वर है। आप सहज स्वरूप में स्थित हैं। अब केवल श्वास देखें।" उन्होंने कहा, "यह तो खुशी के आँसू हैं। आप बड़े समय से पधारे हैं। आपकी कृपा पाकर मैं धन्य हो गया।" महाराजजी उन्हें सान्त्वना देकर आगे बढ़ गये। उसी दिन उनका शरीर छूट गया। महाराजजी उसी दिन कर्वी होकर जब लौट रहे थे तो उनकी शवयात्रा धूमधाम से निकल रही थी। महापुरुष, महापुरुष को पहचानते हैं।

आश्रम में डॉ० रामकुमार वर्मा

प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. रामकुमार वर्मा भ्रमणार्थ चित्रकूट आये। अनुसुइया आश्रम के समीपवर्ती गाँव के कुछ छात्र प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्ययन करते थे। उनमें एक छात्र कर्वी का था, जो डॉ. वर्मा के स्वागतार्थ हस्तिवाहन का प्रबन्ध करके चित्रकूट पहुँचा। श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया के विषय में छात्रों द्वारा चर्चा सुनकर डॉ. रामकुमार वर्मा उसी हाथी पर चढ़कर चित्रकूट से अनुसुइया आश्रम के लिए प्रस्थान कर दिये। मार्ग में उसी छात्र ने विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया कि श्रीमान्जी! गोस्वामी तुलसीदासजी की चौपाई- **'उलटा नामु जपतु जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना।।'** *(मानस, २/१९३/८)* का आशय स्पष्ट किया जाय। डॉ. वर्मा विद्यार्थी के इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए करीब एक घण्टे तक विविध उदाहरण के साथ आशय समझाया, परन्तु विद्यार्थी को पता नहीं क्यों सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा कि आपकी व्याख्या से मैं अनुगृहीत हूँ। आपने अनेक तर्क एवं उदाहरणों के माध्यम से आशय को स्पष्ट किया है परन्तु मेरी आत्मा को यह स्पर्श नहीं कर सका। इसी

तर्क-वितर्क में उलझे हुए डॉ. वर्मा सपरिवार, कवि एवं छात्रों के साथ परमहंस आश्रम पहुँच गये। उनके साथ कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो आश्रम से पूर्व परिचित थे। उन लोगों ने डॉ. वर्मा का परिचय शिष्टता के साथ महाराजजी को दिया। वे प्रणाम करके बैठ गये। उक्त प्रश्न डॉ. वर्मा एवं छात्र के मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था। ज्यों-का-त्यों वह प्रश्न आपके सामने रख दिया गया। महाराजजी ने प्रश्न को सुनकर सहज वाणी में उन सबको सम्बोधित करते हुए कहा कि यह चौपाई मानस की है। उनके 'उलटा नाम' का अर्थ 'मरा-मरा' जपने से नहीं है। रामावतार के पूर्व ॐ, शिव आदि नामों से उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई। इसके बाद राम, हरि आदि नामों से आज भी उसी स्थिति की प्राप्ति होती है। विचार करें, बाहर का उल्टा क्या होता है? भीतर! सीधा का उल्टा क्या होता है? उल्टा! इसी प्रकार जप का उल्टा अजप होता है, इसलिये गूढ़तम बात को छिपाकर गोस्वामीजी ने उल्टा नाम लिख दिया है, जिसका तात्पर्य- **'अजपा (उलटा) नामु जपतु जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना।।'** से है। यह नाम जपना नहीं पड़ता बल्कि निरन्तर अभ्यास करने से धारावाही श्वास के क्रम में ढल जाता है। इसी नाम की परिपक्वावस्था में ब्रह्म से अभिन्न स्थिति मिल जाती है। महर्षि वाल्मीकि इसी नाम को जपते थे और इसी क्रिया-विशेष से ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त थे। श्री परमहंस महाराजजी द्वारा की गई व्याख्या को सुनकर डॉ. वर्मा अत्यन्त प्रभावित हुए। परन्तु उसके साथ ही उनके मानस में यह प्रश्न खड़ा हो गया कि वाल्मीकि जैसे डाकू को (जो आये दिन हत्यायें किया करते थे) अजपा जैसे साधनात्मक प्रक्रिया की उच्चश्रेणी कैसे प्राप्त हो गयी? उनकी शंका का निराकरण करते हुए महाराजजी ने बताया कि जिस समय वाल्मीकिजी को पूर्वजन्म के पुण्य के फलस्वरूप सुप्रसिद्ध महर्षि के दर्शन होते हैं, तत्काल उन्होंने अन्तर्जगत् से प्राप्त विशेषाधिकार द्वारा वाल्मीकि को अजपा की स्थिति प्रदान कर दी, इसमें शंका का कोई स्थान नहीं है। कारण कि चिरकाल से होता आया है। महापुरुष चाहे तो अपनी कृपा से किसी भी व्यक्ति को उत्तम रहनी प्रदान कर सकते हैं। श्री परमहंस महाराजजी की अनुभूतिजन्य सरल वाणी को सुनकर डॉ. वर्मा एवं छात्रों की समस्त शंकाओं का निराकरण हो गया।

डॉ. साहब का समाधान हो गया। उनके विद्यार्थी ने कहा, "महाराजजी! डॉ. साहब की शोध कबीर पर है।" महाराजजी ने कहा, "बड़ी अच्छी बात है, मुझे भी कुछ सुनाइये! हमलोगों को जंगल में ऐसा कुछ देखने-सुनने का संयोग कहाँ बन पाता है? कबीर का ही कोई पद बताइये।" डॉ. साहब ने यह पद सुनाया- **'काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।'** थोड़ा सुनाकर वे सहसा बोल उठे, "महाराजजी,

हमलोग सुनने के लिए आए हैं। हमने जो शोध किया वह मात्र बुद्धि-विलास है। इससे मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ, न मन में शान्ति है। इसलिए आप सन्तों के दर्शनार्थ चित्रकूट आया हूँ। आप ही कुछ कहें।" उनके निवेदन पर महाराजजी ने उनकी रुचि के अनुसार सन्त कबीर का एक भजन उन्हें सुनाया-

का कहीं केसे कहीं को पतिआई, फुलवा के छुअत भँवर मरि जाई।
गगन मण्डल महँ फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला।।
जोतिये न बोइये सींचिये न सोई, बिनु डार बिनु पात फूल एक होई।
फूल भल फूलल मालिनि भल गाँथल, फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल।
कहत कबीर सुनो सन्तों लोई, पण्डितजन फूल रहत लुभाई।।

इस पद का अर्थ बताते हुए महाराजजी ने कहा- हो! **'का कहीं'**--वह कहने में नहीं आता। वह वाणी का विषय नहीं है, वह केवल अनुभवगम्य है। **'केसे कहीं'**--कहा किससे जाय? वह केवल अधिकारी के लिए है, सबके लिए नहीं है- **'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।'** *(मानस, १/१०६/२)* **'को पतिआई'**--कौन विश्वास करेगा? केवल वाणी से कह देने मात्र से विश्वास भी नहीं कराया जा सकता। विश्वास तभी होता है जब भीतर से वह अनुभव में प्रगट हो जाये। यह वार्ता है क्या?, तो **'फुलवा के छुअत भँवर मरि जाई'**- सन्त कबीर ने उस परमात्मा को, उस अव्यक्त ब्रह्म को एक फूल की संज्ञा दी है। वह एक खुशबू है, जिसका ऐसा नशा है कि आदमी सदैव उसी में निमग्न रहता है। भौंरा जब फूल की खुशबू लेता है तो निमग्न हो जाता है, विभोर हो जाता है। यहाँ कबीर ने उस परमतत्त्व को एक फूल की संज्ञा दी है; क्योंकि उसका कोई आकार नहीं है। **'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।'** *(मानस, १/११७/५)*--वह बिना कान के सुनता है, बिना पैर के सर्वत्र चलता है, बिना हाथों के सभी कार्य करता है- ऐसे परमात्मा को सन्त कबीर ने एक फूल की संज्ञा दी। जहाँ उस फूल का स्पर्श किया, **'भँवर मरि जाई'**--विरही मन ही भौंरा है, उसका वही खोजी होता है, उसी के लिए मँडराता रहता है। लाखों वस्तुयें और वनस्पतियाँ क्यों न हों; किन्तु जहाँ पुष्प होगा, भ्रमर को वहीं तृप्ति मिलती है। उसके समीप पहुँचते-पहुँचते विरही मन ने जहाँ उसका स्पर्श किया, तो **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।'** *(मानस, २/१२६/३)*- भौंरा मर जाता है, सेवक सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बच जाता है। **'देखते-देखते क्या से क्या हो गया, कतरा दरिया में गिरा तो फना हो गया।'** बूँद दरिया में गिरी तो बूँद की संज्ञा मिट गई, दरिया ही शेष बच रहा। **'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'** *(मानस,*

७/११६/२)– जैसा वह परमात्मा है, वैसा ही उसका अंश यह जीवात्मा है। जहाँ उस मूल का स्पर्श किया, तहाँ अंश जो कम था उसकी संज्ञा मिट गई। और जो अधिक है वह परमात्मा ही शेष बचता है। यह जीवात्मा जब उस मूल का स्पर्श कर लेता है उसी में विलीन हो जाता है। अपने अन्तराल में उस परमचेतन को पा जाता है। चेतन उसमें प्रवाहित हो जाता है। और यह फूल, मनरूपी भौंरा उसे छूते ही विलीन हो जाता है।

वह फूल होता कहाँ है? **'गगन मण्डल महँ फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला।'**– आकाश कहते हैं शून्य को, आकाश कहते हैं पोल को। मन जब संकल्प-विकल्प से रहित शून्य में टिकने की क्षमता पा जाता है तो उसका नाम चिदाकाश है। उस समय न भीतर से किसी संकल्प का स्फुरण होता है और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। इस निरोधावस्था को आकाश की पकड़ कहते हैं। साधक जब शून्य में प्रवेश पा जाता है तब उस फूल, उस परमात्मा की झाँकी (महँक) देखने को मिलती है, इससे पहले नहीं। यहाँ तक तो साधन करना पड़ेगा। **'कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ।'** *(मानस, ७/८६/३)*--जब तक शून्य में टिकने की क्षमता प्राप्त नहीं होती तब तक किसी को शान्ति की प्राप्ति नहीं होती, निवृत्ति नहीं होती। संकल्प-विकल्पहीनता की उस दशा में, **'फूल एक फूला'**--जहाँ अनेकता नहीं है, जो एक है, सर्वत्र है--उस परमात्मा की आभा विदित हो गयी, वह स्पष्ट हो गया- यही उस फूल का खिलना है और उसी परमात्मा का, **'तर भौ डार ऊपर भौ मूला'**--नीचे का भौ, भव कहते हैं संसार को। नीचे का संसार कीट-पतंगपर्यन्त शाखा-प्रशाखा है और ऊपर का परमात्मा संसार का मूल है, जिसका वह स्पर्श पा रहा है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि, संसार एक वृक्ष है- **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।'** *(गीता, १५/१)* अर्जुन! ऊपर परमात्मा ही जिसका मूल है और नीचे प्रकृति ही जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा यह संसार पीपल (अश्वत्थ) का एक वृक्ष है। वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं। जो इस संसार-वृक्ष को ऊर्ध्वमूल सहित जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है, वेदवित् है। जिसने भी मूल का स्पर्श किया, वेद का ज्ञाता हो गया। अर्थात् वेद कोई पुस्तक नहीं है कि कोई भी खरीदकर पढ़ ले। यदि वेद कोई पुस्तक है, तो वह पुरुषों की लिखी होगी, प्रेस में छपी होगी, अपौरुषेय कैसे? साधन की सही दिशा में चलने पर वह प्रभु अपनी जानकारी देने लगता है, वही वेद है। वह वेद परमात्मा ही पढ़ाता है, तभी पढ़ने में आता है। उसकी वाणी से, इष्ट की वाणी से जो पढ़ता है वह वेद का ज्ञाता है। यही कारण है कि हर प्राप्तिवाले महापुरुष के जीवन-वृत्त में आप ऐसा पायेंगे कि भगवान ने ऐसा कहा, भगवान ने यह किया, परमात्मा

ने आकाशवाणी दी, उठाया, बैठाया, चेताया, सावधान किया, मना किया इत्यादि। उन परमात्मा के श्रीमुख से अन्त में शाश्वत का जो बोध निकलता है वही वेद कहलाता है। आज भी कोई वेदवित् होगा तो उन्हीं के पढ़ाने से होगा।

दुनिया में फूल के लिए खेत जोत-गोड़कर तैयारी की जाती है; किन्तु इस अध्यात्म-पथ में ऐसा कुछ नहीं है। इस फुलवारी में फूलों की कतार लगी हो, ऐसा भी कुछ नहीं है। **'जोतिये न बोइये सींचिये न सोई, बिनु डार बिनु पात फूल एक होई।'** केवल एक फूल खिलता है, वह भी तब, जब मोह-माया के सभी रिश्ते समाप्त हो जायँ, प्रकृति का एक भी डार-पात न रह जाय।

'फूल भल फुलल मालिन भल गाँथल, फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल।'- भल अर्थात् विलक्षण, विचित्र फूल खिला और **'मालिन भल गाँथल'**- इष्टोन्मुखी मानसिक प्रवृत्ति ही मालिन है, इसने अपने में भली प्रकार गूँथ लिया, उस परमात्मा को अपने में भली प्रकार सँजो लिया और भली प्रकार अपने में सँजोते ही **'फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल'**- जिस परमात्मा के लिए आप लालायित थे, स्पर्श के साथ उसका अलग अस्तित्व समाप्त हो गया। वह आपके ही स्वरूप में प्रवाहित हो गया, एकाकार एकत्व प्राप्त हो गया। वह आपसे अलग नहीं रह गया। यदि वह अलग है तो अभी खोज शेष है, अभी खोज पूरी कहाँ हुई। मानसिक लव के द्वारा भली प्रकार अपने में गूँथ लेने के साथ ही बाहर उसका स्वरूप समाप्त हो गया। अभिन्न और अद्वैत की स्थिति प्राप्त हो गयी। **'भँवर निरासल'**--मन जो भौंरा था, निराश हो गया। एक तो उसकी दौड़ समाप्त हो गयी, उसे कुछ करने को शेष न रहा; दूसरे वह आशाओं से सदा-सदा के लिए निवृत्त होकर छुटकारा पा गया।

इस फूल के ग्राहक कौन हैं? कबीर कहते हैं, **'सुनो सन्तो लोई'**- साधारण सन्त नहीं, 'लोई'- जो लव को लगानेवाले हैं। लगनधारी सन्तो! सुनो, विरही सन्तो! सुनो। जिसमें विरह-वैराग्य हो, अनवरत तड़पन हो, सतत लव को लगानेवाले सन्तो! सुनो। **'पण्डित जन फूल रहत लुभाई'**- पण्डित कौन? पण्डित वह है जो साधन-पथ की जानकारी रखते हैं। चिन्तन-पथ के चार सोपान हैं, उनमें से अन्तिम सोपान है पण्डित। वे पण्डितजन इस पुष्परूपी परमात्मा की कामना करते हैं।

ज्योंही भजन का अर्थ समाप्त हुआ, डॉ. साहब ने कहा, ''महाराजजी! कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है। हमलोग सोचते थे कि हमीं तत्त्वज्ञाता हैं किन्तु आज समझ में आया कि तत्त्व कुछ और ही है। हमलोग तो केवल बौद्धिक उड़ान भरा करते हैं। **'जिमि निज बल अनुरूप ते, माछी उड़ई अकास।'** *(मानस, ६/१०१ क)*- आज

लगा कि यह साधनगम्य है, क्रियात्मक पथ है। कृपया हमें साधन-क्रम बताया जाय जिसे करने से हमारा कल्याण हो।"

महाराजजी ने कहा, "हो! साधन एकान्त की वस्तु है। सचमुच ही कुछ करने-धरनेवाली वस्तु पूछना हो, तो कभी समय दें। इसके बाद कार्यक्रमानुसार अनुसुइया के दर्शनीय स्थानों को देखते हुए डॉ. वर्मा अपने साथियों सहित वापस चले गये।

शिष्यों की नियुक्ति

श्री ब्रह्मचारीजी के पहुँचने के पश्चात् क्रमशः शिष्यत्व प्राप्तिहेतु अनेकानेक श्रद्धालुओं का ताँता लगने लगा। परीक्षा की कसौटी पर खरा उतरने के बाद आपने आठ-दस मुमुक्षुओं को ही शिष्यरूप में स्वीकार किया। महाराजजी कहा करते थे कि अगर मैं शिष्य बनाता तो सहस्रों विरक्त शिष्य हो जाते। आप उसे यों कहकर टाल दिया करते थे कि दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है। चित्रकूट, अयोध्या, ऋषिकेश आदि स्थानों में सर्वत्र महात्माओं का जमघट है, वहाँ कहीं भी जाकर शिष्य बन जाओ।

ज्योंही कोई महाराजजी के पास आता, तुरन्त उन्हें विदित हो जाता कि इसमें साधु बनने के लक्षण कैसे हैं? इसलिए वे तुरन्त भगा देते थे। फिर भी यदि वह नहीं जाता तो डाँट-फटकार करते। कोई किसी भी तरीके से न जाता तो उसे एक-दो दिन रोककर स्नेह से समझाते थे। यदि वह फिर भी नहीं जाता था तो चुपके से उसके घरवालों को तार दिला देते थे। बहुत लोगों को इसी प्रकार महाराजजी ने उनके घरवालों के साथ भेज दिया। ऐसा महाराजजी के स्वभाव में नहीं था कि कोई लड़का आ जाय और तुरन्त साधु बना लें।

शिष्य बनाने की प्रवृत्ति महाराजजी में इतनी कम थी कि कभी-कभी योग्यता रखने वाले भी शिष्य नहीं बन पाते थे। मुम्बई से एक लड़का आया। उसके लिए महाराज जी को आदेश हुआ कि इसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। महाराजजी ने सोचा- कल देखा जायेगा। रात्रि में ही वह लड़का लौट गया। महाराज जी कहते थे, "हो! हमें तुरन्त बता देना चाहिए था। वह मुझसे टकराया तो लेकिन उसका संस्कार क्षीण था, चला गया।"

इसी क्रम में तेरह वर्ष का एक ब्राह्मण बालक महाराज जी के पास पहुँचा। वह सम्पन्न परिवार का था। उसके घर में एक फैक्टरी थी। फैक्टरी उसी के नाम थी। वह अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान था। उसने प्रार्थना किया कि महाराज उसे शरण में रख लें। वह आश्रम में झाड़ू लगाता, पानी भर लाता, बर्तन धुलता, छोटे-मोटे सभी कार्य वह अत्यन्त विनम्रतापूर्वक करता किन्तु भोजन नहीं करता था। धीरे-धीरे वह तेरह उपवास कर ले गया।

महाराज जी उसे प्रतिदिन समझाते, "बेटा! अभी तू घर जा। जब तू बड़ा हो जायेगा, बीस-इक्कीस वर्ष का हो जाना, तब आना; तब हम तुम्हें रख लेंगे। अभी तुम यहाँ रहने लायक नहीं हो। साधुता सूझबूझ का रास्ता है। नादानी से सधुवाई नहीं होती। लड़कों की बोली ही अच्छी लगती है, भीतर कुछ भी सार नहीं रहता। शरीर जब बड़ा होगा तो इसके भीतर बैठे हुए शत्रु भी बड़े हो जायेंगे। शरीर सोलह वर्ष का हो गया तो इसके भीतर समझ भी सोलह वर्ष की हो जायेगी और काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर - ये भी सोलह वर्ष के हो जायेंगे। हर वस्तु बड़ी हो जाती है। सद्‌गुण भी बड़े हो जाते हैं। बुद्धि में परिपक्वता आ जाती है। अभी तू जा! हम तुझे निकाल नहीं रहे हैं। जब बड़े हो जाना, तब आना। अभी तुझे रखने में हमें भयंकर अपशकुन हो रहा है। अभी तुझमें साधुता का एक भी संस्कार नहीं है। तू अभी खतरे में है। वह रोज सुनता-समझता किन्तु कहता कि लौटकर जायेंगे नहीं, सेवा करेंगे।

उसके तेरहवें उपवास पर महाराज जी को दया आ गयी। उन्होंने ब्रह्मचारी जी से कहा- "देखो हो! इसको पकड़कर कुछ खिलाओ। व्यर्थ ही अज्ञान में जान दिये पड़ा है।" ब्रह्मचारी जी ने गिलास में सत्तू घोलकर डाँट-डपटकर किसी तरह से उसे सत्तू पिला दिया। अब वह कुएँ पर गिलास धोये और रोये- बूं..बूं...बूं....ऊं......बाबा ने हमारा धरम बिगाड़ दिया। महाराज जी ने सुना तो बोले- "इससे पूछो हमने इसका धरम कैसे बिगाड़ दिया?" उसने बताया- हमें खिला दिया। महाराजजी ने कहा- "हमलोग भोजन करते हैं तो क्या हम साधु नहीं हैं?" उसने कहा- "ऊँहूँ! आपलोग साधु नहीं हो। साधु भोजन कहाँ करते हैं?" महाराज जी ने कहा- "देखत हो! कैसी बातें करता है।" महाराज जी सोच रहे थे कि यह किसी तरह चला जाता तो अच्छा होता।

उसी समय पाँच त्यागी महात्मा नख से शिख तक विभूति लगाये, कोई मूँज की लँगोटी पहने, कोई केले की तो कोई सीकड़ पहने, हाथ में कमण्डलु लिये आश्रम की सीढ़ियों से नीचे मंदाकिनी के किनारे-किनारे आते दिखायी पड़े। उनकी ओर इंगित करते हुए महाराज जी ने कहा- "देख, ये महात्मा देखने में कितने अच्छे लग रहे हैं। तू इनमें से ही किसी को गुरु बना ले।"

महाराज जी ने यह विनोद में ही कहा था किन्तु वे महात्मा इसे सुन ले गये। उन्होंने देखा, कोई चेला बनना चाहता है। वे तत्काल सीढ़ियों से ऊपर चढ़ बोले, "चलो बच्चा! त्यागी सर्वोपरि होते हैं। 'राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे!' हम तुम्हें राम-मंत्र देंगे।" वह भोलाभाला लड़का! उसने देखा महाराज जी रखते नहीं हैं, अब जायँ तो कहाँ जायँ? बेचारा उनलोगों के साथ हो लिया। उसके जाने में भी महाराज जी को अपशकुन हो रहा

था कि यह न जाय; किन्तु रखने में भी मना हो रहा था। अस्तु, महाराज ने सोचा, जाने दो। जो संस्कार में होगा, देखा जायेगा। हमार तो जिउ छूटै।

वे त्यागी उस बालक को लेकर चले गये। पाँचवें दिन वह लड़का भागता हुआ पुनः अनुसुइया आश्रम पहुँचा। दूर से ही महाराज जी को देखकर वह लगा भोंकार छोड़कर जोर-जोर से रोने! उसकी रूलाई बन्द ही न हो। एक घंटे तक रो लेने के पश्चात् वह किंचित् संयत हुआ तो महाराज जी ने पूछा, "क्या बात है? कुछ बता तो....! तू तो त्यागियों के साथ गया था!" उसने कहा- "महाराज जी! वे सब-के-सब सन्तवेष में धूर्त थे, ठग थे। साधुवेश को कलंकित करने में लगे थे। वे हमें प्रयाग मेले में ले गये और हमारे साथ दुराचार करते रहे। हमारे ऊपर उन्होंने पहरा लगा रखा था। भीड़भाड़ में किसी तरह उनसे पीछा छूटा। ऐसी ग्लानि हुई कि गंगा में कूदकर प्राण दे दें। फिर मन में विचार आया कि महाराज जी के दर्शन कर लें। उसकी करुण गाथा सुनकर महाराज जी को इतनी दया लगी कि उनके आँसू टपकने लगे। महाराज जी ने कहा, "हो, हमको भी भगवान बता रहे थे कि ये साधु नहीं हैं।" तब वह बिफर कर बोला- "आप जानते थे कि वे साधु नहीं हैं तो आपने हमें उनके साथ क्यों भेज दिया?" महाराज जी ने कहा- "बेटा, अब से भी कुछ बिगड़ा नहीं है।" उन्होंने उसे सान्त्वना देकर, समझा-बुझाकर, किराया-भाड़ा देकर विदा कर दिया।

वह लड़का चला तो गया किन्तु सायं चार बजे महाराज जी ने कहा- "हो, लगता है वह लड़का गया नहीं, इसी जंगल में है, उसकी श्वास बोल रही है। उसे खोजो नहीं तो कोई शेर-भालू उसे खा जायेगा। आत्मा है रे! देखो, उसकी रक्षा करो।" आश्रम के सेवक-शिष्य, ब्रह्मचारी जी, भगवानानन्द जी, पथरा का एक नाई तथा अन्य जो भी उस समय आश्रम में थे, उस लड़के को खोजने लगे किन्तु वह लड़का नहीं मिला। महाराज जी ने दूसरे दिन, तीसरे दिन भी कहा कि उसकी श्वास बोल रही है। चौथे दिन भी सब लोगों ने उसे खोजा किन्तु वह कहीं दिखायी नहीं पड़ा। लोग सोचते कि इस भयावह जंगल में कोई कहाँ रहेगा? महाराज जी अकारण ही कह रहे हैं। छठें दिन महाराज जी ने कहा- "अब तो उसकी बहुत क्षीण साँस आ रही है। वह या तो यहाँ से चला गया अथवा मरनेवाला हो सकता है।" आश्रमीय लोगों में चर्चा थी कि महाराज जी इसी प्रकार कहते ही रहते हैं। इस जंगल में छोटा बालक कैसे रह सकता है? वह कहीं चला गया होगा।

सातवें दिन गीधों ने अनुसुइया आश्रम के पीछे खड़े पहाड़ के ऊपर से एक लाश नीचे गिराया। अनुसुइया मन्दिर का पुजारी भागा-भागा महाराज जी के पास आया और बोला, एक लाश गिरी है। महाराज जी ने कहा, जाकर पुलिस को सूचना दें। सबलोग

लाश ले आये तो वही लड़का! वह न जाने किस रास्ते से पहाड़ के ऊपर चढ़ गया। ग्लानि के वशीभूत हो हठ करके उसने शरीर त्याग दिया और जब उसे गिद्धों ने छुआ तो नीचे गिर गया।

महाराज जी को बहुत पश्चाताप हुआ। वह कहते थे- "हो, का बताईं। हमें यह पता चल जाता कि यह सचमुच प्राण दे देगा तो इसे रख लेते, एक चेला पतितै सही! और क्या हो जाता?" भावुकता, सहृदयता महाराज जी में बहुत थी; किन्तु शिष्य उन्हीं को बनाया जिनके लिए उन्हें भगवान से अनुभव में आया।

एक शिष्य (अखण्डानन्दजी) का प्रवेश

एक ब्राह्मण लगभग चालीस वर्ष से साधु-वेश में लक्ष्यप्राप्ति की उत्कण्ठा से यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए एक बार अनुसुइया पहुँचे। पूज्य महाराजजी के विषय में चित्रकूट में ही उन्हें जानकारी हो गयी थी। अतः उसी आधार पर सशंकित मन से आकर दर्शन किये। दर्शनोपरान्त महाराजजी में आस्था बढ़ गयी। परन्तु कर्मकाण्डी ब्राह्मण होने के कारण बीस दिनों तक अलग एक मन्दिर में निवास करते रहे और साथ ही यह सोचते रहे कि महाराजजी महापुरुष हैं पर उनकी जाति क्या है? यदि ब्राह्मण आदि किसी ऊँची जाति के होते, तो मैं अपने आपको उनके चरणों में अर्पित कर देता। विचरण करते हुए आज इतना समय बीत गया परन्तु लक्ष्य के विषय में कुछ भी आभास नहीं मिला।

यद्यपि उन्हें मालूम हो गया कि परमहंसजी एक महापुरुष हैं लेकिन ब्राह्मण होने से लोक-प्रचलित रूढ़िगत संकीर्णता मस्तिष्क में छायी हुई थी। अतः प्रबल भाव होने पर भी बीस दिन उनको अलग रहना पड़ा। सद्विद्या के प्रबल जिज्ञासु उन सज्जन को बीसवें दिन स्वप्न में दिखाई पड़ा कि परमहंसजी ब्रह्मस्वरूप शुद्ध संन्यास की स्थिति में हैं। दौड़कर स्वप्न में ही प्रणाम किये। तब महाराजजी ने अपनाने का आश्वासन देते हुए कृपायुक्त वाणी द्वारा उनकी पूर्व शंकाओं का निराकरण किया और साथ ही भावी पथ की दिशा का संकेत किये। निद्राभंग होते ही वे तत्काल महाराजजी के पास आत्मसमर्पण की भावना से पहुँचे। अन्तर्यामी महापुरुष उनके मनोगत विचारों को पकड़ते हुए बोले कि, भाई हमारी जाति तो बहुत ही खराब है- **माई धोबिन बाप चमार। ताकर जनमल हम बनवार।।**

अब वे निष्कपट भाव से बोले, "महाराजजी आज बीस दिन से निरन्तर मैं आपकी जाति के विषय में सोचता रहा हूँ; परन्तु आज कृपा-प्रसाद मिल गया। मैंने आपको परमार्थ के शुद्ध स्वरूप में देखा है। अब आप कुछ भी हों, मेरे लिए महान् आत्मा हैं। भगवन्!

दया करके आप मेरा पथ-प्रदर्शन करें। सर्वप्रथम तो उस कविता की पंक्ति पर प्रकाश डालें जो कि अभी श्रीमुख से निकली है, जिससे मेरी भ्रान्ति का मूलोच्छेदन हो सके।"

जब महाराजजी ने देख लिया कि यह मन-वचन-कर्म से साधन में लगनेवाला है, महाराजजी को संकेत मिला कि यह ठीक है, तब आपने कहा, "भाई! बाह्य जन्म तो माता-पिता से होता है किन्तु यह सब स्थूल पिण्ड के जन्मदाता हैं, स्वरूप के नहीं। स्वरूप के आविर्भाव के लिए तो ध्यान ही धोबिन है, जिसके द्वारा जन्म-जन्मान्तरों का मल साफ हो जाता है और गति मिलती है। यह चित्त ही चमार है, चमड़ी में आसक्ति रखनेवाला है। जैसी आसक्ति है भविष्य में वैसा ही चमड़ा मिलनेवाला है। जड़-चेतन, जंगम-स्थावर वही आकार दिलाता रहता है। जब यह चित्त सब ओर से सिमटकर ध्यान में तद्रूप हो जाता है, ध्यानस्थ हो जाता है, एक तीसरी वस्तु ब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है, वही हमारा स्वरूप है। वही आत्मदर्शन की चरमोत्कृष्ट स्थिति है। **'ताकर जनमल हम बनवार'**- अनन्त जीवधारियों की खानि इस जगत् का द्वन्द्व एक जंगल है। हम इस संसाररूपी बीहड़ (जंगल) में फँसे हुए नहीं बल्कि इसके संचालक हैं। दूसरे शब्दों में, वही सद्गुरु हैं क्योंकि ब्रह्म की स्थिति में लेशमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। यही कारण है कि मुमुक्षु सर्वस्व त्यागकर अथक परिश्रम करता है। वह सबके हृदय में प्रसुप्त है परन्तु ध्यान बिना उसका दिखाई देना असम्भव है। जब चित्त ध्यान के द्वारा पूर्णतया मिट जाता है तो वही सत्ता चेतन ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जाता है।" अतः साधन-क्रम को समझकर कुछ काल बाद एक महापुरुष के रूप में परिवर्तित हो गये। तत्पश्चात् आप अवध के पास, पूज्य गुरुदेवजी ने जहाँ चातुर्मास्य किया था, उस मधवापुर ग्राम्यांचल में रमण करने लगे। पूर्व में तो वह जंगल था परन्तु आज यह आश्रम श्री परमहंस आश्रम मधवापुर (गोण्डा) के रूप में आबाद है।

श्री भगवानानन्दजी का प्रवेश

कुछ दिनोपरान्त सायंकाल एक दुबला-पतला युवक महाराजजी के पास आया। महाराजजी ने पूछा, "कहाँ घर है?" वह बोला, "भगवन्! कानपुर।" महाराजजी बोले, "हूँ, कनपुरिया तो पक्का ठग होता है। अच्छा कुछ खाये हो?" वह बोला, "नहीं महाराजजी!" महाराजजी ने चने के आटे का दो टिक्कड़ नमक-मिर्च सहित दिलाया और कहा-"जाओ गंगा किनारे बैठकर खा लो।" वह युवक टिक्कड़ लेकर मन्दाकिनी गंगा के किनारे चला गया। वे थे श्री भगवानानन्दजी!

दिनभर की भूख के अनन्तर वह चने का टिक्कड़ बड़ा अच्छा लगा। नीरव शान्ति के उस साम्राज्य में ऐसा मन रमा कि वह सोचने लगे, "यदि दो टिक्कड़ मिलते रहते तो

आजीवन महाराजजी की सेवा करते। संसार के शोरगुल और छल-प्रपंच से दूर इस तपोभूमि में महाराजजी का सान्निध्य क्या प्राप्त हो सकेगा?"

इधर महाराजजी शिष्यों को बता रहे थे कि, यह कानपुरी सोच रहा है कि दो टिक्कड़ मिलते रहते तो यहीं सेवा करते। है तो यह भङ्डरी लेकिन इसकी खोपड़ी विचित्र है। यह सेवा में रहने योग्य है। अखण्डानन्दजी ने कहा, "महाराजजी! यह सुकुमार जाति का बनिया बालक है, जंगल में रह नहीं सकेगा।" महाराजजी ने कहा, "नहीं रे! अद्भुत है यह।" और इस प्रकार स्वामीजी को प्रवेश मिल गया।

स्वामीजी को खोजते-खोजते साठ-पैंसठ लोग कानपुर के सिकटियापुरवा से आश्रम में आ गये। स्वामीजी की पत्नी एवं माताजी भी महाराजजी के समक्ष हाथ जोड़कर बैठ गयीं। सभी लोग स्वामीजी को घर लौटने के लिए महाराजजी से आग्रह करने लगे।

महाराजजी ने स्वामीजी को समझाया कि तुम और तुम्हारी पत्नी के बीच एक आत्मा भटक रही है। इस जन्म में ही उसे लाने का माध्यम बन जाओ अन्यथा इसी के लिए एक जन्म और लेना पड़ेगा। वह लड़का तुम्हारी पत्नी के लिए भी एक सहारा बन जायेगा। उनके निर्वाह के लिए कुछ खेत का प्रबन्ध करके पुनः चले आना। इससे घर वालों को भी सन्तोष होगा। गुरुदेवजी का आदेश मानकर स्वामीजी लौटना तो चाहते थे किन्तु उन्हें अपशकुन निरन्तर हो रहा था। कर्बी में उनकी भेंट कुलानन्दजी (सच्चा बाबा) से हुई। वे भी प्रायः अनुसुइया आते-जाते थे। कुलानन्दजी ने भी घर जाने और पुत्रप्राप्ति के अनन्तर लौट आने का परामर्श दिया। स्वामीजी अभी नये तो थे ही, उनकी बातों में आ गये और घर चले गये।

एक वर्ष के भीतर ही स्वामीजी को एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गयी। खेत इत्यादि की व्यवस्था भी सहज ही हो गई। स्वामीजी घर पर भी ध्यान और चिन्तन में बैठते थे।

पुत्रप्राप्ति के पश्चात् पत्नी भी स्वामीजी से प्रगल्भ हो चली थी। उसने समझ लिया कि पुत्रप्राप्ति के पश्चात् अब यह कहीं जानेवाले नहीं हैं। पुत्र जितना मुझे प्रिय है उतना ही इन्हें भी तो होगा। उसने विनोद में उन्हें 'स्वामीजी, स्वामीजी' कहना आरंभ कर दिया। वह कहती- स्वामीजी हाथ धो लें! स्वामीजी भोजन कर लें! स्वामीजी जलपान कर लें। उसका व्यंग्य तीर की तरह चुभता और वे प्रतीक्षा करने लगे महाराजजी के आदेश की।

एक रात स्वामीजी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि महाराजजी ने उनके लिए एक विमान भेजा है, जिसपर बैठकर वे अनुसुइया पहुँचे हैं। चैतन्य होने पर भगवानानन्दजी ने उसी समय गृहत्याग का निश्चय कर लिया। उनके साथी दूसरी मंजिल की कोठरी में सो रहे थे। स्वामीजी ने बाहर से उनके दरवाजे की साँकल चढ़ा दी, जिससे वे पीछे

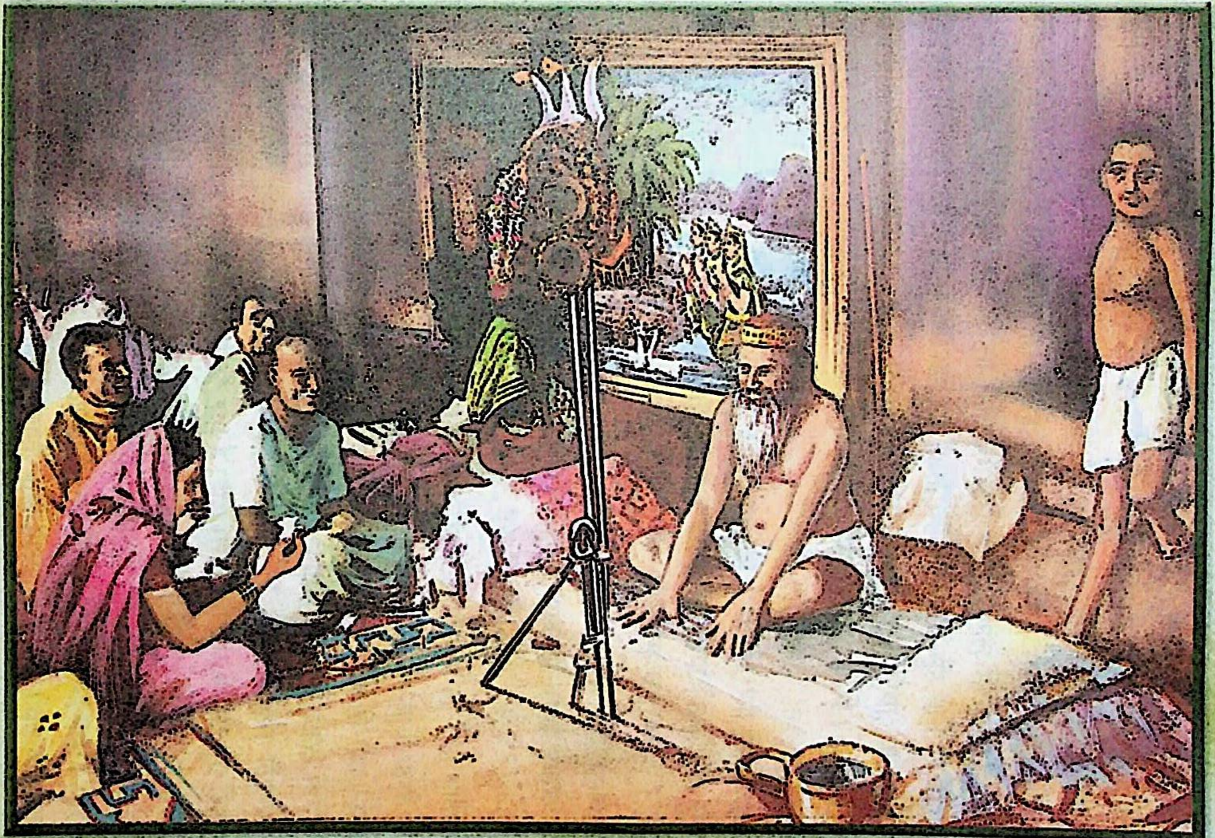

श्री परमहंस आश्रम स्थानासीन श्रद्धेय श्री भगवानानन्दजी महाराज

महाप्रयाण : १२ अक्टूबर २००८ ई.

लगकर बाधक न बन सकें। ऊबड़-खाबड़ रास्ते से पाण्डव नदी को पार करते हुए स्वामी जी रातभर में बीस मील निकल आये और तीसरे दिन अनुसुइया पहुँच गये।

ज्योंही स्वामीजी ने घर से प्रस्थान किया, महाराजजी को इसके संकेत मिलने लगे। तीसरे दिन उन्होंने अखण्डानन्दजी से कहा, "हो! वह कानपुरी चला आ रहा है।" अखण्डानन्दजी ने कहा, "महाराजजी! सालभर तो हो गया, अब वह क्या आयेगा।" महाराजजी बोले, "नहीं हो वह चला आ रहा है। अब वह काफी समीप आया लगता है।" लोग सोच रहे थे कि रात के नौ बजे अब इस बीहड़ जंगल में कौन आयेगा? महाराजजी योंही कह रहे हैं। तब तक घाट पर किसी व्यक्ति के हाथ-मुँह धोने की आहट सुनाई पड़ी। महाराजजी ने अन्धेरे में कहा, "लो वह आ गया कनपुरिया, घाट पर!" समीप आने पर सबने आश्चर्य से देखा और पाया कि वही सज्जन थे। सादर गुरु महाराजजी को साष्टांग दण्डवत् किया।

महाराजजी ने पूछा, "सबसे पूछकर आये हो?" स्वामीजी ने बताया, "जी महाराजजी! सबने मुझे स्वामीजी कहना आरम्भ कर दिया तो मैंने यह समझ लिया कि वे अब मुझे उसी वेश में देखना चाहते हैं। तभी आपका आदेश मिला और हम चल पड़े।"

स्वामी भगवानानन्दजी की सेवा सराहनीय थी। उनसे पहले आश्रम में प्रवेश पानेवाले सभी साधकों तथा महाराजजी की साधन-भजन की अनुकूल व्यवस्था बनाये रखना वे अपना दायित्व समझते थे। यही स्वामीजी का भजन बन गया।

दुर्गम पथ होने के कारण अनुसुइया आश्रम तक पहले आने-जाने की कोई सुविधा नहीं थी। विशेष भाविक एवं श्रद्धालु व्यक्ति ही पैदल चलकर यहाँ आया-जाया करते थे परन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त यात्रियों की सुविधा के लिए सड़क का निर्माण हो गया। अब वहाँ चार-छः सवारी गाड़ियों के पहुँच जाने से सदैव भीड़ बनी रहती। महाराजजी ने एक दिन हँसते हुए कहा कि एकान्त समझकर भजन के लिए यहाँ रमे थे लेकिन भीड़भाड़ होने के कारण वातावरण कोलाहलपूर्ण हो गया है। यह सुनकर समीप में बैठे हुए शिष्य श्री भगवानानन्दजी बोल पड़े कि- महाराजजी, आप कहीं एकान्त में रहें, हमलोग आश्रमीय व्यवस्था देख लेंगे। आपने यह सुनकर मुस्कराते हुए कहा, "अरे! यह तो हमारी गद्दी लेना चाहता है।" श्री भगवानानन्दजी नतमस्तक होकर क्षमायाचना करने लगे। परन्तु महापुरुषों के श्रीमुख से निःसृत वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। वह कालान्तर में सत्य हुई।

अनुसुइया आश्रम के पूर्व आप बनारस के पास भागीरथी के पावन कूल पर स्थित श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द में निवास करते थे। आपकी विद्वता और साधुता के

प्रभाव से जनमानस में शान्ति और सन्तोष का संचार होने लगा था परन्तु आपकी इच्छा न होने पर भी बरबस आपको श्री सद्गुरुदेव भगवान की प्रेरणा एवं श्री स्वामी धारकुण्डी महाराजजी की आज्ञा से परमहंस आश्रम अनुसुइया का कार्यभार सँभालना पड़ा। श्री परमहंस महाराजजी अपने उपदेशों में कहा करते थे कि आश्रम का कोई महत्त्व नहीं है। जब हृदय में महापुरुषत्व की उपलब्धि हो जाती है तो बाहर चाहे जहाँ बैठे रहें कोई अन्तर नहीं पड़ता। श्री भगवानानन्दजी महाराजजी की छत्रछाया में अनुसुइया आश्रम का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है एवं क्षेत्रीय जनता में उनके प्रति अगाढ़ श्रद्धा है।

स्वयमानन्दजी का आगमन

कुछ ही महीनों के अन्तराल से स्वयमानन्द नाम के एक साधु महाराजजी की सेवा में आ गये। स्वयमानन्दजी उड़ीसा के ब्राह्मण थे। पौरोहित्य पारिवारिक परिवेश में था। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उड़िया, बंगला इत्यादि कई भाषाओं पर उनका अधिकार था। संस्कृत तो वे धाराप्रवाह बोलते थे। उन्होंने बी.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की थी। वेद, उपनिषद् इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों में उनकी गहरी आस्था थी। वर्ण-व्यवस्था के सर्वोच्च शिखरस्थ ब्राह्मण के लिए मुक्ति प्राप्त करना वे जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे।

महाराजजी महापुरुष थे। अत्यधिक पढ़े-लिखे इस व्यक्ति के लिए भी महाराजजी के मन में अपार दया थी। उन्होंने क्रमशः आध्यात्मिक उन्नयन के सोपानों पर उनका आरोहण कराया किन्तु महाराजजी द्वारा इस प्रकार उन्नत सोपानों पर चढ़ाया जाना भी उन शास्त्राभिमानी महात्मा को सह्य नहीं था। महाराजजी कहा करें, "हो! एकाध ऐसा भी रहना चाहिए।" पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होते हुए भी स्वयमानन्दजी महाराजजी के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। उनका अधिकांश समय अनुसुइया में बीता और १९८७ ई० के आरम्भिक महीनों में अनुसुइया में ही तिरोभाव हो गया। उन्होंने 'अवधूतोल्लास' नामक एक पुस्तिका की भी रचना की।

स्वामी शिवानन्दजी

स्वयमानन्दजी के अनन्तर शिवानन्दजी को महाराजजी का सान्निध्य मिला। वे जटाधारी महात्मा के रूप में आश्रम में आए। कमर तक उनकी घनी जटाएँ भली प्रतीत हो रही थीं। ठिगने कद के वे महात्मा खड़ाऊँ पहने, हाथ में लम्बा त्रिशूल लिए बड़े ताव से चला करते थे। वे महाराजजी के समक्ष आये और दण्ड-प्रणाम करके बैठ गये। महाराजजी ने पूछा, "क्यों, कहाँ के रहनेवाले हो?" वे बोले, "बद्रीनारायण से आ रहा हूँ।" "नानी के आगे ननिहाल का बखान--इस शरीर का जन्म कहाँ हुआ था?", महाराजजी ने डपटकर पूछा। वे बोले, "जी यहीं हमीरपुर में!" महाराजजी ने पूछा, "यह

इतना बड़ा त्रिशूल लिये क्यों घूम रहे हो? त्रिशूल का अर्थ भी जानते हो? सत्-रज-तम ये तीनों गुण ही तीन शूल हैं। जो इन शूलों से ऊपर उठ गया हो वही त्रिशूल धारण करने का अधिकारी है; किन्तु है हृदय की स्थिति का चित्रण। जटा फकिरऊ बाकी सब गिरस्तऊ! तेरे पास यह कैसे आ गया?" उन्होंने कहा, "जी! परिवार में लोहे के औजार बनाने की कला थी, उसी से मैंने भी यह त्रिशूल बना लिया। रही गुणों से ऊपर उठने की बात तो उससे ऊपर उठने के लिए ही तो तीर्थों का भ्रमण कर रहा हूँ।" महाराजजी को सगुन मिला तो बोले, "हूँ! ला त्रिशूल।" आपने त्रिशूल लिया और धूनी में गाड़ दिया। शुरू में तो महाराजजी ने विनोद में ही वह त्रिशूल गाड़ दिया था, बाद में पण्डितों ने मंत्रोच्चारण द्वारा विधिवत् त्रिशूल स्थापना कर दिया, जो आज श्री परमहंस आश्रम के उद्देश्य का बोध कराता है।

रात्रि में महाराजजी को उनके सम्बन्ध में एक अनुभव दिखाई पड़ा। प्रातः वे उन महात्मा से बोले, "देखो, तुम किसी पूर्वजन्म में मेरे संगी-साथी के रूप में रह चुके हो, मेरी सेवा करो, तेरा कल्याण इसी में है। भ्रमण का फल तुझे मिल गया है-

तीरथ गये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सद्गुरु मिले अनन्त फल, कहैं कबीर विचारि।।

अब अकारण की भागदौड़ मत करो।" वे महात्मा मुस्कराये और महाराजजी की सेवा में लग गये। अब उनका निवास भरुआ-सुमेरपुर में है। वे बड़े ही शान्त महात्मा हैं। महाराजजी विनोद में कहा करें, "कल का जोगी घुटने तक जटा- कैसा वेश बनाकर घूम रहा था। अब ठीक है। अहर्निश एक करके तुम भजन किया करो, सब प्राप्त कर लोगे।"

बग्गड़ बाबा

बग्गड़ का जन्म बिहार राज्य में हुआ था। वे कहार परिवार में पैदा हुए थे। कलकत्ता में वे पल्लेदारी का कार्य करते थे। आयु बीस-बाईस के करीब थी। उन्हीं दिनों उन्होंने कलकत्ता में एक चलचित्र देखा, जिसमें भक्त प्रह्लाद के जीवन को दृश्यांकित किया गया था। प्रह्लाद को अग्नि में जलाया गया, विविध यातनाएँ दी गईं फिर भी भक्ति के प्रभाव से प्रह्लाद का बाल भी बाँका नहीं हुआ और न उनकी भक्ति में कोई कमी आई। उन दृश्यों को देखकर बग्गड़ में इतना अनुराग पैदा हुआ कि वे इस कार्य को छोड़कर हरि-दर्शन की लालसा से अनुसुइया जा पहुँचे।

बग्गड़ बहुत निर्भीक थे। न जाने कब किस रास्ते से निकलकर सिद्धबाबा के उसी तख्त पर जा बैठे, जिस पर आरम्भ में महाराजजी बैठे थे। रात्रि के नौ बजे उस तख्त से आवाज आयी, "तू यहाँ बैठने लायक नहीं है। नीचे जा और शंकरजी की सेवा कर।"

दूसरे दिन भी यही आवृत्ति हुई। तीसरे दिन एक स्वरूप प्रगट हुआ जिसने उन्हें सीढ़ियों पर ढकेल दिया और कहा, "भाग यहाँ से! हमने कितनी बार कहा कि नीचे जाकर शंकरजी की सेवा कर, जिसमें तेरा कल्याण है। यहाँ क्या पड़ा है?" सीढ़ियों से गिरते-पड़ते बग्गड़ नीचे आ गये।

रात्रि के दस बज चुके थे। महाराजजी ने साधकों से कहा, "लगता है कोई आ रहा है, वह बहुत घबड़ाया लगता है।" उस जमाने में रात्रि नौ बजे आदमी का अनुसुइया पहुँचना किसी आश्चर्य से कम नहीं था। घने जंगल में शाम तीन बजे के बाद ही जाने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। उस समय तो नौ बज रहे थे। लोग सोचने लगे, महाराजजी योंही कह रहे होंगे। इस समय कोई क्यों आयेगा? जबकि महाराजजी को निरन्तर संकेत मिल रहा था कि कोई डरा हुआ चला आ रहा है। तब तक वह शंकरजी के चबूतरे पर गिरा धड़ाम! वह चींखता जा रहा था-दैत्य! दैत्य!

शंकरजी का चबूतरा आश्रम से सटा हुआ था। महाराजजी ने कहा, "देख यह आया। इसे सँभालो। कहाँ का दैत्य है?" आदेश मिलते ही एक सन्त तुरन्त दौड़कर गये। उसे झकझोर कर वह बोले, "यह आश्रम है, यहाँ कोई दैत्य नहीं है।" किन्तु उसको तो सनक सवार हो गयी थी, 'दैत्य-दैत्य' ही बकता रहा। सन्तजी ने कहा, "महाराजजी, यह तो कुछ सुनता ही नहीं, दैत्य-दैत्य की रट लगाये हुए है।" महाराजजी बिगड़े, "इस दैत्य को चार डण्डे लगाओ।" जहाँ मारने की बात आई तहाँ उसकी जड़ता दूर हो गयी, चेतना लौट आई। वह बोला, "महाराजजी! सिद्धबाबा ने हमें मारा। वे अभी खड़े थे, न जाने कहाँ चले गये?"

महाराजजी ने पूछा, "सिद्धबाबा ने क्यों मारा? उन्होंने कुछ कहा भी?" उसने कहा, "हाँ महाराजजी! सिद्धबाबा ने कहा कि नीचे जाकर शंकरजी की सेवा कर। तुम्हारा कल्याण इसी में है।" महाराजजी ने कहा, "तो मैं ही हूँ शंकरजी! ले यह कढ़ाई माँजकर ला, कर सेवा।"

बग्गड़ बाबा अच्छे सेवक सिद्ध हुए। सफाई एवं स्वच्छता उनके स्वभाव का अंग था। वे भजन करते रहे। थोड़े ही समय में बग्गड़ को अनुभव जागृत हो गया। दो-तीन वर्षों तक उन्होंने आश्रम की अच्छी सेवा की और विचरण में निकल गये। घूम-फिरकर उनका अन्तिम निवास बेधक के घोर जंगलों में शेरों की कन्दराओं के समीप था।

सिकटियापुरवा के भक्त

अपने लगभग एक वर्ष के गृह-निवास की अवधि में भगवानानन्दजी ने कई साथियों में भजन का बीजारोपण भलीभाँति कर दिया था। गाँव के हमउम्र लोगों में वे बड़े प्रिय

थे। वृद्ध लोग तो उनकी कहानियों पर लट्टू थे। वे इतने अच्छे किस्सागो थे कि लोग मनोरंजन के अन्य साधनों की उपेक्षा कर उनकी कहानियाँ सुनना पसन्द करते थे। उनकी कथोपकथन शैली पर गाँव का गाँव झूम जाता था। जब वे पुनः अनुसुइया आये तो उनके भजनवाले वे साथी भी पता लगाते अनुसुइया आ गये और महाराजजी से उन्होंने भी निवदेन किया कि उन्हें लौटाया न जाय। उन लोगों ने भी भजन करने का अपना दृढ़ निश्चय सुनाया। श्री शरणार्थी स्वामी, महादेवानन्द, बंशी स्वामी इत्यादि उन्हीं भक्तों में से थे। वे महाराजजी की शरण में आये, बड़ी लगन से साधना में अनुरक्त हो भगवत्पथ के पथिक हो गये। कुछ लोग और आये।

महाराजजी तीन महीने तक उनलोगों को भगाते ही रह गये किन्तु वे लौटने का नाम ही नहीं लेते थे। वे जंगल से लकड़ी लाते और आँख मूँदकर भजन-ध्यान भी करते; किन्तु महाराजजी ने कहा कि तुमलोगों में से किसी का भी संस्कार साधु होने का नहीं है। उनमें से एक को इंगित कर महाराजजी ने कहा कि 'गुलाब' नाम का संस्कार तो है किन्तु यह व्यक्ति नहीं है। उसे भी सद्गृहस्थ आश्रम में रहकर भजन करने का आदेश दिया और कहा कि शरीर से कहीं भी रहो, मन से आते-जाते रहना। उसे भी घर भेज दिया।

मेरा प्रवेश

महाराजजी उपर्युक्त नामधारी व्यक्ति की प्रतीक्षा में थे कि लगभग दो वर्ष पश्चात् मेरे अनुसुइया पहुँचने पर महाराजजी को अनुभव में आया कि एक साँवला-सा लड़का एक नदी के किनारे बैठा हुआ जोरों से रो रहा है। वह पार जाना चाहता है लेकिन कुछ जानता नहीं। नदी में भयंकर वेग है। उसी समय महाराजजी पास जाते हैं। वे उस बालक को धैर्य बँधाते हुए कहते हैं, "रो क्यों रहे हो, पार जाना है? तू इस प्रकार तैर, मैं खड़े होकर तुम्हें देख रहा हूँ।" उसने तैरना शुरू कर दिया। जब वह भली प्रकार चार-छः हाथ तैर चला, तो महाराजजी ने उसे प्रोत्साहित करते हुए कहा, "हाँ इसी प्रकार तैरते रहो। घबड़ाना नहीं, मैं देख रहा हूँ। तैरकर उस पार हो जा।"

इस अनुभव के सन्दर्भ में महाराजजी ने विचार किया तो उन्हें लगा कि कोई अधिकारी है, जो भवसागर से पार तो जाना चाहता है किन्तु साधन-क्रम के विषय में बिल्कुल नहीं जानता। बताने पर उसने साधन तुरन्त पकड़ लिया। अतः महाराजजी प्रतीक्षा में थे कि आज कोई साधक आनेवाला है, जिसे हमें साधन बताना है।

उसी दिन चित्रकूट के एक पण्डे के नौकर के साथ हम अनुसुइया आये थे। वह हमें पहले अनुसुइया मन्दिर में ले गया। उसने बताया, "यही है महासती अनुसुइया का

मन्दिर!" हमने एक काली-सी मूर्ति का दर्शन किया। मूर्ति के ऊपर कोई वस्त्र भी नहीं था। उस मन्दिर के किवाड़ टूट चले थे। वहाँ कोई पुजारी भी नहीं था। हमने मूर्ति को प्रणाम किया और लौट पड़े। नौकर ने बताया कि यहाँ एक महात्मा परमहंस बाबा रहते हैं। आपकी इच्छा हो तो जाकर उनके दर्शन कर लें।

महात्मा के प्रति मेरी श्रद्धा बचपन से ही रही है। अतः मैंने स्वयं जाकर उन तपोधन का दर्शन किया। ऋषिकेश, हरिद्वार, पंजाब और चित्रकूट में जितने महात्माओं के सान्निध्य में मैं आया था, महाराजजी उन सबसे अच्छे लगे। घोर जंगल का उनका निवास, उनकी बोली, भाषा, प्रसन्न मुद्रा सब कुछ बहुत अच्छा लगा। उनके प्रति मेरा लगभग झुकाव-सा हो गया कि इनसे भजन की विधि सीखकर आगे बढ़ जायेंगे, क्योंकि भजन तो मुझे करना है। भजन में गुरु के हाथ में यंत्र बनकर रहा जाता है, इसका मुझे भान भी नहीं था।

हमने उनसे कहा, "महाराजजी कल मैं पुनः आपका दर्शन करूँगा। आज नौकर साथ में है, कल मैं अकेला आऊँगा।" दूसरे दिन मैं पुनः स्वयं ही अनुसुइया जा पहुँचा। सादर दण्ड-प्रणाम कर एक ओर बैठते ही महाराजजी ने पूछा, "क्यों साधु तो नहीं होना है?" मैं सावधान हो गया। यदि मैं कहूँ कि 'हाँ होना है' तो कदाचित् मुझे किन्हीं रूढ़ियों में उलझा न दें। साधु तो मुझे होना था किन्तु श्रद्धा होते हुए भी मन में कुतर्क था कि जैसा महापुरुष को होना चाहिए, वैसा ये हैं भी कि नहीं। झूठ बोलने में पाप लगता था तो सच बोलने में फँसाव था। अतः कुछ गोलमाल ही बोल सका, "महाराजजी! कोई कह तो नहीं सकता कि मैं साधु बनूँगा।" इस प्रकार कहकर मैं चुप हो गया और धीरे से एक ओर चला गया कि पुनः कुछ न पूछ बैठें।

महाराजजी ने अन्य साधकों से कहा, "देख रहे हो, यह अब भी कवई काटत है (अर्थात् पैंतरा बदल रहा है)। मैं देखे हूँ, एके यहीं रहे का है। हो, भगवान मोके बताये हैं।" उस समय मुझे क्षेत्रीय हिन्दी के शब्द 'कवई' का ज्ञान नहीं था। यह तो बाद में पता चला कि उस दिन महाराजजी ने हमें ही लक्ष्य कर यह सब कहा था। आरंभ में महाराजजी की भाषा मेरी समझ में नहीं आती थी। मैं कुछ तो उनका आशय समझ लेता; किन्तु वे मेरी भाषा नहीं समझ पाते थे। ब्रह्मचारीजी को महाराजजी ने बुला भेजा, जिन्हें गाँव के लोग खीर खिलाने ले गये थे। उनके आने पर महाराजजी ने निर्देश दिया, "इसे समझा, यह मेरी भाषा नहीं समझता।"

श्री ब्रह्मचारीजी के प्रति महाराजजी ने बताया था कि वे बड़े अच्छे साधक हैं इसलिए उन्हें बुलाया है। उनकी प्रशंसा सुन मैंने उनके प्रति अच्छे साधु की कल्पना कर

डाली थी; किन्तु जब वे अच्छे किस्म की रोयेंदार तौलिया कन्धे पर रखकर आए तो मेरी कल्पना को किंचित् ठेस लगी। फिर भी हमने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम कर लिया।

महाराजजी के निर्देशन और ब्रह्मचारीजी के स्नेह साहचर्य से मैं अनुसुइया आश्रम में निवास करने लगा। दो-ढाई महीने के अनन्तर मेरे सर्वांग में स्पन्दन-स्फुरण आरम्भ हो गया। मुझे लगा जैसे कोई रोग हो गया। हमने अंग फड़कने की चर्चा चिन्तित हो महाराजजी से की तो वे हँसने लगे। उन्होंने कहा, ''बेटा! क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई अब शुरू हो गयी। राम-रावण का युद्ध शुरू हो गया है। अब रावण मर जाई, राम का राज्याभिषेक होई तभी यह बन्द होगा। बीच में इसे बन्द करने का कोई उपाय नहीं है।'' आरम्भ में तो मुझे इन फड़कनों तथा अनुभवों का कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता था; किन्तु क्रमशः महाराजजी ने विभिन्न फड़कनों का अर्थ बताया जो निर्देशन के रूप में सत्य प्रमाणित होने लगे; तभी से श्रद्धा स्थिर हो गयी और यह विज्ञान समझ में आने लगा।

महाराजजी ने मुझे बताया कि शास्त्रों में ब्राह्मण तत्त्वदर्शी का रूप है। **'कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना'** *(मानस, १/३०२/८)*- पार्वती को स्वप्न में दो विप्र दिखाई पड़े थे, उन्होंने भजन का निर्देश दिया। स्वप्न-संकेतों के अनुसार तपस्या की, शंकरजी प्राप्त हुए। इस प्रकार स्वप्न में विप्र का उपदेश सत्य प्रमाणित हुआ। ऐसा कोई ब्राह्मण स्वप्न में आदेश दे तो वह भी भगवान की आज्ञा का ही संचार है।

कुछ दिवस पश्चात् स्वप्न में मुझे पूर्व जीवन के सुपरिचित अत्यन्त कुलीन स्वाध्यायी पण्डितजी दिखाई पड़े- एक लँगोटी लगाये और चदरिया ओढ़े। मैंने भगवान की तलाश करते उनके समीप पहुँचकर पूछा, ''बतायें, ये हमारे गुरु महाराजजी कैसे हैं?'' उन्होंने कहा, ''देखो, अनादिकाल से महापुरुष जैसे होते आये हैं, जो लक्षण एक महापुरुष में होने चाहिए, आप में वे सभी लक्षण विद्यमान हैं तथा आपके गुरु महाराजजी यही हैं।''

ऐसा निर्देशन प्राप्त कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। हम अत्यन्त उत्साह से भजन में बैठ गये, बैठे ही रह गये। आँख खुली तो सूर्य की किरणें कोठरी में आ रही थीं। हमें आश्चर्य हुआ कि सवेरा हो गया क्या! मैं महाराजजी को प्रणाम करने धूनी की ओर बढ़ गया। महाराजजी धूनी पर बैठे थे, धूना धाँय-धाँय जल रहा था, लपटें उठ रही थीं। महाराजजी प्रशान्त मुद्रा में बैठे थे मानो कुछ देख ही न रहे हों। हमने धीरे से प्रणाम किया। महाराजजी ने जलती लकड़ी उठाई और मेरी पीठ पर प्रहार किया। कुछ आग पीठ पर भी गिरी। हम दो-तीन कदम पीछे हटकर महाराजजी की ओर सिर झुकाकर खड़े हो गये, तब तक महाराजजी ने धूना से चिमटा निकालकर मेरी ओर खींचकर मारा,

जिसकी दोनों नोंक मेरे सीने पर लगी। हमने सविनय पूछा, "महाराजजी! मुझसे कौन-सी भूल हो गयी।" उन्होंने डाँटते हुए कहा, "शरीर पर घाम लगा है तब उठे हो, इसी पराक्रम के बल पर भजन करने निकले हो। साधक को ब्राह्मबेला में उठ जाना और सचेतावस्था में चिन्तन करना चाहिए।" हमने कहा, "हम बैठे तो थे!" "अच्छा तो तू बैठे-बैठे सो गया।" पुनः बहुत-सी साधनापरक बातें सुनने को मिली। बस, उस दिन से भजन की चाभी भर गयी, टाइमटेबुल फिक्स हो गया और महाराजजी के प्रति मन-वचन-कर्म से श्रद्धा स्थिर हो गयी। वस्तुतः महापुरुषों की कठोरता में करुणा छिपी होती है, जो साधक-भक्तों का कल्याण-स्रोत बन जाती है।

आश्रमीय चर्या

महाराजजी का निवास क्रमशः आश्रम का रूप लेने लगा था, फिर भी संग्रह नाममात्र का ही रहता था। आश्रम के पीछे कोठरी में एक टिन में आटा, एक हँडिया में थोड़ा घी, किसी हँड़िया में दाल-चावल रहता था। तीन चौथाई चना और एक चौथाई गेहूँ के मिश्रण के आटे की रोटी बनती थी। कभी-कभी उस आटे में ही नमक, मिर्च और हींग मिलाकर रोटी बनती। कोठरी से सामान निकालकर पीछे एक गोल झोपड़ी में भोजन बनता। भोजन बन जाने पर आप उसमें से दो रोटी अलग रख देते थे कदाचित् इस जंगल में कोई भूला-भटका आ जाय। भोजन एक ही समय बनता था। आप साधक को भूख से एक-डेढ़ रोटी कम खाने पर बल देते थे। अधिक भोजन करने से आलस्य, निद्रा अधिक आती है, जो भजन में बाधक है। कभी कोई अधिक खाने का प्रयास करता तो आप एक-दो बार उसे समझाते; किन्तु सुधार न देख डाँटते थे, "क्यों रे, बाप की कमाई है क्या? बाबा का आटा बाबा का घी, शाबास-शाबास बाबाजी! अन्न का दुरुपयोग क्यों करता है? बचा रहेगा तो किसी साधु-महात्मा की सेवा होगी- यह कुटीचक का धर्म है। कुटी बनाकर रहनेवालों को कुछ-न-कुछ बचाकर रखना चाहिए।" जो रोटी बच जाती या रखी रह जाती उसका एक-एक टुकड़ा तोड़कर सायंकाल साधकों में वितरित कर दिया जाता। जिसे आवश्यकता होती वह लेता, जिसे आवश्यकता न होती वह नहीं लेता था। सायंकाल थोड़ा सत्संग होता और पुनः सभी चिन्तन में लग जाते थे।

रात्रि दस बजे शयन करने की अनुमति थी। उसके लिए भी एक नियम था कि सोने से पूर्व घण्टा-डेढ़ घण्टा आसन पर बैठकर गुरु महाराजजी का ध्यान अथवा श्वास से जप किया जाता और जब सुरत भली प्रकार लग जाती तो लोग धीरे-धीरे सुरत लगाये ही सो जाते। एक बार निद्रा आ जाने के पश्चात् जब भी आँख खुलती, सोने का विधान नहीं था। कुछ भी हो जाय, लोग प्रयासपूर्वक नहीं सोते थे। धीरे-धीरे अभ्यास हो

जाने पर एक निद्रा के पश्चात् पुनः शयन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। कभी साधक नहीं जाग पाते तो महाराजजी ही भजन गुनगुनाने लगते-

मोरि सुरत सुहागन जाग री।
का सोवत है मोहनिशा में, उठकर भजनियां में लाग री।।

इसी प्रकार के प्रेरणादायक दो-तीन भजन थे जिसमें से कोई-न-कोई वे गुनगुनाया करते थे। सूर्योदय से पूर्व ही आश्रम में सफाई हो जाती थी। महाराजजी इस कार्य में सबको सम्मिलित करते, जिससे आलस्य दूर हो जाय। प्रत्येक साधक एक हाथ में लालटेन, दूसरे हाथ से झाड़ू लगाता। सबका अंशदान निर्धारित था। यदि कोई साधक दूसरे के हिस्से की सफाई करना चाहता तो महाराजजी उसे मना कर देते। इसके बाद हाथ-मुँह धोकर सभी चिन्तन में बैठ जाते थे। प्रातःकाल स्नान का विधान नहीं था क्योंकि उसमें भी समय नष्ट होता था। नित्यकर्म से निवृत्त होकर नौ-दस बजे प्रातः तक अनवरत चिन्तन का क्रम चलता रहता था।

गुरु महाराज की छड़ी एवं स्पर्श

एक बार हमने जिज्ञासा व्यक्त की कि, महाराजजी! आप छड़ी क्यों मारते हैं? श्री महाराजजी ने बताया कि भगवान जब निवृत्ति देते हैं तो साथ ही कुछ 'हथियार' भी दे दिया करते हैं। हमें जब निवृत्ति मिली तो भगवान ने आशीर्वाद दिया कि दाहिने हाथ से यदि किसी को मार दोगे तो उसकी फाँसी भी कट जायगी। कल फाँसी होनी है और आज छड़ी लग जाय तो नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय। बायाँ हाथ किसी के ऊपर रख दूँ तो उसकी सब दुर्गति हो जाय, वह शाप के रूप में होगा।

एक समय की घटना का स्मरण करने में मुझे सदैव भय लगता है। एक आर्यसमाजी गुरुदेव भगवान के समक्ष उपस्थित हुए। दो-एक सज्जन उनके साथ और भी थे। वे अपने को ही उद्भट विद्वान् समझते थे, जबकि पूज्य महाराजी तत्त्वद्रष्टा महापुरुष थे। सत्संग आरम्भ हुआ और वाद-विवाद में परिणत हो गया। उनकी हठधर्मिता एवं पूर्वाग्रह देखकर उन आर्य सज्जन से कहा, "जरा इधर आओ।" वे पास में आ गये, तो **'मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।।'** *(मानस, १/५१/६)*- इस प्रकार गुनगुनाते हुए उन सज्जन के सिर पर बायें हाथ से स्पर्श करते हुए कहा, "हूँ..... अब आप बातें करें।" बस, ऐसा हुआ कि वे सज्जन जड़वत् स्तब्ध हो गये। दो-एक घंटे विस्मित नेत्रों से यत्र-तत्र देखते रहे, शयनकाल आने पर शयन करने चले गये।

प्रातः उठने पर वे सभी अतिशीघ्र नित्यक्रिया से निवृत्त हो पूज्य महाराजजी के पास आकर बैठ गये। उन आर्यसमाजी ने कहा, "प्रभु आप योगी हैं, प्रत्यक्षदर्शी हैं। यथार्थ

वही जानता है जो करता है; क्रिया से चल चुका है। हम लोगों के पास मात्र पुस्तकीय जानकारी है, बौद्धिक उग्रता है। जो मन और बुद्धि से परे है उसे हम बौद्धिक जोड़-गाँठ से कैसे जान सकते हैं? हम आपके कथन को स्वीकार करते हैं। कृपया आप हमें साधना का स्रोत दिखायें। कल महाराजजी! न जाने मुझे क्या हो गया था; 'स्पर्श से भी कुछ हो सकता है'- इसमें मेरा विश्वास न था, किन्तु कल आपके हाथ का स्पर्श होते ही स्मृति लुप्त होने लगी, मस्तिष्क निष्क्रिय (बुत्त) हो गया। अब आपके समक्ष पुनः स्वस्थ हूँ। मुझ पर आपकी दया बनी रहे।" आशीर्वाद लिया और चले गये।

एक समय बिना किसी विशेष कारण के दाहिने हाथ की दो छड़ी हम पर भी पड़ी। पहले तो हम चौंके! कहीं कोई भूल भी नहीं हुई थी। महाराजजी ने कुछ बताया भी, किन्तु विश्वास जम नहीं रहा था। विश्वास की दृढ़ता के लिए केवल कहना पर्याप्त नहीं होता। कुछ दिन पश्चात् मैं बीमार पड़ा। रोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। बड़ी वेदना थी। दो-एक दिन इसी तरह व्यतीत हुए। एक दिन ब्राह्मबेला में अनुभव का प्रसार मिला। चार जाने-पहचाने व्यक्ति आये, सादर मिले और हमें साथ ले चले। पथ में भुलावा देते वे हमें जंगल में ले गये। वहाँ अक्षुण्ण शस्त्रागार के किवाड़ स्वतः खुल गये। प्रविष्ट होते ही कपाट स्वतः बन्द भी हो गये। उन शस्त्रों से तीव्र प्रकाश निकल रहा था। सहसा उन सबने झपटकर एक-एक शस्त्र उठा लिया और परस्पर संकेत करने लगे कि देखते क्या हो, इसको समाप्त कर दो। सभी घूम पड़े। मैं काँपने लगा, ऐसा लगा कि मृत्यु आसन्न है। गिड़गिड़ाते स्वर में याचना की, "एक बार छोड़ दो.... बस, इस बार छोड़ दो।"

परन्तु हमारी प्रार्थना का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तर्मन में निरन्तर संकल्प उठ रहा था कि इनसे छूटकर मैं भजन में ही जुट जाऊँगा, जिससे इनका आतंक पूर्णतः टल जायगा। किन्तु वे तो प्राण लेने को ही उद्यत थे। प्राण-पखेरू उड़ने को तत्पर थे कि सहसा वे पीछे हटने लगे। मुझे गुरुदेव की छड़ी का स्मरण हो आया, बोला, "मैं व्यर्थ ही तुम लोगों से क्षमायाचना कर रहा था। गुरुदेव की छड़ी मुझे लग चुकी है अतः तुम लोग अब मुझे मार नहीं सकते।" स्थिति पूर्णतः बदल गई। शस्त्रागार विलीन होने लगा। भजन का भाव लेकर मैं वहाँ से चल पड़ा। वह भीषण बीमारी भी उसी समय दूर हो गयी। इसी प्रकार पूज्य गुरुदेव की छड़ी का प्रताप देखने के अनेक अवसर मिले हैं, जिनमें मरती-जीती घटनाएँ भी हैं।

कामरूप कमच्छा का पंडा

चित्रकूट के घाटों पर एक सिद्ध की बड़ी चर्चा थी, जिसने कहीं से आकर कुछ ही दिनों में हजारों लोगों को प्रभावित कर लिया था। मन की बात बता देना, कहीं से

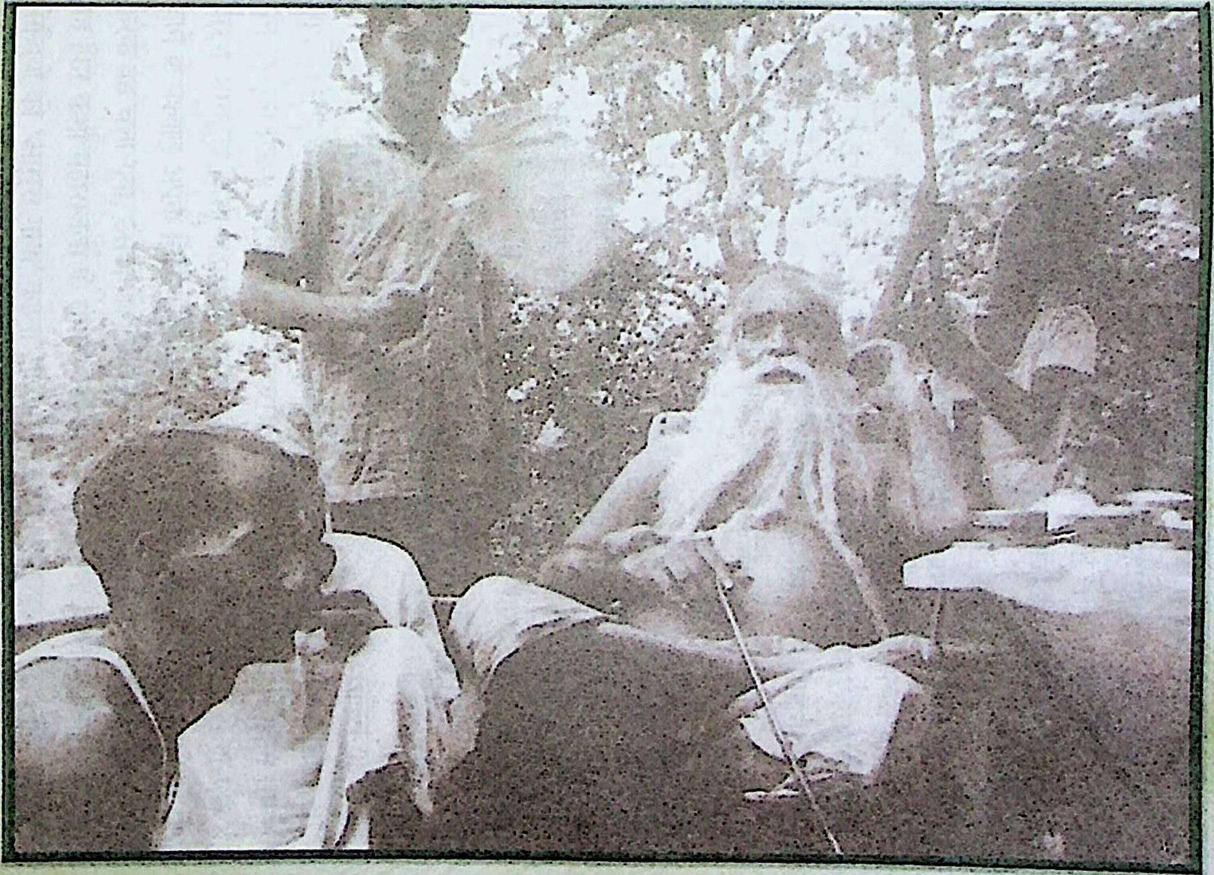

श्री परमानन्द परमहंस जी महाराज की छडी

किसी वस्तु को मँगा लेना, दुष्प्राप्य वस्तुओं का वितरण करना इत्यादि चमत्कारों के आधार पर चित्रकूट के अनेक महात्माओं को भी वह अपने प्रभाव में ले चुका था। उसके कई चमत्कारों में से एक था कजरी लगाना। एक डिबिया में से काजल निकाल कर वह किसी आदमी के नाखून पर लगाकर किसी बच्चे से कहलाता कि इसमें हनुमान जी आ जायँ और बतायें कि चित्रकूट के घाट पर या इस स्थान से जो सन्त गये हैं, इस समय कहाँ हैं? उसके चमत्कारों को देखकर लोगों ने परमहंसजी के समक्ष उसकी सिद्धियों के परीक्षण का प्रस्ताव रखा।

एक बड़ी भीड़ के साथ वह सिद्ध अनुसुइया आश्रम पहुँचा। साथ आये लोगों ने महाराजजी को उसका परिचय दिया। महाराजजी ने कहा- "बड़ी अच्छी बात है। जंगल में हमको भी कुछ देखने का सौभाग्य मिलेगा। हमें भी कुछ चमत्कार दिखाइये।" परन्तु महाराजजी के समक्ष वह कोई चमत्कार नहीं दिखला पाया। झेंप मिटाने के लिए और लोगों से पीछा छुड़ाने के लिए उसने कहा- "अभी मुझे सरभंग आश्रम जाना है, फिर कभी महाराजजी की सेवा में आयेंगे।"

कुछ दिनों पश्चात् उसका पत्र आया और बाद में स्वयं अकेला आया, विनीत स्वर में महाराजजी से निवेदन किया- "महाराजजी! मैं कोई साधु नहीं हूँ। मैं कामरूप (आसाम) का एक पण्डा हूँ। लोगों को कुछ दिखलाकर परिवार का उदर-पोषण करता था किन्तु जब से आपके समक्ष मैंने उन चमत्कारों का प्रयोग करना चाहा तभी से मैं असफल हो रहा हूँ। आवाहन करने पर भी वे सभी मंत्र निरर्थक हो जाते हैं। बड़े कष्ट में हूँ। यजमानी भी बड़े भाइयों ने ले ली। कृपा हो जाय जिससे मेरी सिद्धियाँ वापस आ जायँ।"

उसकी प्रार्थना पर द्रवित होकर महाराजजी ने कहा- "ठीक है, लेकिन गृहस्थ होकर साधुओं से क्यों प्रणाम कराता है?" उसने कहा- "नहीं महाराज जी! मैं सभी सन्तों को मन-ही-मन प्रणाम कर लेता हूँ।" महाराज ने कहा- "अच्छा, अच्छा! लेकिन साधु-वेश धारण करके या किसी महात्मा के सामने उनका प्रदर्शन न करना। यहाँ से दो-एक मील जाने के पश्चात् अपनी सिद्धियों का आवाहन करना, लौट आयेंगी।" महाराजजी को प्रणाम करके वह चला गया, उसकी जीविका चलने लगी, बराबर उसके पत्र आते रहे किन्तु भयवश वह फिर कभी महाराजजी के सामने नहीं आया। महाराजजी कहते थे कि इस प्रकार की सिद्धियों को 'आसुरी माया' कहना अधिक संगत होगा। महापुरुषों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। योग की सिद्धियाँ भी लक्ष्यप्राप्ति के लिए व्यवधान हैं, साधक को उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डालनी चाहिए। महापुरुष चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं करते। उनके पास केवल एक सिद्धि होती है, वह है 'संकल्पसिद्धि'। वे जो भी इच्छा करते हैं उसे भगवान

पूरा कर देते हैं, **'जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** ***(मानस, ७/११३/४)*** उस इच्छा को भगवान पूर्ण करते हैं इसलिए महापुरुष उसे अपनी कोई उपलब्धि नहीं मानते। जब लोगों ने पूछा कि उसकी सिद्धि कैसे समाप्त हो गयी? आपने बताया कि कैवल्यपद प्राप्त महापुरुष के समक्ष टोना-टोटका, तंत्र-मंत्र, यक्षिणी, जादू, भूत-प्रेत इत्यादि सब प्रभावहीन हो जाते हैं। स्वरूपस्थ महापुरुष तो बहुत बड़ी बात है। जो केवल एक हरि का स्मरण करते हैं, उनके सामने भी इनका प्रभाव नहीं होता।

शठे शाठ्यम् समाचरेत्

पूज्य महाराजजी ने जब अनुसुइया को अपना निवास बनाया, उस समय घोर जंगल एवं यातायात की सुविधा न होने के कारण दस बजे प्रातः से पूर्व दर्शनार्थियों का अनुसुइया पहुँचना सम्भव न हो पाता था। अतः महाराजजी की सेवा में अनुरक्त चार-पाँच साधक तब तक निर्विघ्न, एकान्त में साधन-भजन करते रहते थे। परन्तु एक जंगली महिला सूर्योदय के समय ही आश्रम के सामने से प्रतिदिन नियमित रूप से आने-जाने लगी। महाराजजी ने साधकों के चित्त की चंचलता देखकर कहा कि उस 'माई' को मना कर दो, इस रास्ते से नौ-दस बजे से पूर्व न निकला करे। यदि जाना ही है तो बगल के रास्ते से चुपचाप निकल जाया करे।

साधकों ने मना किया किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टा कहने लगी, "अरे बाबा! गली छीदत है।" अर्थात् रास्ता बन्द कर दे रहे हैं। साधकों ने बहुत कहा कि देखो, महाराजजी नाराज होते हैं, मना करते हैं; किन्तु उसका आना-जाना पूर्ववत् रहा। महाराजजी ने उस युवती को पुनः आते-जाते देखा तो साधकों से पूछा, "क्यों, उसे मना नहीं किया? वह देखो, आ रही है। उसका पाँव 'झन्न-खट' बोल रहा है।" (उस क्षेत्र में कोल-भीलों की स्त्रियाँ एक पैर में गिलट का कड़ा पहनती हैं जिसमें कंकड़ रहने से खनखनाहट होती है और दूसरे पैर में चमड़े का जूता मात्र पहनती हैं।)

साधकों ने कहा, "महाराज! हमने कल भी कहा, परसों भी कहा परन्तु वह मानती ही नहीं, कहती है कि आप रास्ता रोकेंगे क्या?" महाराजजी ने कहा, "जब मना कर ही दिया जायेगा तो कैसे नहीं मानेगी? तुम लोगों से मना ही नहीं करते बनता होगा। तुम सभी बादाम के छिलके-जैसे ऊपर से चिकने-चिकने हो, भीतर से खोखले हो। वह मानेगी क्यों नहीं?"

प्रतिदिन तो आप ब्राह्ममुहूर्त से ही ध्यानस्थ हो जाते थे किन्तु उस दिन उसके आने से पूर्व तक गाँजे का दम-सम लगाकर, मूँछों पर ताव देते हुए बैठे रहे। इतने में 'झन्न-खट' की ध्वनि कानों में पड़ी। बोलें- हूँ... आ रही है! झन्न खट, झन्न खट। ससुरी हथिनी

बनी है। न मुँह देखे लायक, न साथी बनाने लायक। ला तो हँसिया, ससुरी के गोड़वौ काटि डार। समझवले से नहीं मानत! जंगलउ आए में बाधा।"

महाराजजी की आवाज सुनते ही वह भाग चली और जंगल में ओझल हो गई। उसके जाने पर आप बोले- "देखें अब कैसे आती है?" साधना का क्रम पुनः निर्विघ्न, शान्ति से चलने लगा। उस महिला का आवागमन उस रास्ते पर बन्द हो गया। लगभग छः महीने पश्चात् उसी महिला ने कई अन्य महिलाओं के साथ आकर महाराजजी को प्रणाम किया। दृष्टि पड़ते ही महाराजजी ने उसे तुरन्त पहचान लिया, हँसे और बोले, "माई, तूने मुझे निरन्तर छः माह तक गाली दी होगी। मैंने गाली दी थी, तूने भी गाली दी होगी। चलो, बदला पट गया।" उस युवती ने विनीत स्वर में क्षमायाचना की, "महाराज! हमलोग अज्ञानी हैं। हमें ज्ञात नहीं था कि ध्वनि अथवा आवागमन से भजन में विघ्न पड़ता है। हमें क्षमा करें।" इस प्रकार पूज्य महाराजजी ने जिसको गाली भी दी, कालान्तर में उसकी परमार्थ में श्रद्धा और निष्ठा हो गई। पूज्य महाराजजी कहते थे, "बिगड़ने या गाली देने से लोगों के कुविचार बदल जाते हैं। इसी में लोगों का और साधकों का कल्याण देखकर ही गाली देनी पड़ती है अन्यथा गाली देना सन्तों को कब शोभा देता है।" महाराजजी के दृष्टिपात, वार्तालाप, दर्शन तथा स्पर्श से नास्तिकों को भी पूर्ण आस्तिक होते देखा गया, जो अद्यावधि परमार्थ में संलग्न हैं।

होनी-परिवर्तन

एक समय बीस वर्ष का एक युवक आश्रम में पहुँचा, बोला- "महाराजजी! शरण में रख लीजिए।" महाराजजी बोले- "करे तोरे में तो एकौ लच्छन सधुअई का नहीं है। काहे चला आया रे!" वह बोला- "महाराजजी! वैराग्य पैदा हो गया।" महाराजजी बिगड़े- ढोंगी कहीं का! असली बात नहीं बताावत है, कहत है वैराग्य पैदा हो गया, बोल काहे भागा?" तब उसने बताया, "महाराजजी! कुण्डली में हमारी कुल आयु बाईस साल लिखी है। हमारे हाथ में आयु-रेखा भी नहीं है। बीस वर्ष के हम हो ही गये। अब दो वर्ष में गृहस्थी में क्या कर लेंगे? जब दो वर्ष ही बाकी है तो सोचा भगवान का भजन ही करें। इसलिए महाराज हम भाग आये और शादी भी नहीं की।"

महाराजजी ने पास बैठे लोगों से कहा- "देखो हो! का कहत है। देखो रेखा है कि नहीं। दिखा तो हाथ!" सभी देखने लगे। वास्तव में आयु-रेखा नहीं थी। मृत्यु का भय सबसे बुरा होता है। युवक भी सिर नीचा किये बड़ा उदास था। अचानक महाराजजी ने छड़ी उठाई और खींचकर हाथ पर सटाक से मारा। तुरन्त उसने हाथ खींचा और सी-सी करते हुए दस कदम पीछे हटकर बैठ गया। महाराजजी स्वाभाविक मुद्रा में बिगड़ते हुए

बोले- "मरै का डेरात है। देखत हो भागत फिरत है। घर में होई खटपट तो चल बाबा के मठ पर। अरे जब काल आ जाई त भागे से बची।" रात्रि में सबने शयन किया। सवेरा हुआ! युवक बोला- "महाराजजी! रेखा तो जम गई।" महाराजजी ने पूछा- "बोल बेटा! अब क्या करोगे?" वह बोला- "महाराजजी! आज्ञा होती तो अब घर चले जाते।" सभी हँसने लगे।

आशीर्वाद से रोगमुक्ति

महाराजजी के आशीर्वाद से अनेक मरती-जीती घटनाएँ घटित होती रहती थीं। क्षेत्र में कहीं कोई पागल होता तो लोग उसे लेकर महाराजजी के पास पहुँच जाया करते थे। रस्सियों और सीकड़ों से जकड़कर उस पागल को महाराजजी के पास लाते थे। क्षेत्रीय भाषा में वे कहते थे, "महाराजजी! ई बैकल होइगा।" अर्थात् यह पागल हो गया है। महाराजजी कहते कि मेरे पास आ जाने पर भी अभी सीकड़ से बाँधे हो! खोल सीकड़ी! धूनी को प्रणाम कर। लोग उसकी सीकड़ी खोल देते। उससे प्रणाम करने को कहते। ज्योंही वह प्रणाम करने को झुकता, महाराजजी छड़ी खींचकर उसे सटाक से मारते थे और उसे मन्दाकिनी गंगा में नहलाने का आदेश देते थे। लोग उसे नहला लाते थे। वह आकर महाराजजी को प्रणाम करता, विभूति खाता, हँसते-खेलते घर लौट जाता और दो-चार दिन बाद अपने पूर्व स्वरूप में आ जाता था। महाराजजी की छड़ी खाकर स्वस्थ हुए अनेकों विक्षिप्त आज भी स्वस्थ हैं। न दवा, न कोई अन्य उपचार!

गोपीपुर के प्रधानजी

यह घटना उस समय की है जब ब्रह्मचारी सच्चिदानन्दजी धारकुण्डी पहुँच चुके थे। समीपवर्ती गाँव गोपीपुर के प्रधान को टी.बी. हो गया। वह आश्रम आते-जाते थे। ब्रह्मचारीजी के गले पड़ गये। धारकुण्डी महाराजजी ने कहा, "अनुसुइया चला जा! महाराजजी का पैर पकड़ लेना और छोड़ना मत! तुम्हारी टी.बी. तभी ठीक होगी।" उन दिनों टी.बी. असाध्य राजरोग समझा जाता था।

जीवन की आशा सँजोए प्रधान अनुसुइया पहुँचा। सवेरे से ही महाराजजी भजन में बैठ जाते थे। साधकों की ड्यूटी बँधी रहती थी, जिससे भजन के बीच कोई महाराजजी तक पहुँचकर विघ्न न डाले। उस दिन शिवानन्द या स्वयमानन्दजी की बारी थी। खतरे की इस ड्यूटी को लेने का प्रयास हम कम ही करते थे। हम भी उस समय कोठरी में बैठे थे। सवेरे के लगभग नौ बज रहे होंगे। प्रधान अनुसुइया पहुँचा। उसने देखा, महाराजजी आसा लगाये ध्यान में बाहर ही बैठे थे। उस समय संयोग से उनके पास कोई साधक न था। अवसर अच्छा था। प्रधान ने बतासे की परात नीचे रखा और "आरत

काह न करे कुकरमू" दौड़कर महाराजजी का चरण पकड़ लिया और सिर चरणों में रख दिया। महाराजजी प्रगाढ़ ध्यान में थे। धीरे से उन्होंने पैर छुड़ा लिया। प्रधान ने पुनः पैर पकड़ लिया। महाराजजी कुछ चैतन्य हुए, पैर हटा लिया। उसने फिर पैर पकड़ लिया। महाराजजी ने आसा उठाया और दो-तीन बार प्रधान को मारा। प्रधान की पीठ में आसा इतनी जोर से लगा कि वह पैर छोड़कर भागा। महाराजजी उठ खड़े हुए, बिगड़े- "खड़ा तो रह, तेरे खल की ऐसी की तैसी! कहाँ गया रे? कौन था? जंगल आवे में उपद्रव, शान्ति से भजन भी नहीं करने देते। सब लोग कहाँ चले गये?" भयवश कोई साधक महाराजजी के सामने जाने का नाम नहीं ले रहा था। कोई धूनी ठोंकने लगा, कोई इधर-उधर कुछ करने लगा था।

मैंने भी पता लगाया। किसी ने बताया कि महाराजजी नाराज हैं। किसी ने महाराजजी का पैर पकड़ लिया, जबकि महाराजजी पाँव छूने नहीं देते थे। मैंने सोचा कि मुझे महाराजजी के सामने चलना चाहिए। उस समय सामनेवाला धूना घर बना ही था। बाँस के टुकड़े रखे हुए थे। मुझे देखते ही महाराजजी ने दो-तीन सीढ़ी ऊपर से ही बाँस का एक टुकड़ा खींचकर मारा। ऐसा लगा मानो सारा शरीर ही सुन्न हो गया। मैं वहीं सीढ़ी पर बैठ गया। महाराजजी ने डपटकर कहा, "वहाँ से उठना नहीं, नहीं तो मारकर घायल कर दूँगा।" स्वयमानन्दजी एवं शिवानन्दजी की भी पिटाई हुई। इतने में मंगल आ गया। वह बोला, "सरकार का हो गया?" महाराजजी बोले, "देख, मेरे पास आना भर मत! उधर ही रहना।" किन्तु वह चढ़ा चला आ रहा था। उसे भी महाराजजी ने पत्थर खींचकर मारा, वह भी भागा। सेमरिया गाँव का एक सेवक सहदेव था। वह कुख्यात बदमाश रह चुका था। उसे भी महाराजजी ने पत्थर फेंका तो वह तीन-तीन, चार-चार सीढ़ियाँ एक साथ कूदकर भागने लगा। महाराजजी को हँसी आ गयी, बोले- "देखो-देखो! बदमाश कैसे भागते हैं।" महाराजजी को पत्थर मारता देख मन्दाकिनी के किनारे दर्शनार्थियों के मेले में भगदड़ मच गयी। शोर मच गया कि "भागिहे रे बाबा बैकल होइगा।" लोग कूदकर नदी के उस पार हो गये। आश्रम परिसर में एकदम सन्नाटा छा गया।

महाराजजी का क्रोध थोड़ी देर ही रहता था, वह भी एक दिखावा था। दस-पन्द्रह मिनट बाद वे आकर अपने आसन पर बैठ गये। उन्होंने साधकों को बुलाना आरम्भ किया, "चलो रे, कहाँ छिप गये? चलो धूना ठीक करो। पानी कहाँ है? अच्छा पानी ला।" सब कुछ यथावत् मानो कुछ हुआ ही न हो। सब अपने-अपने सेवा-कार्य में लग गये। धीरे-धीरे लोग महाराजजी के पास आने लगे। हँसते हुए महाराजजी ने कहा, "कहते हैं

बाबा बैकल होइगा। अपना नहीं देखते, बाबा ही को कहते हैं। जिसने मेरा पैर पकड़ा था, वह कहाँ गया?" डरते-काँपते वह प्रधान आया। प्रणाम करके वह बैठ गया। महाराजजी ने उससे पूछा, "बात क्या है? किसने तुम्हें सिखाया-पढ़ाया था? क्यों पैर पकड़ लिया?" वह बोला, "जी! ब्रह्मचारीजी ने बताया कि महाराजजी का पैर छू ले तभी तुम्हारी टी.बी. दूर होगी।" महाराजजी ने कहा- अब जाओ हो गया। वह प्रणाम करके चला गया। आज भी वह जीवित हैं, स्वस्थ हैं।

गुरु-पूर्णिमा की घटना

एक बार गुरु पूर्णिमा के दिन एक व्यक्ति बेहोश हो गया। श्रद्धालु भक्तों में कई एक अच्छे डाक्टर भी थे। उन सबने परीक्षण किया और बताया कि अब यह नहीं बचेगा। महाराजजी व्याकुल हो गये। वे कहने लगे, "हो, का बताऊँ, मेरी तो गुरु पूर्णिमा यह चौपट कर देगा। इसे मरना ही था तो कहीं भी मर जाता। यहाँ क्यों चला आया?" शरीर ठण्डा हो चला। लोगों ने ग्यारह बजे रात को आकर महाराजजी को सूचित किया। महाराजजी ने जाकर उसे यहाँ-वहाँ सहलाया किन्तु वह तो मृतप्राय था। महाराजजी ने कहा कि इसका तो शरीर ठण्डा पड़ता जा रहा है। कोई इसे चन्द्रोदय रस शहद में मिलाकर चटा देता! मेरे पास रखी है। शरीर में गर्मी तो आ जाती। लोगों ने मधु मिलाकर चन्द्रोदय उसके मुख में डाल दिया। किसी ने यह भी नहीं सोचा कि दवा दूसरी बार भी दी जाती है। सवेरे वह व्यक्ति भलाचंगा था। उसने पूड़ी-प्रसाद लिया और पैदल ही स्टेशन का रास्ता पकड़ा।

मृतप्राय को जीवनदान

अनुसुइया क्षेत्र के बहुत-से गाँवों में शवदाह मंदाकिनी के भँवरा दह में किया जाता था। गर्मी के दिन थे। एक व्यक्ति का भाई मर गया। लोगों ने सोचा कि ठण्डे में ही ले चलें इसलिए रात के दो बजे ही शव लेकर चल पड़े। आश्रम के सामने से गुजरने पर उन्होंने शव मंदाकिनी के किनारे रखा और महाराज जी के दर्शनों को दो व्यक्ति आये।

नित्य की तरह बड़े सवेरे ही महाराजजी दतुवन कर चुके थे। हम हाथ धुला रहे थे, इतने में उन्होंने महाराजजी को प्रणाम किया। महाराजजी ने पूछा, "इतने सवेरे कहाँ से आये हो? कैसे आए?" उन्होंने बताया कि वे ददरी गाँव के रहनेवाले हैं। उनका भाई मर गया है जिसका अन्तिम संस्कार करने आये हैं। उनके दो साथी वहीं शव के पास हैं। शव मंदाकिनी के उस पार है। महाराजजी ने कहा, "लाश लेकर आये हो तो पहले उसे जलाना चाहिए था, यह बीच में दर्शन करने कैसे आ गये?" उन्होंने कहा,

"महाराजजी! एक शंका है। घर से चले थे तो उसकी न तो नाड़ी चल रही थी, न श्वास। हाथ-पैर ठण्डे थे। केवल नाभि के चारों ओर एक रुपये के बराबर थोड़ी गर्मी थी। हमने सोचा था, यह गर्मी भी कुछ देर में समाप्त हो जायेगी, यहाँ समय नष्ट करने से क्या लाभ! किन्तु नदी के किनारे भी हम लोगों ने छूकर देखा तो उतनी ही गर्मी बनी हुई है। हम लोग सोच रहे हैं कि यह गर्मी भी समाप्त हो जाय तो उसे फूँके। अथवा हम अब क्या करें, जैसा आपका आदेश हो।"

महाराजजी ने कहा, "ऐं! क्या कहा? नाभि में अब भी गर्मी है? कहीं उसे गर्मी ही न हो गयी हो। देखना उसे जिन्दा ही न जला देना। यह विभूति ले जाकर उसके शरीर में लगा दो और बाँस की लकड़ी से उसका मुख खोलकर मुख में भी विभूति डाल देना। और हाँ, नींबू की सात या नौ पत्ती उस पेड़ से तोड़ लो और पत्थर पर पानी के साथ पीसकर बाँस की लकड़ी से मुँह खोलकर उसके मुख में डाल देना। जल्दी जाओ।" उन लोगों ने आदेश का पालन किया। गर्मी बढ़ने लगी। पत्ती भी पिला दिया। धीरे-धीरे उसे होश आ गया। उसे लेकर वे लोग वापस चले गये। सातवें दिन एक आदमी कन्धे पर कुल्हाड़ी लिये फटी हाफ सर्ट पहने आकर प्रणाम किया। महाराजजी ने पूछा, "तू कौन है?" उसने कहा, "सरकार वह मैं ही था, जो मर गया था। आपने ही मुझे जीवनदान दिया तो सोचा जाकर दर्शन कर आऊँ।" महाराजजी ने कहा, "देखो तो लोग इसे जिन्दा फूँके दे रहे थे और यह जी कर चला गया।"

महाराजजी के आशीर्वाद से विलक्षण घटनाएँ घटित होती ही रहती थीं किन्तु हम इन घटनाओं पर ध्यान नहीं देते थे। हम सोचते थे कि यह भी पूर्णत्व की उपलब्धि का अनिवार्य परिणाम होगा। जो कोई भी इस स्तर को प्राप्त करेगा, तो एक-जैसा नशा एक-जैसी रहनी भी स्वतः हो जायेगी। हमने इसे साधुता का एक स्तरमात्र माना किन्तु महाराजजी के महाप्रयाण के पश्चात् समझ में आया कि उनमें दिव्यता विशेष थी। इस स्तर के महापुरुष विरले होते हैं। इसलिए महाराजजी की विद्या को अंकित करने का विचार आया। अन्यथा सब उसे शनैः-शनैः भूल जायेंगे। उसी का परिणाम यह 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' पुस्तक है।

शीतल पंडित

अनुसुइया में महाराजजी के निवास के आरम्भिक दिनों में आश्रम की व्यवस्था अत्यन्त साधारण सामानों तक ही सीमित थी। बर्तनों में एक बहुत मोटा तवा था, एक तवा पतला था। दो बटलोही, एक दो करछुल, तात्पर्य यह कि बहुत नपा-तुला हिसाब था। उपयोग के अतिरिक्त बर्तनों का संग्रह न था। कुएँ के पास बर्तन धोने का स्थान

था। एकदिन मोटा तवा छिटककर कुएँ में चला गया। उस तवे के अभाव में असुविधा होने लगी। कुएँ में डूबकर उसे निकाले कौन?

तीन-चार दिन पश्चात् एक आदमी आश्रम पहुँचा। महाराजजी को साष्टांग दण्डवत् कर वह बोला, ''महाराजजी! मैं छापर ग्राम निवासी शीतल पण्डित हूँ। एक आदमी को मारकर आया हूँ। मुझे आशीर्वाद दें जिससे मेरे जीवन की रक्षा हो सके।'' महाराजजी ने कहा, ''क्यों रे! तुमसे कोई अपराध हो ही गया तो यहाँ जंगल में क्यों चला आया? जाकर हाजिर हो जा।'' महाराजजी ने पुनः पूछा, ''तूने किया क्या? क्या सचमुच मार डाला? बात क्या थी?'' उसने आप बीती कह सुनाया कि चित्रकूट में महात्माओं की पाँच-सात पुरानी गद्दियाँ हैं। इन गद्दियों में भी अच्छे महात्मा होते आए हैं किन्तु एक महन्तजी गृहस्थ आचरण के निकले। उन्होंने किसी स्त्री से सम्बन्ध बना लिया जिससे एक पुत्र पैदा हुआ। महन्तजी उस लड़के से बड़ा स्नेह रखते थे।

जब लड़के को थाह लग गया कि वह किसका लड़का है तो वह और भी खुलकर खेलने लगा। नवयुवक होते-होते वह सात-आठ बन्दूकधारी, लठैतों को साथ लेकर घूमने लगा। दो-तीन गाँव उस मन्दिर के नाम थे। उन गाँवों में महन्तजी की जमींदारी थी। उन गाँवों में जिस किसी की भी बहू-बेटी लड़के को पसन्द आती, अपने आदमियों को भेजकर उसे अपने पास बुला लेता था। वह इतना तप गया कि पूरा क्षेत्र उससे आतंकित और त्रस्त था।

कल उसकी निगाह मेरी पुत्री पर भी पड़ गयी। उसके चार लठैत मेरे घर भी आए और बोले कि अपनी बिटिया विदा कर दो, दादू का आदेश है। 'दादू' उस क्षेत्र का रोबीला सम्बोधन है। मैंने उन लठैतों को समझाना चाहा, ''भाई! दादू के पिता महन्तजी हमलोगों के जमींदार अवश्य हैं लेकिन उन्हें ऐसा कार्य शोभा नहीं देता कि हमारे-तुम्हारे जैसे गरीबों की बहन-बेटी की इज्जत लें। उन्हें कुल और परम्परा की रक्षा करनी चाहिए।'' किन्तु मेरी बात उन लोगों के गले के नीचे नहीं उतरी। तब तक उनके दो-तीन साथी और आ गये। उन्होंने धमकी दी, "सीधे से भेजते हो या नहीं?''

हमने देखा, यह तो टेढ़ी खीर है। गुण्डे तो गुण्डे! हमलोगों को मारपीट कर ये लोग उसे हर हालत में ले जायेंगे। इनके विरोध में गाँव भर में एक भी हमारी सहायता को न आयेगा। अतः हमने उन गुण्डों से कहा, ''हमलोग थोड़ा आपस में विचार कर लें।'' हमने लड़के के साथ अलग बैठकर विचार किया। निश्चय कर लिया कि जब इज्जत ही नहीं रहेगी तो संसार में जी कर ही क्या करेंगे? अब तो मरेंगे या मारेंगे। मर्यादा तो खोई नहीं जा सकती। निर्णय पर पहुँचकर मैंने कहा, ''देखो ऐसा है, दादू हमारे

मालिक हैं, राजा हैं। उन्हें अपनी बिटिया सौंपने में हमें कोई एतराज नहीं है। लेकिन हमें यह अच्छा नहीं लगेगा कि तुमलोग इसे हमारे सामने से घसीटकर ले जाओ। स्वेच्छा से तो वह जायेगी नहीं। तुमलोग दादू को भेज दो। वह बिटिया को चाहे जैसे ले जाय, हमें कोई आपत्ति नहीं है।''

लठैत सन्देश लेकर चले गये। महन्त का वह लड़का मनबढ़ तो था ही! बन्दूक लेकर अपने पाँच-सात लठैतों के साथ दरवाजे पर आ धमका। बीच आँगन में चारपाई बिछी थी। महन्त का लड़का चारपाई पर बैठ गया। बन्दूक बगल में रख दिया। साथी अगल-बगल खड़े हो गये। हम कुछ मीठा-पानी लेकर आये, उसे चारपाई पर रखा और लपककर बन्दूक घर में उछाल दिया। पलक झपकते ही लड़का घर में से दौड़कर निकला और महन्त के लड़के को दो लाठी मारा। महन्थ का लड़का तो वहीं ढेर हो गया और चल बसा। लठैत खड़भड़ाए तो मैंने कहा- 'खबरदार! कोई हिलना नहीं। हमारी इज्जत का सवाल है। हम मर के ही छोड़ेंगे। तुमलोग बीच में मत पड़ो। सब-के-सब भाग गये।''

महाराजजी ने कहा, ''परिस्थितिवश जब तुमसे कोई अपराध हो ही गया तो जाकर हाजिर हो जा। सब कुछ सच-सच बता दे। अब जो दुःख-सुख बदा है, वह तो सहना ही पड़ेगा। धोखे से सही, जब घटना घट गयी तो भोगना ही पड़ेगा। इसमें हम क्या करेंगे? किसी वकील बैरिस्टर के पास जा। यहाँ कहाँ चला आया तू?'' किन्तु वह उदास होकर एक ओर बैठा ही रह गया।

महाराजजी दूसरे लोगों से बातें करने लगे। वे किसी से कह रहे थे, ''हो, मेरा तवा कुएँ में गिर गया है। कोई निकाल नहीं देगा?'' इतना सुनते ही पण्डित आर्त तो था ही, तुरन्त कुएँ में कूद पड़ा और एक ही डुबकी में तवा लेकर रस्सी पकड़कर ऊपर चला आया। कुएँ में एक डाल गिरी पड़ी थी, जो जल में डूबी होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। पण्डित उसी के ऊपर सीधा गिरा। उसके पाँव का तलवा फट गया था, जिससे रक्त की धार निकल रही थी। महाराजजी की दृष्टि पड़ी तो बोले, ''यह खून कैसा?'' उसने कहा, ''महाराज जी! कुएँ में नोंकदार लकड़ी थी, उसी पर पैर पड़ गया।'' महाराज ने कहा, ''बस बेटा बस! खून के बदले खून! जाओ अब फाँसी तो नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय। जाकर हाजिर हो जा। थोड़ी बहुत सजा भोग ले। विभूति खा ले, प्रणाम कर।'' जहाँ उसने सिर पटका, महाराजजी की एक छड़ी लगी और बड़े भाव से बार-बार नतमस्तक होकर वह गया, सीधा हाजिर हो गया। दस-दस वर्ष की सजा दोनों को हुई जिसे पाँच-छः वर्ष में काटकर वे घर आ गये। जेल में भी शीतल पण्डित

जी बनकर पूजा कराता था। सबने वहाँ भी उसे बड़े सम्मान से रखा। छूटते ही वह महाराजजी के पास पहुँचा। महाराजजी ने दूर से उसे देखकर कहा, "देखो, शीतल आ गया।" गद्गद होकर उसने कहा, "आपने हमें पहचान लिया। हम सोच रहे थे कि इतना दिन हो गया। महाराजजी हमें क्यों पहचानेंगे? लेकिन आपको तो मेरा नाम तक याद है। आपके आशीर्वाद से जान बच गयी। थी तो जेल लेकिन कोई कष्ट नहीं था। आपकी दया से वहाँ भी आराम से रहा हूँ और मन्दिर से तीन हजार रुपये की दक्षिणा भी पाया हूँ।" इस प्रकार महाराजजी की विभूति, छड़ी और ताड़ना भी अनुकम्पा-हेतु ही प्रयुक्त हुआ करती थी।

शेर का बच्चा

स्थानीय लड़के महाराजजी की सेवा में रहने लगे थे। उनमें एक का नाम लल्लू था। आश्रम के बर्तनों की सफाई तथा अन्य सेवाएँ करते हुए वह आश्रम में ही रुक जाया करता था। कभी-कभी वह महाराजजी से अनुमति लेकर घर भी हो आया करता था। एक दिन घर से लौटते समय उसके साथ गाँव का एक लड़का भी था।

घने जंगल, घाटियों के गुजरते हुए उस लड़के को पगडण्डी के समीप ही झाड़ियों में शेर का लगभग एक माह का शावक दुबका दिखाई पड़ा। जंगली बच्चे स्वभाव से साहसी होते ही हैं, उस पर भी वह लड़का, ऐसे महाराजजी (महापुरुष) की सेवा में रहनेवाला, जिसे वह भगवान से भी अधिक जानता था। उसने उस बच्चे को उठाकर चद्दर में लपेटा और उसे बगल में दबाकर आश्रम की ओर बढ़ा। उन लड़कों को यह पता था कि बच्चे जहाँ होते हैं, शेरनी भी सौ-दो सौ कदम के अन्तर में अगल-बगल ही रहती है, वह दूर नहीं जाती। शेर की घ्राणशक्ति अत्यन्त तीव्र होती है। बच्चे को न देख गन्ध से उसका पीछा करते-करते शेरनी भी उन लड़कों के पीछे आ गयी। शेरनी को देखते ही उन लड़कों ने उसे पत्थर मारते हुए, "धर उसे! पकड़ लो उसे! बचना रे! भागना रे!" कहते हुए वहाँ से लगभग दो-तीन किलोमीटर दूर आश्रम तक चले आए। शेरनी को अपने बच्चे की महँक आ रही थी, बच्चे को बुलानेवाली भाषा में घुरघुरा रही थी, किन्तु वह बच्चा इतना सधा-सधाया दुबका बैठा रहा कि चूँ तक नहीं किया। यदि वह बोल देता या छटपटाता तो कोई उसे गोली ही क्यों न मारता वह चीर-फाड़कर रख देती।

लड़कों ने शेर के उस बच्चे को ले जाकर महाराजजी के सामने रख दिया। महाराजजी बोले, "क्यों रे बदमाशो! यह क्या उठा लाये? मेरी श्वास तुमलोगों ने चौपट कर दी। तभी तो मैं सोच रहा था कि बात क्या है? कौन खतरे में है, तुम इतनी देर

से घर पर कर क्या रहे थे?" "इसी को लाने में देर हो गयी।" महाराजजी बोले, "यह क्यों नहीं कहता कि जान बच गयी। वह तुम्हारी माँ अब तक तुम्हें खा गयी होती। यह तो भगवान की दया थी जो उसने चूँ नहीं किया।" वह बोला- "जब आपने उसकी श्वास पकड़ ली तो यह कैसे बोलता?" महाराजजी ने कहा- "चल अब तो ले ही आया है।"

महाराजजी ने बढ़ई बुलाकर शेर के उस बच्चे के लिए काठ का एक बड़ा-सा पिंजड़ा बनवा दिया। उसी में बैठकर वह केऊ-केऊ करता था। उसे खिलाना-पिलाना भी एक समस्या थी। वह माँसाहारी जीव! आश्रम में उसके भोजन की कौन-सी व्यवस्था होती। वह दूध भी नहीं पीता था। दूध रख देने पर वह उसे थोड़ा-सा चाट लेता था और बस! उधर गाँवों में यह समाचार तेजी से फैल गया कि महाराजजी ने शेर का बच्चा पाल रखा है। उसे देखने दूर-दूर से ग्रामीण आने लगे। चित्रकूट से एक दरोगा जी अपने दस सिपाहियों के साथ बन्दूक लेकर आश्रम आये। उन्होंने पूछा- "महाराजजी! सुना है आपने शेर का बच्चा पाल रखा है?" महाराजजी ने कहा, "हाँ हो! वह शंकरजी के चबूतरे के पास, वहाँ पिंजड़े में है।" वे सब पिंजड़े के पास पहुँचे। उनको आता देख वह बच्चा पिंजड़े के दूसरे कोने में दुबक गया। ज्योंही वे लोग पिंजड़े के पास आकर झाँकने लगे, शेर का वह शावक तेजी से उनकी ओर उछला। दरोगाजी पीछे की ओर गिर पड़े। सिपाही लोग छितरा गये। महाराजजी हँसते हुए बोले, "अरे वह पिंजड़े में बन्द है। अभी उसके दाँत भी नहीं निकले हैं।" दरोगाजी बोले, "फिर भी इसका नाम ही बहुत है, यह उछला तो कुछ ख्याल ही नहीं आया। किसी को ध्यान ही न रहा कि हमारे पास बन्दूक भी है।"

शेर का वह बच्चा आश्रम में लगभग एक माह तक रहा। महाराजजी ने एक दिन कहा, "देखो, इसकी खुराक हम दे नहीं पा रहे हैं। अब इसे यहाँ रखना ठीक नहीं है। जानते सभी हैं, किन्तु न तो जंगल विभागवाले इसे लेने आये और न चिड़ियाखाने वाले! अतः इसे जंगल में छोड़ दो। उसकी माँ इसका पालन कर लेगी।" इस प्रकार उस बच्चे को महाराजजी ने जंगल में छुड़वा दिया। किसमें हिम्मत है कि खुले जंगल, जहाँ आसपास शेरनी खड़ी हो और कोई उसका बच्चा पकड़ ले, किन्तु उन विश्वासी जंगली बच्चों ने महाराजजी के भरोसे उसे भी सकुशल कर दिखाया।

श्री स्वरूपदासजी

स्वरूपदासजी ने लगातार बारह वर्षों तक महाराजजी का विरोध किया। पूर्व में जितनी भी घटनायें घटीं, सब इन्हीं का कृत्य था। हर ओर से असफलता हाथ लगने पर वे अन्त में महाराजजी की शरण में आये। चरण स्पर्श कर प्रार्थना करने लगे कि

उन्हें क्षमा कर शिष्य बना लिया जाय। महाराजजी ने कहा, ''देख, तू पक्का उपद्रवी है। मैं क्षमा कर भी दूँ किन्तु भगवान क्षमा नहीं करेंगे।'' वे विनम्र प्रार्थना करते ही रह गये।

महाराजजी के पास कुछ अन्य महात्मा भी दर्शन-हेतु आये थे। वे बोले, ''स्वरूपदासजी! आप यह क्या कह रहे हैं? परमहंसजी तो दूसरे मत के हैं?'' उन्होंने कहा, ''ये महापुरुष हैं। मेरा कल्याण अब इनकी सेवा करने में है। मैंने अज्ञानवश विरोध करके देख लिया। ये वास्तव में सन्त हैं, मेरा पाप मुझे धो लेने दो।''

ब्रह्मचारीजी ने उनके पक्ष में कहा, ''महाराजजी! यह दिन-प्रतिदिन कुछ-न-कुछ उपद्रव लेकर आता ही रहता है। यह भेष बदल लेगा तो कम-से-कम लोग इसके साथ आना तो बन्द कर देंगे। आपकी कृपा होगी तो यह भजन भी करेगा।'' महाराजजी ने कहा, ''कृपा तो है। तुम कहते हो तो मैं 'हाँ' कर लेता हूँ; किन्तु यह साधु होगा नहीं। मेरी शरण में आया है तो कल्याण होगा ही किन्तु पार लगेगा नहीं।'' महाराजजी के 'हाँ' कहते ही स्वरूपदासजी मुण्डन संस्कार कराकर, भगवा वस्त्र पहनकर महाराजजी के समक्ष प्रणत हुए और साधु बन गये। आठ-नौ महीने तक वे आश्रम में मर्यादा और संयम के साथ रहे किन्तु उसके पश्चात् उनका पुराना संस्कार जगा। वे भजन में न लग सके और विचरण में निकल गये। पूज्य महाराजजी भविष्यद्रष्टा थे।

सिद्धबाबा का उद्धार

अनेक घटनाओं को देखकर महाराजजी ने सिद्धबाबा की ओर ध्यान दिया। उन्होंने कहा, ''हो! सिद्धबाबा अच्छे महापुरुष थे। थोड़ी-सी चूक हुई और वे मुक्ति से वंचित रह गये। आज भी वे अपने स्थान पर पड़े हुए हैं। न प्रकृति जन्म ही दे सकती है, न स्वरूप की स्थिति में ही आए। इस स्थान पर वर्तमान में मैं हूँ अतः उनकी मुक्ति का उपाय होना चाहिये।'' कुछ दिनों तक महाराजजी ने सिद्धबाबा के लिए ही भजन किया। एक दिन उनके पौत्र महन्थ गुरुप्रसाद को बुलाकर कहा- ''देख रे, गया हो आ।'' वह बोला- ''महाराजजी! गया में मेरी आस्था नहीं है।'' महाराजजी ने कहा- ''देखो, तुम्हारी आस्था हो या न हो, यह एक रीति-नीति है, मर्यादा है। जो कुछ करना-धरना है, मैं कर चुका हूँ। तुम्हारे वहाँ जाने से कुछ होनेवाला नहीं है बल्कि मेरे कहने की बात है, तू केवल मेरी आज्ञा का पालन कर। इससे सिद्धबाबा के स्थान पर जो उपद्रव होता है, शान्त हो जायेगा।'' महन्थ गया हो आये, उसके पश्चात् सिद्धबाबा के स्थान पर कोई उपद्रव नहीं हुआ। तख्त अब भी वहीं है। अब उस पर कोई भी बैठे, सिद्धबाबा फिर किसी को दिखाई नहीं पड़े। महाराजजी की कृपा से वे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये।

निवृत्ति का स्वरूप

हमने पूछा, "महाराजजी! क्या भगवान दर्शन देते हैं? वे कैसे हैं? निवृत्ति क्या है?" महाराजजी ने बताया, "भगवान वैसे ही हैं जैसे तुम्हारा स्वरूप।" हमने पूछा, "मेरे जैसा साँवला, मध्यम या गौर वर्ण का रूप?" उन्होंने कहा कि नहीं, शरीर तो परिवर्तनशील है। आज साँवला है तो कभी कंचन वर्ण का रहा होगा। आज हाथ-पैरवाला है तो कभी बिना हाथ-पैर का रहा होगा। यह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। तुम्हारे हृदय में आत्मा का जो अविनाशी स्वरूप है, उसका दर्शन ही भगवद्दर्शन है। भगवान अवश्य मिलते हैं। हमें मिलकर ही उन्होंने शान्ति प्रदान किया है। अधिकारी को भगवान नहीं मिलेंगे तो वह प्राण दे देगा। भगवान मिलते हैं तुझे भी मिलेंगे, भजन तो कर। पहले भगवान का दर्शन होता है फिर निवृत्ति। अतः पहले भगवान के लिए प्रयास करो। निवृत्ति तो दर्शन के साथ मिलनेवाला एक प्रमाण-पत्र है।

सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं ज़ाइ बखाना।।

(मानस, ७/८७/३)

अनुसुइया की जनशून्य वनस्थली में सतत साधना के कई महीने बीत गये थे। उन दिनों स्थितिपरक दृश्यों की अविरल सरणियाँ अहर्निश महाराजजी के अनुभव में अंकित होती रहीं, जिनमें से कतिपय साधनोपयोगी संस्मरण पूज्यवर से सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

महाराजजी ने बताया कि अनुसुइया निवासोपरान्त चार-छः महीने बीत गये। स्वरूप में स्थिति मिलने से पूर्व कई अनुभव आये। दिखाई पड़ा, जैसे कोई बड़ा प्रकृति का चमड़ा तना हुआ है, उसका विस्तार न जाने कहाँ तक है। अनन्त प्रकार की अनन्त योनियों का आकार इसी चमड़े में है। उन योनियों में तमाम जीव फँसे हैं। वे बिलख रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। सभी अथाह दुःख में डूबे हुए हैं। मैं भी उसी में था। मैं बड़ी सरलता से उस परदे से निकलकर खुले आकाश में आ गया। सबने एक साथ कहा कि ये कितने भाग्यवान् हैं, इनकी तो निवृत्ति हो गई। गर्भवास से छुटकारा मिल गया।

एक अन्य अनुभव में महाराजजी को दिखाई पड़ा कि एक अत्यन्त विशाल और भयंकर भैंसा महाराजजी का पीछा कर रहा है। उससे बचने के लिए महाराजजी एक विस्तृत तालाब में कूद गये। भैंसा भी तालाब में कूदा। महाराजजी तालाब से निकलकर खड़े हो गये। वह भैंसा जल के भीतर महाराजजी को खोजते-खोजते विलीन हो गया। उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। आवाज आई कि आज से यमराज की पकड़ समाप्त हुई और काल पर विजय मिल गयी। तुरन्त उन महापुरुष का स्वरूप सामने खड़ा हो

गया, जिन्होंने आरम्भ में आशीर्वाद दिया था, "जाओ, अब किसी से नहीं हारोगे।" महाराजजी ने उन महात्मा के आशीर्वाद का भाव आज समझा। महाराजजी कहते थे कि यदि हम शरीर से किसी को जीत भी लेते तो क्या हो जाता? शरीर तो एक दिन जाना ही जाना है, इसकी आयु निश्चित है। परिणामतः हार ही हार थी। वास्तविक विजय तब है जब महाबली काल से विजय मिल जाय।

महाराजजी कहने लगे कि एक अन्य अनुभव में दिखाई पड़ा कि जैसे मेरा देहान्त हो गया है। अपने शव को मैं ही अपने कन्धे पर उठाकर ले जा रहा हूँ। मैंने ही उसे चिता पर रखा और मैं ही उसमें अग्नि प्रज्वलित कर रहा हूँ। उसे जलाकर, बाँस से कूँचकर मैंने वहाँ की काली जमीन भी धोकर गंगा में बहा दिया। इन कर्मों से मैं पसीने से लथपथ हो गया था, थककर चूर हो गया था। ज्योंही खड़े होकर मैंने देखा, मेरा ही रूप गंगाजी के भीतर से निकला चला आ रहा है। सोने की तरह दगदग अलौकिक रूप चमक रहा था। इतने में आवाज आयी--इन्हें प्रणाम करो, यही तुम्हारा स्वरूप है। तुम्हें इसी रूप में रहना है। यही नारायण स्वरूप है। अपने ही रूप को मैंने प्रणाम किया। धीरे-धीरे वह रूप मुझमें समा गया। इस अनुभव के बाद मेरा चेहरा ही बदल गया। पहले मेरा चेहरा काला-काला, न जाने कैसा था; किन्तु स्वरूप में स्थिति मिलते ही अब दमकने लगा है। वस्तुतः महाराजजी का शरीर शीशे की तरह साफ था। वे छः-छः महीने, साल-साल भर स्नान नहीं करते थे किन्तु उनके पसीने में दुर्गन्ध नहीं थी। महाराजजी कहते थे- इस स्वरूप-दर्शन के साथ ही भगवान भजन के लिए मना करने लगे। हमें लगा, जैसे कुछ खो गया किन्तु जब उस स्वरूप ने स्पर्श किया, हमीं खो गये। वही स्वरूप रह गया। अब चिन्ता कौन करे? जैसे कोई नमक की पोटली समुद्र की थाह लेने जाय, वह तो उसी में घुल गयी। अब लौटकर बताये कौन? अतः वह वाणी का विषय नहीं है। इसलिए आप्तपुरुषों ने उसे अनिर्वचनीय कहा है। वह तभी समझ में आता है जब प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय।

सेवा में प्रवृत्त लक्ष्मी-दर्शन

महाराजजी कहते थे, "हो! लक्ष्मीजी मेरी सेवा करते दिखाई पड़ीं।" हमने पूछा- "वह कैसे महाराज जी?" इस पर वह बोले- "हो अनुभव में ऐसा दिखायी पड़ा कि हम इसी अनुसुइया आश्रम में इसी आसन पर बैठे हैं। हमारे मन में आया कि चलकर कोठरी के भीतर आराम करें। कोठरी के दरवाजे पर एक सेविका ने हमें मना किया। वह बोली 'आप रुकिये।' हमने कहा 'क्यों?' उसने कहा कि भीतर वह विश्राम कर रहे हैं और लक्ष्मी जी सेवा कर रही हैं। हम विचार करने लगे कि हमारे आश्रम में हमारी

ही कोठरी में यह कौन लेटा है? दरवाजा थोड़ा खुला था। भीतर प्रकाश था। हमने देखा कि भीतर हमारे ही तखत पर हम ही लेटे हैं और देदीप्यमान देवी हमारे ही चरन दबा रही है और यह सेविका मुझे ही भीतर जाने से रोक रही है।" हमने पूछा- "महाराज जी! यह क्या था?" वह बोले- "हो, जो हमारा आत्मस्वरूप है उसकी तो लक्ष्मीजी सेवा कर रही हैं और इस स्थूल शरीर को बोध कराया जा रहा है।"

तब से आकाशवृत्ति में व्यवस्था ही बदल गयी। यद्यपि व्यवस्था तो उसी दिन ठीक हो गयी थी जिस दिन भगवान ने उनसे कहा था- 'खाना है तो कल से खाओ।' किन्तु जब से लक्ष्मी-सेवा का दर्शन मिला, व्यवस्था-सम्बन्धी भान ही समाप्त हो गया। लोगों में यह चर्चा का विषय बन गया कि परमहंसजी का खर्च कैसे चलता है? कुछेक ने कहा कि वे सोना बनाना जानते हैं, उसी से खर्च चलता होगा। कुछेक ने कहा कि वह नोट छापते हैं, पहाड़ पर कहीं मशीन फिट होगी। कुछ लोग विनोद में कहते थे कि भला चोर-डाकू किसके हितैषी होते हैं किन्तु परमहंसजी का नाम लेने पर बड़ी श्रद्धा से रास्ता बता देते हैं। कदाचित् डाके न डालते हों। यह सुनकर आप कहा करें-

तवन घर चेतिहें रे भाई, तोरा आवागमन मिटि जाई।।
जहाँ लक्ष्मी झाड़ू देत है, शम्भु करे कोतवाली।
जहाँ ब्रह्मा भये टहलुआ, विष्णु करे रखवाली।
तवन घर चेतिहें रे भाई।।

हो! सब भगवान की व्यवस्था है। भजन करो, ऐसी सुविधा सबको मिलती है। भगवान का दरवाजा सबके लिए खुला है। भजन तो करो, सबको मिलेगा।

नेहरूजी का राजतिलक

जिस समय महाराजजी का पदार्पण अनुसुइया में हुआ, भारत आजाद ही होनेवाला था। भक्तों में प्रायः इसकी जिज्ञासा थी। वे महाराजजी से पूछते कि अब भारत का सर्वोच्च पद किसे मिलेगा? उस समय कई नाम चर्चा में थे। गाँधीजी, नेहरूजी, पटेलजी इत्यादि नामों पर लोग अटकलें लगा रहे थे। महाराजजी ने कहा, "प्रत्याशी भले ही हजारों हों किन्तु मिलेगा नेहरू को ही।" लोगों ने पूछा, "महाराजजी! आप कैसे जानते हैं?" महाराजजी ने बताया कि मैंने देखा है- मानो मैं उड़कर दिल्ली गया हूँ। वहाँ बड़ी भीड़ है, दरबार लगा है। मेरे स्वरूप ने अपने हाथ से उसे तिलक किया। यह होनी है, होकर रहेगी। नेहरू भ्रष्ट योगी है। दूसरे दिन घोषणा हुई कि नेहरूजी प्रधानमंत्री चुन लिये गये हैं। नेहरूजी के प्रति महाराजजी का बड़ा स्नेह था।

एक बार महाराजजी के मन में आया कि ये नेहरू कैसे योगी हैं जो राज्य कर रहे हैं और मैं कैसा योगी हूँ जो घोर जंगल में नंगे शरीर खण्डहर में निवास करता हूँ। मैं योगी बना अथवा नहीं? उसी दिन महाराजजी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि नेहरू को एक क्षत्रिय परिवार में जन्म लेना पड़ेगा, जन्म लेकर फिर से कर्मपथ पर बढ़ना होगा, जबकि मुझे अब जन्म नहीं लेना है। ऐसा देखकर महाराजजी को परम सन्तोष हुआ। अनुभवी महापुरुष जिस भी विषय में इच्छा कर लें, भगवान उन्हें उसकी वास्तविकता से अवगत करा देते हैं। न भी इच्छा करें किन्तु आवश्यक तथ्य प्रगट होते रहते हैं। यह अन्तर्दृष्टि अनुभवगम्य है।

श्री ब्रह्मचारीजी एवं करपात्रीजी के बीच वार्ता

भारत स्वतंत्र हो चुका था। प्रजातंत्र के विभिन्न दल अपना-अपना प्रचार बढ़ा रहे थे। उनमें से एक दल 'रामराज्य परिषद्' भी था, जिसका संचालन जाने-माने विद्वान् स्वामी करपात्रीजी कर रहे थे। वे धर्म का नारा लगाते हुए चित्रकूट आ पहुँचे। श्री करपात्रीजी के बारे में जब महाराजजी ने सुना तो कहने लगे कि उनका तो बड़ा नाम था, वे ऐसे दलीय अन्तर्द्वन्द्व के फंदे में कैसे फँस गये? इसके बाद आपने रामराज्य की मीमांसा करते हुए कहा कि रामराज्य तो योगी के हृदय-देश की एक विशेष स्थिति है। भूखण्डों और पिण्डों में खोजने से रामराज्य की स्थिति कभी नहीं प्राप्त हो सकती। मानस का चर्चित रामराज्य इस प्रकार है- मानस कहते हैं मन या अन्तःकरण को। जब चित्तवृत्तियाँ राग-द्वेष से उपराम होकर निश्चल हो जाती हैं। ऐसी चर्चा अपने शिष्यगणों के बीच करने के बाद आप अपने शिष्य ब्रह्मचारीजी से बोले कि तुम चित्रकूट जाकर करपात्रीजी से पूछना कि राजनीति में भाग लेने के लिए कोई ऐसा अनुभव या आदेश अन्तर्जगत् से प्राप्त हुआ है या नहीं? महाप्रभु के आदेश के बिना किसी कार्य में सफलता मिलना असम्भव है।

महाराजजी की आज्ञानुसार ब्रह्मचारीजी करपात्रीजी से मिलने के लिए चित्रकूट पहुँचे। गुरुजी द्वारा आदेशित प्रश्नों के अनुसार वार्ता प्रारम्भ की कि आपको क्या कोई ऐसा आदेश मिला है जैसा कि जगद्गुरु शंकराचार्यजी को सनातन-धर्म की स्थापना के लिए वाणी हुई थी? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**- युद्ध तो मुझे करना है, तुम निमित्तमात्र हो जाओ, विजयश्री अवश्य वरण करेगी। जब ऐसा प्रश्न करपात्रीजी के सामने आया तो उन्होंने कहा कि आज समाज धार्मिकता की भावना से दूर हटता जा रहा है, उसमें नवचेतना एवं जागरुकता लाने के लिए रामराज्य दल की स्थापना कर सफल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। गायों की हत्याएँ हो रही

है, समय नहीं है, हमें बहुत कुछ करना है। अनुभव एवं आदेश की प्रतीक्षा में कब तक बैठे रहेंगे। श्री ब्रह्मचारीजी ने ऐसा सुनकर उन्हें सजग करते हुए कहा कि आध्यात्मिक पथिक होने के नाते ईश्वर के आदेशों पर चलकर ही गन्तव्य स्थान की उपलब्धि सम्भव है। उसे बाह्य मान्यताओं द्वारा अर्जित करने की कल्पना करना भ्रममात्र है। आप भले ही दलीय मोर्चे में फँसे रहें परन्तु सफलता संभव नहीं है। ऐसी ही कुछ महत्वपूर्ण चर्चा करने के लिए महाराजजी ने आपके पास भेजा है। उन्हें क्रियान्वित करना या न करना आपकी इच्छा पर निर्भर करता है। श्री परमहंसजी का नाम सुनकर करपात्रीजी कुछ क्षणों के लिए अवाक् रह गये परन्तु कालान्तर में बात अनसुनी कर दिये। महापुरुष की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। आज स्पष्ट है कि राजनीतिक दल के रूप में रामराज्य परिषद्. की स्थिति नगण्य-सी है।

सेवा से भजन की जागृति

महाराजजी की शरण में पहुँचने एवं अनुभव जागृत होने के पश्चात् मेरे लिए उनका आदेश हुआ कि सेवा करो। आरंभ में मेरी अपनी मान्यता थी कि भजन करनेवाले को एक स्थान पर गुमसुम होकर पड़े रहना चाहिए। वह खड़ा है तो खड़ा है, पड़ा है तो पड़ा है। किसी ने कुछ दे दिया तो खा लिया, बहता पानी पी लिया। सुरत लक्ष्य पर रहनी चाहिए। यहाँ महाराजजी कहते हैं, सफाई करो, इस प्लेट और थाली को वहाँ रखो। धूने की लकड़ी लाओ, सेवा करो- यह कौन-सा भजन है।

कुछ काल पश्चात् बाहर से जो कुछ सुनने को मिला, अन्दर से कुछ वैसी प्रेरणा होने लगी तो मैंने समझा, सेवा भजन-जागृति के लिए अति आवश्यक है। उस समय से सेवा में प्रवृत्ति तो हुई किन्तु भजन की हठधर्मिता इतनी प्रबल थी कि हम सेवा तो करें किन्तु मन से नहीं। सेवा दिनभर करते रहें, हाथ-पाँव चलते रहें किन्तु मन से उसे न देखें। मन को तो हम कभी भी इष्ट से अलग न हटने दें। यदि मन ही हट गया तो हम भजन कहाँ करते हैं? तब तो जो लोग कुली की तरह काम करते हैं, वैसे ही हम भी हो गये। इसलिए शरीर से सेवा-कार्य चलते रहने पर भी मन को हम चरणों के पास ही रखते थे। उठते-बैठते, चलते-फिरते यह कभी इष्ट-चिन्तन से विलग न हो। यह सोचकर सेवा आधे मन से ही करते थे।

सेवा में जरा-सी लापरवाही भी महाराजजी को सह्य न थी। महाराजजी के लिए जल गर्म करके रखा था, उसे ढँकना था। हमने एक थाली उठाकर ढँक दिया और कुएँ पर आ गये। महाराजजी की निगाह पड़ गयी। उन्होंने आधा ईंट उठाया और मेरे पैर में मारा। चोट असह्य थी। उसकी ओर ध्यान न देकर मैंने सविनय कहा- "महाराजजी!

मुझसे क्या गलती हुई?" "देखता नहीं, जूठी थाली से पानी ढँक दिया।" हमने बताया कि थाली जूठी नहीं है। उन्होंने डाँटकर कहा- "देखो तो, वह क्या काला-काला दाग पड़ा है?" हमने बताया- "अभी उस थाली में किसी ने भोजन तो नहीं किया।" भोजन की हुई थाली को हम जूठी समझते थे, दाग को हम जूठा नहीं समझते थे। महाराजजी ने कहा-"अभी तुमने साधुओं के बर्तन नहीं देखे। तनिक भी काला दाग जूठन की पहचान है। एक महीने तक पट्टी बाँधनी पड़ी। अभी तक घाव का निशान है। मेरे हट जाने पर महाराजजी ने अन्य लोगों से कहा, "इसे एक महीने से खोजता रहा हूँ, दाँव में पा नहीं रहा था, आज अवसर मिला।" इस डाँट-फटकार से मनोयोगपूर्वक भजन होने लगा। महापुरुषों की डाँट-फटकार कल्याण के लिए हुआ करती है।

परगनाधीश चतुर्वेदीजी सेवा में

कर्वी परगनाधीश चतुर्वेदीजी अध्यात्म-प्रेमी होने के कारण सन्त-महात्माओं में अधिक प्रेम रखते थे तथा उनकी अटपटी वाणी में वे अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। चित्रकूट के समस्त महात्माओं से प्रश्न किया करते थे परन्तु सन्तोष हाथ न लगा। जिज्ञासा-तृप्ति न होने के कारण अन्त में साधुओं से कहा करें कि लगता है मैं ही अभी अधिक साधु हूँ। एक बार भाविक लोग उन्हें अनुसुइया आश्रम ले आये। वे परमहंसजी के दर्शन एवं सत्संग से लाभान्वित होकर अनुग्रहीत हो गये। परगनाधीश ने महाराजजी से विनय करते हुए कहा कि, मैंने एक बार महात्मा को दण्ड दे दिया था, तब से अनवरत उदरशूल से व्यथित हूँ। अब सोचता हूँ कि वे भले ही बुरे रहे हों पर थे तो सन्त-वेष में। अपने जीवन के प्रारम्भिककाल में वाल्मीकि जी भी बुरे थे। महाराजजी ने पेट छूकर कहा- "विभूति खा लो, अब दर्द नहीं होगा।" जीवनपर्यन्त उन्हें पुनः दर्द न हुआ।

उसी समय उत्तर प्रदेश में ग्राम पंचायत के प्रधानों का चुनाव चल रहा था। उसी तारतम्य में चतुर्वेदीजी कुछ व्यक्तियों के साथ आश्रम आकर प्रश्न करते हैं कि महाराजजी! चुनाव में दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच कौन विजयी होगा? आपने हँसते हुए कहा कि लगता है कि एक ब्राह्मण चुनाव जीत जायेगा। वे सब महाराजजी को प्रणाम करके वापस लौट जाते हैं। चुनाव परिणाम घोषित होने के उपरान्त यह निश्चय हो गया कि चुनाव वही व्यक्ति जीता है जिसका नाम महाराजजी ने पूर्व में ही बता दिया था। वे सभी अलौकिक भविष्यवाणी से आश्चर्यचकित हो जाते हैं। चतुर्वेदीजी तब से जीवनपर्यन्त आश्रम के प्रति श्रद्धालु रहे। इसी प्रकार सैकड़ों भाविकों व भक्तों के हृदय-पटल पर पूज्य महाराजजी की दैविक विलक्षणता की छाप पड़ने लगी।

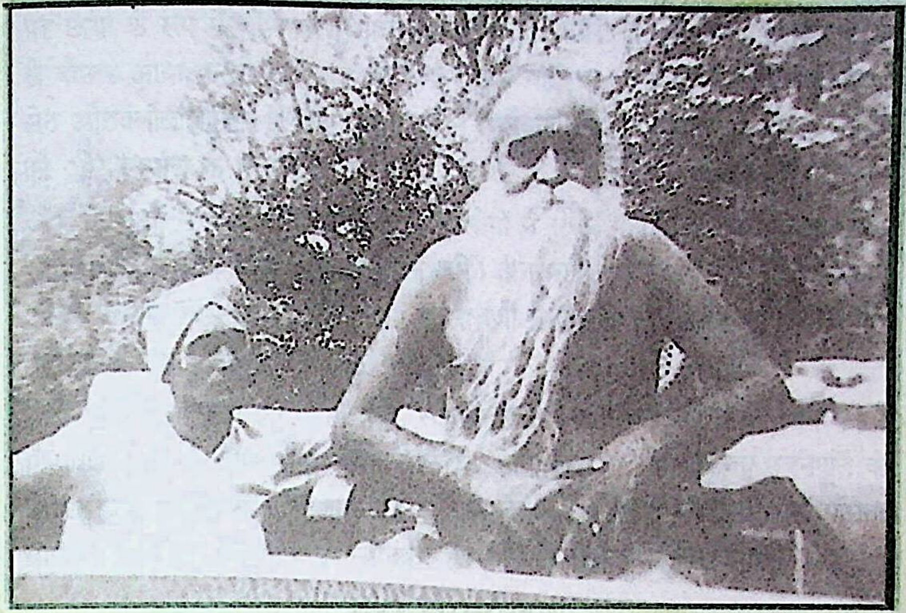

परम श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव श्री अनन्त स्वरुप श्री परमहंस जी महाराज

भक्त श्री एस.डी. चतुर्वेदी
परगनाधीश

भक्त श्री ओच्छवलाल एम. पारिख

आश्रम का प्रथम निर्माण

जैसा आपने देखा, आश्रम प्राचीन खण्डहर-जैसा कुछ कोठरियों का नाम था। धूने पर छाया के रूप में जीर्ण-शीर्ण मात्र तीन टिन की चादरें थीं। वर्षाकाल में तीन तरफ से बौछार आया करती थी। वहाँ नवनिर्माण कुछ नहीं था। परगनाधीश श्री चतुर्वेदीजी, सेठ ओछवलाल पारिख इत्यादि कुछ भक्तों ने मिलकर धूना घर बनाने की योजना तैयार की और निर्माण के लिए ईंटें आने लगीं।

मिस्त्रियों ने कार्य आरम्भ किया। जब लोगों ने सुना, महाराजजी के यहाँ धूना बन रहा है, सेवार्थ लोग चारों ओर से आने लगे। तीन माह में निर्माण कार्य पूर्ण हो गया। आश्रम में यह प्रथम निर्माण-कार्य था। महाराजजी ने कहा, "हो! तीन टिना ठीक कराने में मेरा तीन माह का भजन चला गया।"

महाराजजी कहा करें, "हो! शेर, साधु और सर्प कभी घर नहीं बनाते, बने बनाये में प्रवेश करते हैं और समय व्यतीत करके आगे बढ़ जाते हैं। किन्तु भजनपूर्ति के पश्चात् जहाँ भी वे रहते हैं, चार ईंट लग ही जाती है। साधक को इसमें नहीं फँसना चाहिए। चित्त को सब ओर से समेटकर हृदय में ही निवास करना चाहिए।

मेरा नामकरण

अभी हमें आये चार-छः मास ही हुए थे और आश्रम में धूना घर बनने लगा। सड़क की व्यवस्था न होने से नदी के उस पार से सिर पर ईंट रखकर लोग कहीं चलकर तो कहीं तैरकर इस पार ले आते थे फिर भी कुछ ईंटें नदी में गिर जाती थीं और वे धारा से बहकर कुछ दूरी चली जाती थीं, जहाँ पानी गहरा था। सभी श्रद्धा से सेवा तन्मय होकर कर रहे थे। हम ऐसा कार्य चुनना चाहते थे जिसमें एकान्त हो, अकेले किया जा सके और बुद्धि भी न लगानी पड़े। क्योंकि मन तो एक ही है। यदि वह बाहर कार्यों में लग गया तब भजन कौन करेगा? लोगों से अलग रहकर सेवा में अपनी अनुकूलता समझकर मैंने उन ईंटों को पानी में डूबकर निकालना आरम्भ किया। तैराकी के पूर्वाभ्यासवश सिर के बल ही नदी में कूदकर ईंटें निकाल रहा था। ऊबड़-खाबड़ शिलाखण्डों वाली नदी, एक बार सिर चट्टान से टकरा गया। बाहर आने पर लोगों ने कपड़े से बाँधा, रक्त का बहना बन्द हुआ। महाराजजी ने देखा तो बोले, "बेवकूफ कहीं का! इसका हुड़दंग देखो। सब पहाड़ी नदी के पानी में सीधे उतरते हैं और यह सिर के बल, एकदम अड़गड़ है।

किसी ने कहा, "हाँ महाराजजी! इसमें समझ नहीं है।" महाराजजी ने कहा, "नहीं रे, कैसा डूबकर निकाल रहा था। नासमझ नहीं, अड़गड़ है।" उस समय इस विशेषण

से हम परिचित नहीं थे, न तो हमने कहीं यह शब्द पढ़ा था और न किसी क्षेत्रीय भाषा में ही यह सुनने को मिला था। यह शब्द अनायास ही महाराजजी के श्रीमुख से निकला था। कुछ लोगों ने विनोदवश इसी नाम से मुझे सम्बोधित करना आरंभ कर दिया। हमने सोचा, कोई मुझे अड़गड़ कहे या बग्गड़ कहे या कुछ भी कह ले इससे मुझे क्या! यह शरीर तो मिट्टी का है, इसे लोग कुछ-न-कुछ कहते ही हैं। महाराजजी ने कहा, "यह हमारा सौभाग्य है।" किन्तु गुरुदेवजी ने ऐसा कहा तो इस शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ भी होगा।

लगभग एक माह पश्चात् किसी की जिज्ञासा पर महाराजजी हँसे और बोले, "हो! **'लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार।।'** *(मानस, १/१९७)* लक्ष्मण में ये विशेष गुणधर्म थे इसलिए गुरु वशिष्ठ ने उनका वैसा नामकरण किया। इसी प्रकार से अड़गड़ शब्द भी गलत नहीं, सही है। इसमें यही लक्षण है।"

हमने सोचा कि कदाचित् अड़गड़ के लक्षण मुझमें हों; किन्तु इस शब्द का अभिप्राय क्या है? यह कौन-सा लक्षण है? इस पर गुरुदेव भगवान के श्रीमुख से सन्त कबीर का एक भजन सुनने को मिला, जिसमें इस शब्द की व्याख्या निहित थी। वह पद इस प्रकार है-

अड़गड़ मत है पूरों का, यहाँ नहीं काम अधूरों का।
सच्चा साफ अमीरी रस्ता, सच्चे साहिब शूरों का।।
कच्चा अरु मटमैला रस्ता, कच्चे कायर कूरों का।। यहाँ नहीं..

जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।
देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झाँकर झूरों का।। यहाँ नहीं..

बड़ा दैव गद्दी पर बैठा, तब क्या ढोना घूरों का।
मस्त हुआ जब अनहद सुनकर, तब क्या सुनना तूरों का।। यहाँ नहीं..

मुश्किल अगम पंथ का चलना, धारा खाँड़े छूरों का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ कोई शूरों का।। यहाँ नहीं..

अर्थात् पूर्णत्व प्राप्त महापुरुषों का पथ अत्यन्त कठिन है। अड़गड़ चिन्तन-पथ में आनेवाली एक प्रक्रिया-विशेष है। अड़गड़ का अर्थ है कठिन, जटिल। चिन्तन-पथ वस्तुतः अत्यन्त कठिन है। आधे-अधूरे मन से चलनेवालों के लिए यह पथ नहीं है। अड़गड़ पथ केवल शूरवीरों के लिए है। जप किया, तप किया किन्तु भजन के बीच स्वर्गिक सुखों की

कामना हो गयी। यह तो उसके बदले मजदूरी प्राप्त करने के सदृश है। उनके चरणों में सब कुछ समर्पण कर दें, अपने अस्तित्व तक को उन चरणों में मिटा दें। इस कँटीले मार्ग पर चलनेवालों का यही व्रत है। वे जैसे रखे वैसे ही रहना चाहिये। परमदेव परमात्मा जब हृदयरूपी सिंहासन पर विराजमान हो जाता है तो अन्य कुछ भी संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। श्वास में सदा उठनेवाले शब्द अनहद की पकड़ काम कर गई, साधना इतनी सूक्ष्म हो गयी, तब उस पुरुष को बाह्य वातावरण के बाजों में कोई रुचि क्यों रह जायेगी? ईश्वरीय आवाज सुननेवाला सांसारिक मनुष्यों की बातों में कौन-सा रस लेगा? ईश्वर का मार्ग अगम्य है। यह उतना ही कठिन है जैसे तलवार या छूरे की धार पर चलना। यह शूरवीरों का पथ है, कायरों का नहीं। अस्तु, लाड़-प्यार में लोग बच्चों का नाम रखते ही रहते हैं; किन्तु उस दिन इस व्याख्या के साथ ही नामकरण के पीछे गुरुदेव का मन्तव्य क्या था, यह मुखरित हो उठा।

चित्रकूट में पूर्णस्थिति के महात्मा

यह उस समय की बात है जब महाराजजी को पूर्णस्थिति प्राप्त हो गयी थी। अनुसुइया निवासोपरान्त क्रमशः अनुभूति हुई कि अब गर्भवास से छुटकारा मिल गया, यमराज का बन्धन कट गया, ईश्वर के दर्शन के साथ विलय मिल गया, स्वरूप में स्थिति मिल गई, ऐसा आया कि इसी रूप में स्थित रहना है। यह अनुभवों का क्रम चल ही रहा था कि एक दिन महाराजजी के मन में विचार आया- वैसे तो चित्रकूट में महात्माओं की हजारों कुटियाँ हैं, महात्मा भी हजारों हैं किन्तु जब भगवान ने हमें चित्रकूट में रखा तो क्या पूर्णस्थिति के महात्मा हमारे अतिरिक्त और भी कोई है या हम ही भर हैं।

जिस दिन ऐसा संकल्प बना, उसी दिन महाराजजी को अनुभव में आया - भगवान का दरबार लगा है। सबसे पहले हमारी पुकार हुई, सजे-सजाये निर्मल हाथी के ऊपर हम ले जाये गये, एक उत्तम आसन पर बैठाये गये। इसके बाद पीलीकोठी के अखण्डानन्दजी की पुकार हुई, वे भी आये, कुछ नीचे आसन पर बैठ गये। तीसरी पुकार जानकीकुण्ड के रणछोड़दास की हुई, वे भी क्रम से आसन पर बैठ गये। आदेश हुआ कि ये सन्त हैं। तब से महाराजजी को बड़ा सन्तोष हुआ कि चित्रकूट में उनके अतिरिक्त अच्छे स्तर के दो सन्त और भी हैं।

कुछ दिनों के पश्चात् अखण्डानन्दजी का शरीर छूट गया, तो महाराजजी ने कहा, "कोई गाड़ी ले आओ तो मैं भी उनके पार्थिव शरीर को दो फूल चढ़ा आऊँ।" धारकुण्डी महाराजजी ने कहा, "सरकार! सन्त लोग तो स्वरूप से, अन्तर्मन से आते-जाते हैं। वे शरीर से कहाँ जाते हैं!" महाराजजी ने कहा, "हो! हमार जन्मावल हमें ही ज्ञान सिखावत

है (मुझे ही ज्ञान सिखा रहा है)। अण्डा कहे बच्चे से चूँ-चूँ न कर। अरे! वे अच्छे सन्त थे। मेरे ही स्वरूप थे। मुझे जाना चाहिए।''

रामानन्दजी का समर्पण

रामानन्दजी, स्वरूपदासजी के शिष्य थे। जब उनके गुरु महाराजजी ही परमहंसजी के शिष्य हो गये तो शिष्य कहाँ जाता? दो माह पश्चात् वे भी महाराजजी के शरण में आ गये। महाराजजी ने उनमें अधिकारी के लक्षण देखे, अतः उन्हें आश्वासन दिया और कहा, ''लगे भर रहो।'' वे पार लग गये। इलाहाबाद जिले में तुलसीदासजी की जन्मभूमि राजापुर के समीप लौधना में वे रहने लगे। महाराजजी ने स्वयं वहाँ जाकर उन्हें आशीर्वाद दिया। एक वरिष्ठ सन्त के रूप में उनका निवास आजीवन वहीं रहा। अत्यन्त वृद्ध होने पर वे महाप्रयाण को प्राप्त हुए। आज भी उनके आश्रम पर श्रद्धालुओं का ताँता लगा रहता है, जहाँ उनका आशीर्वाद मिलता रहता है।

दूधभिक्षा

जब महाराजजी का अनुसुइया में भलीप्रकार निवास हो गया, उस समय चित्रकूट से अनुसुइया आनेवाले दर्शनार्थी यदा-कदा महाराजजी के समक्ष पैसा-दो पैसा फेंक देते थे। महाराजजी को आदेश होता, ''इसे रख लो।'' पहले पैसा छूने के लिए भगवान मना करते थे और अब कहते हैं रख लो। महाराजजी ने इष्ट से पूछा कि जब हजार-हजार रुपये मिल रहे थे तब तो आपने लेने नहीं दिया, आज दो पैसे के लिए आदेश हो रहा है, ऐसा क्यों? तब आदेश हुआ कि यह दूधभिक्षा है, इसमें कामना नहीं है। जो सौ-पचास रुपये चढ़ाते हैं, बदले में हाथी माँगते हैं। उनका दान- 'हाथी श्वान लेवा देई' अर्थात् कुत्ता देकर बदले में हाथी माँगना-जैसा है। यह पैसा-दो पैसा स्वभाववश फेंका गया है, इसे लेने में अब कोई दोष नहीं है। महाराजजी कहते थे, ''हो! दान मेरे क्षेत्र की वस्तु है। असली दानी तो मैं हूँ जो मोक्ष देता हूँ।''

साधकों की देखरेख

साधकों की साज-सँभार महाराजजी उसी प्रकार करते थे, जैसे माता-पिता सयानी बिटिया का निर्वाह कर उसे ससम्मान विदा कर देते हैं। साधक कहीं भी चला जाता, महाराजजी उसके संकल्प पकड़ते रहते थे। उसकी श्वास ज्योंही विचलन का संकेत देती, महाराजजी उसे सँभालने लगते थे। ज्योंही वह साधक लौटता, वे तत्काल पूछते कि रास्ते में उस समय किससे बातें कर रहा था?

एक बार वे एक प्रतिभावान साधक से पूछने लगे, ''क्यों रे! रास्ते में किसी बाईजी से बातें कर रहा था क्या?'' वे बोले, ''जब हम जानकी कुण्ड में थे, एक बाईजी वहाँ

आती थी। वही रास्ते में मिल गयी थी। वह प्रणाम करके खड़ी हो गयी।" महाराजजी ने डपटकर कहा, "तो लट्टू हो गये।" चार गालियाँ ऊपर से दी। एक बार ऐसी डाँट पड़ जाने पर महीनों के लिए बुद्धि ठीक हो जाती थी। मन भजन में लगा रहता और महाराजजी का भय हर समय बना रहता।

अनुसुइया में मन्दाकिनी नदी के उस पार बड़े सवेरे लगभग आठ-नौ बजे मसक बाजे की धुन सुनाई पड़ी, उसके साथ गायन करती स्त्रियों का स्वर भी सुनाई पड़ रहा था। जंगल में गाना-बजाना एक नई बात थी। एक साधक कुतूहलवश देखने लगे कि कौन है? खड़े होकर देखने पर भी वृक्षों की ओट से उनका समूह दिखाई नहीं पड़ा तो वे सीढ़ियों के पार्श्व में एक ऊँचे पत्थर पर खड़े होकर देखने का प्रयास करने लगे। फिर भी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ा तो वे पंजे के बल जरा-सा ऊपर उठकर देखने लगे। पीछे मुड़कर देखा तो पाया कि महाराजजी देख रहे हैं। वे शान्ति से भजन में बैठ गये। उसी समय सेमरिया गाँव के जमुना पाण्डेय महाराजजी का दर्शन करने आ गये। वे आश्रम के श्रद्धालु भक्तों में से थे। उन्होंने महाराजजी को पुष्प अर्पित कर धूनी पर प्रणाम किया। महाराजजी ने कहा, "पाण्डेय बैठ!" उसने निवेदन किया कि श्री ब्रह्मचारीजी का दर्शन कर लूँ। महाराजजी विद्रूप हँसी के अनन्तर बोले, "कौन ब्रह्मचारीजी? यह ब्रह्मचारी हैं। यह तुम्हारे ब्रह्मचारीजी औरतों को देख रहे थे।" पाण्डेय के पूछने पर ब्रह्मचारीजी ने कहा, "हमें तो पता नहीं कि कब हमने औरतों की ओर दृष्टि डाली।" महाराजजी बिगड़े, "अभी कहता है कि हमें पता नहीं। जब सीढ़ियों से नहीं दिखाई पड़ा तो पंजे के बल उचककर क्या देख रहा था? साधक का मन साधना के अतिरिक्त अन्य कुछ देखता ही नहीं। साधक को हर समय चिन्तनरत रहना चाहिए।" इस प्रकार दस-बीस जद-बद सुनाया और सदा के लिए मन सावधान हो गया। जिसे वे बिगड़ते, केवल वही नहीं, अपितु जो सुनता उसकी भी बुद्धि निर्मल हो जाती थी।

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट।। *(कबीर)*

कुम्हार की तरह गुरु महाराज की ताड़ना बाहर ही हुआ करती थी। भीतर हृदय से वे शिष्यों के प्रति अत्यन्त कोमल थे। अन्तर्जगत् से वे उन्हें भरपूर सहारा देते थे। उनके कल्याण के लिए इसी प्रकार गढ़ते-गढ़ते, धक्का-धुक्की देते, कभी गाली-जैसी ताड़ना देते तो कभी पुचकारते साधना का पथ प्रशस्त कर देते थे।

अतीन्द्रिय ग्राह्यता

भक्त कहीं भी हों, महाराजजी उनके संकल्प पकड़ लेते थे। उनकी परिस्थितियों का ज्ञान महाराजजी को चलते-फिरते, उठते-बैठते होता रहता था। महाराजजी के निवास

के अनन्तर कुछ यात्री चित्रकूट से घोड़े पर चढ़कर आने लगे। उन्हें पहुँचते-पहुँचते शाम हो जाती थी। अथवा कभी कोई यात्री सत्संग सुनते-सुनते रात वहीं विश्राम की योजना बना लेता था। सेवक घोड़े को चरने के लिए छोड़ देता था। महाराजजी कभी-कभी चौंककर कहते थे, "देखो! मेरे पास न बैठो, जाकर देखो तुम्हारे घोड़े के पीछे शेर घात लगाये है। वह आश्रम से एक फर्लांग दूर है।" जहाँ घोड़े को छोड़ा था, जाकर देखता तो शेर सचमुच घात में मिलता। डरते-काँपते वह किसी तरह घोड़ा लेकर भाग आता और आश्रम के सामने बाँध देता था।

एक बार इसी प्रकार आश्रम के सामने घोड़ा बँधा था। सभी विश्राम कर रहे थे। रात्रि के बारह बजे महाराजजी को अकस्मात् घबड़ाहट होने लगी। वे उठ बैठे, सोचने लगे- कौन संकट में है। उन्होंने टार्च जलाया तो घोड़ा और शेर आमने-सामने खड़े थे। महाराजजी ने सबको जगाया, घोड़ेवाला यात्री भी जगा। महाराजजी ने कहा, "सो मत! देख तेरे घोड़े को शेर ले गया।" वह बोला, "महाराजजी! हम क्या कर सकते हैं?" महाराजजी ने कहा, "हो-हल्ला तो कर।" आवाज करने पर शेर झाड़ी की ओट में चला गया। फिर वह रातभर जागकर घोड़े की रखवाली करता क्योंकि शेर झाड़ियों के पास ही इधर-उधर छिपा रहता। महाराजजी क्षण-प्रतिक्षण का हाल जान जाया करते थे कि कहाँ क्या होनेवाला है? उसी के अनुसार निर्देश दिया करते थे।

ब्रह्मचारी बन्दर

बन्दर स्वभाव से ही कामी होते हैं। मानस की पंक्तियों में है- **'मैं पावँर पसु कपि अति कामी।'** *(मानस, ४/२०/३)* इसका अपवाद अनुसुइया का ब्रह्मचारी बन्दर था। ऋतु आने पर बन्दर और बन्दरियों के जोड़े यत्र-तत्र जंगल में आमोद-प्रमोदरत रहते; किन्तु यह बन्दर उन सबसे अलग-थलग आश्रम के सामने एक वृक्ष पर बैठा रहता था। बड़े सवेरे ही वह बन्दर पहाड़ से उतरकर महाराजजी के सामने खम्भे के पास बैठ जाता था। महाराजजी उस समय ध्यान में बैठे रहते थे। वह भी आँखें बन्द करके हाथ समेटकर बैठ जाता था। बन्दर बड़े चंचल होते हैं, किन्तु वह एक आसन से बैठा रहता था। उसका रोआँ तक न हिलता। थोड़ी-थोड़ी देर में आधी आँख उठाकर वह देख लेता कि महाराजजी बैठे हैं या नहीं। जब महाराजजी चिमटे से धूनी खोदने लगते तब वह भी इधर-उधर देखने लगता। महाराजजी उसे प्रोत्साहन देते, "ठीक है बेटा! भजन में इसी तरह लगे रहो।"

महाराजजी उस बन्दर के भजन से बड़े खुश होते थे। वे उसके लिए आटे में चोकर मिलाकर एक मोटा टिक्कड़ तैयार कराते और भजन से उठने के पश्चात् उसे वही टिक्कड़ देते थे। वह खड़ा होकर एक हाथ से टिक्कड़ लेता और तीन पैरों से चलकर पहाड़ पर

चढ़ जाता था। वहाँ बैठकर वह रोटी खाता और प्रातःकाल पुनः महाराजजी की सेवा में उपस्थित हो जाता था।

एक दिन महाराजजी उस बन्दर पर अप्रसन्न हो गये, "हम तुम्हारे नौकर हैं क्या, जो दस मील सिर पर लादकर आटा मँगावें और तुझे खिलावें? जब ब्रह्मचारी बने हो, साधु हो तो अपना प्रबन्ध कर लो। अब तुम्हें यहाँ से खाने को नहीं मिलेगा।" महाराजजी ने विनोद में उसे बहुत डाँटा।

दूसरे दिन सूर्योदय होते-होते एक जमींदार देवीदयाल कुर्मी एक मन चना लेकर आश्रम आया। महाराजजी ने कुतूहलवश पूछा, "क्यों जमींदार! इतने सवेरे कैसे आना हुआ?" उसने पूछा, "महाराजजी! यहाँ कोई ब्रह्मचारी बन्दर रहता है?" महाराजजी ने कहा, "रहता तो है किन्तु तू कैसे जानता है?" वह कहने लगा, "महाराजजी! मैं गहरी नींद में सोया था। रात्रि के लगभग दो बजे ऐसा लगा, जैसे मुझे कोई झकझोर कर जगा रहा हो। मुझे आवाज भी सुनाई पड़ी--सोता क्या है! चलो उठो, मैं अनुसुइया का ब्रह्मचारी वानर हूँ। मेरे लिए चना लेकर चलो। मैं घबड़ाकर खड़ा हो गया। मैंने चारों ओर देखा कि किसने मुझे झकझोरा? मैंने आवाज भी लगायी, कौन है? किन्तु उत्तर न पाकर पुनः सो गया। तब तक किसी ने एक झापड़ मारा। उसी के साथ शब्द भी सुनाई पड़ा--अभी सो रहा है, सुनाई नहीं पड़ता। मैंने जागकर विचार किया कि कदाचित् अब सोया तो यह बन्दर कहीं मेरी गर्दन ही दबा न दे। इसके पश्चात् उसी समय आदेश का पालन करने हेतु चना लेकर आया हूँ। वह बन्दर है कहाँ?"

महाराजजी ने उस भक्त को आश्वस्त किया और कहा, "बैठो! अब उसके आने का समय हो गया है।" तब तक वह बन्दर पहाड़ से नीचे उतरकर महाराजजी के समक्ष आकर बैठ गया। महाराजजी ने कहा, "यही है ब्रह्मचारी बन्दर! कल मैंने इसे फटकारा था कि साधु हो तो अपने भोजन का भी प्रबन्ध कर लो। यह है तो बन्दर योनि में, किन्तु आचरण सन्तों-जैसे हैं, इसीलिए तुम्हारे हृदय में प्रेरणा हुई। यह ब्रह्मचारी है। अच्छा बेटा ब्रह्मचारी! अब तुम्हें चेताने की आवश्यकता नहीं है, तू केवल भजन करता रह, खाना मिलेगा। तू असली साधु है।" फिर भी वह भक्त नियमित मंगलवार के दिन बन्दरों के लिए चना लाने लगा।

वह बन्दर ब्रह्मचारीजी से बहुत घुलमिल गया था। जब उन्हें धारकुण्डी निवास करने का आदेश हुआ तो वह बन्दर भी वहाँ से साठ किलोमीटर दूर धारकुण्डी में दिखाई पड़ा। स्वामीजी उसे देखकर बड़े ही खुश हुए, "अरे ब्रह्मचारी! महाराजजी ने हमें यहाँ भेजा तो तू भी चला आया। ठीक है, तू भी यहीं रह।" तीन दिन तक तो वह वहीं रहा किन्तु

विरक्तों की तरह संभवतः निराधार विचरण में बढ़ चला। इस प्रकार जिस किसी जीवधारी का स्पर्श या संसर्ग महापुरुष से हो जाता है या वह महापुरुष ही जिसमें रुचि ले लेते हैं, वह भी पुण्यात्मा बन जाता है।

गीता–आपूर्ति

महाराजजी की शरण में आ जाने के पश्चात् धार्मिक पुस्तक के रूप में गीता और श्रीरामचरितमानस से मेरा प्रथम परिचय हुआ। श्रीरामचरितमानस आश्रम में उपलब्ध थी किन्तु गीता नामक पुस्तक का उस परिसर में अभाव था। महाराजजी गीता के अनुसार साधकों की रहनी पर बहुत बल दिया करते थे, जिससे इस पुस्तक के प्रति लगाव तीव्र उत्कण्ठा में परिणीत हो गया। उन दिनों गीता प्रेस की अन्वयार्थ गीता ढाई रुपये की मिलती थी। मन में यह इच्छा स्फुरित हुई कि कम-से-कम तीन रुपये कहीं से मिल जाते तो मैं गीता खरीद लेता। आठ आना उन दिनों यात्रा-व्यय के लिये पर्याप्त था। इच्छा तीव्रतर होती गयी; किन्तु तीन रुपये नहीं मिल सके। याचना स्वभाव में नहीं थी। स्वाभाविक श्रद्धावश दर्शनार्थी कुछ पैसे महाराजजी को समर्पित करते जिन्हें मैं ही रखता था, किन्तु उनका प्रयोग अपने लिये करना मैं सोच भी नहीं सकता था। गीता के लिये मेरी तड़प बढ़ती गयी। इस प्रकार ढाई साल बीत गये; किन्तु ढाई रुपये नहीं मिले। एक दिन मैं विचार करने लगा कि मैं किस चक्कर में पड़ गया! भजन के लिये पुस्तक अनिवार्य है क्या? आज से हमें गीता नहीं चाहिए- ऐसा निश्चय करते ही मन को बड़ी शान्ति मिली, चित्त हल्का हो गया। उस दिन भजन में एकाग्रता रही, ध्यान प्रगाढ़ हुआ, मन प्रसन्न रहा। दूसरे दिन नित्यक्रिया से निवृत्त होकर महाराजजी की सेवा में उपस्थित हुआ तो उनके पार्श्ववर्ती कोठरी की देहरी पर गीता रखी हुई थी। दृष्टिपात होते ही हमने जल्दी से जाकर उसे उठा लिया। यह वही अन्वयार्थ गीता थी, वर्षों से हमें जिसकी चाह थी। मैंने पूछा, "महाराजजी! यह गीता किसकी है?" उन्होंने कहा, "क्या मूर्खों की तरह बातें करता है, तुम्हारी ही तो है। तू ही तो पढ़ता है और कौन है यहाँ पढ़नेवाला? देखत हो एकर बुद्धि हो, मुझसे पूछता है कि गीता किसकी है?" मैंने गुरुदेवजी को प्रणाम किया और इस आपूर्ति के लिये मन-ही-मन आभार निवेदित किया। गीता का संकल्प मन से निकलते ही पता नहीं कहाँ से आ गई, उसे वहाँ रख दिया किसने? निःसन्देह यह थी उन महापुरुष की संकल्प पकड़ने की क्षमता तथा तदनुकूल आपूर्ति-व्यवस्था, जो प्रत्येक परिस्थिति में साधक का सम्बल हुआ करती है।

साधकों का वैराग्य

महाराजजी की सेवा में अनुरक्त साधकों में ब्रह्मचारीजी सबसे आगे थे। भजन और

सेवा दोनों में उनकी अच्छी गति थी। महाराजजी साधकों के आत्मिक उन्नयन-हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। एक बार तीन-चार साधक महाराजजी के समक्ष बैठे थे। वैराग्य प्रकरण पर चर्चा चल रही थी। महाराजजी के शब्दकोश में वैराग्य का अर्थ राग का त्याग नहीं था। साधन समझ में आने पर उत्कट लगनशील साधक साधना में अहर्निश रत रहना चाहते हैं किन्तु सामाजिक व्यवहार, शिष्टाचार बाधक बनने लगता है। एक से अधिक बर्तन होने पर उनका टकराव स्वाभाविक है। अतः शान्त, एकान्त निर्द्वन्द्व विचरण करते हुए चिन्तन में रात-दिन एक कर देने की वृत्ति वैराग्य है। शिथिल प्रयत्न वाले साधक से महाराजजी प्रसन्न नहीं रहते थे। उन्हें साधन-पथ पर चलने के लिए सदैव सचेत करते रहते थे।

एक बार रात्रि में यही उपदेश चल रहा था कि अचानक आकाश से एक प्रकाश-पुंज उतरा और मन्दाकिनी गंगा में समाहित हो गया। पुनः सबके देखते-ही-देखते वह प्रकाश ऊपर उठा और आकाश में विलीन हो गया। सभी अवाक् रह गये। महाराजजी ने कहा, "देखा यह प्रकाश।" ब्रह्मचारीजी बोले, "हाँ महाराजजी! इससे तो पूरा जंगल ही प्रकाशित होता चला गया, यह क्या है?" महाराजजी ने कहा, "यह भगवान शकुन दे रहे हैं, तुम्हें ईश्वरीय प्रकाश कैवल्यधाम की प्राप्ति होनी है। इसके लिए लव लग जानी चाहिए; किन्तु विरह-वैराग्य के बिना इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। यही इस प्रकाश से भगवान ने संकेत दिया है।"

सत्संग चल ही रहा था कि अकस्मात् ब्रह्मचारीजी की छड़ी गिर पड़ी और उसके समीप रखा उनका कमण्डल अनायास लुढ़कता हुआ गंगा के किनारे पहुँच गया। महाराजजी ने कहा, "देखा, कर्मरूपी कमण्डल और वैराग्यरूपी लठिया, तुम्हारे अन्दर वैराग्य का अभाव है, लव कच्ची है। कर्म में दृढ़ता नहीं है, इसे उठाओ।" ब्रह्मचारीजी ने निवेदन किया, "महाराजजी! यह कैसे उठेगा?" महाराजजी ने सुझाव दिया, "निराधार विचरण करते हुए निरन्तर चिन्तन में लग जाओ।" सत्संग समाप्त हो गया। ब्रह्मचारीजी ने विचार किया- निराधार विचरण करेंगे; किन्तु ब्रह्मचारीजी का सेवा में लगाव होने से एक-एक करके दिन बीतते जा रहे थे। बाहर निकल ही नहीं पाते थे।

इस उपदेश के कुछ दिनों पश्चात् एक ऐसी घटना घट गई, जो ब्रह्मचारीजी के विचरण का निमित्त बनी। दोपहर हो चला था, ब्रह्मचारीजी रसोई का कार्य लगभग सम्पादित कर चुके थे। तब तक एक महात्मा महाराजजी के पास दर्शनार्थ आ गये। महाराजजी ने शिष्टाचार के पश्चात् उनके लिए भी रसोई बना लेने का आदेश दिया। ब्रह्मचारीजी को ऐसे असमय में साधु अभ्यागत का आना अच्छा न लगा। उन्होंने प्रार्थना

की कि, "महाराजजी! यह तीर्थस्थल है। साधु-महात्मा तो यहाँ आते ही रहते है। इन्हें आटा-दाल दे दिया जाय, ये बना लेंगे। जब मैं भोजन ही बनाता रहूँगा तो भजन कब करूँगा?" महाराजजी ने कहा, "ऐसा करो, मेरा हिस्सा इनको खिला दो, मुझे भूख नहीं है। रहने दो, दुबारा भोजन मत बनाओ।"

अब स्वामीजी को भोजन बनाना पड़ा। महात्मा सहित महाराजजी को विधिवत् भोजन कराया। जब वे स्वयं थाल लगाकर भोजन करने बैठे, महाराजजी चौके में पहुँच गये। उन्होंने हाथ से थाली खींच ली और उनकी गर्दन पकड़ते हुए बोले, "पिता की कमाई है क्या? भागो यहाँ से! कहता है भजन कब करूँगा। जाओ करो भजन!"

स्वामीजी नीचे आकर सीढ़ियों पर खड़े हो गये। जब-जब वे ऊपर जाने की कोशिश करते तो वे कहते, "ऊपर चढ़े तो हाथ-पैर तोड़ दूँगा। तू हमें अभी जानता नहीं। तू सोचता है मैं सेवा करता हूँ, हम तुम्हारे भरोसे बैठे हैं।" इसी तरह धमकी सुनते-सुनते स्वामीजी को घण्टों बीत गये। महाराजजी का गुस्सा कम होता ही न था। स्वामीजी ने सोचा, ये ऊपर जाने नहीं दे रहे हैं, किया क्या जाय? भजन ही तो करना है। नाम, रूप, ब्रह्मविद्या, अनुभव सभी तो उपलब्ध है, चलकर कहीं अन्यत्र कर लेंगे। और वे चल पड़े।

उसी समय आश्रम के भाविक भक्त यमुना पाण्डेय उधर से आ रहे थे। उन्होंने ब्रह्मचारीजी को प्रणाम किया, किन्तु ब्रह्मचारीजी बोले नहीं। पाण्डेय ने आकर महाराजजी को प्रणाम कर कहा, "आज स्वामीजी बहुत उदास हैं, बात क्या है?" महाराजजी ने कहा, "वह मुझसे नाराज होकर जा रहा है।" उस भक्त ने आवाज दी, "ब्रह्मचारीजी! लौट आवें।" स्वामीजी ज्योंही घूमे, महाराजजी की कड़कदार आवाज सुनाई पड़ी, "घूमना नहीं, अब जाओ भजन करो।"

जंगल में चलते-चलते ब्रह्मचारीजी को रात हो गयी। एक पहाड़ी नाले पर उन्होंने देखा, गाँव के लोग एक शव का दाह-संस्कार करने में लगे हैं। शिशिर ऋतु थी। ब्रह्मचारी जी ने सोचा, जब ये चले जायेंगे तो यहीं पर हम धूनी तापेंगे। उन लोगों के जाने के पश्चात् आप चिता की उसी धूनी के समक्ष आसीन हो गये। मध्यरात्रि में उन्हें याद आया कि इसी चिता पर शव जलाया गया है, कहीं वह भूत न बन जाय। क्रमशः उन्हें लगने लगा कि वह भूत बनकर उपद्रव कर सकता है। अतः उन्होंने सम्पूर्ण तत्परता से महाराजजी का आह्वान किया।

इतने में जैसे एक दृश्य की तरह महाराजजी का रूप पहुँचा और बोला, "जब मैं तेरे साथ हूँ, आगे-पीछे चारों ओर से तुझे देख रहा हूँ, तब तू किस भूत से डर रहा

है?" ब्रह्मचारीजी आश्वस्त हो भजन करने लगे। आराम भी किया और प्रातः वहाँ से चल पड़े। भय सदा के लिए समाप्त हो गया। साधक के लिए गुरु सर्वत्र रहते हैं।

महाराजजी को बढ़िया शकुन उनके बारे में मिलता रहा। डेढ़ वर्ष पश्चात् अकस्मात् एक राजमाता उन्हें कार में बैठाकर प्रयाग का तीर्थाटन कराने लगी। वह बड़ी श्रद्धालु थी। इधर महाराजजी को अपशकुन होने लगा। वे कहते, अब तक तो उसका वैराग्य बहुत बढ़िया चल रहा था किन्तु अब गड़बड़ है। अब चले आने में ही उसकी भलाई है।

उधर श्री ब्रह्मचारीजी को आश्रम चलने के लिए शकुन मिलने लगा; किन्तु वे स्थिति मिलने के पश्चात् ही आश्रम लौटने का हठ करने लगे। तब उन्हें अनुभव में दिखाई पड़ा- "तू सोचता है मैं भक्ति करता हूँ किन्तु तेरी भक्ति नष्ट होने को है। तुरन्त आश्रम जाकर गुरु महाराजजी के चरणों में दण्डवत् कर क्षमा माँगो।" अब कहाँ का राजा और कहाँ की रानी! ब्रह्मचारीजी रात्रि में ही ट्रेन से आश्रम की ओर चल पड़े।

आश्रम में महाराजजी भक्तों को बता रहे थे, "हो! आज मैंने अनुभव में देखा है कि सच्चिदानन्द की नाक में रस्सी डालकर पतंग की तरह डोर खींचता हुआ उसे लाकर यहाँ पटके हूँ। वह आवा नाहीं चाहत रहा किन्तु मैं उसे खींचकर लाया हूँ। अभी आता ही होगा।" प्रतीक्षा हो रही थी, तब तक ब्रह्मचारीजी पहुँच गये। महाराजजी भीतर से चाहते थे कि वह कब आ जायँ किन्तु उन्हें देखते ही बोले, "हो देखो! ये तो चले आये। इन्हें कहीं दो रोटी का ठिकाना नहीं है।" ब्रह्मचारीजी ने दण्डवत् किया और एक ओर बैठ गये। वे सोचते थे, गुरु महाराजजी से क्षमायाचना करेंगे; किन्तु प्रणाम करते ही महाराजजी प्रसन्न हो गये। हालचाल पूछा कि वैराग्य कैसा रहा।

माता शिशु को मारती है किन्तु उसे चोट नहीं लगती। ठीक ऐसा ही स्वभाव गुरु महाराजजी का था। उनकी सारी ताड़ना साधक के विकास के लिए ही होती थी।

साधकों का योगक्षेम

विचरण-अनुष्ठान पूर्ण होते-होते ब्रह्मचारीजी अहर्निश भजन में परिनिष्ठित हो चले थे फिर भी उन्हें सन्तुष्टि नहीं थी। वे चाहते थे कि भजन में सदा लीन रहें। कई साधकों के अभिनव प्रवेश से उनके लिए सेवा-कार्य भी अवशेष न था। नितान्त एकान्त-हेतु उन्होंने थोड़ी दूर पर भजन कुटीर का निर्माण कर लिया। यह स्थान घनघोर जंगल में उस मार्ग पर था, जहाँ आसपास शेरों का आना-जाना था। कुटी तैयार हो जाने पर ब्रह्मचारीजी ने निवेदन किया, "आज्ञा होती तो एकान्त में रहता। जब आदेश होता तो मैं आपकी सेवा में आ जाता।"

महाराजजी ने कहा, "मुझे ज्ञात था कि दिन में तुमलोग कहाँ जाते हो? उस कुटिया निर्माण से भी मैं अवगत था, यह उचित भी है। इसी प्रकार दत्तचित्त होकर भजन में अनुरक्त होना चाहिए। ठीक है, वहीं भजन करो, लेकिन अन्तर्देश से मिलनेवाले हर आदेश का पालन करना।" ब्रह्मचारीजी उस एकान्त में अनवरत चिन्तन में लीन हो गये। यद्यपि कुटिया में पर्याप्त भोजन-सामग्री की व्यवस्था रहती; किन्तु वे मात्र सत्तू घोलकर पी लेते थे। दिन-रात भजन-चिन्तन में ही एकाकी तल्लीन रहते थे।

कुटिया के सामने जंगली परम्परा के अनुसार उन्होंने आठ-दस फीट ऊँचा लकड़ियों का एक मचान बना रखा था। गर्मियों में खुले आकाश के नीचे वह स्थान शीतल तथा रात्रि में भजन करने के लिए उपयुक्त था। आप नियमित रूप से रात्रि दस बजे से विश्राम करते और दो बजे से ही भजन में बैठ जाते थे, जैसा कि पूज्य गुरुदेवजी का निर्देश था।

एक रात्रि अपशकुन होने लगा। संकेत मिलने लगा, मत सोओ। अतः वे जागते रह गये। अर्द्धरात्रि व्यतीत हो चली। तारों की स्थिति से प्रतीत हुआ कि दो बजे का समय है। उन्होंने सोचा, सोयेंगे नहीं किन्तु कमर सीधी कर लें। ज्योंही पैर फैलाया, निद्रा के वशीभूत हो गये। अकस्मात् उन्हें लगा, जैसे किसी ने उनका हाथ पकड़कर बैठा दिया हो। साथ ही भयंकर अपशकुन होने लगा। उठकर बैठते ही नीचे कुछ काला-सा दृष्टिगत हुआ। टार्च जलाने पर उन्होंने देखा कि एक गुलबाघ मचान पर छलाँग लगाने का पैतरा भर रहा था। प्रकाश होते ही वह घूमकर झाड़ियों की ओर चला गया और बहुत देर तक वहीं से उन्हें देखता रहा फिर क्रमशः ओझल हो गया।

गुरुदेव भगवान इसी प्रकार अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। भक्त सो जाय किन्तु वे सर्वत्र सभी परिस्थितियों में साधक के रक्षार्थ साथ रहते हैं, उसे निर्देश देते हैं। उनकी अवहेलना से खतरे मँडराने लगते हैं किन्तु भोले साधक को भी गुरुदेव अन्ततः बचा ही लेते हैं।

धारकुण्डी जाने का निर्देश

सत्यान्वेषी होने से आपका नाम पूज्य गुरुदेव ने सच्चिदानन्द रखा था। 'यथा नाम तथा गुण' की परिभाषा चरितार्थ हुई। एक दिन महाराजजी को अनुभव में मिला कि नीबू दो टुकड़ों में बँट गया। उन्होंने ब्रह्मचारीजी से कहा, "देखो, निर्गुण ब्रह्म दोनों जगह बराबर हो गया। तुम्हारे लिए यहाँ सब कुछ हो गया, पार लग गया। अब तुम्हारी छाती में बाल हो तो जाकर धारकुण्डी रहो।" ब्रह्मचारीजी ने कहा, "अपनी छाती के बालों पर तो नहीं किन्तु आपकी कृपा के बल पर मैं धारकुण्डी जा सकता हूँ।" अनुमति मिलने

पर ब्रह्मचारीजी धारकुण्डी पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही सम्पूर्ण ईश्वरीय विभूतियाँ स्वामीजी के हृदय-देश में उतर आईं, आत्मसाक्षात् हो गया। जनकल्याण की स्रोतस्विनी धारकुण्डी के पावन आश्रम से प्रवाहित हो चली।

पशु–पक्षियों को मानव–तन की प्राप्ति

जब हम भ्रमणकाल में गाजीपुर में थे, एक पहाड़ी कुतिया ने बच्चा दिया। स्वामी भगवानानन्दजी ने उसे झोली में रखकर महाराजजी के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। काले रंग के चाइनीज़ कुत्ते की तरह उसके अगले पैर चार-पाँच इंच के, पिछले पैर छः-सात इंच ऊँचे, कुल ऊँचाई एक फीट, किन्तु लम्बाई ढाई से पौने तीन फीट के लगभग थी। देखने में वह कुत्ता बड़ा सुन्दर और स्वभाव का उतना ही कट्टर था। कैसा भी देशी कुत्ता हो वह उससे लिपट पड़ता था। छोटे पैर होने से नीचे तो उसे रहना ही था फिर भी वह हारा कभी नहीं। लड़ने में बड़ा तेज था। उसकी समझ पर्याप्त अच्छी थी। महाराजजी कभी उसे आसन पर भी बिठा लेते थे, तो कभी नीचे ही उसका आसन रहता था।

दूध पीने में वह बड़ा मनौती लेता था। जब किसी भी प्रकार बहलाने, फुसलाने से भी वह दूध न पीता तो मंगल दादा उस दूध को उठाकर पी जाते और कहते- "हो सरकार! चीनी डाले रहो, यह तो नहीं पियेगा, यह मेरे अंश का दूध है।" उसे जूठा-सही सब एक जैसा था। महाराजजी कहते- "देखो! कुत्ते का जूठा पी रहा है।" वह कहते- "अब तो प्रसाद हो गया महाराजजी!"

महाराजजी ने उस कुत्ते का नाम भैरव रखा था। वह प्रतिदिन शेर की गुफा से ताजी हड्डियाँ ले आता और आश्रम से दूर रखकर उसका स्वाद लेता रहता था। महाराजजी सोचते कि यह भैरव रात बारह बजे गायब हो जाता है, यह जाता कहाँ है? यह लगभग दो बजे कहाँ से लौटकर आता है? पता चला कि यह ताजी हड्डियाँ लाता है। शेर की गुफा वहाँ से काफी नजदीक थी। भैरव की हरकतें सुनकर महाराजजी चिन्तित हुए। वे कहने लगे- "लगता है इसे किसी दिन शेर जरूर खा जायेगा। जब यह सीधे गुफा में चला जाता है तो वह कब तक इसे छोड़ेगा? मान लो उस समय वह गुफा में नहीं रहता होगा, किन्तु वह दो-चार दिन लगातार गुफा में आराम भी तो किया करता है। क्या बतावें, किसी दिन इसको शेर खा जायेगा।"

महाराजजी छड़ी लेकर भैरव को डाँटते, धमकाते और समझाते भी थे । दो-तीन दिन तक तो वह मानता था, कहीं न जाता था; किन्तु किसी दिन चकमा देकर चल देता था। एक दिन वह गया तो सवेरे तक नहीं आया। महाराजजी ने कहा- "कहीं शेर तो नहीं खा गया? अभी तो जिन्दा लगता है, उसकी श्वास बोलती है। उसे खूब ढूँढ़ो!" लोगों ने उसे जंगल में ढूँढ़ा किन्तु उसका कहीं पता नहीं चला।

जब हम आश्रम से बगिया की ओर जाने लगे, भैरव रास्ते की एक झोपड़ी में चुपचाप बैठा मिला। ज्योंही हम वहाँ से निकले, वह भूँकता हुआ तेजी से इधर-उधर दौड़ने लगा। उसका संकेत था कि हम लापता नहीं हैं बल्कि यहाँ बैठकर अपनी ड्यूटी दे रहे हैं। महाराजजी ने सुना तो बोले- "इसने तो बड़ी बुद्धि लगायी। आज इसे डाँट-फटकार नहीं पड़ेगी। कोई बात नहीं, अब भी समझ जाय।"

उन दिनों श्री ब्रह्मचारीजी धारकुण्डी में निवास करने लगे थे। उस दिन वह महाराजजी के दर्शनार्थ धारकुण्डी से आये थे। चर्चा चल रही थी कि भैरव शेर की गुफा में जाने लगा है। मैंने प्रस्ताव रखा कि अच्छा होता यदि भैरव को धारकुण्डी भेज दिया जाय। महाराजजी इस प्रस्ताव पर मौन रहे। मैंने 'मौनं स्वीकृति लक्षणम्' मानते हुए, धारकुण्डी महाराजजी के जाते समय वह कुत्ता उनकी जीप में रख दिया।

गाड़ी कुछ दूर निकल गयी तो महाराजजी ने कहा- "क्यों रे! तुम लोग हमारा मन बहलाव, शृंगार नहीं देख सकते हो। वह मेरी गद्दी पर बैठता था। मैं उसे अपने हाथ से दूध पिलाता था। उसे क्यों दे दिया?" मैंने निवेदन किया कि वह शेर की गुफा में जाता था। उन्होंने कहा, "मेरे रहते ही शेर उसे खा लेता? शेर से बचाने की सच्चिदानन्द की हैसियत है? जाओ अब बचाओ शेर से।" मैंने सोचा, धारकुण्डी में वह शेर की गुफा में क्यों जायेगा? वहाँ गुफा का उसे ज्ञान तो है नहीं! बात आई गई, हो गई।

कुछ समय पश्चात् धारकुण्डी में त्रिशूल स्थापना के उपलक्ष्य में भण्डारा हो रहा था। दूर-दूर से भाविक भक्त एवं क्षेत्रीय श्रद्धालुजनों का वहाँ समागम था। भीड़भाड़, चहल-पहल का वातावरण था। क्षेत्रीय लोगों के साथ बहुत से कुत्ते भी चले आए थे। भैरव को देखते ही वे ग्रामीण कुत्ते भागने लगे। उसका डील-डौल, रूप-रंग अन्य कुत्तों से अलग ही था। उसे अपनी ओर आता देख कुत्ते जोर से भागने लगे। हजारों आदमियों के बीच भैरव इधर से उधर सनासन दौड़ने लगा और उन कुत्तों का पीछा करते-करते जंगल की ओर थोड़ी दूर चला गया।

शाम को महाराजजी को आना था। चलते समय आपसे बताया गया कि कुत्ता इस प्रकार गायब हो गया है। उन्होंने कहा-"खोजो रे, उसके लिए खतरा दिखाई पड़ रहा है। उसे खोजो।" स्वामीजी उसे ढूँढ़ने के लिए लोगों को निर्देश देने लगे। हमलोग महाराजजी के साथ जीप में बैठकर अनुसुइया की ओर चले।

घोर जंगल में जीप धारकुण्डी से कुछ दूर आयी थी कि एक शेर सड़क के किनारे से छलांग लगाकर सड़क के दूसरी ओर कूद गया। वह जीप से दस फीट आगे से निकला और जंगल में चला गया। महाराजजी बोले-"ओह! भैरव को तो शेर खा

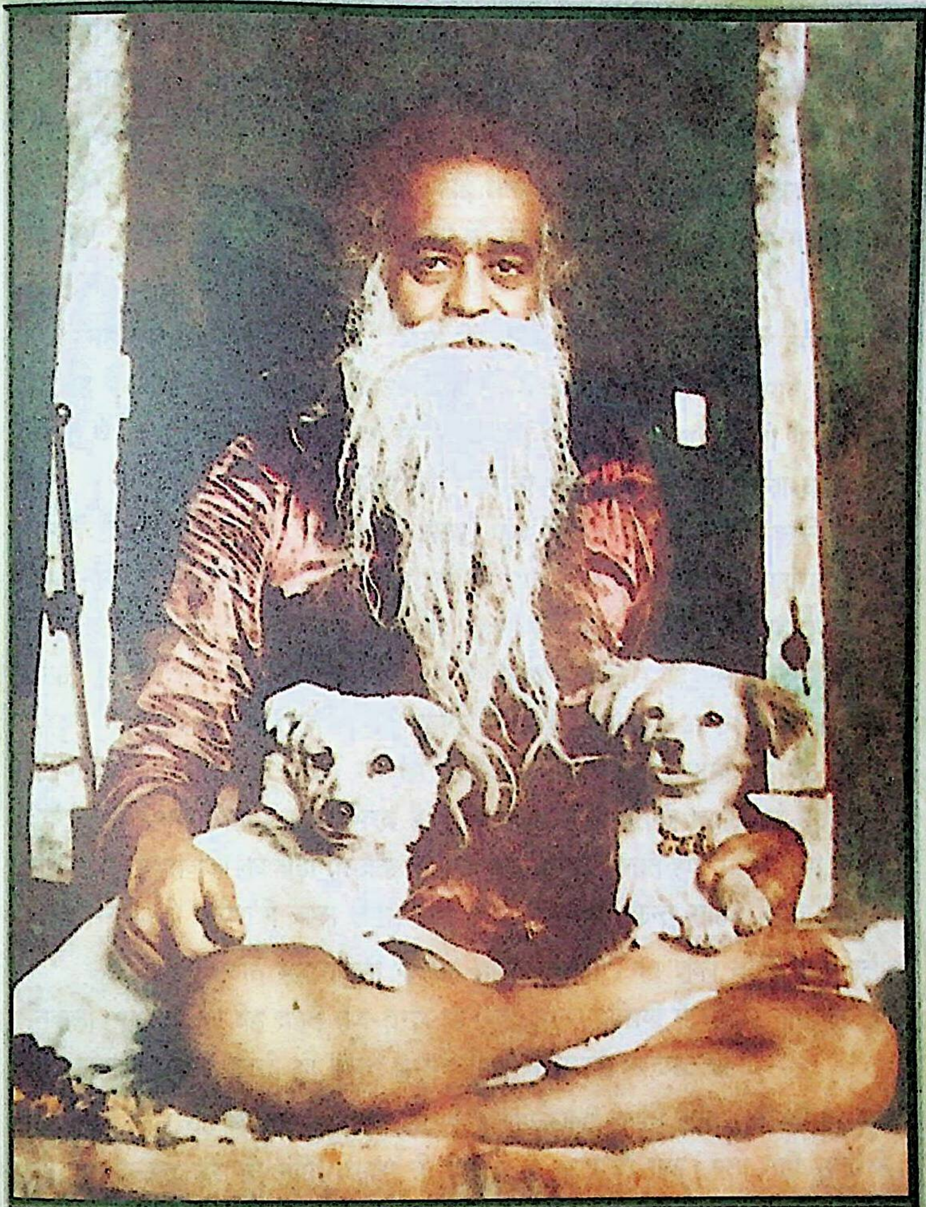

श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव श्री परमहंसजी महाराज
(शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।)

गया।" हजारों आदमियों के बीच से शेर उसे कैसे ले जायेगा?- हमने सोचा; किन्तु बात गुरु महाराजजी कह रहे थे, कोई इनकार कैसे करे? जीप अनुसुइया पहुँची। सभी दैनिक चर्या में व्यस्त हो गये।

तीसरे दिन धारकुण्डी से सन्देश आया-"भैरव को तो शेर खा गया। शेर की गुफा में उसका सीकड़ और पाँव के चिन्ह मिले हैं। हमें तत्काल महाराजजी की चेतावनी याद हो गयी, "बचाओ अब शेर से!" जहाँ कोई सम्भावना नहीं थी, वहाँ भी वह व्यवस्था हो गयी। महाराजजी ने सुना किन्तु हमलोगों को उन्होंने एक बार भी उलाहना नहीं दिया। सचमुच, वे बड़े दयालु थे।

महाराजजी के मन में आया, "भैरव मेरे हाथ से दूध पीता था, हमारे आसन पर भी वह बैठ जाता था। मैंने उसे सहलाया। साधक-सेवक ही उसे चलाते-फिराते, उठाते-बैठाते थे। क्या साधु-दर्शन एवं स्पर्श से उसको कोई लाभ हुआ होगा? हमारा भैरव किस योनि में गया होगा? पशु तो वह होगा नहीं, उसे तो मनुष्य-योनि में ही आना चाहिए।" उस दिन महाराजजी को अनुभव में आया, कुछ देवदूत दिखाई पड़े। एक ने कहा, "महाराजजी! चलें, आपका भैरव जिस रूप को प्राप्त हुआ है, दिखा दें।" महाराजजी ने उससे कहा "ले चल दिखा। कहाँ है?" वह महाराजजी को साथ ले गया। महाराजजी ने देखा, एक कार्यालय में साहब लोग बैठे हुए थे। मुख्य अधिकारी की कुर्सी रिक्त पड़ी थी। देवदूत ने बताया- "महाराजजी! यह कुर्सी खाली है, इसी पर आकर आपका भैरव बैठेगा।" तभी मोटा-सा, काले रंग का एक व्यक्ति आकर उस कुर्सी पर बैठ गया। देवदूत ने कहा, "यही आपका भैरव है, इसी स्वरूप तक इसकी प्रगति हुई है।" इस सूचना से महाराजजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। अपना अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा, "हो! भैरव मनुष्य के शरीर में जन्म लेगा, साधु तो नहीं बनेगा किन्तु साहब बनेगा।"

कुछ काल पश्चात् महाराजजी ने एक शुकी पाल ली। वह शुकी बहुत पढ़नेवाली निकली। स्वभाव की वह बहुत तेज-तर्रार थी। वह आश्रमवासियों में सबका नाम जानती थी। सबको प्रणाम करती थी किन्तु ब्रह्मचारीजी से उसकी खटपट थी।

एक दिन वह बीमार हुई और मर गई। महाराजजी कहने लगे, "ऐं, बीमार हुई और अकस्मात् मर भी गयी! हमारा तो पिंजरा ही सूना हो गया। पता नहीं मृत्यु के पश्चात् वह किस योनि को प्राप्त हुई होगी। पशु-पक्षी तो वह हो नहीं सकती। उसने मेरे हाथ से दाना खाया, राम-राम सीखा, साधु-साधकों का स्पर्श पाया है। अन्ततः साधु-संगति और स्पर्श से लाभ ही क्या हुआ?

उसी दिन महाराजजी को अनुभव में आया कि समीप ही सेमरिया गाँव में नवल पण्डित हैं। उनके यहाँ वह जन्म लेगी। दूसरे दिन महाराजजी ने उन पण्डितजी को बुलाकर कहा, "देखो! मेरी शुकी कल मर गयी है। वह तुम्हारे यहाँ कन्या बनकर जन्म लेगी। वह पक्षी-योनि से सीधा मानव-शरीर ग्रहण करने जा रही है। देखना, उसे ठीक से रखना। उसे कोई कष्ट न होने पाये।"

पण्डितजी एक कन्या के लिए लालायित थे। उन्हें मनमाँगी मुराद मिली। समय आने पर कन्या का जन्म हुआ। वह गोरे रंग की बड़ी सुन्दर लड़की थी। दम्पत्ति ने बड़े स्नेह से उसका पालन किया। विवाह का समय आने पर पण्डितजी निमंत्रण लेकर आए और बोले, "महाराजजी! आपकी सुग्गी का व्याह है, चलें।" महाराजजी ने कहा, "देखो हमें वहीं तक शौक था। अब सुग्गी तुम्हारी हो गयी। विभूति लो और जाओ अपनी व्यवस्था देखो।" अस्तु, महापुरुषों के संग से पशु-पक्षियों की भी योनियाँ बदल जाती हैं।

श्रीरामचरितमानस में है कि भगवान् राम वन-पथ पर अग्रसर हो रहे थे। उस समय जिन पशु-पक्षियों ने प्रभु को देख लिया, अथवा उन्होंने नहीं देखा और प्रभु ने ही उन्हें देख लिया, **'ते सब भए परम पद जोगू।'** *(मानस, २/२१६/२)*- उन सबमें परमकल्याण के संस्कारों का सृजन हो गया। महापुरुष कल्याणस्वरूप हुआ करते हैं। महाराजजी के सान्निध्य में रहनेवाले पशु-पक्षी भी उन्नत शरीरों को प्राप्त हुए।

तहसीलदार स्वामी

विचरणशील महात्मा अनुसुइया पहुँचते ही रहते थे। इसी क्रम में एक सन्त अनुसुइया आये। उनका शरीर ईंगुर-जैसा लाल था। महाराजजी को सादर प्रणाम कर वे एक ओर बैठ गये। महाराजजी ने पूछा, "कहाँ से आगमन हुआ? कब से इस वेश में हैं? शान्ति तो है?" वे बोले, "महाराजजी! मैं तहसीलदार था। सन्त-महात्माओं की वाणी सुनने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भजन ही सार है। अतएव सब कुछ त्यागकर ईश्वर-पथ पर निकल पड़ा। इस वेश में आये दो वर्ष हो चुके हैं। रही शान्ति की बात, तो महाराजजी! सब जगह देखने से यही लगता है कि माया जीत रही है और ब्रह्म हार रहा है।"

महाराजजी ने कहा, "अच्छा! तो माया क्या कर लेगी? जब भगवान अपना लेते हैं तो माया कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।" उन्होंने कहा, "महाराजजी! आप घोर जंगल में त्यागवृत्ति से रहते हैं इसलिये माया को ललकार रहे हैं। वैसे हम आपको भी देखेंगे कि ऐसा आप कब तक कह पाते हैं।" महाराजजी ने कहा, "ठीक है।" स्वामीजी विचरण में निकल गये।

दो वर्ष पश्चात् स्वामीजी पुनः अनुसुइया आश्रम पधारे। उन्होंने देखा कि महाराजजी की दशा पहले से भी अच्छी थी। उन्होंने महाराजजी को सादर प्रणाम कर पूछा, "आपने हमको पहचाना?" महाराजजी ने कहा, "तहसीलदार स्वामी हो क्या?" उन्होंने कहा, "हाँ महाराजजी, वही हूँ।" "और सुनाओ, ब्रह्म जीत रहा है कि माया? आपका क्या हाल है?"

महाराजजी ने कमण्डल उठाया और घूमने चले गये। इधर तहसीलदार स्वामी के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। कुछ देर पश्चात् महाराजजी लौटकर आये तो भक्तों ने महाराजजी से बताया कि तहसीलदार स्वामी तो रो रहे हैं।

महाराजजी ने कहा, "अब रोने से क्या होगा-

केरा तबहिं न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अब के चेते क्या हुआ, काटन्ह लीन्हा घेर।।

यह हुआ कैसे?"

उन स्वामीजी ने उत्तरकाशी के एक धर्मशाला में घटित घटना का वृत्तान्त कह सुनाया। इस घटना को वहाँ के लोगों ने यद्यपि नहीं जाना, किन्तु आत्मा ही मेरी शत्रु हो गयी। भक्तगण रोक तो लेते हैं लेकिन अब उनका मेरे प्रति कोई विशेष आदर-भाव नहीं रहता। वे चाहते हैं कि कब चले जायँ। हम सोचते थे कि उक्त घटना को कोई नहीं जानता। केवल हम जानते हैं या वह जानती है; किन्तु **'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।'** लगता है सबके हृदय में प्रेरणा हो जाती है। अब भजन में भी मेरा मन नहीं लगता। ऐसा कहकर वे पुनः रोने लगे।

महाराजजी ने कहा-- रोने से क्या होगा? अब तुम विश्वामित्र की तरह धैर्य के साथ पुनः लगो। जो पीछे घूमकर लड़ता है वह कायर नहीं कहलाता। हिम्मत क्यों हारते हो ? माया से सदैव डरना चाहिये। माया ही नारी है। घर छोड़कर आप साधु बन गये, वेश भी धारण कर लिया, ज्ञान-ध्यान की बातें भी करने लगे; किन्तु जब तक अनुभवी महापुरुष न मिलें तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना का अभ्यास और सेवा किये बिना साधना हृदय में जागृत नहीं होती। आपसे यही भूल हुई कि आपने महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त नहीं किया। इसलिये सद्गुरु के दरबार में श्रद्धापूर्वक अपना अभिमान त्यागकर पड़े रहना चाहिये। जब भजन-पथ पकड़ में आ गया, साधना जागृत हो गयी, उसके पश्चात् ही निराधार विचरण का विधान है। इस जागृति को प्राप्त साधक-

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा।।

(मानस, २/३११/५)

रामनगर की रामलीला

भगवान राम की रामलीला, भगवान श्रीकृष्ण की रासलीला, भगवान महाबीर, भगवान बुद्ध जैसे महापुरुष, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि भक्तों के नाटक भारत में अनादिकाल से होते आये हैं। आध्यात्मिक देश भारत में यह रामलीला, रासलीला खुली पुस्तक है। इन प्रचलित नाटकों से बच्चा-बच्चा श्रद्धा से भर जाता है। यह अध्यात्म-क्रिया की पहली कक्षा है। प्रवेशिका से मध्य तक का संस्कार इन्हीं नाट्य रूपकों से मिलता है। निरक्षर भी इन दृश्यावलोकनों से शिक्षित हो जाता है।

भारत मूर्तिपूजक कदापि नहीं है। बाल्यकाल से ही इन आध्यात्मिक संस्कारों का सृजन इन मूर्तियों से मिलता है। वही आत्मदर्शन का पथिक जब आगे की विद्या पकड़ लेता है तो पुनः जीवनपर्यन्त वह कभी मूर्ति के पास नहीं जाता। वह आरम्भ का मूर्तिपूजक एकान्त-शान्त झाड़ियों, खण्डहरों, वनस्थलियों की कुटियों में पाया जाता है।

संसार की समस्त विद्याओं का ज्ञाता भी अध्यात्म-पथ में मात्र प्रवेशिका का छात्र है। उसने शरीर-निर्वाह पढ़ा है, आत्मानुभूति की क्रिया नहीं। वह तो तब आती है जब चिन्तन से हृदय का आवरण धुल जाय और आत्मा रथी हो जाय। वैसे तो यह लीलायें भारत में बारहों मास चलती रहती हैं; किन्तु वर्षा के मध्य भाग श्रावण-आश्विन मास का समय इन लीलाओं के लिए निर्धारित है। ग्राम, गली, हर जनपद में इन लीलाओं की बाढ़ आ जाती है। बाल्यकाल से ही महाराजजी ने इन लीलाओं का अवलोकन किया था। इनमें से काशी के रामनगर की रामलीला आपको बहुत ही प्यारी लगती थी। क्वार मास आते ही महाराजजी के मन में विचार आया कि काशी जाकर रामनगर की रामलीला एक बार और देख ली जाय। ज्योंही चलने की तैयारी की, भगवान ने मना किया कि मत जाओ; फिर भी महाराजजी सोचते कि भगवान आदेश देते तो जाकर देख आते।

इतना संकल्प आया ही था कि महाराजजी जब भी सायंकालीन ध्यान में बैठते, शरीर तो अनुसुइया में रहता किन्तु स्वरूप उड़कर रामनगर की रामलीला में आ जाता था। चेतना सिमटकर रामनगर चली आती थी। जब रामलीला समाप्त होती तो स्वरूप पुनः उड़कर वापस अनुसुइया पहुँच जाता था। वे पुनः सचेत हो जाते थे। रामनगर की समस्त रामलीला ज्यों-की-त्यों महाराजजी को दिखाई पड़ने लगी। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा।

एक दिन महाराजजी कुछ चिन्तित थे। वे बोले, "हो! आज रामनगर की रामलीला में राजा का हाथी बिगड़ गया। सम्पूर्ण मेला-क्षेत्र में भगदड़ मच गयी। मैं भी दबते-दबते किसी तरह बचा। व्यासजी रामजी का हाथ पकड़कर भागने लगे। बड़ी हँसी हुई।"

महाराजजी भक्तों के बीच यह बता ही रहे थे कि चित्रकूट के तीर्थ-पुरोहित कार द्वारा काशी से आनेवाले कुछ यात्रियों को लेकर अनुसुइया दर्शन को पहुँचे। महाराजजी के मुख से यह कथानक सुन वे आश्चर्य में पड़े। उन्होंने साश्चर्य कहा, "महाराजजी! आप कब आये? हम लोग भी वहाँ थे और चले ही आ रहे हैं। आप हम लोगों से भी पहले आ गये- ऐसा कैसे सम्भव है?" महाराजजी ने हँसते हुए कहा, "हम कहीं गये नहीं थे। यहीं बैठे-बैठे देखा करता हूँ। भगवान चाहें तो अपने भक्त को कुछ भी दिखा सकते हैं। पत्थर पर भी दूब जम सकती है। वे असम्भव को सम्भव बना सकते हैं। जेल में सन्त नानक की चक्की चल गयी थी। करते भगवान हैं, श्रेय अपने भक्त को देते हैं। **करत करावत आप हैं पलटू पलटू शोर।**"

जंगल में रेडियो

उन्हीं दिनों भारत-चीन सीमा पर युद्ध चल रहा था। लोगों से सुनकर महाराजजी कहते, "हो! कोई मुझे भी ठीक से लड़ाई का समाचार तो सुनाता।" कर्वी ग्राम्यांचल के वासुदेव नामक भक्त ने एक रेडियो अर्पित करते हुए कहा, "महाराजजी! यह आपको इस जंगल में भी सही समाचार देता रहेगा।" उन दिनों बाँदा जिले में रेडियो एक दुर्लभ वस्तु थी। अनुसुइया से चित्रकूट तक तो यह किसी के पास न थी। कर्वी के दो-एक सेठ-साहूकारों के पास तक ही यह सीमित थी। बड़े शहरों में ही इसका प्रचलन था। रेडियो देखकर मुझे बहुत चिन्ता हुई; क्योंकि इसमें भले-बुरे सभी तरह के गाने आते ही रहते हैं, जिनका गलत प्रभाव साधकों पर पड़ सकता था। अतः हमने महाराजजी से निवेदन किया, "महाराजजी! रेडियो आश्रम में न रखा जाय। शहरों में लोग दिन-रात सिनेमा देखते और रेडियो के गाने ही तो सुनते रहते हैं। मशीनों की चकाचौंध से घबड़ाकर चित्त को विश्राम देने के लिये ही तो लोग जंगल में सन्तों का दर्शन करने आते हैं।"

महाराजजी ने कहा, "देख मेरे लिये अब कोई विधि-निषेध नहीं है। मैंने न इसे मँगाया है न मुझे इसकी कोई इच्छा ही थी। पता नहीं, कैसे ये वस्तुयें स्वाभाविक रूप से मेरे पास चली आ रही हैं। मुझे कोई बाधा भी नहीं दिखाई देती।"

मैंने कहा- "फिर भी महाराजजी! लोकदृष्टि में यह उचित नहीं है।" महाराजजी ने कहा, "अच्छा तू कहता है तो हम इसे हटा देते हैं।" महाराजजी ने वह रेडियो उसी भक्त के यहाँ भेज दिया।

उसी दिन सिंचाई विभाग के एक ओवरसियर महाराजजी के दर्शन-हेतु आश्रम में आये। उन्होंने कहा, "महाराजजी! हमने सुना है कि आपके पास रेडियो आया है।"

महाराजजी ने कहा, "हाँ हो! आया तो था लेकिन हमारे एक शिष्य हैं, वे कहते हैं कि इसे न रखा जाय। इससे साधकों पर बुरा संस्कार पड़ सकता है, इसलिये हमने उसे जिसका था उसी के पास लौटा दिया है।"

ओवरसियर ने कहा, "महाराजजी आप योगी हैं। आपके लिये विधि-निषेध कहाँ है?

अवधू सहज समाधि भली।
जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
भीतर बाहर एक ही देखूँ, भाव मिटा सब दूजा।।

आपके लिए कर्तव्य और अकर्तव्य की सीमा कहाँ है।"

महाराजजी ने तुरन्त हमें बगिया से बुलवाया और बोले, "देखो, यह क्या कह रहे हैं?" हमने सुना तो कहा, "महाराजजी! ये कहते तो ठीक हैं, आपके लिए तो वास्तव में इसका कोई प्रभाव नहीं है। रेडियो बाधक तो हमलोगों के लिए है।" महाराजजी ने कहा, "तो तुम अपना बचाव देखो। जिस भजनानन्दी की सुरत लक्ष्य में लग जाती है तो बैण्ड-बाजा या रेडियो कुछ भी बजता रहे, न कानों से सुनाई पड़ता है न दृश्य ही दिखाई पड़ता है।" रेडियो लौटकर आश्रम में आ गया। महाराजजी उससे केवल समाचार सुनते या यदाकदा दिन में दो बजे गोरखपुर से प्रसारित होनेवाले लोकगीत! शेष समय में रेडियो वैसे ही पड़ा रहता था।

दान में दान

अनुसुइया आश्रम के प्रति भक्तों का भाव बढ़ने लगा। मंगल यादव ने आश्रम के समीप एक बाग लगाया। महाराजजी को दूध पीने के लिए तीन-चार गायों की व्यवस्था कर ली। यमुना तटवर्ती सिलौटा ग्राम के जमींदार ठाकुर नन्हकू सिंह तीर्थस्थलों की यात्रा के समापन पर दर्शनार्थ अनुसुइया आये। उन्होंने अनेक सन्त-महात्माओं का सान्निध्य प्राप्त किया था किन्तु महाराजजी के दर्शन तथा सदुपदेश से आपको सन्तोष मिला। शिष्यत्व ग्रहण कर उन्होंने अपना हाथी महाराजजी की सेवा में अर्पित कर दिया। महाराजजी ने कहा, "हो, हम क्या करेंगे हाथी? यह साधु को कहाँ शोभा है?" उन्होंने साष्टांग दण्डवत् कर कहा, "भगवन्! यह तो अब आपका हो चुका है। दान का संकल्प लौटाया नहीं जा सकता।" उस समय पाँच-छः सौ महात्माओं का एक समूह निरंजनी अखाड़ा चित्रकूट में चातुर्मास्य कर रहा था। महाराजजी ने उन सबको आमंत्रित कर उनका भण्डारा किया तथा वस्त्र इत्यादि मांगलिक पदार्थों से सुसज्जित कर वह हाथी उन

महात्माओं को दान कर दिया। महाराजजी कहते थे, **"दान में से दान दे, तीनों लोक जीत ले।"**

गाछी–बाछी–दासी

क्षेत्रीय लोगों की गायें जंगल में चरने आती थीं। महाराजजी के कुछ भक्तों ने उन्हें समझाया कि सारा जंगल पड़ा हुआ है, अन्यत्र अपनी गायें चरायें, केवल इस पहाड़ी के नीचे न लाया करें, इससे बगीचे को क्षति पहुँचती है। यह सुझाव उन लोगों को भारस्वरूप प्रतीत हुआ। उनमें से कुछेक भक्त श्री ब्रह्मचारीजी (स्वामी सच्चिदानन्दजी) से हिले-मिले थे। उन लोगों ने धारकुण्डी जाकर स्वामीजी से निवेदन किया, "आपके आने के पश्चात् अब अनुसुइया में गायें आ गयी हैं। एक बगीचा लग रहा है। पशुओं के लिए चारे पर रोक है और कुछ दिनों पश्चात् खेती का आयोजन भी लगता है। हमलोगों को असुविधा होती है।"

स्वामीजी ने टेलीग्राम देकर जगतानन्द से स्वामी श्री भगवानानन्दजी को बुलवाया। कुछ भक्तों के साथ भगवानानन्दजी धारकुण्डी पहुँचे। उन सबको तथा दो-चार अन्य भक्तों को लेकर धारकुण्डी महाराजजी अनुसुइया के लिए चल पड़े। इधर महाराजजी अनुसुइया के भक्तों के बीच बैठे कह उठे, "समझ में नहीं आता क्या गड़बड़ है? हूँ, अब समझ में आया, आ रहे हैं सब जुटकर हमें ज्ञान सिखाने! अण्डा कहे बच्चा से चूँ-चूँ मत कर। हमारे जन्माये हुए हमें ही ज्ञान सिखाने आ रहे हैं।" लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि महाराजजी किसके लिए ऐसा कह रहे हैं।

सूर्यास्त हो गया। भली प्रकार अँधेरा होते-होते सब-के-सब ट्रक से अनुसुइया आ गये। सबने महाराजजी को प्रणाम किया। महाराजजी शान्त बैठे थे। उन्होंने पूछा, "अचानक इतने लोग साथ आए हो, कोई बात है क्या?" वार्ता का सूत्र धारकुण्डी महाराजजी ने पकड़ा, "महाराजजी! आश्रम में गायें आ गयी हैं, बगीचे में पन्द्रह-बीस पेड़ लग गये हैं, यह साधु की शोभा नहीं है। इससे उत्साहित होकर कुछ दिन में लोग खेती भी करने लगेंगे। आप कहा करते थे- **गाछी बाछी दासी, तीनों साधु की फाँसी।"**

महाराजजी हँसे और बोले, "यह तो मैं अब भी कहता हूँ और सही कहता हूँ, साधक के लिए सदैव फाँसी है; क्योंकि संग-दोष होता है। लेकिन अब हमारे लिए विधि-निषेध नहीं है। योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

(गीता, २/७०)

तुम लोग अपने लिए सतर्क रहो। रही बात गाय की, तो मैंने न कोई गाय मँगायी है न रखी है। हमें पता ही नहीं कि कहाँ गाय है और कहाँ बगीचा लग रहा है। मैंने अभी तक उसे देखा भी नहीं। वही मंगल कहीं से दो-तीन गायें मँगाकर बगल के जंगल में पड़ा है। वही झगड़े की जड़ है। उसी को भगाओ। दूध की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, उसके रहने से इतनी सुविधा अवश्य है कि गोरखपुर, कानपुर, बनारस जैसे दूरस्थ शहरी भक्त यहाँ आते हैं, वे चाय के आदी होते हैं। घोर जंगल में चाय न मिलने पर छटपटाने लगते हैं। वह अहीर पाव-सेर दूध रखता है, जिससे वे जब भी आते हैं चाय मिल जाती है। गायें वह अपने तरीके से रखता है। आवश्यकता पड़ने पर दूध की व्यवस्था कर जाता है। हमसे या आश्रम से उन गायों की व्यवस्था का कोई दायित्व नहीं है।"

धारकुण्डी महाराजजी ने कहा, "महाराजजी! आपके इस पावन आश्रम में यह फिर भी शोभनीय नहीं है।" महाराजजी किंचित् रुष्ट होकर बोले, "अच्छा, तू भी कह रहा है। जाओ, तुम्हें भी यह सब करना पड़ेगा, समझे! अब जाओ!" वातावरण को सहज बनाने के लिए भगवानानन्दजी ने कहा, "लेकिन महाराजजी! प्रसाद तो अभी मिला नहीं।" आप बिगड़े, "प्रसाद नहीं मिलेगा। भागो यहाँ से, निकल जाओ!"

जब सब शान्त हो गये। रात्रि के लगभग ग्यारह बजे महाराजजी ने सबको बुलाया, प्रसाद दिया और स्नेह से सबका कुशलक्षेम पूछा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। परिणाम यह हुआ कि महाराजजी के यहाँ तो गाय की भूमिका मात्र थी। केवल तीन-चार गायें, बीस-तीस पौधे तथा थोड़ी-सी जगह में फूल-पत्तियाँ इत्यादि बोने का उपक्रम था, जबकि धारकुण्डी आश्रम में इस समय लगभग डेढ़ सौ गायें, चालीस भैंसे, कई सौ एकड़ का बगीचा और खेत का उपक्रम लगा हुआ है-

होइ न मृषा देवरिषि भाषा। *(मानस, १/६७/४)*

हमने धारकुण्डी महाराजजी से एक बार पूछ ही लिया कि आपके यहाँ यह सब क्या है? वे बोले, "महाराजजी ने जो आशीर्वाद दिया था, वही है।" पूज्य महाराजजी कहा करते थे, "लोग कहते हैं सिद्धि-सिद्धि! लेकिन सिद्धि जैसा कुछ भी नहीं है। महापुरुष मन से जो कह देते हैं उसे होना ही होना है। वे दबाव देकर कुछ भी कह दें, वह हो जाता है। महापुरुष के पास वाक्-सिद्धि होती है। सब कुछ मिल जाने पर भी गुरु की महिमा अतुलनीय है। उनके समक्ष आत्मप्रशंसा करने की धृष्टता नहीं करनी चाहिए। कुछ भी शेष न रह जाने पर भी गुरु के प्रति आदरभाव सदैव रहना चाहिए।

ईश्वर-पथ में नकल नहीं

महाराजजी के अनुसुइया में निवासोपरान्त तीन-चार वर्ष व्यतीत होते-होते यह

वन-प्रान्तर निर्विघ्न हो गया था। सन्त-महात्मा तथा भाविक भक्त वहाँ आने-जाने लगे थे। एक महात्मा हाथ में दण्ड लिए वहाँ पधारे। उन्होंने देखा, इस घोर जंगल में परमहंसजी दिगम्बर, कोई वस्त्र नहीं किन्तु प्रसन्न मुद्रा मे बैठे हैं। दो-चार साधक आसपास सेवारत हैं। उन्होंने समझा कि इसी वेशभूषा के कारण साधुता प्रशंसित होती है, अतः अपना दण्ड-कमण्डल तथा वस्त्र एक अन्य सन्त को सौंपकर स्वयं दिगम्बर हो एक ओर चल पड़े। उसी क्षेत्र में वे विचरण करने लगे। अब वे अपने हाथ से भोजन भी ग्रहण नहीं करते थे। कोई उन्हें अपने हाथों खिलाता तभी खाते, बहता पानी पी लेते।

कुछ दिनों पश्चात् वे पुनः अनुसुइया पहुँचे। उन्होंने देखा कि परमहंसजी के पास दुःखी लोगों तथा भक्तों का ताँता लगा हुआ है। वे उन्हें डाँट-फटकार रहे हैं। साधुता में और भी रौनक है। उस दिन से उन्होंने भी मौन तोड़ दिया और कुछ कहने लगे; किन्तु जब वे गाली देते तो लोग पलटकर उन्हें भी कुछ कहने लगते थे। लोगों के प्रत्युत्तर से परेशान होकर महाराजजी की रहनी का सूक्ष्म निरीक्षण करने के लिए वे पुनः अनुसुइया आये।

इस बार उन्होंने देखा कि तख्त के ऊपर गद्दा बिछा है। महाराजजी उस पर बैठे हैं। कोई पंखा लेकर खड़ा है तो कोई चँवर डुला रहा है। वे उन्हीं खण्डहरों के बीच तख्त पर आसन लगाकर बैठे। दो सेवक पंखा झलने के लिए भी रख लिया। प्रचार होने लगा कि सोमवार को उनसे कोई जो भी माँगेगा, उसे मिलेगा। दो-एक मास ऐसा चला; फिर एक अप्रत्याशित विघ्न आया जिससे वे वहाँ से चले गये।

क्षेत्रीय भक्तों द्वारा महाराजजी को भी उनके जाने की सूचना मिली। महाराजजी ने कहा, "वेश बनाने या वस्त्र फेंक देने मात्र से क्या होता है? उन्हें चाहिए था कि कुछ दिन हमारे पास रह लेते तो योग-साधना भी जागृत हो जाती और सदा के लिए सब ठीक हो जाता। उनकी लगन अच्छी थी। **'अवधू! भजन भेद कछु न्यारा। जाने कोई जाननहारा। पशु सम नगन फिरे का होई, चन्दन घिसे लिलारा।'** अरे, अनुभवी महापुरुष के सान्निध्य के बिना भजन जागृत कैसे होगा? जब तक सद्गुरु तुम्हारी आत्मा से रथी नहीं हो जाते, भजन की कुंजी मिलेगी ही नहीं। साधक को कभी किसी की नकल नहीं करनी चाहिए। साधक को अपना स्तर देखना चाहिए कि मैं कहाँ हूँ, किस स्तर पर हूँ? फिर वह जहाँ है वहीं से आगे के लिए उसे प्रयास करना चाहिए। यदि साधक महापुरुष की नकल कर कर्म से विरत हो जाता है तो वह भ्रष्ट हो जाता है। नकल इस चिन्तन-पथ का बहुत बड़ा व्यवधान है। साधक को इससे सावधान रहकर धैर्य के साथ चिन्तन में लगे रहना चाहिए।"

महाराजजी द्वारा भण्डारा

महाराजजी की सेवा में एक दिन दस-पन्द्रह ब्राह्मण एकत्रित हो गये। सुपारी-तम्बाकू खाया, वाणी श्रवण किया। जब जाने लगे तो बोले, "महाराजजी! आप ब्राह्मण-भोजन क्यों नहीं कराते?" महाराजजी बोले, "हो, मेरे लिए न पाप है न पुण्य फिर भी तुमलोगों का मन है तो कर लो। मोके भगवान माने है। जैसे चाहो, जो चाहो बनाओ, खाओ-खिलाओ। मेरे पास कौनो कमी नहीं है। करो, लेकिन झगड़ा मत करना-**तीन जाति लड़होड़ा, ब्राह्मण कुत्ता घोड़ा।**" उन लोगों ने प्रसन्न मन से कीर्तन-भण्डारा करना स्वीकार किया।

हो तो रहा था ब्राह्मण-भोजन किन्तु जिसने भी सुना कि महाराजजी के यहाँ आश्रम पर कीर्तन हो रहा है, भण्डारा समझ श्रद्धा-निवेदनहेतु आश्रम पहुँचने लगे। एक चमार भक्त गले में हारमोनियम लटकाकर उसे बजाता हुआ उस मण्डप के चारों ओर परिक्रमा करने लगा, जिसमें कीर्तन हो रहा था। महाराजजी के आसन से लगभग पचीस मीटर दूरी पर वह मण्डप सजाया गया था। रात्रि के दस-ग्यारह बजे थे, महाराजजी आसन पर बैठे गाँजा पी रहे थे। दरबार लगा था, तब तक कीर्तन व्यवस्थापक आकर बोला, "महाराजजी गजब हो गया, कीर्तन तो भरभण्ड हो गया।" महाराजजी बोले, "क्या हो गया रे! घी गिर गया तो और ले ले। कुछ कमी हो तो बोल। क्या गजब हो गया?" उसने कहा, "नहीं महाराजजी! एक चमार मण्डप के चारों ओर घूम गया, मण्डप छू दिया। अरे राम-राम, धर्म तो नष्ट हो गया।" महाराजजी हँसे और बोले, "क्यों रे! कभी भगवान भी नष्ट होते हैं। जो शाश्वत है वह नष्ट कैसे होगा? धर्म कैसे नष्ट हो गया रे?" किन्तु पंचायत बढ़ती चली गयी। महाराजजी के हितैषी पण्डित लोग भी विपक्ष में बोलने लगे।

तब तक सेना से अवकाशप्राप्त एक पण्डित आ गये। सेना में संग-साथ के प्रभाव से वह शरांब का भी सेवन करने लगे थे। आते ही उन्होंने कहा, "अनर्थ हो गया महाराजजी! बड़ा भारी अनर्थ! हम ब्राह्मणों को तो लै डारयो महाराजजी!" महाराजजी ने कहा, "ऐं, यह भी आ गया।" अपने एक श्रद्धालु को बुलाकर महाराजजी ने कहा, "दे तो इसे एक पौवा।" शराब पी लेने पर वह बोले, "बिल्कुल ठीक तो हो रहा है। महाराजजी महापुरुष हैं, इनके दरबार में न कोई ऊँच है न नीच। जगन्नाथजी के भात की तरह यहाँ का सब कुछ महाराजजी का प्रसाद है। जिसे खाना हो खाय, नहीं तो जाय।" वह बिगड़ा तो लोग बोले, "गर्गजी! चुप रहें। क्या कह रहे हैं?" गर्ग बोले, "भाइयो! मैं तो चुप हूँ। मैं मिलिट्री में रह चुका हूँ। सब जाति के लोगों के साथ मैंने खाया है। तुमलोग भी होटलों में खाते, मोटरों में सबसे सटकर बैठते रहे हो। भगवान

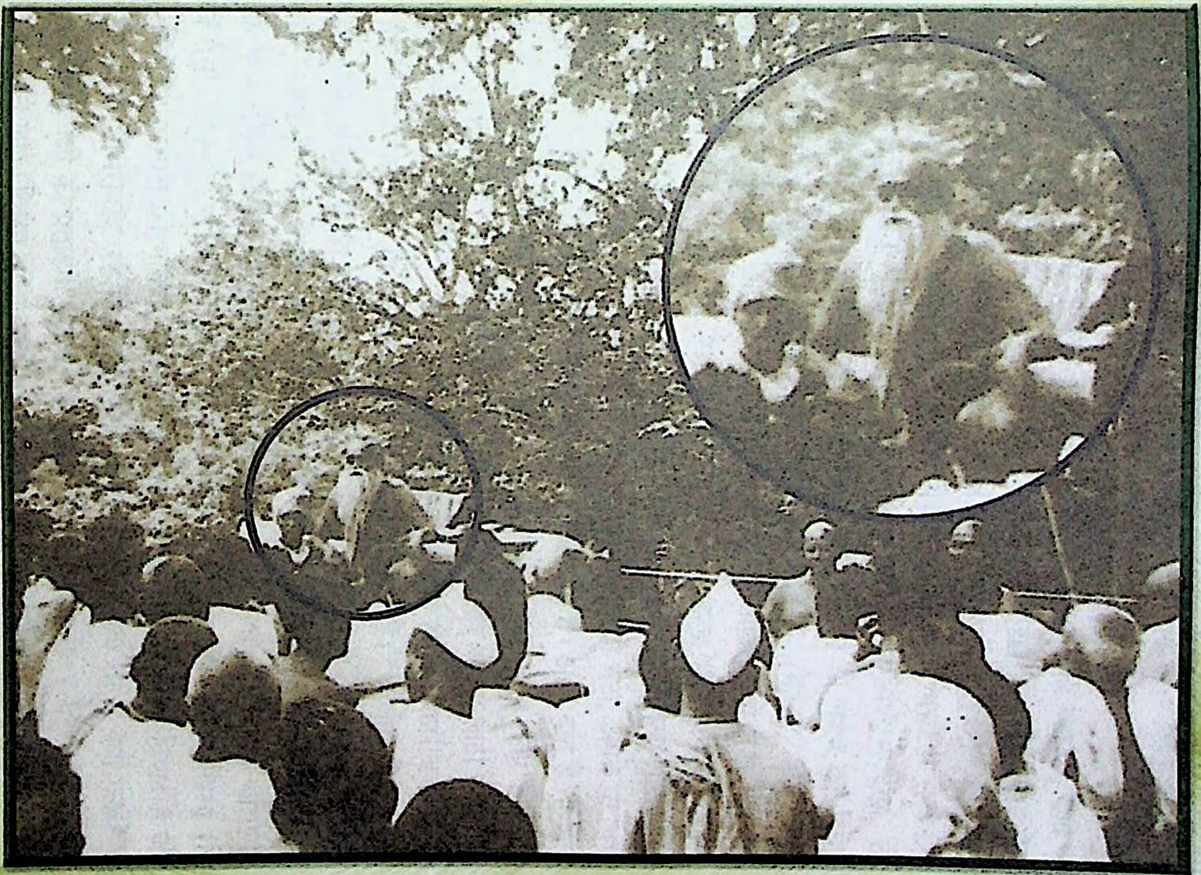

विशेष पर्वों पर साधकों और भक्तों के बीच श्री परमहंस जी महाराज

कसत नष्ट होइगा। यदि छूने से भगवान नष्ट हो गया तो तीर्थों वाले सभी भगवान नष्ट हैं। ईसाई, मुसलमान, यहूदी सभी तो तीर्थों में आते-जाते हैं।" उन सबने कहा, "अच्छा, अच्छा! कोई बात नहीं। गुरु महाराजजी की शरण में सब ठीक है।" कीर्तन-भागवत यथावत् होने लगा।

कीर्तन के समापन पर भण्डारा हुआ। शुद्ध देशी घी से पूड़ी बन रही थी, देशी घी में ही बुनिया निकाली गई। बड़े-बड़े कड़ाहों में सब्जियाँ बन रही थीं। कोई कुछ सेवा कर रहा था तो कोई व्यवस्था की देखरेख में व्यस्त था। दूर-दूर से चारों ओर के ब्राह्मण उस निमंत्रण में आये थे। गुर्दवान नाम के एक पण्डितजी आश्रम के भक्तों में से थे। वे एक कड़ाही पर बैठकर पूड़ी निकालने लगे। उनके विरोधी पड़ोसियों ने देखा, तो महाराजजी के पास आये और कहा, "ओह महाराजजी! आपने तो गजब कर दिया, **'धर्महेतु अवतरेउ गोसाईं। मारेहु मोहिं ब्याध की नाईं।।'** *(मानस, ४/८/५)* महाराजजी अब हमलोग भोजन नहीं करेंगे। हमलोगों को आपने क्यों बुला लिया?" महाराजजी ने कहा, "अब क्या हो गया? किसने तुम्हें मार डाला?" उन्होंने बताया कि गुर्दवान पण्डित पूड़ी निकाल रहे हैं जबकि आपस में उन लोगों से बोलना और खाना पिछले छः मास से बन्द है। महाराजजी ने उन्हें समझाया, "देखो बेटा, अपने घर तक ही यह विवाद सीमित रखो। खाना-पीना तुम्हारा-उनका बन्द है। आज बन्द है तो कल एक हो जाओगे। गाँव-घर में तो यह होता ही रहता है। चार बर्तन जहाँ होते हैं, खन्-खट् होता ही है। मेरे लिए तो सब बराबर हैं। क्या तेरी ओर से हम लाठी चलायें?" किन्तु उन लोगों ने कहा, "महाराजजी! जियत माखी न खाई होई।" महाराजजी बोले, "क्यों रे, तू जानता था कि महाराजजी के लिए सभी बराबर हैं।" वे लोग बोले, "जी महाराजजी! यह तो जानत रहेउ।" महाराजजी ने कहा, "जब जानते थे कि बाबा के लिए सभी बराबर हैं और सबके यहाँ निमंत्रण गया है तो तू चला क्यों आया? तुम्हें वहीं से कह देना चाहिए था कि बाबा की ऐसी की तैसी! मैं नहीं जाऊँगा। तेरे ब्राह्मण की ऐसी की तैसी, भाग यहाँ से अपना जाति-पाँति, भेदभाव लेकर। हम तो इसलिए खिला रहे हैं कि लोग परम्परा को मानकर खाते-खिलाते रहें। क्या मेरी बिटिया का विवाह है जो मुझसे नाक-भौं सिकोड़ रहे हो? जब तुमसे खाते ही नहीं बनता तो मैं क्या करूँ?"

महाराजजी की प्रताड़ना सुनकर अधिकांश लोग पंक्तिबद्ध होकर बैठ गये। भोजन परोसा जाने लगा। विरोध व्यक्त करनेवाले दो-चार लोग मन्दाकिनी नदी के किनारे जाकर बैठ गये। वे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे, "महाराजजी तो बिगड़ गये। घर-गाँव का पचड़ा महाराजजी के माथे नहीं मढ़ना चाहिए था। महाराजजी को नाराज करके जाना उचित नहीं है।" ऐसा परामर्श कर वे एक घण्टे पश्चात् पुनः महाराजजी के पास पहुँचे,

उन्हें प्रणाम कर वे बोले, ''महाराजजी! प्रसाद के रूप में हमलोगों को बुनिया दी जाय।'' महाराजजी ने कहा, ''तुम्हारे लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है।''

पंगत चल रही थी। वे लोग उठे और सबके बीच जाकर प्रेम से भोजन किया। उस दिन से उनका घरेलू वैरभाव भी समाप्त हो गया। उनलोगों की श्रद्धानुसार आश्रम में भण्डारों का क्रम चल निकला। विगत वैर सभी क्षेत्रीय भक्त सहयोग की भावना के साथ महाराजजी की सेवा में तत्पर रहने लगे। उन महापुरुष के साहचर्य से- **'बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।'** *(मानस)* सन्त के सान्निध्य से आपसी कटुता का शमन सदा के लिए हो गया।

महाप्रयाण की बेला

साधन के द्वारा साध्य की उपलब्धि हो जाने पर लक्ष्य से तद्रूप रहते हुए महापुरुषों का साधन से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। शाश्वत अमरत्व के गुण से विभूषित हो जाने पर वे कालजयी हो जाते हैं। एक बार श्री परमहंस महाराजजी भी स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए बोले, ''मैं मरूँगा नहीं, काल से मुझे छुटकारा मिल गया है; परन्तु किसी शिष्य द्वारा शब्द की गोली मारे जाने से शरीर अवश्य त्याग दूँगा। **'शब्दै मारा गिर पड़ा, शब्दै प्राण पयान।'** किसी संभावित पुरुष के लिए शब्द की मार गोली से भी बढ़कर है। यह समझ लूँगा कि अब इनको मेरी आवश्यकता नहीं है।'' तब मैंने विनयपूर्वक आग्रह किया कि इन माध्यमों अथवा अन्य माध्यमों से शरीर-त्याग कर देने में क्या अन्तर है? आपने समझाते हुए कहा, ''किसी-न-किसी बहाने से शरीर तो छोड़ना ही पड़ेगा। राम भी शरीर नहीं रख सके, लक्ष्मण का बहाना लेकर सरयू में समा गये। श्रीकृष्ण ने बहेलिये के माध्यम से शरीर का त्याग किया। मैं भी किसी माध्यम को अपनाऊँगा।'' तत्पश्चात् मैंने यह प्रश्न किया कि, ''महाराजजी! क्या शरीर रखा जा सकता है?'' उन्होंने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा कि वाल्मीकि, नानक, कबीर आदि, एक-से-एक ऋषि-महर्षि जैसे- महाबीर, गौतम बुद्ध किसी का भी तो शरीर आज दिखाई नहीं देता। यह शरीर नश्वर है। जिस उद्देश्य से यह शरीर धारण किया गया है, उसकी पूर्ति के उपरान्त इस शरीर का उपयोग नहीं रह जाता है। चाहे जब त्याग दे। वह पूरा हो गया। कुछ भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है। यह महापुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। इसलिए मैं मरूँगा तो नहीं, सूक्ष्म शरीर से सदैव तुम लोगों के बीच रहूँगा तथा कल्याण भी करूँगा।''

एक साधक से कुछ भूल हो गई। जब उनका आश्रम में प्रथम आगमन हुआ था, तब महाराजजी ने कहा था, ''न तो यह भ्रष्ट योगी है और न इसमें साधुता का कोई लक्षण ही है। हाँ, मैं देख रहा हूँ कि इसका आश्रम में मेरे पास रहने का संस्कार है।'' उसका चरित्र संदिग्ध प्रतीत होने पर महाराजजी ने कहा, ''इसने तो मेरी नाक कटा दी।''

महाराजजी में करुणा भी बहुत थी। वे कभी किसी का त्याग नहीं करते थे। कितना ही कोई पापी क्यों न हो, महाराजजी उसके उद्धार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। वे कहते थे- **'सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पावँर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि।।'** *(मानस, ५/४३)* महाराजजी उस साधक के लिए भी चिन्तित थे। वे भयवश महाराजजी के पास नहीं आ पा रहे थे। महाराजजी ने सुना तो बोले, "हो, एक बार कोई उसे पकड़कर मेरे पास ले आता तो मैं उससे भूल का प्रायश्चित कराकर फिर से उठा लेता।"

शरीर त्यागने के एक दिन पूर्व ही मैंने महाराजजी से निवेदन किया, "आपके कथनानुसार पहले यहाँ अधिकारी लोग ही लिए जाते थे; परन्तु अब अनधिकारियों को क्यों ले लिया गया?" तब आप विस्मित स्वर में बोले, "तू बात क्या करता है, गोली की तरह लगती है।" मुझे संकुचित देखकर बोले, "मैं कैसे समझाऊँ, तुम लोग वाणीरूपी गोली का प्रहार कर रहे हो, जो शरीर को छेदती हुई चली जा रही है।"

उसी समय पथरा गाँव के एक पण्डितजी आ गये। महाराजजी ने उन्हें सम्बोधित कर बोले, "पण्डित! तुम्हारा भी बुढ़ापा है और मेरा भी, अब समय अधिक नहीं रह गया है; तुम्हें जो कुछ करना हो इसी समय कर लो। मेरा यह शरीर देखते भर हो; किन्तु शरीर है नहीं।" किसी भक्त ने कहा, "महाराजजी मैंने एक स्वप्न देखा है कि आपका शरीर छूट गया।" महाराजजी ने कहा, "हाँ हो! ठीक देखा है, मैं भी तो यही कह रहा हूँ कि यह शरीर है नहीं।"

पाँच दिन से महाराजजी प्रायः यही समझाया करते थे कि अब कोई कार्य शेष नहीं है। पाँचवें दिन सूर्य की पहली किरण के साथ महाराजजी ने साधकों को पास बुलाया और आदेशात्मक ढंग से साधना पर पूरा बल देते हुए कहा- **'राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै। तौलौं, तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै।।'**- स्वर्ग चले जाओगे तब भी तीनों ताप पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। **'सुरसरि-तीर बिनु नीर दुख पाइहै।'**- गंगा के किनारे होते हुए भी प्यासे मर जाओगे। **'सुरतरु तरे तोहि दारिद सताइहै।।'**- कल्पवृक्ष के नीचे बैठ जाओ तब भी दरिद्रता पिण्ड नहीं छोड़ेगी। **'छूटिबे के जतन बिसेष बाँधो जायगो।'**- भजन के बिना तू ज्यों-ज्यों छूटने का यत्न करेगा, विशेष रूप से बँधता जायेगा। **'ह्वैहै बिष भोजन जो सुधा-सानि खायगो।।'**- अमृत मिलाकर भोजन करेगा वह भी विष का काम करेगा। **'जागत, बागत, सपने न सुख सोइहै। जनम जनम, जुग जुग जग रोइहै।।'**- जागते हुए, बागते अर्थात् घूमते-टहलते हुए कहीं भी चले जाओ, सपने में भी सुख से नहीं सो सकोगे। प्रत्येक जन्म में युग-युगान्तरों तक जगत् में रोते ही रह

जाओगे। **'तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीन को। रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को।।'**- और कोई माने या न माने, तुलसी तुम-जैसे दीन को तो राम-नाम का ही सहारा है। तुम्हारा तो उसी से कल्याण है।

उस दिन महाराजजी लगातार उपदेश देते गये। साधन-भजन पर विशेष बल देते हुए उस पर स्थित रहने के लिए शिष्यों को आदेश दिया। सूर्यास्त के समय भी महाराजजी ने इन्हीं पंक्तियों को दुहराया कि- **'राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै।'**- और कहा कि देखो जप करना चाहिए, भजन के बिना कहीं ठिकाना नहीं लगेगा इसलिए हर समय नाम में, रूप में, लीला में, धाम में, ब्रह्मविद्या में, चिन्तन में, प्रार्थना में मन को लगाये रखो। इतना सत्संग साल भर में महाराजजी ने कभी नहीं सुनाया था।

सूर्यास्त के पश्चात् महाराजजी का दरबार लगा। कुछ लोग चिलम तैयार करने लगे। एक बनारसी पण्डित दीनानाथ त्रिपाठी सत्संगी स्वभाव के थे, उन्होंने प्रश्न रख दिया कि क्या अवध में शरीर त्यागने से पुनर्जन्म नहीं होता? अन्तिम समय में महापुरुष की रहनी क्या होती है?

महाराजजी बैठे-बैठे देख-सुन रहे थे। लगभग पौने दस बज रहे थे। दरबारी सत्संगियों में से रघुबीर दास की ओर गाँजे की चिलम बढ़ाते हुए महाराजजी ने कहा- "लो अब तुम लोग पीओ। हमारी यह अन्तिम चिलम है। हमारा भोग पूरा हो गया।"

उन सबके गाँजे की व्यवस्था महाराजजी ही करते थे। अतः महाराजजी के इस निश्चय से वे लोग दुःखी हो गये। महाराजजी ने उन्हें आश्वस्त कर कहा- "हम नहीं पियेंगे तो क्या हुआ! तुमलोगों को मिलेगा।" महाराजजी पद्मासन से बैठे थे, रामायण से चल रहे अवध-प्रसंग को सुनते जा रहे थे। प्रवचन का समापन हुआ।

महाराजजी को कोई पंखा झल रहा था। मैंने उसके हाथ से पंखा लेकर एक, दो और तीसरी बार चलाया कि महाराजजी लेट गये। मुझे विचार आया कि आज गुरुदेवजी झटके से क्यों लेटे? समीप ही खड़े यादव भक्त रामकुमार ने मेरे हाथ से पंखा लेकर महाराजजी को झलना आरम्भ किया। मैं कुएँ कि ओर बढ़ ही रहा था कि रामकुमार दौड़कर मेरे पास आया और बोला, "महाराजजी के मुख से कोई शब्द उच्चरित हुआ है।" हम तेजी से महाराजजी के समीप पहुँचे। आपको पुकारा, परन्तु आप कुछ बोले नहीं। घबड़ाकर मैंने देखा न तो उनकी नाड़ी चल रही थी, न श्वास। घबड़ाहट के साथ ही सम्पूर्ण दाहिना अंग एक साथ फड़कने लगा। मैंने सोचा कि महाराजजी समाधि में हैं, अभी उठ बैठेंगे; किन्तु रात्रि के दो बजे डॉक्टर ने बताया कि महाराजजी तो निर्वाण को प्राप्त हो गये। सगुन तब भी होता रहा। शुभ अंग फड़कते रहे। मुझे लगा इससे बड़ा अपसगुन क्या

होगा? हमारा तो सर्वनाश हो गया। पथ-प्रदर्शक देदीप्यमान आलोक तिरोहित हो गया। इस प्रकार उन महापुरुष ने पंचतत्त्व से निर्मित पार्थिव शरीर का परित्याग जेष्ठ शुक्ल सप्तमी, सम्वत् २०२७ तदनुसार २३ मई, सन् १९६९ ई० में कर दिया।

मैं उस समय प्रारम्भिक अवस्था का साधक था इसलिए भूलवश अधिकारी एवं अनधिकारी के विषय में महाराजजी से प्रश्न कर बैठा। अन्तर्जगत् की कसौटी पर महापुरुष ही समझ पाते हैं कि कौन उपयुक्त अधिकारी है और कौन अनधिकारी। बाह्य दृष्टिकोण से जिसको हम अनधिकारी समझते हैं, हो सकता है कि अन्तर्देश से वही अधिकारी हो।

आश्रम के जो महात्मा दूर निवास करते थे उन्हें बुलाया गया। धारकुण्डी के स्वामीजी आये। भगवानानन्दजी मधवापुर से आये। भक्त लोग आ गये। श्रद्धालुओं का समूह उमड़ पड़ा। मेला लग गया। तब समझ में आया कि लोग महाराजजी को कितना चाहते थे। सबके सब उदास अश्रुपूरित नयनों से उन महान् आत्मा को भावभीनी विदाई दे रहे थे। चौथे दिन महाराजजी को समाधि दी गयी। धूमधाम से महाराजजी का भण्डारा हुआ, जिसमें सम्मिलित होकर हजारों भाविकों ने श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

भाविकों की श्रद्धानुसार महाराजजी के समाधि मन्दिर का निर्माण होने लगा। हमारे अग्रज तथा महाराजजी के वरिष्ठ शिष्यगण अपने-अपने आश्रमों को चले गये और जो लोग वहाँ निवास करनेवाले थे वे सब बिना बताये चले गये। बियावान में स्थित उस विशाल आश्रम की व्यवस्था-संचालन एक समस्या बन गई। महाराजजी के अनुसुइया निवास के दौरान एक भी दुर्घटना उस सम्पूर्ण क्षेत्र में नहीं हुई थी। अब किसी वरिष्ठ महापुरुष को उनके स्थान पर न देख, उनका आसन सूना पाकर कोई अप्रिय घटना हो, यह आश्रम की मर्यादा के विरुद्ध होता। मैं मन-ही-मन चिन्तित हो गया। हमने अनुनय करके स्वयमानन्दजी को रोक तो लिया किन्तु आये दिन वह भी प्रस्थान के लिए प्रस्तुत रहते और चले भी गये। चिन्ता के उन दिनों में महाराजजी अपने आसन पर बैठे दिखाई पड़े। उन्होंने कहा, "क्यों रे! मैं आसन पर बैठा तो हूँ, मैं सब देख रहा हूँ। तुम क्यों चिन्ता करते हो?" उस दिन से मैं आश्वस्त हो गया। मुझे स्मरण हो आया, "हो! मैं मरिहौं न! सूक्ष्म स्वरूप से सदा ही यहाँ रहिहौं। जो भी स्मरण करेगा, मैं उसका कल्याण करिहौं।"

यह था उन महापुरुष के जीवन का आदर्श एवं परमकल्याण का उत्कर्ष, जो समष्टि में व्याप्त होकर यावत् सृष्टि जनमानस का कल्याण करता रहेगा।

।। ॐ ।।

अमरवाणी बारहमासी

भूमिका

अब सन्तों एवं साधकों के बीच परमशान्ति पथ-निर्देशिका उनकी अमरवाणी, आत्मानुभूति के परिवेश में बारहमासी के माध्यम से प्रस्तुत है, जिसमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक लक्ष्य की ओर बढ़ने का पथ-प्रदर्शन किया गया है।

जैसा कि लोग बाहर पढ़ते हैं वैसा कहीं हुआ नहीं। न तो पिण्डों के रूप में राम हैं और न भूखण्डों के रूप में अयोध्या ही। **'कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।'** ***(मानस, ७/१२७/४)***- कामी, क्रोधी, लोभी से नहीं कहना चाहिए। -अब आप ही विचार करें कि जब घर-घर में रामायण है तो न कहने का क्या सवाल है? परन्तु गोस्वामीजी ने कहनेवाली बात छिपाकर लिखी है, जिसे पाठकगण अपने-अपने स्वर में पढ़ते हैं। ऐसी धारणा आपकी गीता के प्रति भी थी। कबीर की वाणी आपकी जिह्वा पर अधिक मुखरित होती थी। आपके श्रीमुख से एक दिन बारहमासी की अमरवाणी प्रस्फुटित हुई। आपने अपने शिष्यों से कहना आरम्भ किया कि **"आकाश बोल रहा है, लिखना हो तो लिख लो।"** ऐसा कहकर आप गुनगुनाने लगे। शिष्यों ने उसे लिपिबद्ध कर दिया, जिसमें महापुरुष की प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक का साधन-क्रम समाहित है। इसमें चेतावनी से लेकर भजन की प्रवेशिका, मध्य और अन्त तक की रहनी की स्थिति का चित्रण है। बारहमासी का रूप प्रथम कुछ पदों में दिया गया है और पुनः बारह भागों में बाँटकर बारह महीनों के माध्यम से योग की सूक्ष्म भूमिकाओं का विस्तार किया गया है।

अब आप सर्वप्रथम बारहमासी के सम्पूर्ण छन्दों को देखें, तदनन्तर अर्थसहित उसकी विस्तृत व्याख्या को पढ़कर लाभान्वित हों। इस अमरवाणी के पठन के पूर्व आपको इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि महापुरुषों की दृष्टि सदैव उस परमलक्ष्य पर हुआ करती है न कि मानव निर्मित भाषा पर। भाषाएँ परिवर्तनशील हुआ करती हैं। बहुत-सी मान्यता प्राप्त भाषाओं का आज सर्वथा लोप हो चुका है। यदि अर्थ वास्तविक है तो तत्सामयिक भाषाओं के माध्यम से जनमानस में प्रवाहित होकर लक्ष्य-विशेष का दिग्दर्शन करता रहेगा।

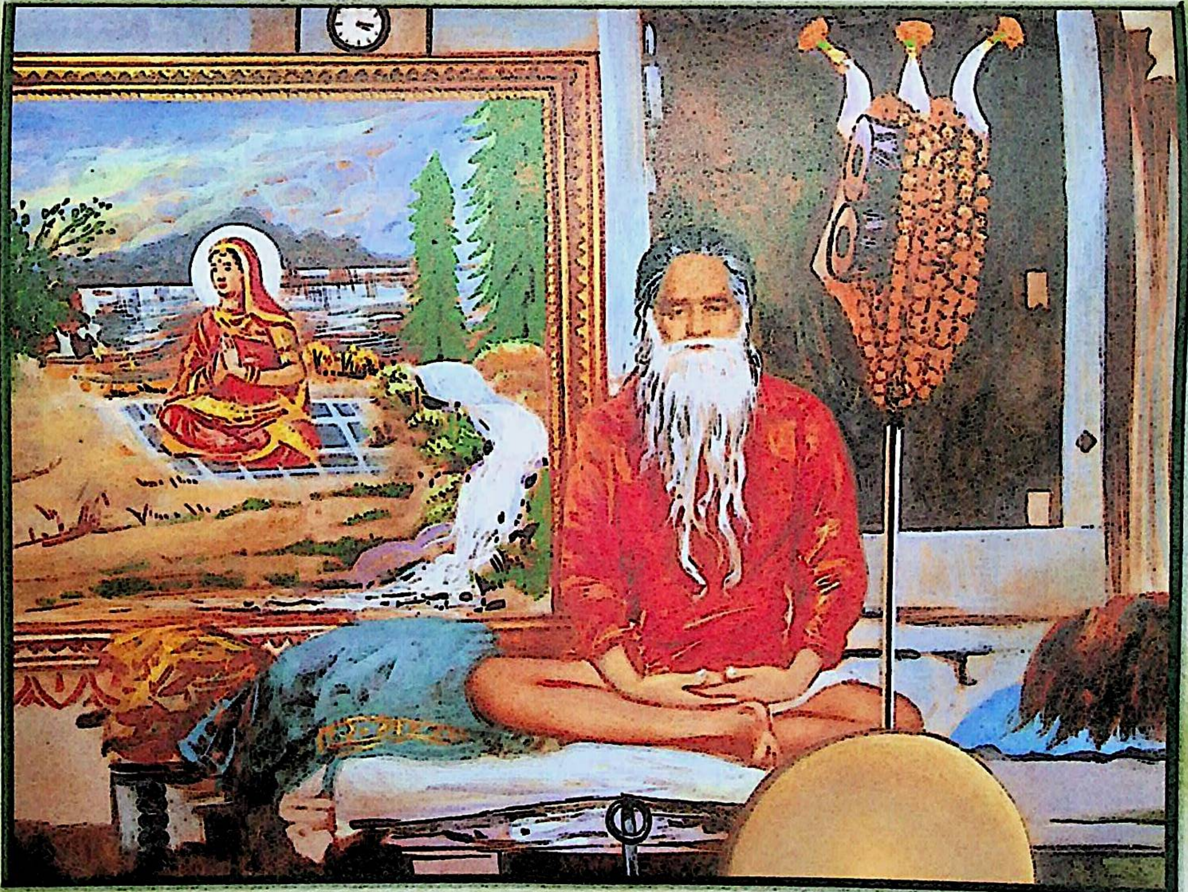

ध्यानावस्थित सद्गुरुदेव पूज्य श्री १००८ श्री परमहंस जी महाराज

बारहमासी

दोहा- चैत चहत चितचोर को, चेला चतुर सुजान।
चित के मिले न चौधरी, भई चित में गलतान।।
चतुर क्या करी चतुर ने चतुराई,
हमारा चित चेत चकोर किया।
अपने चित चाँदनि चमकाई।।
चकचान अचानक चन्द चढ़ा,
चन्दा की चमक चित पर छाई।
चन्दा चहुँ ओर चकोर चला,
चित चेतन में गिरदी खाई।।
धरनी पर आया, चमक में खो दई काया।
चला गया चितचोर, चतुर जब तक चलने नहिं पाया।।

लावनी

लावनी सुन बारहमासी।
कटै जासे जनम मरण फाँसी।। टेक।।
चैत में चिन्ता यह कीजै,
कि यह तन घड़ी घड़ी छीजै।
इससे करिये तनिक विचार,
सार वस्तु है क्या संसार?।।
दोहा- सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार।।
फिरै क्या मथुरा अरु कासी।
लावनी सुन बारहमासी।। १।।
वैसाख में वक्त तूने पाया,
यहाँ कोई रहन नहीं आया।
काल ने सबही को खाया,
यह सब झूठी है माया।।

दोहा- भोग लोक परलोक का, सबही त्यागे राग।
रहे न इनकी कामना, ताहि कहैं वैराग।।
तितिक्षा तो सों परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।। २।।
जेठ में जतन यही करना,
मिटे जासे जनम और मरना।
मन इन्द्रिय विषयों से परिहरना,
लीजिए सन्तों का सरना।।
दोहा- श्रद्धा कर गुरु वेद में, कर मन का समाधान।।
कर्म अकर्म के साधन त्यागे, सहे मान अपमान।।
जगत से रहना नित्य उदासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ३।।
आषाढ़ में सत् संगति करना,
वहाँ तू पावे सब मरमा।
तुझे वहाँ होवे जिज्ञासा,
तब लगे मोक्ष की आसा।।
दोहा- परमानन्द की प्राप्ति, अरु अनरथ का नास।
यह इच्छा मन में रहे, कहे मुमुक्षा तास।।
हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ४।।
सावन में शरणागत होना,
पैर सद्गुरु के धो पीना।
साफ जब होय तोहरा सीना,
रंग तब रहनी का दीना।।
दोहा- तत्वमसी के अरथ को, तोय करूँ परकास।
संशय शोक मिटे तेरा, होय अविद्या नास।।
मिटे तब भरम भेद रासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ५।।

महीना भादों का आया भरम सब छीजै।
गुरु की भक्ति चित्त धार प्रेम रस पीजै।।
ईश्वर से अधिक भक्ति गुरु की कीजै।
इस मानव तन को पाय सुफल करि लीजै।।
दोहा- ब्रह्मवेत्ता वक्ता सुरति, गुरु के लक्षण जान।
इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान।।
होय अमरापुर वासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ६।।
क्वार में करना यही उपाय,
तत्वमसी श्रवणन मन लाय।
जुगुति से मनन करो प्यारे,
खुले जासे अन्दर के ताले।।
दोहा- निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान।
ब्रह्म आत्मा एक लख, तब होय ब्रह्म का ज्ञान।।
तहाँ मिथ्या जग नासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ७।।
कार्तिक में करम सभी नाशा,
ज्ञान जब उर में परकाशा।
तब अपना आप रूप भाषा,
उसी का लखो तमाशा।।
दोहा- आर-पार हमरो नहीं, नहिं देश काल से अन्त।
मैं ही अखण्डित एक हूँ, सब वस्तु का तन्त।।
मैं ही चेतन अबिनासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ८।।
अगहन में ज्ञान अगिनि जागी,
लोक सब दाहन कहँ लागी।
फूँक दिये ब्रह्मा अरु विष्नू,
फूँक दिये राम अरु कृष्नू।।

दोहा- जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।
बिना ईंधन के परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।। ६।।
पूष में पूरन आपै आप,
नहिं तहाँ पुन्य अरु पाप।
कहो अब जपूँ कौन का जाप,
मिटा सब जनम-मरण सन्ताप।।
दोहा- ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय।
मम निज शुद्ध स्वरूप में, उपाध्येय नहिं हेय।।
करूँ फिर किसकी तल्लासी।
लावनी सुन बारहमासी।।१०।।
माघ में मिटी मिलन की भूख,
तहाँ पर नहिं आसिक माशूक।
इश्क फिर किसका होवे,
वृथा वक्त तूँ क्यों खोवे।।
दोहा- व्यापक परमानन्द में, नहिं आसिक माशूक।
लक्ष्य रूप में मार निशाना, वृथा विलोवे थूक।।
करावै क्यों जग में हाँसी।
लावनी सुन बारहमासी।। ११।।
बसन्त ऋतु फाल्गुन में आवे,
खेल यह प्रारब्ध रचवावे।
इत्र गुलाल ज्ञान रोरी,
खेलते भर-भर के झोरी।।
दोहा- होली अविद्या फूँकि के, हो गये गुप्तानन्द।
समझे कोई सुघड़ विवेकी, क्या समझे मतिमन्द।।
जगत की धूल उड़ी खासी।
लावनी सुन बारहमासी।। १२।।
कटै जासे जनम मरण फाँसी।।

स्पष्टीकरण

अब इस अमरवाणी बारहमासी का स्पष्टीकरण व्याख्यात्मक ढंग से किया जाता है, जिसके अध्ययन एवं मनन से योग के सूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी सम्भव है। आपकी कविता का प्रारम्भ मास 'चैत' से है। प्रायः-

मोहनिसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा।। *(मानस, २/६२/१)*

सभी लोग मोहरूपी रात्रि में अचेतावस्था में सोये हुए हैं। जो कुछ भी रात-दिन दौड़ लगाकर अर्जित करते हैं, मात्र स्वप्न है। अधिकांशतः लोगों ने अचेतावस्था मोह में ही चेत-अचेत की सीमा निर्धारित कर ली है। यथा-

कोई चुनाव प्रतिद्वन्द्वी कहता है कि मेरे पड़ोसी पश्चाताप कर रहे हैं किन्तु मैं तो चुनाव के पूर्व ही चेत गया था। कुछ पूँजी चुनाव प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने के लिए पहले ही एकत्रित कर ली थी। एक सेठ कहते हैं कि, मैं तो बादल देखकर ही चेत गया था कि तिल के भाव में अवश्य परिवर्तन होगा। लेकिन वस्तुतः ये सभी अचेत (पराधीन) ही हैं। चेता हुआ चित्त तभी कहलाता है, जब यह आत्मा अपने स्वरूप को पाने के लिए व्यग्र होने लगे। भरत और कागभुशुण्डि इसी श्रेणी के चेते हुए पुरुष थे। भरत अवध का सम्पूर्ण राज्य तृणवत् त्याग राम-स्नेह के लिए आतुर हो उठे। कागभुशुण्डि जब चेत की अवस्था में पहुँचे तो उनके मन से समस्त वासनाएँ समाप्त हो गईं। जैसा कि-

मन ते सकल बासना भागी।
केवल राम चरन लय लागी।। *(मानस, ७/१०६/६)*

वास्तव में चेत तभी सम्भव है जब केवल चितचोर की ही चाह रह जाय। भगवान ही चितचोर हैं, जिनका स्पर्श करके चित्त उन्हीं में लीन हो जाता है। चुराई हुई वस्तु तो सदा के लिए खो जाती है। इसी आधार पर इस अमरवाणी की शुरुआत है। पहले बारह महीनों का सारांश है और बाद में लावनी। सारांश शब्दों में देखें।

दोहा– चैत चहत चितचोर को, चेला चतुर सुजान।
चित के मिले न चौधरी, भई चित में गलतान।।

भावार्थ– चेता हुआ चित्त तब समझे जब केवल चितचोर की ही चाह रह जाय। वही चेला की स्थिति है, वही चतुर है और सुजान की स्थिति वाला है। प्रायः लोग चतुर ही तो बने हैं, किन्तु महापुरुषों की दृष्टि में अन्यत्र कहीं भी चतुराई का स्थान है ही नहीं। जैसा कि--

चतुराई चूल्हे पड़ी, घूरे पड़े अचार।
तुलसी राम भजन बिनु, चारो बरन चमार।।

ऐसी चतुराई में आग लगे जो भगवत्-चिन्तनविहीन हो और ऐसे आचार कूड़ा-करकट में जायँ जो हमें भगवद्-भजन से वंचित रखते हैं। चितचोर की चाह तो पैदा हुई; किन्तु चित्त के चौधरी अर्थात् चित्त को स्थिर करनेवाले सद्गुरु नहीं मिले तो ग्लानि बनी ही रह जाती है।

टिप्पणी- हम दो घण्टे भजन में बैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाते और अन्ततः हताश होकर बैठ जाते हैं। साथ ही यह कहा करते हैं कि मन ही नहीं लगता। जब तक चित्त के चौधरी अर्थात् उसकी गतिविधि को पकड़नेवाले सद्गुरु नहीं मिलते, तब तक वह रुकता नहीं। वे महापुरुष हृदय-देश से उस चित्त की गतिविधि पर नियंत्रण करते रहते हैं। बाहर से सम्बन्ध कम रहता है।

सम्बन्ध- आखिर चतुराई है क्या?

चतुर क्या करी चतुर ने चतुराई,
हमारा चित चेत चकोर किया।
अपने चित चाँदनि चमकाई।।

भावार्थ- चतुर ने भला कौन-सी चतुराई की? चूँकि महापुरुष ही बोलनेवाले हैं, इसलिए इन्हीं महापुरुष की रहनी के प्रति अपने आप को चकोर बना लिया। ऐसा चकोर बनने पर महापुरुष के चित्त का प्रकाश अपने चित्त में पा जाता है। जैसा कि, 'अपने चित्त चाँदनि चमकाई'।

चकचान अचानक चन्द चढ़ा,
चन्दा की चमक चित पर छाई।

भला वह प्रकाश आता कैसे है? आप चकोर बनकर लग भर जायँ, अनायास ही वह प्रकाश चित्त पर बढ़ने लगता है।

टिप्पणी- यहाँ चन्दा आकाश का कोई चन्द्रमा नहीं बल्कि परमात्मा की वह प्रभा है, जो चित्त पर चकोर बनने से स्वाभाविक बढ़ती रहती है। महापुरुष बाहरी दृष्टान्तों के माध्यम से अन्दर की स्थितियों को समझाते आये हैं। इस भगवत्-पथ में बाहरी चन्द्रमा से कोई प्रयोजन नहीं है, जैसा कि, **'मन ससि चित्त महान'** ***(मानस, ६/१५ क)***। मन ही चन्द्रमा है और शून्य ही आकाश है। जब शून्य में मन रुकने की क्षमता पा लेता है तो वही चन्द्रमा कहलाता है। (चन्द्रमा की संज्ञास्थिति यही है) इसी कारण वह चन्दा अन्यत्र नहीं चढ़ता बल्कि जो चेतन की चमक है वह चित्त पर छा जाती है। यह

तभी सम्भव है जब चकोर के गुणधर्म आप में हों।

चन्दा चहुँ ओर चकोर चला,
चित चेतन में गिरदी खाई।।

अब उस चेतना का प्रकाश, जो कि चित्त पर छाया हुआ है, चित्त तक ही सीमित न रहकर सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगता है। सर्वत्र वह स्वरूप ही दिखाई देता है। जैसा कि-

सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।। *(मानस, २/१३०/७)*

चित्त में वह प्रकाश आ जाने के बाद न स्वर्ग स्वर्ग ही रह जाता है और न नरक नरक ही। जब तक एकता नहीं हो जाती, तब तक रास्ता शेष है। इसलिए **"चकोर चला, चित चेतन में गिरदी खाई"**। जैसे कुछ और आगे चला तो चित्त उसी रूप का स्पर्श कर वही हो जाता है। सर्वत्र दिखाई देता है पर है तो अलग, इसीलिए चकोर है। जहाँ स्पर्श किया तो उसी में विलीन हो गया।

धरनी पर आया, चमक में खो दई काया।

जब उसी रूप में अपने को खो ही दिया तो ऐसी सत्ता नहीं कि जिसके लिए खोज करे। आखिर यह स्थिति हुई कहाँ? इसी शरीररूपी पृथ्वी में ही। जैसा कि--

धड़ धरती का एकै लेखा। जस बाहर तस भीतर देखा।

धड़ कहते हैं शरीर को और धरती कहते हैं बाहरी पृथ्वी को। जो कुछ भी अन्दर दिखाई देता है वह एक ही जैसा है। शरीररूपी पृथ्वी में चित्त चेतन ही जैसा हो गया और जन्म-मरण की प्रक्रिया खो दी। काया जन्म-मरण का वह विधान है जो जीवात्मा को पिण्डों का रूप देता है। यह शरीर ही चला गया तो संसार कैसा? तद्रूप हो जाने पर एक में एक का भान नहीं होता, इसलिए चितचोर भी चला गया।

चला गया चितचोर, चतुर जब तक चलने नहीं पाया।।

इसके आगे चतुर की कोई चाह नहीं। उसके खो जाने की स्थिति तक चतुर नहीं चल पाता। जहाँ तक मन-बुद्धि की पकड़ है वहाँ तक साधक चलता है। उसके बाद की कुछ ऐसी अवस्था है जिसे चेतन (इष्टदेव) ही समझा-बुझाकर अपनी स्थिति प्रदान कर देते हैं।

टिप्पणी- अब आगे के महीनों में इसी का विस्तार है, जिसे समझकर साधक साधना में सक्रिय भाग ले सकता है। किसी-न-किसी अवस्था में आगे यह सबके लिए सुलभ हो सकता है। भले ही हम किसी परिस्थिति में क्यों न हों।

लावनी

'लावनी' ले आनेवाली को कहते हैं। भजनमयी प्रवृत्ति ही उस परम चेतना को लाने में सफल होती है। अतः चिन्तन की प्रवृत्ति को लावनी कहते हैं। लगन, लावनी, लव इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं। इनमें से कोई भी शब्द कहा जाय तो तात्पर्य वही निकलता है, केवल थोड़ा उतार-चढ़ाव है। जब कभी किसी की लगन चेतना को पाने के लिए प्रवृत्त हुई है तो उसका यही रूप रहा है।

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरति डोर लागी रहे, तार टूटि न जाय।।

आठों पहर सोते एवं जागते समय ऐसी लगन बनी रहे कि तार न टूटे। ऐसा नहीं कि गर्मी में न होगा तो जाड़े में होगा। हर देशकाल में सुरति की डोर लगाना है, इसलिए इसे बारहमासी कहते हैं। यह केवल सुबह-शाम तक ही सीमित नहीं है। सुबह-शाम भजन और अन्य समय में मन को अनियंत्रित रखना भजन नहीं है। यह तो केवल प्रयास मात्र है जिससे आगे पथ में बढ़ा जा सकता है। अब आइये इस पद पर-

लावनी सुन बारहमासी।
कटै जासे जनम मरण फाँसी।।टेक।।

अब आप उस लगन के बारे में सुनें, जिसमें आठों पहर, बारहों महीने निरन्तर लगे रहने पर जन्म-मरण की फाँसी कटती है और परम चेतन स्वरूप को जीव प्राप्त हो जाता है। जैसे, **'दिन दिन बढ़त सवायो।'** -प्रतिदिन उसमें सवाई बढ़ने पर ही भलाई है। ऐसी लगन का सदा महत्त्व रहा है जो जन्म-मरण की फाँसी को काटने में समर्थ है।

सम्बन्ध- अब यदि भजन करनेवाले के लिए ही कहा जाय तो सांसारिक व्यक्तियों के लिए कोई उपाय ही नहीं बचता। इसलिए जो जहाँ खड़ा है उसको वहीं से चेतने का विधान बताते हुए आगे क्रियात्मक विस्तार किया गया है।

साधना-क्रम में बारह महीने

चैत में चिन्ता यह कीजै,
कि यह तन घड़ी घड़ी छीजै।
इससे करिये तनिक विचार,
सार वस्तु है क्या संसार?

भावार्थ- जब हम परिस्थिति में हैं तो सिद्ध हुआ कि चैतन्यता नहीं है। अब चैतन्य होने के लिए शरीर की स्थिति पर विचार कीजिए कि यह हर घड़ी नष्टप्राय होता जा

रहा है। हम सोचते हैं कि आयु बढ़ गई; परन्तु ऐसा नहीं है। मान लिया जाय कि हमारी आयु ६० वर्ष की है और हम ५० वर्ष की अवस्था में पहुँच गये तब १० वर्ष ही तो शेष रहे। शरीर हर घड़ी काल के गाल में सिमटता जा रहा है और न चाहते हुए भी हम देखते हैं कि अपने माता-पिता एवं परमप्रिय पुत्र को फेंक आते हैं। जब यह शरीर ही नाशवान् है तो भोग्य पदार्थ रहते हुए भी आप बरबस खींचकर पता नहीं कहाँ फेंक दिये जाते हैं। एक ग्रास भी अधिक नहीं खा सकते। भोग्य पदार्थ ही तो संसार है। जैसा कि,

मैं अरु मोर तोर तैं माया। *(मानस, ३/१४/२)*

जब शरीर ही मरणधर्मा है तो विचार करें कि क्या संसार सत्य है? सिद्ध है कि संसार असत्य है।

टिप्पणी- याद रखें-

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।। *(मानस, ३/१४/३)*

इन्द्रियों और उनके विषयों में मन जहाँ तक उड़ान भर पाता है, वहाँ तक अपने भोग की ही सामग्री खोजता है। यही सब माया है, जिसका नाम संसार है। अन्त में सब पदार्थ छूट जाते हैं। यही देखकर महात्मा बुद्ध को वैराग्य हुआ था। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! यह शरीर क्षणभंगुर है, पर है देवताओं को भी दुर्लभ। यही मेरे प्राप्ति का साधन एवं भव-बन्धन से छूटने का माध्यम है।

सम्बन्ध- जिस शरीर के लिए हमें भोग्य सामग्री अथवा संसार प्रिय है, वही नाशवान् है, तो आखिर सत्य है क्या?-

दोहा- सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार।।

भावार्थ- सत्य वस्तु अथवा जो परमसत्य है, वह है आत्मा। यह महापुरुष का निर्णय है। जगत् का प्रसार देखने में बड़ा सुन्दर है, परन्तु है सर्वथा झूठा। 'नित्यानित्य विवेकिया'-सत्य क्या है और असत्य क्या है?- इस पर विवेक करें। विचारों के द्वारा इस वार्ता को लिया जाय, विचारहीनों के लिए यहाँ ठिकाना नहीं है।

टिप्पणी- विचारहीनता से धोखे ही धोखे में समय बीत जायेगा। विचारहीन के लिए बहुमूल्य मानव-शरीर नगण्य है।

फिरै क्या मथुरा अरु कासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

काशी, मथुरा आदि तीर्थों में भ्रमण करने से अब इस लगन का कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मानसिक प्रवृत्ति है जो प्रभु की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और इससे जन्म-मरण का बन्धन टूट जाता है। लगन की इसी परिस्थिति में आगे बढ़ने का वक्त मिलता है।

वैसाख में वक्त तूने पाया,
यहाँ कोई रहन नहीं आया।
काल ने सबही को खाया,
यह सब झूठी है माया।।

भावार्थ- वैशाख=विशेष सबूत, विशेष प्रमाण। शरीर का काल के गाल में होने का संसार की नश्वरता से मिला है। इसकी नश्वरता पर विचार कर संसार की नश्वरता दिखाई देने से हम चिन्तित अवश्य होंगे, इसलिए वक्त मिला है। वह भला किस प्रकार?-

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।
(मानस, ७/४२/७-८)

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोस लगाइ।। *(मानस, ७/४३)*

बड़े भाग्य से यह मानव-तन मिला है। यह साधन का धाम एवं मोक्ष का दरवाजा है। इसे पाकर जो अपनी आवागमन की स्थिति से छुटकारा नहीं पा लेता, वह सिर पटक-पटककर पश्चाताप करता है। काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है, जबकि दोष उसी का है। मानव-तन ही संसार से पार होने का साधन है, शेष योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए ही हैं। इसलिए महापुरुष कहते हैं, तुझे वक्त मिला है। निःसन्देह यह क्षणभंगुर है पर आज दिन तो सामने उपस्थित है। इस समय तो पास है। शायद अब भी दृष्टि संसार की तरफ झुके तो कहते हैं कि काल ने सबको बरबस ही खा लिया। राम, कृष्ण आदि कोई भी तो दिखाई नहीं पड़ता। इससे सिद्ध है कि माया सर्वथा झूठी है।

टिप्पणी- उन महापुरुषों ने शरीर के रहते ही परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया। वे शरीर से भिन्न व्यापक स्थिति को उपलब्ध कर चुके थे। यही तो करना है-

'सन्तो! जीवित ही करु आशा।'
जीवित में मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सोइ होय।।

सम्बन्ध- माया के विषय में पुनः चेतावनी देते हैं, कारण कि एक बार समझने से यह पिण्ड नहीं छोड़ती है। प्रायः सभी तो पन्ने उलटते हैं पर हाथ कुछ भी नहीं लगता। इसीलिए महापुरुष वैराग्य की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं-

दोहा- भोग लोक परलोक का, सबहीं त्यागे राग।
रहे न इनकी कामना, ताहि कहैं वैराग।।

इस लोक के भोग, जो छोटी-सी झोपड़ी से लेकर राष्ट्रों तक का सिलसिला है और जो परलोक, बैकुण्ठ आदि की मान्यताएँ हैं, जब इनकी लेशमात्र भी कामना न रह जाय, तब वैराग्य की स्थिति समझना चाहिए (इसी का नाम वैराग्य है)। वैराग्य का तात्पर्य लगाव के न होने से है।

तितिक्षा तो सों परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

तितिक्षा=त्याग की इच्छा। इस त्याग की इच्छा की कसौटी तो साधक पर निर्भर करती है। यदि जन्म-मरण की फाँसी को काटना है तो त्याग की प्रबल इच्छा करनी होगी। तितिक्षा का प्रकाश तुम्हीं से होना है। इससे स्पष्ट है कि यह महापुरुष के क्षेत्र की बात नहीं है। वे तब देखेंगे जब हमारे अन्दर त्याग व पाने की प्रबल इच्छा होगी।

जेठ में जतन यहीं करना,
मिटे जासे जनम और मरना।
मन इन्द्रिय विषयों से परिहरना,
लीजिए सन्तों का सरना।।

भावार्थ- जेठ=पहले पैदा होनेवाला। साधन के प्रथम चरण में केवल यही यतन करना है, ताकि जन्म-मरण का बन्धन छूट जाय। ऋद्धियों और सिद्धियों में उलझने की आवश्यकता नहीं है। भला वह कौन-सा यत्न है? मनसहित इन्द्रियों को विषयों से उपराम रखते हुए सन्तों की शरण लेना!

सम्बन्ध- अब अन्य सन्तों के साथ-साथ सद्गुरु का विशेष स्थान दर्शाते हुए कहते हैं कि-

दोहा- श्रद्धा कर गुरु वेद में, कर मन का समाधान।
कर्म अकर्म के साधन त्यागे, सहे मान अपमान।।

सन्तों में जो सद्गुरु हैं, उनमें और उनकी विदित वाणी में मन का समाधान पूर्ण श्रद्धा से कर दें। इसके बाहर कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। यदि खोजते हैं तो साधक नहीं। कर्म-अकर्म का तात्पर्य निष्काम भाव से करना है। बौद्धिक स्तर पर

अकर्मता की स्थिति को बनाये रखना पड़ता है जिससे कि कहीं राग न आये। फल की इच्छा न जागृत हो जाय, ऐसी जिम्मेदारी त्याग दें। केवल उनके द्वारा मिलनेवाला मान-अपमान सहते जाओ।

टिप्पणी- जब मन को सद्‌गुरु के चरणों में समाधान करने की स्थिति आ गई तो कौन साधन बाकी है? जब मन को बाहर निकलने का स्थान ही नहीं मिलता तो कामना कैसे करेगा? क्रिया यही होती है परन्तु वह महापुरुष के ऊपर निर्भर रहता है।

जगत से रहना नित्य उदासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जगत् से निरन्तर उदास रहना है। यदि जगत् से लगाव हुआ तो गुण-धर्म और उनकी वाणी का अनुसरण सब कुछ छूट जायेगा। ऐसी स्थिति में मन का समाधान करना असम्भव है। यदि मन में उधर का लगाव हुआ तो श्रद्धा और समर्पण की कसौटी टूट जायेगी। उस चेतन तत्त्व को लानेवाली प्रवृत्ति के विषय में सुनो, जो निरन्तर प्रवाहित रहनेवाली है और जिसमें काल का भेद नहीं है।

सम्बन्ध- सन्तों में जो सद्‌गुरु हैं उनमें और उनकी वाणी में मन का समाधान बताया गया है, किन्तु एकदम मन लगता नहीं। ऐसी परिस्थिति में कुछ करना है।

आषाढ़ में सत् संगति करना,
वहाँ तू पावे सब मरमा।
तुझे वहाँ होवे जिज्ञासा,
तब लगे मोक्ष की आसा।।

भावार्थ- आषाढ़=आष+आढ़=पुरानी आशा। वह आशा जो पुरातन है, जो परमपुरुष परमात्मा है, उसके प्रति जागृत हुई। बस जागृत होते ही आगे गति मिलने लगी। अब साधक को केवल सत्संग करना है। जिससे आगे का सम्पूर्ण भेद पा जायेगा। सत्संग का तात्पर्य केवल वार्ता नहीं, अपितु ध्यान व चिन्तन से है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि, **'सत्य वस्तु है आत्मा'** उस आत्मा में मन को खड़ा करना है। आत्मा सत्य तो है, पर दिखाई नहीं देती। ऐसे महापुरुष जो आत्मा को पाकर परमात्मस्वरूप में स्थित हैं, उनके ही स्वरूप में मन को समेटकर चिन्तन के द्वारा लगाना या संग करना है। ज्यों-ज्यों गुप्त भेद मिलता जायेगा, त्यों-त्यों उसे जानने की इच्छा प्रबल होती जायेगी तब फिर मोक्ष की आशा लग जायेगी। वास्तव में इसी पथ में छुटकारा मिलता है तब तक सभी लोग कहते भर हैं; किन्तु-

जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।। *(मानस, ७/८८/७)*

टिप्पणी– सुग्रीव ने जब राम के अतुल बल का प्रमाण प्रत्यक्ष देखा, तभी उसकी आशा विश्वास सहित बलवती हो गई।

सम्बन्ध– मोक्ष की आशा लगी; परन्तु वह मोक्ष अथवा मुमुक्षा है कैसी?–

दोहा– परमानन्द की प्राप्ति, अरु अनरथ का नाश।
यह इच्छा मन में रहे, कहे मुमुक्षा ताश।।

अनर्थ अथवा शुभाशुभ क्षेत्र का नाश हो जाय और परमानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाय। मन के अन्दर इतनी कामना के शेष रह जाने का नाम मुमुक्षा है।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

चौरासी लाख योनियों में आबद्ध संसार की हानि इसके द्वारा हो जायेगी। कुछ युक्तियों से यह (चौरासी लाख) भाव, मापदण्ड पूर्व से ही चला आ रहा है। आवागमन से छुटकारा दिलानेवाली लगन का विधान है कि यह अहर्निश चलती रहे, जब तक कि वह तत्त्व दिखाई न पड़े। जैसा कि–

आठ पहर लागा रहे, भजन तेल की धार।
जगत बलाबलि खाक है, हरि रस है आधार।।

अब केवल मोक्ष की ही इच्छा शेष है। ऐसी स्थिति में साधक के क्या लक्षण हैं?–

सावन में शरणागत होना,
पैर सद्गुरु के धो पीना।
साफ जब होय तोहरा सीना,
रंग तब रहनी का दीना।।

भावार्थ– श्रावण=श्रवण करना। जो इष्टदेव से मिलनेवाले धारावाही आदेश हैं उन्हीं के अनुसार अपने को ढालना है। जब धारावाही आदेशों का ताँता लग जाता है, तब सद्गुरु हृदय से पथ-प्रदर्शन करते हैं। उन्हीं के पालन में इष्ट की शरण लेते हुए उनके चरणों को मन के द्वारा धोकर पीते जाओ। बाहर चरण धोने का विधान नहीं है। ज्यों-ज्यों हम सद्गुरु के चरणों में ध्यान करते जायेंगे, त्यों-त्यों वह रहनी हृदय में प्रगट होती जायेगी।

टिप्पणी– जन्म-जन्मान्तर से लगे हुए मल-आवरण या विक्षेप धुल जाने पर सन्तों की रहनी का रंग ढलता है अथवा स्थिरता आने लगती है। जैसे–

(हे हरि) कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो।। *(विनय०, १७२)*

अब सन्तों की रहनी आने लगती है।

दोहा–तत्त्वमसी के अरथ को, तोय करूँ परकास।
संशय शोक मिटे तेरा, होय अविद्या नास।।

जब हृदय के मलावरण व विक्षेप समाप्त होने लगे और रहनी आने लगे तब हृदय से पथ-प्रदर्शन करनेवाले महापुरुष 'तत्त्वमसि' के अर्थ का प्रकाश करते हैं अर्थात् वह परमतत्त्व परमात्मा तुझसे अभिन्न है, अनुभवी स्तर पर महापुरुष अनुभवों के माध्यम से उसका प्रकाश करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप संशय-शोक सदा के लिए मिट जाते हैं और अविद्या नष्ट हो जाती है। यह तभी सम्भव है जब लगन न टूटे।

मिटे तब भरम भेद रासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

इसके साथ ही भ्रम और भेद का समूह मिट जाता है, जिसमें लगन के टूटने का विधान नहीं है।

सम्बन्ध– जब भक्त पर रहनी का रंग चढ़ जाता है, दूसरे शब्दों में साधक का हृदय इष्ट की रहनी में ढलने लगता है। जैसे भादों में फसल-सम्बन्धी भरपूरता रहती है, वैसे ही साधक के हृदय में इस स्थिति में भजन की भरपूरता रहती है।

महीना भादों का आया भरम सब छीजै।
गुरु की भक्ति चित्त धार प्रेम रस पीजै।।

ईश्वर से अधिक भक्ति गुरु की कीजै।
इस मानव तन को पाय सुफल करि लीजै।।

भावार्थ– भादों=भजन की भरपूरता। अब इस भजन की भरपूरता में भ्रम का क्षीण होना, गुरु के प्रति अनुराग का होना और प्रेमरस में भींगे रहना स्वाभाविक ही है। कारण इन्हीं महापुरुषों की देन है कि आज ऐसी रहनी मिलने लगी, किन्तु इन महापुरुषों का आदेश है कि ईश्वर से अधिक भक्ति सद्गुरु की करनी है। महापुरुषों का कहना है कि भक्ति तो स्वाभाविक ही है परन्तु सन्दिग्ध भक्ति, भक्ति नहीं है। ईश्वर से अधिक गुरु की भक्ति होने पर ही यह मानव-शरीर सफल हो सकता है। सफलता तो तभी है जब उस कार्य की पूर्ति हो जाय, जिसके लिए यह तन मिला है। प्रायः लोग ईश्वर कुछ है और वह बड़ा है, इन विचारों की सन्दिग्धता में सद्गुरु को हृदय से नहीं पकड़ पाते।

साक्षात्कार करने के लिए ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। गुरु का गुरुत्व पाने पर ही ईश्वर दिखाई देता है, पहले नहीं।

'तुमसे अधिक गुरहिं जिय जानी।' *(मानस, २/१२८/८)*

'गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जो बिरंचि संकर सम होई।।'

(मानस, ७/९२/५)

'यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये सद्गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।।' (कबीर)

भला वे गुरु कैसे हैं, जिनकी हमें भक्ति करनी है?-

दोहा–ब्रह्मवेत्ता वक्ता सुरति, गुरु के लक्षण जान।
इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान।।

ब्रह्म के विषय में जाननेवाले हों एवं ब्रह्म के विषय में व्यक्त कर सकें, सुरति की गतिविधि में प्रवेश देनेवाले हों, वही गुरु हैं। यह योग का विषय है। केवल मोक्ष की इच्छा रखनेवाला, जिसे सिद्धियाँ और सम्मान की चाह न हो, वही शिष्य है।

होय अमरापुर वासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

ऐसा संयोग बैठने पर ही जो अजर है, अमर है और शाश्वत है, ऐसे पुर में स्थान मिलता है। इष्ट की स्थिति को लानेवाली उस प्रवृत्ति के नियम को सुनो, जिसमें सतत लगे रहने का विधान है।

सम्बन्ध- सद्गुरु में जब मन का समाधान होने लगता है तब उस परमतत्त्व का संचार अनुभवों में आने लगता है, जिसे लोग 'मैं हूँ'- ऐसा कहा करते हैं।

क्वार में करना यही उपाय,
तत्त्वमसी श्रवणन मन लाय।
जुगुति से मनन करो प्यारे,
खुले जासे अन्दर के ताले।।

भावार्थ- क्वार = विकारों का कट जाना। 'कु' कहते हैं दूषित को और 'अर' कहते हैं काटने को। साधक के द्वारा ज्यों-ज्यों विकारों का शमन होता जायेगा, त्यों-त्यों उसे तत्त्वमसि का आदेश मिलने लगेगा, जैसा कि सद्गुरु पूर्व में ही कहते हैं कि जब हृदय शुद्ध हो जायेगा तो उस तत्त्वमसि का संचार मैं करूँगा। अन्दर से मिलने वाले आदेशों को श्रवण करना एवं उसी में मन को लगाना, बस साधक के लिए इतने

ही उपाय का विधान है। साधक मन को उस तत्त्व में स्थिर कर युक्तिसहित उसका मनन करता जाय, ताकि अन्दर के ताले खुल जायँ, जो आत्मा और परमात्मा में अन्तर डाले हुए हैं।

टिप्पणी– वह आदेश क्रमशः मिलता है। जब तक अन्तिम स्थितिवाला आदेश नहीं मिल जाता, तब तक किसी-न-किसी रूप में ताला लगा ही रहता है। अब रही युक्ति से मनन करने की बात, उसके लिए हम जैसा कि राम-नाम कहते हैं वैसा है नहीं। जब यही नाम मनन की स्थिति में आ जाता है, तब उसका वाणी से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

दोहा– निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान।
ब्रह्म आत्मा एक लख, तब होय ब्रह्म का ज्ञान।।

निदिध्यासन के अन्त में ऐसा भान होने लगता है कि ब्रह्म और आत्मा परस्पर एक ही हैं और इसी एकत्व दर्शन का परिणाम ही ब्रह्मज्ञान है।

टिप्पणी– हर पहलू की दो सीमायें हुआ करती हैं – एक न्यूनतम और दूसरी अधिकतम अर्थात् प्रवेशिका एवं पराकाष्ठा। उदाहरण के लिए भक्ति को लीजिए। जहाँ से भक्ति की शुरुआत है, वह उसकी न्यूनतम सीमा है और जहाँ वह लक्ष्य को प्रत्यक्ष करने की स्थिति में आ जाती है, वह अधिकतम सीमा कहलाती है। इसी प्रकार निदिध्यासन, जहाँ से चिन्तन के द्वारा हमारा जड़-अध्यास मिटने लगता है, वह प्रवेशिका है और चिन्तन की पूर्णता में जहाँ अध्यास समाप्त हो जाता है वही पराकाष्ठा अर्थात् अन्त कहलाता है।

तहाँ मिथ्या जग नासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

इस ब्रह्मज्ञान के प्रकाश में मिथ्या जगत् शान्त हो जाता है। अतः चिन्तन करो। लगन अनिवार्य है।

सम्बन्ध– जब ब्रह्म, आत्मा एक हो जाय तो भी क्या कर्म (चिन्तन-क्रम) बना ही रहता है? नहीं, छूट जाता है। इसी पर आधारित है अगला महीना कार्तिक–

कार्तिक में करम सभी नासा,
ज्ञान जब उर में परकासा।
तब अपना आप रूप भाषा,
उसी का लखो तमासा।।

भावार्थ– कार्तिक अर्थात् कर्मों का त्याग। जब ब्रह्म और आत्मा अभिन्न स्थिति में

दिखाई देने लगते हैं, तब भजन का कार्य समाप्त हो जाता है। कारण कि उसके आगे कोई भगवान है ही नहीं, जिसको खोजें। इस प्रत्यक्ष दर्शन से सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। शुभाशुभ कर्म- शुभ वह कर्म है जो इष्ट की उपलब्धि के लिए किया जाता है और अशुभ जो जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हैं। यह विषयोन्मुख प्रक्रिया है। ऐसा तभी सम्भव है, जबकि ज्ञान का प्रकाश हृदय में हो जाय। प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है न कि बकवास। वाक्यज्ञान तो अल्पावधि में ही आ जाता है; परन्तु उस ज्ञान की तो यही पहचान है कि अपना स्वरूप प्रतिभासित होने लगे। उसी का तमाशा देखो। उसकी विशेषता को स्वयं देखो। दूसरा कोई देख ले ऐसी बात नहीं है।

सो सुख जानइ मन अरु काना।
नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।। *(मानस, ७/८७/३)*

सन्त कबीर से किसी ने पूछा कि, वह सुख कैसा है? तो वे बोले-

कहैं कबीर गूँगे की शक्कर, खाय सोइ पै जानै।

टिप्पणी- जिसमें वह संचारित हो जाय, उसके तमाशे को वही देख सकता है। किसी को पकड़ाया नहीं जा सकता। क्रमशः चलकर तो महापुरुष देते ही हैं, जैसा कि उनका विधान है।

दोहा- आर-पार हमरो नहीं, नहिं देश काल से अन्त।
मैं हीं अखण्डित एक हूँ, सब वस्तू का तन्त।।

अब उस खेल का रूप दर्शाते हैं कि ब्रह्म का कहीं न आर है न पार अर्थात् न आदि है न अन्त। अपने को उससे अभिन्न देखा, जो कि हर देश-काल से अबाधित है इसलिए मेरा अन्त नहीं है। वह ब्रह्म अखण्डित एवं सब वस्तुओं का निचोड़ है। उससे अभिन्न होने से मैं भी अभिन्न और सब वस्तुओं का निचोड़ हूँ। इस प्रकार अखण्डित और सब वस्तुओं का तत्त्व मेरी ही संज्ञा है।

मैं हीं चेतन अविनासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

ब्रह्म परम चेतन एवं विनाशरहित सत्ता है, उसी में मिट गया, स्वरूप है। अब वह लगन कार्य कर चुकी।

सम्बन्ध- जब कोई सत्ता है ही नहीं, तब लोक-परलोक, राम और कृष्ण, ब्रह्मा और विष्णु आदि इनका क्या स्वरूप है? क्या ये भी नहीं बचे? तब कहते हैं कि परमस्वरूप सबकी पराकाष्ठा है। पूर्व की स्थिति कब मिलती है और उसकी क्या विशेषताएँ हैं? इसी का चित्रण इस माह में है।

अगहन में ज्ञान अगिनि जागी,
लोक सब दहन कहँ लागी।
फूँक दिये ब्रह्मा अरु विष्नू,
फूँक दिये राम अरु कृष्नू।।

भावार्थ– जैसा कि बताया गया है कि ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उसकी जानकारी होने के कुछ क्षण पूर्व ही पाप समूल नष्ट हो जाते हैं।

अगहन=पाप के हनन की स्थिति। पाप के निर्मूल होने की स्थिति में उस ज्ञान-अग्नि का संचार होता है, जिसमें लोक-परलोक सभी जल जाते हैं। उस अभिन्न जानकारी के अन्दर की बात है राम और कृष्ण, ब्रह्मा और विष्णु। उस अभिन्न स्थिति में ब्रह्मा और विष्णु, राम और कृष्ण की स्थिति सर्वथा विलीन हो जाती है। कारण कि यह वहाँ तक की अवस्थाओं का ऊँचा-नीचा नामकरण है। ब्रह्मा (जैसे वह चेतन) जिस प्रकार ब्रह्म की जानकारी का प्रसार करता था, विष्णु योगक्षेम की रक्षा करता था, राम जिस प्रकार सर्वत्र रमण करते हुए व्यापकता दर्शाता था और कृष्ण जिस प्रकार आत्मा से कर्तव्य का पूरक था, आदि उसी स्थिति में विलीन हो गये। अभिन्न स्थिति के बाद कौन किसका पोषण करे, कौन किसका प्रसार करे, कौन रमण करे और किससे कर्तव्य की पूर्ति हो?

टिप्पणी– यह तो ब्रह्म जिन-जिन युक्तियों से योगी के सामने प्रसारित होता है, उसी का रूप है। अब वह इन शक्तियों के मूल सहज स्वरूप में ही स्थित हो गया तो किसका पथ-प्रदर्शन करे? विलगता में यही शाखाएँ प्रसारित होकर समझाती थीं। याद रखें, जो अवतार बाहर पाये जाते हैं वे इसी के अपभ्रंश मात्र हैं। यह अपभ्रंश कालान्तर में हो जाया करता है; किन्तु इन्हीं के द्वारा प्रेरित हो प्रत्यक्ष स्थिति पानेवाले के लिए इनका कोई स्थान नहीं रह जाता। अन्तःकरण में जब तक वह इष्ट विशेष कृपा करके पथ-प्रदर्शन नहीं करता, तब तक ईसा, मूसा, मुहम्मद, राम, रहीम आदि की मान्यता है। उसी के द्वारा माध्यमिक स्तर तक बढ़ा जाता है। इसके आगे वही इष्ट बाहर से सम्बन्ध तोड़कर भीतर अन्तर्देश से अपने स्वरूप में जोड़ देते हैं। इस स्तरवाला साधक सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि में नास्तिक-सा प्रतीत होता है; परन्तु सही कृपापात्र वही है।

दोहा– जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।

ईश्वर की अभिन्न स्थिति का नाम ज्ञान है। यह रहनी ऐसी विचित्र है कि उसका आदि एवं अन्त नहीं है अर्थात् वह सर्वत्र है। इस स्थिति में माया एवं संसार तो मिथ्या

हैं ही, साथ ही साथ ईश्वर और ब्रह्म की भी संज्ञा नहीं बनती अर्थात् विलीन हो जाती है; क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं रह जाती, जिसे कि वह समझे। जब वही है तब किससे कहना और समझना? महात्मा बुद्ध जब इसी स्थिति में थे तो लोगों ने उनसे प्रश्न किया कि, ब्रह्म की स्थिति क्या है? वे शान्त होकर बैठ गये और कोई उत्तर नहीं दिये। मतलब यह था कि ब्रह्म शान्त है, इसलिए शान्ति की तरफ संकेत किये, अनिर्वचनीय है इसलिए मौन हो गये। यही महाराजजी का भी अभिप्राय प्रगट है।

बिना ईंधन के परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

यह कोई सांसारिक अग्नि नहीं है, जो वस्तुओं के संयोग से जलती है। यह दृष्टान्त मात्र है परन्तु वास्तविक अग्नि इसी को कहा जा सकता है। आग में डालने से जिस प्रकार वस्तुएँ जल जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इष्ट के मेल की अग्नि (योगाग्नि) में सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए शान्त हो जाता है। वह बिना किसी सम्बन्ध के स्वयं प्रकाशस्वरूप है। निरन्तर अभ्यास से ही उस अग्नि का प्राप्त होना सम्भव है। कहीं शिथिलता की गुंजाइश नहीं है, इसलिए इसे लावनी कहते हैं। जिसका अर्थ है- निरन्तर लगनेवाली लगन।

टिप्पणी- इसी लगन को समझने के लिए **'राम काजु कीन्हें बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम।'** के तात्पर्य को समझना है। कुछ ही समय के बाद मन के मनोरथ प्रगट होने लगते हैं। इसी अवस्था में बहुत से साधक विश्राम करने लगते हैं। हनुमानजी समुद्र पार करने लगे तो मैनाक पर्वत ने उनके सम्मुख आकर कहा कि विश्राम करो। इस पर हनुमानजी ने उत्तर दिया-

राम काजु कीन्हें बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम। *(मानस, ५/१)*

संसार ही समुद्र है। मन के मनोरथों का प्रकट होना ही मैनाक है और मान का हनन करनेवाला वैराग्य ही हनुमान है।

सम्बन्ध- अब केवल सन्तों की रहनी का चित्रण अवशेष है। जो स्वयं प्रकाशित है, ऐसे प्रकाश में स्थिति आ गई तो क्या महापुरुष भजन नहीं करते? इसी पर पूज्य महाराजजी कहते हैं कि-

पूरण में पूरन आपै आप,
नहिं तहाँ पुन्य अरु पाप।
कहो अब जपूँ कौन का जाप,
मिटा सब जनम-मरण सन्ताप।।

भावार्थ- पूष (पूर्णता) में पूर्ण अपने आप है। वहाँ न तो पाप है और न पुण्य ही। वहाँ कोई भिन्न सत्ता भी नहीं तो भला बताइये कि मैं किसका जाप करूँ? अन्ततः जन्म-मरण का सन्ताप मिट चुका, जो जाप के लिए प्रेरित करनेवाला था।

दोहा- ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय।
मम निज शुद्ध स्वरूप में, उपाध्येय नहिं हेय।।

यहाँ न ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, न जानकारी की कोई युक्ति है और न जानने योग्य ही कोई शेष है। यहाँ न कोई ध्याता अर्थात् ध्यानेवाला है, न कोई ध्यान का क्रम है और न कोई ध्येय ही है। मेरे निज, शुद्ध स्वरूप में जो पूर्ण है, उसकी न तो कोई उपाधि ही है और न उसके नाश का ही विधान है।

करूँ फिर किसकी तल्लासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जब कोई परमसत्ता अर्थात् परमलक्ष्य शेष नहीं, तो फिर किसकी खोज की जाय? ऐसी लगन के बारे में सुनें, जिससे यह स्थिति मिलती है और जिसमें निरन्तर लगे रहने का विधान है।

सम्बन्ध- पूष में पूर्ण तो है; किन्तु पूर्णता का नशा पीछा किये हुए है। आगे चलकर महापुरुषों का यह तनाव भी उतर जाता है। कारण कि जब कोई भिन्न सत्ता ही नहीं है, तो नशा किससे और किसको हो?

लोग जहाँ-तहाँ भूले रहते हैं, इसलिए यहाँ स्थिति प्रत्यक्ष करके अगले पद में सावधानी और आदेश प्रदान करते हैं। महापुरुष इस रहनी में आदेशात्मक शब्द कहते हैं। यदि इसके पूर्व स्थिति में कहते तो वह सन्दिग्ध है। जैसा कि-

भीतर तो हइये नहीं, बाहर में परकास।
कह कबीर कब लौं हरी, छपरा पर की घास।। *(कबीर)*

माघ में मिटी मिलन की भूख,
तहाँ पर नहिं आसिक माशूक।
इश्क फिर किसका होवे,
वृथा वक्त तूँ क्यों खोवे।।

भावार्थ- इस सन्दर्भ में गीता का यह दृष्टान्त विचारणीय है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि, हे अर्जुन! जगत् में मेरे लिए लेशमात्र भी स्वार्थ-साधन शेष नहीं है। कुछ भी प्राप्त होनेवाली वस्तु अप्राप्य नहीं है। उसी का चित्रण इस माह में है। श्री परमहंस महाराजजी के शब्दों में वही चरितार्थ होता है कि मुझे किसी वस्तु की लेशमात्र भी भूख नहीं है।

माघ = महा अघ, अघालयम् अशाश्वतम्। इस संसार में मुझे लेशमात्र भी मिलने की भूख नहीं है क्योंकि जिसको मिलना था, वह भिन्न नहीं है। वहाँ न कोई आशिक ही है और न कोई माशूक। अब भला बताइये किससे प्रेम हो? अब आदेशात्मक वाणी है कि वृथा समय क्यों बरबाद करते हो, जबकि ऐसा स्वरूप उपलब्ध है? (ऐसे महान् स्वरूप की उपलब्धि सम्भव है।)

टिप्पणी– ऐसे महापुरुष में उपदेश की प्रवृत्ति रहती है। उसी में कल्याण है। कारण यह कि वह आँखों देखा हाल है। वास्तव में इस स्थितिवाले ही कहने का अधिकार रखते हैं अन्य लोग नहीं। जैसे–

बिन देखे उस देश की, बात कहै सो कूर।
आपै खारी खात है, बेचत फिरै कपूर।। *(कबीर)*

बौद्धिक स्तर पर कहनेवाले ही तो इन मत-मतान्तरों के रचयिता हैं किन्तु इस स्थितिवाले नहीं। कारण कि जिसने एक ही सत्ता को सर्वत्र देखा है, वह समाज में दरार नहीं डाल सकता।

दोहा– व्यापक परमानन्द में, नहिं आशिक माशूक।
लक्ष्य रूप में मार निशाना, वृथा विलोवे थूक।।

वह व्यापक है, परम आनन्द है। वहाँ न कोई भजनेवाला है और न भजने के लिए ही कोई शेष रहता है। यही लक्ष्य स्वरूप की स्थिति है। इसी में निशाना मारो। क्यों व्यर्थ में विवाद करते हो, जबकि परिणाम कुछ भी नहीं मिलना है।

करावै क्यों जग में हाँसी।
लावनी सुन बारहमासी।।

क्यों जीव-जगत् अर्थात् जीव योनियों में फँसकर हँसी करवाते हो? थूक विलोने से तो परिणाम में निराशा ही हाथ लगती है। उस लगन के विषय में सुनो, जो छुटकारा दिलानेवाली है अर्थात् परमात्मा जिससे प्रत्यक्ष होता है; किन्तु सम्भव तभी है जब तार न टूटे।

सम्बन्ध– अन्त में किस प्रकार के साधकों की पूर्ति तत्काल होती है, उनका महत्त्व तथा ज्ञान व पद की निर्लिप्त एवं विशेष स्थिति का चित्रण करते हुए अन्तिम पद की समाप्ति कर देते हैं। इस लगन में साधन की नितान्त आवश्यकता की पुष्टि करने के लिए केवल अविद्या को काटा है, जो साधक के क्षेत्र की बात है।

बसन्त ऋतु फाल्गुन में आवे,
खेल यह प्रारब्ध रचवावे।

इत्र गुलाल ज्ञान रोरी,
खेलते भर–भर के झोरी।।

भावार्थ– फाल्गुन=विशेष फलदायक गुण, वसन्त ऋतु=स्थायी मस्ती। सांसारिक ऋतुएँ तो आती-जाती रहती हैं, परन्तु जब हृदय-देश में मस्ती छा जाती है, तो परिवर्तन नहीं होता अर्थात् सदैव कायम रहता है। यह स्थिति फलप्रद गुणों से ही आती है, परन्तु उस क्रिया में प्रवृत्त होने में प्रारब्ध भी सहायक है। इस साधन में प्रारब्ध का विशेष स्थान है।

इत्र जगत् का एक सुगन्धित द्रव्य है। वह इस रहनी में एक प्रतीक मात्र है। जब ईश्वरोपलब्धि में यह सम्पूर्ण खेल सुलभ हो जाता है तब योगी की इन्हीं इन्द्रियों में परमात्मा की सुगन्धि का संचार हो जाता है। गुलाल-रोरी इत्यादि जो सर्वत्र लगाये जानेवाले पदार्थ हैं, योग की इस रहनी में ये सब ज्ञानसंचार के प्रतीक हैं, जो इस स्थिति के पुरुषों से प्रायः सदैव सबको मिला है। यह स्थिति हृदय में आती है, इसलिए हृदयरूपी झोली में वह रहनी एवं ज्ञान भरपूर रहता है। जैसा कि–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात् पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने पर शेष पूर्ण ही बचा रहता है, वह घटता नहीं।

टिप्पणी– यदा-कदा श्री महाराजजी के पावन मुख से यह बात निकला करती थी कि नाम के प्रभाव से असाध्य को भी साध्य बनाया जा सकता है। इस लावनी में प्रवेश और अन्तिम पराकाष्ठावाली योग्यता तो लगनेवालों के लिए है। यह स्वयं विचार की बात है कि यदि सर्वथा नहीं लग पाते हैं तो नाम का आश्रय ले लेना चाहिए।

'मेटत कठिन कुअंक भाल के।।' *(मानस, १/३१/६)* नाम के प्रभाव से कठिन कुअंक भी मिट जाते हैं। यदि लगन है तो वही प्रारब्ध बन जाता है। कोई महापुरुष कृपा कर दे और उठा दे, तो दुर्गम पथ भी सुगम हो जाता है। सेवा से, समर्पण से अथवा सर्वस्व अर्पण करके भी हम उनके हृदय में स्थान पा लें। महापुरुष किसी के प्रायश्चित को स्वयं सहन कर उसको निवृत्ति दिला देते हैं।

दोहा– होली अविद्या फूंकि के, हो गये गुप्तानन्द।
समझे कोई सुघड़ विवेकी, क्या समझे मतिमन्द।।

अविद्यारूपी होली को फूँककर स्वयं आनन्द का स्वरूप बन जाते हैं। जो गुप्त है, आनन्द है, अलख है उसी के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। इसको कोई सुलझा हुआ विवेकी ही समझ पाता है, बुद्धिहीन नहीं।

टिप्पणी- भाषा की जानकारी से विवेक-बुद्धि की जागृति नहीं होती। अनेक महापुरुष तो भाषा के नाम पर निरक्षर थे, पर थे परम विवेकी। महान् विवेक का स्रोत उनसे ही निकला है। जैसे कि कागभुशुण्डि को ही लिया जाय, **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'** लेकिन नहीं पढ़े। स्वामी रामकृष्ण परमहंस आदि भी इसी प्रकार के थे।

जगत की धूल उड़ी खासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जगत् अर्थात् जीवगति की धूलि पूर्णतया उड़ गई। जीवगति की नश्वरता विलीन हो गई और परमचेतन की गति बन गई। परमचेतन से अभिन्न स्थिति दिलानेवाली जो लगन है उसकी प्रक्रिया को सुनो, जिसमें पूर्तिपर्यन्त लगे रहने का विधान है। उसके बाद नहीं लगना पड़ता। उसके बाद तो **'हरिजन भजन भेद से न्यारा।'**

आँख न मूंदे कान न रुँधे, काया कष्ट न धारे।
उघरे नैना साहब देखे, सुन्दर बदन निहारे।। ***(कबीर)***

अर्थात् भजन की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु भजन बना ही रहता है।

निर्णय

इस अन्तिम पद में सबका निर्णय देते हुए केवल अविद्या को ही क्यों फूँकते हैं, जबकि इस पूर्णता में विद्या भी मिट जाती है? अधिकांशतः देखा जाता है कि मनुष्य साधन-श्रम नहीं करना चाहता परन्तु योग्यता की ख्याति प्राप्त करना चाहता है। जबकि वह प्रत्यक्ष स्थिति है, ख्याति नहीं। अतः उस लगन के द्वारा अविद्या को फूँक दें। इष्ट के स्पर्शकाल में विद्या तो स्वयं मिट जाती है। उसमें आपके मिटाने की कोई प्रक्रिया नहीं है। विद्या तो वह रास्ता है जिसके द्वारा क्रमशः इष्ट की मंजिल तय करते हैं। दर्शन के साथ ही रास्ता समाप्त हो जाता है। यदि अविद्या के साथ विद्या को भी छोड़ने के लिए लिख दिया जाय तो कोरे वेदान्तियों को रास्ता मिल जायेगा। वे कहने लगेंगे कि विद्या झूठी है, इसे छोड़ो। करने की आवश्यकता नहीं है। हम तो पूर्ण हैं, शुद्ध हैं, अजर-अमर परमात्मा हैं- आदि विशेषणों से अपने को अलंकृत कर लेंगे। ऐसा मानने से कुछ होता नहीं, स्वयं तो क्रिया व वस्तु से वंचित रह जाते हैं और दूसरों को भी बाधा पहुँचाते हैं। योगपूर्ति के उपरान्त वास्तव में ऐसा ही है। इसलिए महापुरुष ने केवल इतना ही निर्णय दिया है, जिससे साधक को क्रिया में भ्रम न हो। इस प्रकार साधक को क्रिया द्वारा केवल अविद्या को मिटाना है। विद्या तो स्पर्श, दर्शन आदि के साथ ही मिट जाती है। कालान्तर में फैलनेवाली रूढ़ियों के निवारणार्थ यदाकदा महापुरुषों को अन्तश्चेतना मुमुक्षुओं के

भावी कल्याण के लिए जीवनानुभूति का अमरस्रोत बनकर श्रीमुख से लयात्मक वेग से अनायास ही प्रस्फुटित होने लगती है। परमपूज्य श्री महाराजजी की अमरवाणी से बारहमासी की अतुलनीय परमार्थवादी काव्य-लहरी ऐसी ही कल्याण-कल्पना से तरंगित है। आपकी चिन्तनरत 'भावलहरी' में यह प्रेरणा प्रादुर्भूत होती है कि परमार्थ पथिक महापुरुषों का आश्रय लेकर साधन-पथ को क्रमशः प्रशस्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगे। ऐसी स्थिति में उन्हें सम्बल प्रदान करनेवाले निर्देशात्मक उपकरण यदि किसी तत्त्वदर्शी द्वारा अन्तःकरण में प्रगट हो जायँ तो प्रगति सुलभ हो जायेगी। इसी उद्देश्य की पूर्तिहेतु बारहमासी का संगीतमय वेग उन्मुक्त भाव-प्रवणता के साथ प्रवाहित हुआ है।

इस कृति में लयात्मक छन्द लावनी का प्रयोग सरल किन्तु हृदयस्पर्शी भाषा के परिवेश में सरस एवं बोधगम्य शैली में किया गया है। इसके प्रथम दर्शन एवं पठन से ही हृदय में प्रबल जिज्ञासा का प्रस्फुटन होने लगता है, परन्तु कल्याणात्मक उपलब्धि तभी संभव है जब उसका प्रयोगात्मक पद्धति से अनुशीलन किया जाय। बारहमासी में चैत से लेकर फाल्गुन मास तक का क्रमागत वर्ष-विकास का सामञ्जस्य साधनात्मक ढंग से किया गया है। किस प्रकार अनुरागी के अन्तःकरण में लगन की ज्योति जागृत होती है, वह किस अन्तर्प्रेरणा से प्रभावित होकर महापुरुष की कृपा से लाभान्वित होता है, तदनन्तर उसमें किस तरह विलक्षण अनुभवों का प्रादुर्भाव होता है इत्यादि क्रियात्मक पद्धतियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः यह कृति (बारहमासी) उन्हीं के लिए अधिक उपयोगी है जो साधन-पथ पर चलनेवाले पथिक हैं। पूर्वकथित जागृति से पथ की बाधा, व्यवधान एवं उपलब्धियों का पूर्वाभास मिलता जाता है, जिससे कि साधक उस अदृश्य पथ पर निर्विघ्न रूप से बढ़ता रहता है। अब आप यह न भूलें कि यह जागृति केवल स्थितिप्राप्त महापुरुषों द्वारा ही मिलती है। हाँ, यह कठिनाई अवश्य है कि वे करोड़ों में एक होते हैं, परन्तु हैं सदैव।

।। ॐ ।।

ॐ

द्वितीय उच्छ्वास

सदुपदेशों की झलकियाँ

सदुपदेशों की झलकियाँ

सत्संग–शैली

परमश्रद्धेय महाराजजी की सत्संग-मुद्रा साधारण वार्ता के दौरान ही बन जाया करती थी। जैसा कि आप समझ गये होंगे कि यह आश्रम हिंसक पशुओं से परिपूर्ण घने जंगल के मध्य में स्थित है। पहले तो वर्षाऋतु में चार-चार महीनों तक मानव-दर्शन दुर्लभ था; परन्तु महाराजजी के निवासोपरान्त शनैः-शनैः भीड़ बढ़ती गयी। टैक्सियों एवं पदयात्रियों आदि की भीड़ बनी रहने लगी। पूज्य महाराजजी की कृपा के फलस्वरूप सभी दर्शनार्थियों को सुविधा प्रतीत होने लगी एवं वे निर्विघ्न आने-जाने लगे। प्रायः लोग विभिन्न समस्याओं को लेकर महाराजजी के सामने उपस्थित होते किन्तु प्रणाम करने के उपरान्त किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ जाया करते थे। तब आप साधारण एवं मधुर स्वर में गालियाँ देना प्रारम्भ करते थे, जिससे जीवनोपयोगी सत्संग की भूमिका तैयार हो जाया करती थी। सत्संग को आत्मसात् करने के पश्चात् श्रोतागण तदनुकूल भावों में मुग्ध होकर मौन बैठे रहते थे और उनके अन्तःकरण में बार-बार यह लालसा तरंगित होने लगती थी कि हमलोग भी क्यों न परमशान्ति के पथ पर अग्रसर हों? ऐसा ही मौन प्रश्न करके महाराजजी की स्वीकारोक्ति सुनने के लिए उत्कण्ठित रहते थे। तब महाराजजी उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा करें कि, बड़े भाग्य से यह मानव-शरीर मिला है। अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। घर तो हर हालत में जाना ही पड़ेगा। वहाँ गये बिना किसी भी तरह से भलाई नहीं है। जाओ, दुनिया में कहीं भी रहो, मन से आया-जाया करना। जिस प्रकार तुम हमें यहाँ देखते हो, जहाँ भी रहो ठीक इसी प्रकार मन के अन्दर देखने का प्रयास किया करना। भगवान एवं सद्गुरु सर्वत्र रहते और सँभालते हैं। मान लो कि आज तुम यहाँ रुक ही गये और मन घर-द्वार इत्यादि में भटकता ही रहा तो यहाँ रुकने से कोई लाभ नहीं। वस्तुतः मानव वहीं रहता है जहाँ कि उसका मन। अगर तुम किसी समय अपने हृदय में हमारा स्वरूप देख लोगे तो तुमको भजन करने की क्षमता प्राप्त हो जायेगी।

एक बार आश्रम के सामने मन्दाकिनी-तट पर कुछ महात्मागण पूजनार्चन में संलग्न थे। घड़ी-घण्टा और शंखनाद के साथ प्रार्थना कर रहे थे। उनको देखकर कुछ सत्संगप्रेमियों ने हँसना प्रारम्भ कर दिया। महाराजजी ने कहा कि, यह हँसने की बात नहीं है। वे अभी अपनी साधना में तत्पर हैं। प्रायः सभी को यह स्तर पार करना पड़ता है। यह क्रमागत साधना का ऊँचा-नीचा स्तर है। वह क्षमता इस क्रिया के करने के बाद

ही आती है, जिसको कि तुम लोगों ने अभी सत्संग में सुना। इस तरह महाराजजी के द्वारा साधना के क्रमागत विकास के स्तर का निराकरण होने के पश्चात् सत्संगियों ने प्रश्न किया कि:-

प्रश्न- महाराजजी! भगवत्-पथ में इतने सम्प्रदाय क्यों हैं? कुछ लोग साम्प्रदायिक भेद से विरोध क्यों करने लगते हैं?

उत्तर- महाराजजी ने उन्हें समझाते हुए कहा कि भगवत्-पथ में कोई सम्प्रदाय नहीं होता, बल्कि कहीं साधन बुद्धि के क्षेत्र में चल रहा है तो कहीं इष्ट के क्षेत्र में, कहीं मनन की प्रवेशिका का प्रयत्न है तो कहीं योग की रहनी का। अवस्था-भेद से आकृतियाँ भिन्न-भिन्न दिखाई देती हैं। हाँ, साधक को अपनी श्रेणी स्वीकार करते हुए आगे के लिए यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। महापुरुषों के यहाँ जाति-विशेष, रंग-विशेष और सम्प्रदाय-विशेष नहीं होते बल्कि अधिकारी के गुण-दोषों का मूल्यांकन होता है।

प्रकृति में विभाजन होता है, परमपुरुष में नहीं। मानवीय दर्शन में जिसे ब्रह्म कहा जाता है वह अजन्मा, अलख और कण-कण में है। उसके स्फुरण के बिना कोई साँस नहीं ले सकता। यहाँ तक कि पत्ता भी नहीं हिल सकता; परन्तु वह रूप-रंग विहीन है। खुदा और सुप्रीम गॉड की भी यही विशेषताएँ हैं। केवल भाषाओं के भेद से नाम पृथक्-पृथक् हैं। भाषा-भेद से रूढ़िग्रस्तता का फँसाव अविवेकी एवं सन्दिग्ध पुरुषों की ही देन है। जैसे- किसी को प्यास लगी है तो अंग्रेजीवाला 'वाटर', फारसीवाला 'आब', हिन्दीवाला 'पानी' और संस्कृतवाला 'जल' कहकर माँगेगा, परन्तु पीने को वही तरल पदार्थ जल ही मिलेगा। अब हम उस इष्ट का नाम किसी भी भाषा में लें, लेकिन वह उसी स्वरूप में मिलेगा। नाम तो केवल उसकी प्रवेशिका है। उन प्रभु के पथ में आनेवाले स्तर तो महापुरुष की शरण में रहकर साधना करने से ही उपलब्ध हो सकते हैं कि भजन का क्या रूप है एवं भजन कैसे होता है?

प्रश्न- कुछ विद्वानों ने आकर प्रश्न किया कि, महाराजजी! परहित क्या है? लोकहितार्थ आपकी वाणी जनसमूह तक पहुँचनी चाहिए।

उत्तर- श्री परमहंस महाराजजी उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह अधिकारी के लिए है, न कि सबके लिए। हम क्या कहें, कोई सुनेगा भी नहीं। हम आँखों की देखी बात कह रहे हैं और तुम लोग कागज की लिखी बता रहे हो। भला बताओ, हमारा-तुम्हारा मन एक कैसे होगा? किसी को खाना-पीना, कपड़ा व इन्द्रिय-तृप्ति की सामग्री देने का नाम परहित नहीं है। यह तो उसका एक अंग मात्र है। यह आत्मा प्रकृति से परे होने के कारण 'पर' कहलाता है। इसका हित हो जाय, बस यही परहित है। जैसा कि-

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई।। *(मानस, ७/४०/१)*

इस आत्मा का हित हो जाय, इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। यही परमधर्म है। इसको अधोगति में रखना अर्थात् इसे योनियों के सिलसिले में छोड़े रहना--इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है। आत्मा तो अजर-अमर, शाश्वत एवं सर्वत्र है। हमें उसी को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है।

प्रश्न– महाराजजी! अजर, अमर और शाश्वत आत्मा का हित कैसा?

उत्तर– विद्वत् समूह को सम्बोधित करते हुए महाराजजी कहते हैं कि जिस गीता में आत्मा को अजर, अमर और शाश्वत कहा गया है उसी शास्त्र में यह भी मान्यता है कि आत्मा को अधोगति एवं नीच योनियों में न पहुँचावें बल्कि अपनी आत्मा का उद्धार करें। इसका पतन न होने दें।

आत्मा वस्तुतः अजर, अमर एवं शाश्वत है; किन्तु यह तो किसी महापुरुष के द्वारा देखकर निर्णय किया गया है। गीता आत्मा की कोरी प्रशंसा नहीं करती बल्कि उसके स्वरूप को प्रत्यक्ष कराती है। इसलिए निर्णय दिया है कि तत्त्वदर्शियों ने ही इस आत्मा को देखा है। जब परमतत्त्व परमात्मा देखने में आ जाता है, तभी इन्हीं विभूतियों से युक्त यह आत्मा भी प्रत्यक्ष होता है। हम कहते भर हैं पर देखते तो नहीं। दिखाई तो यही शोक, सन्ताप एवं संसार देता है।

इस प्रकार भजन के मनन की युक्ति समझो और करो। जब कभी भी आत्मा दिखाई देता है तो इसी रूप में। भजन के सिवाय उसे देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

प्रश्न– भाविकों द्वारा प्रार्थना सहित यह प्रश्न किया गया कि, महाराजजी! हमारे कल्याण का कोई सरल उपाय बताने की दया की जाय?

उत्तर– इस पर पूज्य महाराजजी उनके प्रति अति मधुर वाणी में कहते हैं कि– क्या कहूँ, अब कहने की आवश्यकता नहीं है। सभी बातें सब कोई जानते हैं। दो-दो पैसे में वेदान्त बिकता है। सब पढ़ते हैं और लिखते भी रहते हैं। बस साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती बल्कि किसी अनुभवी महापुरुष के द्वारा हृदय में जागृत हो जाती है। बनावटी इधर-उधर भटकने से तो अच्छा है कि किसी महापुरुष की शरण अपनाओ। उन्हीं के सान्निध्य, सेवा और सत्संग से तुम्हारे कल्याण का पथ प्रशस्त होगा। जैसा कि–

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की, कटै कोटि अपराध।।

प्रश्न– महाराजजी! क्या घर में भजन नहीं हो सकता?

उत्तर– घर में पुण्य और पुरुषार्थ को बढ़ाया जा सकता है लेकिन उस भजन के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती। सेवा, भजन उतनी ही तल्लीनता से जारी रखना चाहिए, जब तक कि उसकी कोई निर्धारित सीमा न मिल जाय। उस सीमा के उपरान्त ही स्वयं भगवान घर छुड़ा देते हैं। आज हम सोचते हैं कि घर छोड़ना असम्भव है परन्तु इष्टदेव के अनुकूल होने पर सब सुलभ हो जाता है।

प्रश्न– जब घर में निवृत्ति नहीं होनी है तो हम आपकी शरण में रहकर ही भजन करेंगे।

उत्तर– देखो, किसी के छोड़ने से घर नहीं छूटता है। एक चोर था। जब चारों तरफ से दण्ड के घिराव में आया तो साधू हो गया। जब सब महात्मा लोग विश्राम करने लगते तो वह अपनी खोज जारी रखता था। खोज करने से कुछ भी न मिलने पर वह 'करे कमण्डलाचार'– रातभर महात्माओं के कमण्डल ही इधर-उधर किया करे। किसी का बाहर रख दे और किसी का अन्दर– यही उसके रातभर का क्रम था। उसके इन क्रियाकलापों से महात्माओं के भजन में व्यवधान पड़ने लगा। बारीकी से जाँच करने पर एक दिन वह पकड़ में आ गया। जब पूछा गया कि, इस वेश में आने के पूर्व तुम कौन थे? तब उसने चौर्य कार्य का पूर्ण विवरण कह सुनाया। चूँकि वह पहले चोर था, इसलिए स्वभावगत संस्कार ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। घर छोड़ने से स्वभाव नहीं छूटता। असली गृहस्थी तो मन है जो ग्रसा हुआ है। केवल बाहर के त्याग से मन की गृहस्थी का त्याग नहीं होता। जब तक इष्टदेव आज्ञा न दें, तब तक घर छोड़ना पाप है और जब आज्ञा दे दें, तब घर में रहना महान् पाप है। इसलिए घर में ही रहकर आज्ञा की स्थिति प्राप्त करो। सहसा छोड़ने से मन का ग्रसन (गृहस्थी) नहीं छूटता, पुराने गुणधर्म पीछे लगे रहते हैं।

'गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द।'

'बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय।।'

यदि जल्दीबाजी करनी ही है तो प्रार्थना इत्यादि में करो, बाहर की जल्दीबाजी में काम बिगड़ जाता है।

प्रश्न– महाराजजी! कृपा बनी रहे, जिससे मैं भजन कर लूँ।

उत्तर– तुम भजन कहाँ से कर लोगे? कैसे पता पाओगे कि भजन क्या है? जो कुछ भी शुरू करते हो, यह केवल भजन की प्रवेशिका मात्र है, जिसे प्राथमिक स्तर की

संज्ञा दी जाती है। हमारे स्वरूप को हृदय से पकड़ो। धीरे-धीरे जब पकड़ कार्य करने लगेगी तब आत्मा रथी बनकर हृदय से पथ-संचालन करने लगेगी। ऐसी स्थिति में तुम समझ सकोगे कि भजन कब होता है और कब नहीं होता? आँख बन्द कर प्रयास करना तो प्रवेशिका का प्रयत्न मात्र है। जब तक इष्टदेव हृदय से रथी होकर शुभाशुभ और ऊँच-नीच की स्थिति नहीं समझाने लगते, तब तक भजन नहीं होता। हाँ, प्रयास निरर्थक नहीं जायेगा; क्योंकि यही प्रवेश करने का माध्यम है। भजन कोई करता नहीं बल्कि सद्गुरु ही कराते हैं।

प्रश्न– महाराजजी! भजन की पराकाष्ठा क्या है?

उत्तर– 'यथा नाम तथा गुण'। भजन का अर्थ होता है– भज न। तात्पर्य यह हुआ कि भागो मत। चिन्तन में वृत्ति का अचल होना ही भजन की पराकाष्ठा है। चित्त की गति का सर्वथा रुक जाना ही भजन की परिपक्वावस्था है। चित्त की यह स्थिति जहाँ पैदा हुई कि भगवान स्वयं ही उठा लेते हैं। बनने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं प्रत्यक्ष होकर अपने में समाहित कर स्थिति प्रदान कर देते हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हें स्पष्ट हो जायेगा कि मैं क्या हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?

प्रश्न– महाराजजी! क्या भगवान मिलते हैं?

उत्तर– हाँ, मिलते क्यों नहीं! यदि वास्तव में कोई सच्चा अधिकारी है तो न मिलने पर वह जीवित ही न रह सकेगा। हमें मिलकर ही यह स्थिति दिये हैं। उसका निर्णय हम इस भौतिक बुद्धि से नहीं कर सकते। **'रिनिक थिनिक धुनि अपने से उठे'**– जब साँस में उठनेवाली ध्वनि पकड़ में आने लगती है अर्थात् जब साधक उस पर विचरने लगता है, तब भगवान ऐसे बोलते हैं, जिस तरह हम लोग परस्पर बातें करते हैं। जब शब्द और सुरति एक हो जाती है तब वह ऐसे ही देखने में आता है जैसे कि शीशे में स्वरूप; किन्तु वह अन्तर्दृष्टि अनुभव से देखने में आती है। तुम्हारा तो यह वाक्य-ज्ञान का झगड़ा है कि नहीं मिलते। जब वे हृदयदेश से पथ-प्रदर्शन करने लगते हैं तभी समझ में आता है।

प्रश्न– महाराजजी! ब्रह्म तो शून्य है, जिसका अभिप्राय कुछ भी नहीं होता। इससे भ्रान्ति हो जाया करती है कि क्या करें?

उत्तर– यह किसी आडम्बरी या निशाप्रधान ने बता दिया कि ब्रह्म शून्य है। ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है जो शून्य नहीं बल्कि परम चेतन है। उस ब्रह्म की चेतनता के अंश मात्र से यह सम्पूर्ण जगत् चेतन प्रतीत होता है। जैसा कि उसके बगैर कोई साँस नहीं ले सकता और यहाँ तक कि उसके स्फुरण के बिना पत्ता भी नहीं हिल पाता। यह तो

किसी महापुरुष ने प्राप्ति की स्थिति का चित्रण किया है कि हमारा मन एवं चित्त सतत चिन्तन में प्रवृत्त होकर सूक्ष्म होते-होते सहअस्तित्व मिट जाने की स्थिति में पहुँच जाय, जिससे कि वह लक्ष्य प्रत्यक्ष होता है। जब तक चित्त का स्वरूप संस्कार मात्र शेष है तब तक वह ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं होता। चित्त के संस्कार एवं तरंग के सहअस्तित्व मिट जाने पर ही वह ब्रह्म प्रत्यक्ष होता है, जो हमारी मानसिक शून्यावस्था है। बस योगी या लक्ष्य में प्रवृत्त पुरुष चित्त की तरंगरहित ऐसी शून्य अवस्था के प्रवेशकाल में उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष पा लेता है जो कि परम चेतन है। उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए हमारे मन और चित्त को शून्य होना है, न कि ब्रह्म शून्य है। किसी स्थितिप्राप्त महापुरुष से चिन्तन-क्रम समझो और करो। वस्तुतः हम चलना ही नहीं जानते। वह परम दयालु है। हम हृदय से समर्पण करके चलना प्रारम्भ करें तो वही स्रोत मिल जायेगा, जो दुःख से ऊपर उठा लेता है।

प्रश्न– महाराजजी! निशाचर का क्या स्वरूप है?

उत्तर– जो निशा-प्रिय हो, जिसे प्रकाश में न दिखाई पड़े, वही निशाचर है। यहाँ उदय-अस्त होनेवाले रात्रि-दिन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अदृश्य सत्ता के द्वारा प्रसारित जीवधारियों का पालन-क्रम है। जैसा कि-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। *(गीता, २/६९)*

यह सम्पूर्ण जगत् ही रात्रि है, जिसमें संयमी पुरुष जग जाते हैं। यही रूप मानस इत्यादि हर परमात्म-तत्त्व अवगत पुस्तिका में है।

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी।। *(मानस, २/९२/२)*

जगत्रूपी निशा में योगी लोग जग जाते हैं। परमतत्त्व के लिए आर्त एवं विधाता के प्रपंच को त्याग देते हैं। यहाँ विधाता का प्रपंच ही निशा है। इस निशा में जागते किस प्रकार हैं?:-

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी।
बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।। *(मानस, १/२१/१)*

नाम के प्रभाव से योगी लोग जग जाते हैं। वास्तव में राम नाम इतना ही नहीं, जितना कि हम जिह्वा से रटते हैं। जैसा कि-

राम नाम में अन्तर है। कहीं हीरा है, कहीं पत्थर है।।

उस रात्रि का प्रसार, जहाँ तक विधाता का प्रपंच है, उसके लगाव का सर्वथा त्याग कर देते हैं। नाम-चिन्तन की युक्ति के द्वारा परमात्म-तत्त्व को पाना ही प्रकाश है। अब

जो इन मायिक प्रवृत्तियों को सत्य समझकर उसी में व्यस्त है, वही निशाचर है। दूसरों को मारकर खुद जीनेवाले, सृष्टि के छिटपुट ऐश्वर्यों में मदान्ध, दुर्व्यसनों में रत एवं भगवत्-विस्मृत स्वभाववाले ही निशाचर हैं। कारण कि जगत्रूपी रात्रि में ही उनकी सूझबूझ है और परम प्रकाशमय उस परमात्म-तत्त्व से वंचित हैं।

प्रश्न– प्रायः लोग आपसे प्रश्न किया करें कि, "महाराजजी! क्या गाँजा पीने से ध्यान में मदद मिलती है?"

उत्तर– आप हँसते हुए उत्तर दें कि गाँजा तो मैं भी पीता हूँ परन्तु औषधि के रूप में। भजन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बार मुझे अस्वस्थ देख उत्तराखण्ड के एक स्वामीजी ने कहा कि पहाड़ी पानी बहुत लगता है। महाराजजी, आप दो-चार चिलम गाँजा पीया करें जिससे पहाड़ी पानी का असर न पड़े। तब से मैं भी पीने लगा परन्तु इसका भजन से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि-

गाँजा पीकर धरे ध्यान, गृहस्थ होकर छाँटे ज्ञान।
साधू होके कूटे भग, कहै कबीर तीनों ठग।।

अमल-गाँजा, भाँग, चरस आदि का सेवन करने और भजन, ध्यान करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि इनके माध्यम से ध्यान लग जाय तो सभी औषधि खाकर अचेतावस्था में ध्यान करने लगें। साधना के प्रशस्त पथ में पहुँचकर हमारा अभ्यास एवं लगन ही ध्यान के रूप में परिणत हो जाते हैं।

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।' *(गीता, ३/३४)* इन्द्रियों और उनके भोगों में आसक्त, अनन्त जिम्मेदारियों से ग्रसित गृहस्थ कहता है कि मैं ज्ञानी हूँ तो यह असंभव है क्योंकि ज्ञान एक जागृति है। गीता में है- **'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।'** *(गीता, १३/११)* आत्मा के आधिपत्य में निरन्तर चलना और चलते हुए परमतत्त्व परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ मिलनेवाली जानकारी ज्ञान है। इसके विपरीत जो कुछ है अज्ञान है। हृदय से आत्मा की जागृति, प्रभु का रथी होना ज्ञान की निम्नतम सीमा है और क्रमशः उनके निर्देशन में चलकर परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान की अधिकतम सीमा है।

इसी प्रकार साधु यदि इन्द्रिय-संयम से च्युत है, विषयासक्त है, वह भी साधु नहीं है। साधना चरित्र का नाम है। लक्ष्य से रंचमात्र की दूरी है तब तक माया विघ्न डाल सकती है। अस्तु, गाँजा पीनेवाला ध्यानी, गृहासक्त ज्ञानी तथा असंयमी साधु- तीनों पक्के ठग हैं।

प्रश्न– महाराजजी! प्रबल पिपासु होने पर भी बहुत-सी भ्रान्तियों में बहता रहता हूँ। वस्तुतः सनातन-धर्म है क्या? कोई ऐसा रूप बताइये जिसका सभी पालन कर सकें?

उत्तर– जिसे तुम भ्रान्ति कहते हो, वही अन्तिम योग्यता को क्रमशः दिलानेवाला होता है। जितने भी तीर्थ या देवी-देवता हैं, उन्हीं का अनुसन्धान ही आज तुम्हें इधर प्रेरित कर रहा है। इन्हीं के द्वारा सनातन-धर्म के लिए हम जागरूक होते हैं। अतः ये सभी सनातन-धर्म की शृंखला की कड़ी के रूप में हैं। हृदय में श्रद्धा व भावों को जागृत कर, पुरुषार्थ व पुण्य का कोष बनकर यही क्षमता वास्तविक लक्ष्य की दिशा प्रदान करती है। अब आइये सनातन की यथार्थ दिशा पर।

सनातन-धर्म मायिक अनिष्टों को समाप्त कर इष्ट की उपलब्धि करा देता है। क्रियात्मक दृष्टि- जो इस जीवात्मा को परमात्मा में प्रवृत्त कर दे, वही सनातन है। यह योग अथवा क्रिया की पूर्तिकाल में प्रत्यक्ष स्थिति दिलानेवाला है। सनातन कहते हैं अनादि को, जो सर्वव्यापी हो, सर्वशक्तिमान हो, जिसका नाम परब्रह्म परमात्मा है, जो अस्तित्वसहित इन्द्रियों का निरोध करके साधना की परिपक्वावस्था में स्थिति प्रत्यक्ष करानेवाला है। लोग चाहे जो भी समझें परन्तु प्रत्येक महापुरुष की रमणस्थली यही रही है। महाबीर स्वामी, जिन्हें जैनधर्म का प्रवर्तक माना जाता है, इसी धर्म की सच्ची रहनी वाले थे कि, "वह आत्मतत्त्व मैं ही हूँ।" बुद्ध भी इसी धर्म के पुजारी थे कि, "तथागत, मैं उस तत्त्व से अवगत हूँ, वह मुझसे भिन्न नहीं है।" श्री शंकराचार्य भी इसी स्तर में खड़े हुए कि, "मैं वही स्वरूप हूँ।" अब आप ही विचार करें कि यह भेद कैसा? यह तो उन व्यक्तियों की देन है जिन्होंने महापुरुषों का आश्रय ले उनको अपने प्रचार का माध्यम बना लिया। यह कहना तो सर्वथा भूल ही होगी कि सनातन-धर्म की नींव शंकराचार्य के द्वारा डाली गयी, तब तो वह हजार वर्ष का ही हुआ, जितनी की शंकरपर्यन्त अवधि है। जिस गीता का भाष्य शंकराचार्य ने किया, वह बौद्ध इत्यादि से भी हजारों वर्ष पुरानी है और अपना विशेष देन सनातन-धर्म को ही बतलाती है।

यदि कोई उसका जन्मदाता है तो सनातन या अनादि कैसे हो सकता है? सनातन-धर्म के नाम पर जो अच्छाइयों के स्थान पर कुछ रूढ़ियाँ आज प्रचलित हैं, वे श्रीकृष्णकाल में भी थीं। हो सकता है कि उनका कोई अन्य रूप रहा हो। सनातन-धर्म की एक प्रचलित मान्यता का स्मरण होते ही अर्जुन युद्ध की इच्छा को त्यागकर, धनुष रखते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण से कहने लगा कि, भगवन्! मैं अपने ही कुल को युद्धस्थल में पाता हूँ। पिण्डोदक क्रिया, वर्णसंकर आदि का उदाहरण देते हुए उसने कहा कि कुल-धर्म सनातन है। हमें सनातन-धर्म की रक्षा करनी चाहिए। इस युद्ध से तो सनातन-धर्म नष्ट

हो जायेगा। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि- तुझे इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? जैसा कि तुम कहते हो, न कभी श्रेष्ठ पुरुषों ने इसका आचरण किया और न परमकल्याण ही करनेवाला है। तब अर्जुन विनीत भाव से योगेश्वर श्रीकृष्ण से प्रार्थना करने लगा कि 'शिष्यस्तेऽहम्'- मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ शरण में आये हुए की रक्षा कीजिए। मुझ पर अनुग्रह करते हुए बताइए कि वह सत्य एवं सनातन है क्या?-जिससे कि मैं श्रेय को प्राप्त हो सकूँ। तब समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्य वस्तु का कभी तीनों कालों में अभाव नहीं है और असत्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अब प्रश्न पैदा होता है- जिसका किसी भी काल में अभाव नहीं है वह स्थिर रहनेवाला सत्य क्या है? तब श्रीकृष्ण स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही परम सत्य है, यह मिटता नहीं। यह आत्मा ही सनातन है, यही शाश्वत है, यही पुरातन है और यही अजर-अमर है। वहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है। जब वह आत्मा सब में है तो फिर खोजा किसको जाय? इसके उत्तर में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, हे अर्जुन! इस आत्मा को इन विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। भला वह तत्त्वदर्शिता है क्या? बाह्य दृष्टि में जैसा कि उन मान्यताओं का प्रचलन है- पाँच तत्त्व, पचीस प्रकृतियों, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और भूमिका आदि का सत्रह, पाँच, पचीस में तारतम्य बाँधकर कह देते हैं कि यही तत्त्वदर्शन है; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार तत्त्व की चाहवाले पुरुषों को चाहिए कि वे इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया समेटकर मन को ध्यान में लगावें। ध्यान का लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए क्योंकि योग की निर्धारित क्रिया एक ही है। दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मायिक प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और शान्ति, क्षमता, एकाग्रता इत्यादि सद्-प्रवृत्तियों का अभ्युदय हो जाता है। इष्ट की एकाग्रता, लक्ष्य इत्यादि जो इष्ट को दिलानेवाले परमस्रोत हैं उनका हृदय में धारावाही प्रवाह हो जाने पर ही पराभक्ति की स्थिति आती है। इसी स्थिति में वह ब्रह्म को पूर्णतः जानता है। तत्त्व को जानता तो है; किन्तु वह तत्त्व है कैसा?

तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं जो हूँ, जिस स्थितिवाला हूँ, जिन लक्षणों से युक्त हूँ- उसको जानता है और जानने के तत्क्षणोपरान्त उसी में लीन हो जाता है। सिद्ध हुआ कि ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम तत्त्वदर्शन है। प्राप्तिकाल में जिसको भगवान मिले हैं, उसके दूसरे क्षण ही वह अपनी आत्मा को उन्हीं भगवद्-गुणधर्मों से परिपूर्ण पाता है। जिसके लिए वे संकेत करते हैं कि वह मुझमें स्थित है और वही सनातन है। अब जिस क्रिया से वह आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाय, उसका पालन ही सनातन-धर्म का पालन है। उस क्रिया की पूर्तिकाल में ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही

इस आत्मा में परमात्मा के गुणधर्म प्रवाहित होने लगते हैं। आत्मा ब्रह्म के साथ तद्रूप हो जाती है, इसलिए यह आत्मा प्राप्तिकाल में सनातन है न कि पहले। अब बहुत से पूजा के ऐसे भी विधान पाये जाते हैं कि लोग महापुरुषों के शब्दों का सहारा लेकर यह आत्मा सनातन है, शाश्वत है, यही मेरे अन्दर है, यही मेरा स्वरूप है- ऐसा कहकर बोध लगाने लगते हैं परन्तु यह सनातन-धर्म की कोई पूजा नहीं है। जब क्रिया की पूर्तिकाल में ही वह प्रत्यक्ष होता है तो कहने से क्या लाभ?

अब यदि हमें वास्तव में सनातन-धर्म को पाना है तो सर्वप्रथम उस क्रिया को समझना होगा, जिसके द्वारा वह प्रत्यक्ष होता है। वह क्रिया किसी भी स्थितिप्राप्त महापुरुष के द्वारा हृदय में जागृत हो जाती है। केवल लिखना तो प्रेरणा मात्र है। श्रीकृष्ण ने उसको इस प्रकार बताया है कि- हे अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आत्मा को प्रत्यक्ष करानेवाली क्रिया एक ही है। अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक क्रियाओं को करनेवाले भजन नहीं करते? तब कहते हैं कि वे भजन नहीं करते। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली हुआ करती है, इसलिए बहुत-सी क्रियाओं का विस्तार कर कल्पित बुद्धि से अत्यन्त मनोरम रूप देते हुए उसको व्यक्त करते हैं। उनकी वाणी का प्रभाव जिनके चित्त पर पड़ता है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से पूछा कि, भगवन्! हम इस ज्ञान को कैसे प्राप्त करें? तब वे कहते हैं कि हे अर्जुन! तत्त्वदर्शी, जो उस परमतत्त्व आत्मा को प्रत्यक्ष कर चुके हैं या उस तत्त्व की स्थितिवाले हैं, उनके समक्ष शुद्ध अन्तःकरण से कल्याण की कामना करते हुए, निष्कपट भाव से सेवा व प्रश्न के द्वारा उस विधि को प्राप्त कर, जिसके अन्दर ईश्वर की प्राप्ति एवं साधना की पराकाष्ठा निहित है।

अब एक नवीन समस्या सामने खड़ी हो जाती है कि जीवात्मा परमात्मा में कैसे स्थित हो? जीवात्मा और परमात्मा कोई अलग सत्ता नहीं हैं। केवल कुछ रुकावटों की वजह से जीव-ईश्वर इत्यादि के विशेषण लगते हैं। यह उन पदों के नाम हैं, जो उस अजर-अमर सत्ता के बीच में पड़े हुए हैं। जब इस मानव के विचरने का क्षेत्र अविद्या एवं अज्ञान ही जानकारी है अर्थात् अविद्या से प्रेरित हो अज्ञान को ही ज्ञान समझता है तब यही पुरुष जीवात्मा कहलाता है। जिस पुरुष के अन्तःकरण में विद्या का ही क्षेत्र है एवं ज्ञान अथवा वास्तविकता ही जिसकी जानकारी है अर्थात् विद्या से प्रेरित हो ईश्वर या परम सत्य का ही जिसे ज्ञान है, वह ईश्वरात्मा कहलाता है। विद्या-अविद्या से परे जिसका क्षेत्र एवं रहनी है और ज्ञान-अज्ञान से परे जिसकी जानकारी है, वही परमात्मा की संज्ञा से विभूषित होता है।

देखिये, आत्मा वही है। जीव एक विशेषण लग गया है इसलिए जीवात्मा की संज्ञा दी जाती है। फिर चिन्तन के द्वारा इष्ट की जानकारी की अवस्थाकाल में उसी आत्मा में एक ईश्वर विशेषण लग जाने से वह ईश्वरात्मा कहलाता है। जब साधक उसमें प्रवेश पा जाता है तो ऐसी अवस्था में वही आत्मा परमात्मा के नाम से जाना जाता है। यह सब तभी संभव है जब शनैः-शनैः चलकर अभ्यास करते हुए मन सह-अस्तित्व इन्द्रियों सहित सर्वथा निरोध की अवस्था में आ जाता है, तभी साक्षात्कार होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को जानने की क्षमता आ जाती है एवं लक्षण भी उसके जैसा ही हो जाता है। इसी स्थिति का नाम तत्त्वदर्शन है। हम चाहे देश में जन्मे हों चाहे विदेश में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि इस निर्दिष्ट क्रिया का सम्बन्ध सीधा उस परमात्मा से है, जो सबका नियन्ता है। यह देश-विदेश तो जीवन-झगड़ों से मिलनेवाले नाम हैं जो अस्थिर हैं किन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व इस दुनिया में कोई सुखी नहीं होता। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए किसी महापुरुष का सान्निध्य परमावश्यक है, अन्यत्र तो माया का ही प्रसार है।

प्रश्न- एक बार एक वृद्ध सज्जन विनीत शब्दावली में अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए प्रार्थना करते हैं कि, "महाराजजी! जीवन पर विचार करने से सर्वाधिक पाप ही दिखाई पड़ता है। इसलिए अब कल्याण-हेतु मृत्युपर्यन्त मैंने अवध में ही निवास करने का निश्चय किया है। कारण कि अवध में शरीर-त्याग करने से आवागमन के बन्धन टूट जाते हैं। जैसा कि-

चारि खानि जग जीव अपारा।
अवध तजें तनु नहिं संसारा।। (मानस, १/३४/४)

उत्तर- मेरी भी यही धारणा है कि अवध में शरीर-त्याग करने से पुनर्जन्म नहीं होता; परन्तु वह अवध ही दूसरा है। जैसा कि हमने अनेकों बार बताया है कि यह मानस है। मानस का तात्पर्य मन से है। रामचरितमानस में वही अंकित है जो प्रायः सबमें प्रसुप्त एवं किसी-किसी में ही जागृत रहता है। रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामीजी ने गम्भीरतम विषय को छिपाकर लिखा है, ताकि उपयुक्त अधिकारी प्राप्त कर लें और अनधिकारी प्रयास करें। मानस में चर्चित अवध का तात्पर्य इस प्रकार है--वध कहते हैं नाशवान् को, मरणधर्मा को और अवध कहते हैं जिसका वध न किया जा सके अर्थात् अनश्वर हो।

यह भगवान के साथ मिलनेवाली भगवत् रहनी है, जो काल से अबाधित है। साधक के हृदय में जब भगवत्-तत्त्व का संचार होता है तो उस समय यह विघ्नसहित है। उसी

की प्रेरणा से सम्पूर्ण विकारों के शमनोपरान्त जब रामराज्य की स्थिति का अभ्युदय हो जाता है, तत्क्षण सेवक का कार्य समाप्त हो जाता है और स्वामी की ही रहनी मात्र शेष रह जाती है। भूखण्डों में कहीं भी अजर-अमर होने का प्रमाण नहीं मिलता और न तो ऐसा सम्भव ही है। अब आइए प्रश्न की प्रवेशिका पर कि जिस महापुरुष की यह वाणी है उन्होंने राम के साथ अवध को चलता-फिरता धाम कहा है-

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू।। *(मानस, २/७३/३)*

जहाँ सूर्य प्रकाशित है वहीं दिन है और जहाँ राम हैं वहीं अवध है। यथार्थतः राम तो सर्वत्र हैं परन्तु प्रेममयी साधना द्वारा ही किसी-किसी के हृदय-देश में प्रगट हुआ करते हैं और उस राम के प्रगट होते ही अवध की स्थिति आ जाती है। उस अवध्य स्थिति में, शरीर का चाहे जब जहाँ भी परित्याग कर दिया जावे किन्तु मृत्यु से सम्बन्ध नहीं रहता। केवल शारीरिक निधन ही मृत्यु नहीं कहलाती।

अवध प्रभाव जान तब प्रानी।
जब उर बसहिं राम धनु पानी।। *(मानस, ७/६६/७)*

अवध का प्रभाव, जैसा कि अजर-अमर कर देने की विशेष योग्यता है, वह मानव के लिए तभी प्रत्यक्ष होता है अर्थात् पुरुष तभी जान पाता है जब इष्ट (राम) की स्थिति ध्यान के माध्यम से हृदय में आ जाय। क्योंकि जहाँ राम रहते हैं वहीं अवध है। अतएव जब तक राम की स्थिति नहीं मिल जाती, तब तक अवध में प्रवेश नहीं कर सकते। याद रखें- ईश्वर का निवास स्थान हृदय है। उन्होंने जब कभी भी विश्राम करने के लिए स्थान पाया है तो हृदय में ही, अन्यत्र कहीं नहीं। समस्त विकारों के शमनोपरान्त आकाशवत् निर्विकार स्थिति द्वारा हृदय-देश में राम के आने का समय हो गया अर्थात् स्थिति वहाँ तक पहुँच गयी, जहाँ कि राम के साम्राज्य का स्थान है। अब आप यह स्मरण रखें कि भगवान का निवास स्थान हृदय है। हम चिन्तन के द्वारा ज्यों-ज्यों इष्ट के करीब होंगे, त्यों-त्यों भयरहित अवध्य स्थिति का संचार हृदय-देश में प्रसारित होने लगता है; किन्तु राम की पूर्ण स्थिति जिस क्षण इस शरीर के अन्दर आ जायेगी, उसी समय यह सम्पूर्ण शोभा की खानि हो जाती है। यही जीवात्मा अवध्य हो जाती है। इसलिए-

अवधपुरी प्रभु आवत जानी।
भई सकल़ सोभा कै खानी।। *(मानस, ७/२/६)*

जहाँ राम निवास करते हैं वहाँ अवध्य स्थिति का प्रसार हो जाता है। जब भगवत्-प्राप्ति की स्थिति में आ जाते हैं तो यह शरीर स्वतः सम्पूर्ण शोभा की खानि बन

जाता है और इससे अवध्य स्थिति का चित्रण होने लगता है। इष्टदेव के शब्दों से ही इस स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है। अन्यत्र इससे अवगत होने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए राम समझाते हुए कहते हैं कि-

सुनु कपीस अंगद लंकेसा।
पावन पुरी रुचिर यह देसा।। *(मानस, ७/३/२)*

यह प्राप्ति-स्थिति अत्यन्त पुनीत, रमणीय एवं अलौकिक है। यद्यपि सर्वत्र बैकुण्ठ की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है परन्तु अवध सदृश मुझे वह भी प्रिय नहीं है। इस मार्मिक प्रसंग को कोई विरला ही समझ सकता है। बैकुण्ठ, कामधेनु, अमृत इत्यादि यौगिक शब्द हैं। इन शब्दों के माध्यम से महापुरुषों ने इष्ट के सामीप्य की ऊँची-नीची अवस्थाओं को व्यक्त किया है। इसलिए अंगद कहता है कि- अरे बुद्धिहीन रावण! क्या बैकुण्ठ कोई नगरी बसी हुई है, जहाँ पहुँचकर डेरा डाल दोगे? कुण्ठ कहते हैं किनारे को अर्थात् जो माप-तौल में आ सके एवं बैकुण्ठ कहते हैं बेहद को, जिसका किनारा न मिल सके। जब तक साधक का चिन्तन माप-तौल के अन्दर है (२ घण्टे, ४ घण्टे या ८ घण्टे चलता है) अतः संख्या निर्धारित हो जाने से कुण्ठित है अर्थात् किनारा मिल गया। यदि वही भजन धारावाही होने लगे (जिसमें माप-तौल, किनारा आदि नहीं होते) तो यही स्थिति बेहद या बैकुण्ठ कहलाती है।

यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ। *(मानस, ७/३/४)*

इस प्रसंग को कोई-कोई ही जान पाता है। जिसके अन्दर यह स्थिति प्रत्यक्ष आ जाती है उसी के लिए जानने का विधान है। आगे-

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।
मम धामदा पुरी सुख रासी।। *(मानस, ७/३/७)*

जो क्रमशः साधना-पथ में चलकर अवध्य स्थिति प्राप्त कर लेता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है, जैसे कि प्राण। जब तक भगवान का स्वरूप हृदय-देश में प्रगट नहीं होता तब तक अवध का प्रभाव एवं स्वरूप ही पकड़ में नहीं आता। अवध्य स्थिति एवं इसका प्रकटीकरण एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात् स्वरूप के साथ ही साथ अवध्य स्थिति भी तत्क्षण प्राप्त हो जाती है। पुनश्च-

उत्तर दिसि बह सरजू पावनि। *(मानस, ७/३/५)*

यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। उत्तर दिशा का तात्पर्य है ऊर्ध्वरेता या उपराम। इस प्राप्तिकाल में यजनपूर्ण स्वर ऊर्ध्वरेता अथवा उपराम हो जाता है। ऐसी स्थितिवालों का मज्जन व संग करनेवाले मेरा सामीप्य पाते हैं।

हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी।
धन्य अवध जो राम बखानी।। *(मानस, ७/३/८)*

ऐसा सुनकर सब हर्षित हुए एवं विशेष अवध से अवगत होकर बोले कि वह अवध धन्य है जिसकी प्रशंसा राम ने स्वयं की है। इसलिए सिद्ध है कि अवध बहुत हैं। महात्मा तुलसीदास इन त्रुटियों से अवगत थे, इसीलिए कल्याणकारी अवध पर बारम्बार क्रियात्मक युक्तियों द्वारा विशेष बल दिये हैं, जिससे कि मानव अपने जीवन में अवध के परिणाम का सही उपयोग कर सके। जब रामराज्य अवध में स्थापित हो गया तो उस विशेष रामराज्य की स्थिति का चित्रण करते हुए व्यक्त किया गया है।

गरुड़ का सन्देह इतना बढ़ा कि कहीं उसका निवारण न हो सका। वे नारद, शंकर आदि के पास से होते हुए कागभुशुण्डि के पास जा पहुँचे। उनका सम्पूर्ण सन्देह आश्रम एवं महापुरुष के दर्शन से ही प्रायः दूर हो गया। कारण कि वे महापुरुष राम के अनन्य भक्त एवं प्रत्यक्षदर्शी थे। वे ही प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिस अवध में राम का राज्य है उसका चित्रण करते हुए कहते हैं-

जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका।।
(मानस, ७/३०/१-२)

हे गरुड़जी! वह रामराज्य क्या था, वह एक प्रकार का प्रचण्ड सूर्य प्रगट हुआ था जिससे तीनों लोकों में पूर्ण प्रकाश छा गया। उस प्रकाश में बहुतों को सुख हुआ एवं बहुतों को दुःख।

जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अबिद्या निसा नसानी।।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।।
(मानस, ७/३०/३-४)

जिन्हें शोक हुआ, उनका वर्णन सुनें-

प्रथम तो अविद्यारूपी निशा का सदा के लिए अन्त हो गया एवं अविद्या में पलनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये अर्थात् मायिक प्रवृत्ति का नाश हो गया। जो विकसित हुए, उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।
ए पंकज बिकसे बिधि नाना।। *(मानस, ७/३०/७)*

धर्मरूपी तालाब में विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि ईश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति पूर्णरूपेण विकसित हो गयी अर्थात् इष्टोन्मुख समस्त सद्गुणों का विकास हो गया; किन्तु इस रामराज्य की स्थापना जिस अवध में हुई, वह है कहाँ?

यह प्रताप रबि जाकें, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास।। *(मानस, ७/३१)*

रामराज्य का यह प्रकाश जिसके हृदय में जिस समय व्याप्त हो जाता है तब पीछे दर्शाए गये सभी इष्टोन्मुखी सद्गुणों का पूर्णतया विकास हो जाता है और अधोगति में ले जानेवाले मायिक दुर्गुण समूल नष्ट हो जाते हैं।

अब स्पष्ट हुआ कि राम के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली अबाध्य स्थिति ही अवध है, जो हृदय में प्रत्येक प्रयत्नशील (साधक) के लिए सम्भव है। यह इष्ट की स्थितिवाले किसी महापुरुष के अन्तर्देश की स्थिति है। वे जिस किसी को हृदय से पथ-प्रदर्शन करने लगे उसी के लिए सुलभ हो जाता है। इस अवध की स्थिति की जानकारी वे इष्ट स्वयं कराते हैं। कारण कि वह परमात्मा मन-बुद्धि के क्षेत्र से सर्वथा परे है। यह क्रमशः चलनेवाला क्रियात्मक पथ है, जहाँ परामर्श का स्थान नहीं। यदि जीते-जी किसी को यह स्थिति मिल गयी तो वहाँ मृत्यु का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

चारि खानि जग जीव अपारा।
अवध तजें तनु नहिं संसारा।। *(मानस, १/३४/४)*

चारों खानियों में जो अपार जीव-शृंखला है उसमें से यदि कोई इस अवध को पाकर त्याग दे, तो उसका आवागमन नहीं होता। आपको इस प्रकार की संकीर्ण भावना नहीं रखनी चाहिए। वृद्धा और युवावस्था का भगवत्-पथ में कोई विशेष बन्धन नहीं है। भाग्य से ही ऐसी भावना आपके अन्तःकरण में जागृत हुई है। यदि आपको फलदायी अवध में पहुँचना है तो श्रम करिये। क्रियात्मक ढंग से ही लाभान्वित होना संभव है, किसी अन्य माध्यम से नहीं।

प्रश्न- महाराजजी! अवध-प्रसंग में पावन मुख से यह सुनने में आया कि यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। अब इसको पकड़ने की कोई युक्ति बताने की कृपा की जाय और साथ ही यह भी बताया जाय कि श्वास-प्रश्वास की क्रिया की स्थिति क्या है?

उत्तर- प्रारम्भिक अवस्था में श्वास-प्रश्वास का उपयोग तुम्हारे लिए न हो सकेगा। निरन्तर अभ्यास के कुछ काल बाद यही सरल हो जाती है। जिस प्रकार वह हमारे समझ में आती है और जीवन में ढलती है, उस प्रकार से लोग करना नहीं चाहते। लोग सीधे उसी योग्यता को चाहते हैं, जो श्वास-जप की चरमोत्कृष्ट स्थिति है।

जहाँ-तहाँ उल्टी-सीधी मान्यताओं का आधार लेकर समझाना भी प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत से लोग तो काफी मात्रा में श्वास को खींचकर पेट को घड़े की तरह भर लेते हैं और कहते हैं कि श्वास-प्रश्वास की क्रिया हो रही है। शारीरिक व्यायाम और मन

के निरोध से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी उलझन में पड़ने से तो जल्दी के बजाय दूरी ही पैदा हो जाती है। यह एक ही नाम की ऊँची-नीची श्रेणी है, जो क्रमशः चलकर ही सुलभ हो सकती है। जैसे किसी बच्चे का संरक्षक उसको उच्चश्रेणी की शिक्षा दिलाना चाहता है, यदि वह प्रारम्भ में ही उसे किसी उच्चश्रेणी की शिक्षा के स्थान पर बैठा दे तो बताओ क्या परिणाम निकलेगा? यदि वास्तव में संरक्षक की चाह उच्चश्रेणी की शिक्षा दिलाने की है तो वह प्राथमिक शिक्षाहेतु सभी सम्भव प्रयत्न करेगा। ठीक इसी प्रकार श्वास-प्रश्वास की क्रिया को यदि पाना है तो क्रमिक रूप से ही समझना होगा।

एक ही नाम-यजन की चार श्रेणियाँ हैं। अतएव ये चारों श्रेणियाँ एक ही नाम की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं- जो बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा के नाम से जानी जाती हैं। इसी विशेष पथ की आधी दूरी तय करने पर श्वास-प्रश्वास की योग्यता आ जाती है। जपनेवाले नाम अथवा मंत्र का तात्पर्य 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' नहीं है। वह तो एक प्रार्थना है, जैसा कि- ओम् शब्द से उच्चरित परात्पर ब्रह्म, सबकी श्वास में वास करनेवाले भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। 'ॐ नमः शिवाय' इत्यादि भी इसी प्रकार की प्रार्थनाओं के रूपक हैं।

अब आप किसी एक छोटे से नाम को ले लें। जैसे कि तुलसीदासजी ने अपने चिन्तन-क्रम में दो अक्षर का नाम 'राम' रखा। कबीर और नानक ने भी वही नाम चुना। पूर्व के महर्षियों में ओम्, सोहम् इत्यादि चलता था। इस प्रकार किसी दो या ढाई अक्षर के नाम का नियमित रूप से ऐसे गति से उच्चारण करें कि आसपास वालों को भी सुनाई पड़े। व्यक्त होने के कारण यह **बैखरी** वाणी का जप कहलाता है। जितना नियम से निभा सकें उतना नियम से जपें और इसके अतिरिक्त हर वक्त जपने का विधान है।

मध्यमा- उसी नाम को ऐसे ढंग से जपें कि आपके अतिरिक्त कोई और न सुन सके। यह केवल कण्ठ से ही जपी जानेवाली वाणी है। नाम जपने से आवाज तो निकलती है, परन्तु मध्यम होने के कारण मध्यमा कहलाती है। इसको तब तक निरन्तर जपना पड़ता है जब तक कि ध्वनि न बँधे और मन ध्वनि में न फँस जाय।

पश्यन्ती- पश्य का अर्थ होता है देखना। इसमें वाणी से नाम जपा नहीं जाता बल्कि देखा जाता है। इसकी प्रवेशिका में नाम श्वास के साथ ही जपा जाता है जिससे कि वह नाम श्वास में ढल जाय। नाम की इसी अवस्था को पश्यन्ती कहते हैं। मन को द्रष्टा के रूप में खड़ा कर दें और श्वास में उठनेवाले शब्द को सुनें। संगदोष से मन कभी इतना विकृत हो जाता है कि सुनने की क्षमता ही नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जब साधक बरबस अपने मन को लगाता है तो सिर में दर्द होने लगता है। संगदोष से बचने के लिए इस

मन को सावधानी से लगाना पड़ता है। यहीं से श्वास-प्रश्वास की क्रिया का प्रवेश है। इसमें श्वास को घटाना या बढ़ाना नहीं पड़ता बल्कि शारीरिक शक्ति के अनुसार श्वास की स्वाभाविक गति में नाम को ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। उसी श्वास की गति के साथ नाम को जपें। महापुरुषों का तो कहना है कि श्वास नाम के अतिरिक्त और किसी भी चीज का उच्चारण नहीं करती, परन्तु जब आप लोग सुनने का प्रयत्न करते हैं तो सन्न-सों सुनाई देता है। कारण कि शुद्ध अवस्था से प्रकृति के द्वन्द्व में लोग इतना दूर हट गये हैं कि स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ता किन्तु सानुराग अभ्यास से क्रमशः सुनाई देगा।

परावाणी- पश्यन्ती के चिन्तन में तो मन को सुनने के लिए बाध्य किया जाता है, किन्तु परावाणी में मन स्वाभाविक रूप से ही लग जाता है। न साधक जपे और न मन को जपने के लिए विवश करे। यदि इतने पर भी जप धारावाही होता रहे तो बस यही अजपा की प्रवेशिका है। इसी की पूर्तिकाल में श्वास में उठनेवाला शब्द नाम मात्र ही शेष रह जाय और जपनेवाले के इस मन की स्थिति उसमें विलीन हो जाय तब वह क्रम परमात्मा अथवा परम चैतन्य चिन्मय भगवान की स्थिति में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह प्रभु स्वयं ही समझा देते हैं कि बेटा हम ऐसे हैं और तुम्हारा यह रूप है। इस स्थिति के बाद अपने में प्रवेश दे देते हैं।

यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है- अजपा की स्थिति में स्वर यजन से परिपूर्ण रहता है। यह इष्ट के समीपवाली वाणी का जाप है। इसके बाद जाप का कोई विधान नहीं है। इस स्थिति में यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। इस सरयू के महत्त्व को दर्शाते हुए कहते हैं कि-

जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा।
मम समीप नर पावहिं बासा।। *(मानस, ७/३/६)*

इसमें मज्जन करने से नर मुक्ति पा जाता है या मेरे समीप निवास करता है, परन्तु कार्यरूप में देखने से यह गुण नहीं मिलता। उदाहरण के लिए पाकिटमार चोर सबसे प्रथम ही स्नान कर लेते हैं। यदि भक्त चार बजे सुबह डुबकी लगाता है तो वे दो बजे रात्रि में ही स्नान करके राम-सीताराम की ध्वनि लगाना प्रारम्भ कर देते हैं। वे लोग भक्त के डुबकी लगाते ही उनका सामान लेकर चम्पत हो जाया करते हैं। परम मुक्ति तो दूर रही, कम-से-कम उनका यह दुष्कर्म तो छूट जाता। देखें-

वस्तु कहीं खोजे कहीं, कैसे पावे ताहि।।

तीर्थ और उसका फल अपनी जगह पर है। वह सामीप्य मुक्ति और साक्षात्कार यजनपूर्ण स्वररूपी सरयू में मज्जन करने से ही सुलभ हो सकता है।

उत्तर दिसि बह सरजू पावनि। *(मानस, ७/३/५)*

इस स्थिति में श्वास प्रकृति से उपराम हो जाती है। अध्यात्म में यही उत्तर दिशा है, जिसे ऊर्ध्वरेता कहते हैं। चिन्तन की इस योग्यता में मन पर दबाव नहीं देना पड़ता बल्कि यह स्वाभाविक ही होने लगता है। ऐसे यजनपूर्ण स्वर में मज्जन करनेवाला निश्चय ही सामीप्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। बैखरी, मध्यमा के चिन्तन में स्वर से सम्बन्ध नहीं रहता। पश्यन्तीकाल में स्वर में खींचातानी मची रहती है और परावाणी के चिन्तनकाल में यजन से परिपूर्ण रहती है। इसी में मज्जन करनेवाला व्यक्ति सामीप्य मुक्ति प्राप्त करता है।

बहइ सुहावन त्रिबिध समीरा।
भइ सरजू अति निर्मल नीरा।। *(मानस, ७/२/१०)*

प्रायः सबकी श्वास सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गुणों के उतार-चढ़ाव से प्रवाहित रहती है। जब श्वास-यजन की क्रिया तीनों गुणों से उपराम हो जाती है तो शुभ से ओतप्रोत रहती है। शुभ का अर्थ है सत्य, कहने का तात्पर्य यह है कि वह विकारों से रहित हो जाती है। इस स्थितिवाले स्वर का मज्जन करनेवाला ही सामीप्य मुक्ति का अधिकारी है। जन्म-जन्मान्तरों के मनोमल के मज्जनार्थ यही सरयू है। मन में विकारों के रहते भगवत्-स्थिति प्राप्त करना असम्भव है। शारीरिक मल तो बाह्य मज्जन से ही छूट जाता है परन्तु आन्तरिक मल की धुलाई चिन्तन-भजन के द्वारा ही होती है। देखो, यह रामचरितमानस क्रियात्मक होने से क्लिष्ट है। इस योग्यता की उपलब्धि क्रियात्मक ढंग से ही हो सकती है।

प्रश्न- ***कबहुँक करि करुना नरदेही।***
देत ईस बिनु हेतु सनेही।। *(मानस, ७/४३/६)*

जैसा कि चौरासी लाख योनियों का दण्ड देखकर भगवान करुणा करके नर का शरीर प्रदान करते हैं, जिसे आवागमन से मुक्त होने का साधन बताया गया है, तो क्या उस नर का यही स्वरूप है जो रात्रि-दिन जन्म लेते रहते हैं या और कोई?

उत्तर- देखो, माया ही नारी है। माया का उतार-चढ़ाव चित्त के ऊपर है इसलिए चित्तवृत्ति ही नारी है। जब कभी प्रयत्नशील पुरुष के हृदय से चित्तवृत्ति द्वारा कार्य करनेवाली माया का प्रभाव निकल जाता है तो वह नर की स्थिति में आ जाता है। जिसका संचालन माया द्वारा होता है, वह नारी है न कि नर। देखो, यह मानस मन की सूक्ष्म स्थितियों का चित्रण है। इन स्थितियों का निर्णय इष्टदेव के शब्दों से ही होता है। साधक इन स्थितियों को इष्ट की वाणी द्वारा पाता है। इस मानस की रचना के साथ-साथ मानस-रोग भी बताये गये हैं। इन मानस-रोगों के माध्यम से उस नर-स्वरूप का निर्णय

दिया गया है। उन रोगों के प्रसुप्त हो जाने पर नर-स्वरूप की योग्यता आ जाती है। सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह है जो अनन्त रोगों के विस्तार का कारण है। काम वात, क्रोध पित्त और लोभ कफ है। अहंकार डमरूआ है, तृष्णा उदर रोग है। इसी प्रकार पन्द्रह-पचीस रोगों को बताया गया है और साथ ही निर्णय दिया गया है कि नर पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः जो इन विकारों से प्रभावित नहीं होता, वही नर है। जैसा कि-

एक ब्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं सन्तत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।। *(मानस, ७/१२१ क)*

इन व्याधियों में से यदि एक भी व्याधि नर का स्पर्श कर देती है तो नर मर जाता है और जिसके पास ये सभी रोग हैं तो निरन्तर पीड़ित रहनेवाला जीव है। भला वह समत्व की स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है? अब आप विचार करें कि इनमें से कोई रोग है या नहीं। यदि है तो वह नर नहीं। नर तो एक ऐसा स्वरूप है कि प्रकृति के सभी पहलू काम-क्रोधादि जिनका नाम मानस-रोग है, जीवित अवश्य रहते हैं, पर वह उनसे प्रभावित नहीं होता। संयोगवश यदि कोई एक भी दोष कार्य करने लगता है तो नर मर जाता है और जहाँ सभी दोष हैं, वहाँ तो नर का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। गोस्वामीजी के कथनानुसार वह जड़ जीव है। जब भगवान राम ने अन्दर-ही-अन्दर यह निश्चय किया कि मैं पृथ्वी निशाचरहीन कर दूँगा, तो सीता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला।।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निसाचर नासा।।
(मानस, ३/२३/१-२)

निशा कहते हैं रात्रि को एवं निशाचर कहते हैं रात्रि में विचरण करनेवाले को। महापुरुषों की दृष्टि में बाहर कहीं रात्रि है ही नहीं। बाह्य निशा तो जीव-जगत् की जीवनी है।

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी।। *(मानस, २/९२/३)*

यह जगत् ही रात्रि है, **'मोह निसाँ सबु सोवनिहारा'** *(मानस, २/९२/२)*- मोह ही निशा है। इसमें चलानेवाले काम, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि का विस्तार ही निशाचर है। आत्मा का रथी होकर संचालन करना ही राम है। उस आराध्य देव के आदेशानुसार जब मनुष्य इन्हें काटने में प्रवृत्त होता है तो वही नरलीला है। जब पुरुष इन विकारों के प्रभाव से ऊपर उठ जाता है तब वह नर कहलाता है। यहाँ मोहरूपी रावण एवं उसका

प्रसार आसुरी सम्पत्ति होने से निशाचर है। भजन कोई लाख करे परन्तु जब तक इष्टदेव रथी नहीं हो जाते, तब तक इन विकारों का शमन नहीं होता। किसी के हृदय में यदि इन विकारों पर विजय मिली है तो अनुभव के द्वारा। विजय का परिणाम प्रेरक पर आधारित रहता है। श्रम साधक करता है परन्तु उसका अस्तित्व निमित्तमात्र है। अतः इष्टदेव से प्रेरित विकारों से त्राण पाने के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। यह नरत्व की स्थिति का प्रयास मात्र है।

यौगिक दृष्टि से नर मन की एक श्रेणी है, न कि स्थूल शरीरधारी कोई जीव। यह नरत्व की श्रेणी क्रमागत साधना के फलस्वरूप उसी परम प्रभु (इष्ट) की अनुकम्पा से मिलती है जो मोक्षदायिनी एवं साधन का धाम है। ऐसी स्थितिवाले साधकों को चेतावनी देते हुए भगवान स्वयं कहते हैं-

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं।। *(मानस, ७/४३/२)*

बहुमूल्य नर-तन पाकर यदि विषयों में मन लगाता है तो वह अमृत के बदले विष ग्रहण करता है। उपरोक्त नर की स्थिति हम किसी महापुरुष की सेवा एवं सान्निध्य से ही प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न- महाराजजी! कामधेनु एवं कल्पवृक्ष की क्या मान्यता है? अब तक तो हमलोग इन्हें पशु एवं वृक्ष ही मानते आये हैं।

उत्तर- प्राचीन शास्त्रों में 'गो' शब्द की महिमा विलक्षण ढंग से वर्णित है। गो ही लोक-परलोक एवं सब कुछ प्रदान करनेवाली है। कालान्तर में 'गो' शब्द ने धीरे-धीरे एक भ्रान्ति का रूप ले लिया। कतिपय लोगों में यह धारणा बनने लगी कि महर्षियों के यहाँ कोई ऐसी क्षमतावाली गाय रहती थी जो कि तत्काल इच्छित वस्तुओं को प्रदान कर देती थी। उदाहरण के लिए वशिष्ठ आदि महर्षियों के यहाँ नन्दिनी एवं कामधेनु आदि के रहने की मान्यता है। इसी प्रकार कल्पवृक्ष, शेषनाग, बैकुण्ठ इत्यादि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके विषय में लगभग आठ या दस शताब्दी से लोगों में विभिन्न मान्यताओं की कल्पना हो गयी है किन्तु ये सभी यौगिक शब्द हैं। गोस्वामीजी इन्हीं भ्रान्तियों के शमन-हेतु यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि-

राम मनुज कस रे सठ बंगा।
धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।। *(मानस, ६/२५/५)*

अंगद के माध्यम से रावण के प्रति इस प्रकार कहते हैं- रे बुद्धिहीन रावण! राम क्या कोई मनुष्य है, कामदेव क्या कोई धनुर्धारी है? वह तो एक विकार मात्र है।

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।
सकल भुवन अपने बस कीन्हे।। *(मानस, १/२५६/१)*

कुसुम कहते हैं फूल को। लतिका से जैसे विकसित पुष्प विलग होकर तत्काल मुरझा जाता है, उसी प्रकार काम भी फूल की तरह एक नाजुक विकार है, जो कि आया और तुरन्त मुरझा गया, परन्तु इतना सशक्त एवं प्रबल है कि सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है। इसीलिए महापुरुषों ने काम के भयंकर प्रवाह को सशक्त शूल समझकर एक धनुर्धारी की संज्ञा दी है। आगे कहते हैं- रे अभागे! गंगा क्या किसी नदी का नाम है?

पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा।
अन्न दान अरु रस पीयूषा।। *(मानस, ६/२५/६)*

कामधेनु क्या किसी पशु का नाम है? कल्पवृक्ष क्या कोई पेड़ है? अन्न क्या कोई दान है? (अपने को सद्गुरु के प्रति समर्पण करना ही दान है) अमृत क्या कोई तरल पदार्थ है?

सुनु मतिमन्द लोक बैकुण्ठा।
लाभ कि रघुपति भगति अकुण्ठा।। *(मानस, ६/२५/८)*

रे मतिमन्द! बैकुण्ठ क्या कोई नगरी है? भगवान की अगाध भक्ति क्या कोई लाभ है? वह तो एक सर्वोपरि स्थिति है, जिसमें लाभ-हानि का उतार-चढ़ाव नहीं है। बुरी स्थिति को देखकर भलाई का ज्ञान होता है अर्थात् बुरे चिन्हों को देखकर ही अच्छाई का भान किया जा सकता है; किन्तु भक्ति में लाभ-हानि का कोई प्रश्न ही नहीं। भग इति स भक्ति (भगति), भग कहते हैं गुण-दोषमयी प्रवृत्ति और इसका अन्त ही भक्ति कहलाती है। अतः स्पष्ट हो गया कि यह लाभ नहीं बल्कि स्थिति है।

बैनतेय खग अहि सहसानन।
चिन्तामनि पुनि उपल दसानन।। *(मानस, ६/२५/७)*

जैसा कि क्रमिक प्रसंग में कहते आ रहे हैं ठीक उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि- रे मतिमंद! गरुड़ क्या कोई पक्षी है? और शेषनाग क्या कोई सर्प है, जो पृथ्वी का भार वहन करता है? आज के युग में आये दिन राकेट पृथ्वी का चक्कर लगाया करते हैं परन्तु कहीं भी शेषनाग दिखाई नहीं पड़ता। अरे विंशति चक्षुओं के होते हुए भी अंधे दशानन! चिन्तामणि क्या कोई पत्थर है? जब दावे के साथ बुद्धिहीन, नीच, अन्धे आदि शब्दों से सम्बोधित करके अंगद के द्वारा स्पष्ट किया गया है तो वस्तुतः ये हैं क्या? यह सबके सब आजकल निरन्तर खटकनेवाले शब्द हैं। अरे! यह तो आध्यात्मिक शब्दकोश हैं,

जिनके द्वारा महापुरुषों ने योग में आनेवाली विशेष स्थितियों को समझाया था। अब प्रश्न के प्रारम्भ पर विचार करें कि कामधेनु और कल्पवृक्ष क्या हैं? जब साधन के सही संचालन में पड़कर यह हमारा अयुक्त मन प्रवृत्तियों सहित सर्वथा निरोध की स्थिति में प्रवेश पा जाता है तत्क्षण अधोन्मुखी प्रकृतिजन्य सम्पूर्ण विकारों का क्रियात्मक क्रम परिवर्तित होकर भगवत्-स्थिति को प्रदान करनेवाले सद्‌गुणों में प्रवाहित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप चेतन को प्राप्त कर उसी रूप में साधक परिवर्तित हो जाता है, जिसे कायाकल्प कहते हैं। इस प्रकार कायाकल्प की स्थितिवालों के लिए इच्छा ही सबकुछ है। हृदय से किसी के कल्याण की इच्छा प्रगट कर दें अथवा स्वयं के लिए किसी इच्छा का अभ्युदय हो जाय तो तत्काल स्वयं ही पूरी होने लगती है। मनोवांछित फल प्रदान करना ही कल्पवृक्ष का गुणधर्म माना जाता है।

कामधेनु- 'गो' नाम इन्द्रियों का है। यही मनसहित इन्द्रियाँ साधना से निरोधावस्था प्राप्त कर ब्रह्म-पीयूष रस को फैलाने लगती हैं। उस समय योगी को मिलनेवाला आनन्द ही नन्दिनी है। यही स्थिति महर्षि वशिष्ठ की थी। यही गो योगी के स्वरूपस्थ होने पर कामधेनु बन जाती है। शरीर के रहते हुए उस स्वरूप की स्थिति मिल गयी, इसलिए उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकीं। कारण कि आगे ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके लिए कामना करे। उस परम कामना की पूर्ति स्थितिप्राप्त महापुरुषों से ही सम्भव है। देखने में इन्द्रियों का खोखा वही है जो अन्दर-ही-अन्दर उस परमतत्त्व की पूर्ति हो जाने से कामधेनु के विशेषण से अलंकृत हो जाती है। यदि हमारी इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हो गईं तो पशुता में बदल जाती हैं और यदि साधन में प्रवृत्त हो गयीं तो ब्रह्मरस का संचार करने के कारण नन्दिनी कहलाती हैं। नन्दिनी अर्थात् आनन्द देनेवाली स्थिति। यही पराकाष्ठा दिलाने पर कामधेनु कहलाती हैं। यही इन्द्रियाँ ब्रह्म की स्थितिवाली हैं जहाँ समस्त कामनाओं की पूर्ति है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गाय को न माना जाय? मानने को कुछ भी मानो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। चाहे गाय मानो या पीपल, कोई मदीना की मिट्टी माने तो कोई ईसा की फाँसी का दृश्य। इसी प्रकार यहूदी इत्यादि प्रत्येक समाज की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ होंगी। यह द्वन्द्व में रहनेवाले प्राणियों को ईश्वरोन्मुख करने का उपाय है। इससे हृदय में श्रद्धा का वेग बढ़ता है व धर्म में अभिरुचि जागृत होती है। शनैः-शनैः प्रकृति से ऊबकर सत्य-प्राप्ति की जिज्ञासा प्रबल हो जाती है; किन्तु वास्तविक क्रिया जो परम चेतन से मिलानेवाली है, उसमें प्रवेश मिल जाने पर उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जब तक हमारी योग्यता उस क्रिया को पकड़ने में सक्षम नहीं हो जाती, तब तक

इसका पालन नितान्त आवश्यक है। भगवत्-पथ की प्रवेशिकापर्यन्त कुछ ऐसे ही माध्यम अपनाये गये हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि देवताओं के स्थान पर देवता नाम की कोई वस्तु नहीं है; किन्तु मनुष्य की श्रद्धा जब किसी स्थान पर झुक जाती है, तब मैं स्वयं ही उस स्थान पर खड़ा होकर फल देता हूँ परन्तु वह फल सीमित है। उनको मेरे अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। अतः मेरी प्राप्ति के लिए उन्हें उस क्रिया को करना पड़ेगा, जो मेरे द्वारा निर्दिष्ट की गयी है। जब तक भगवत्-स्वरूप को दिलानेवाली क्रिया न मिले तब तक यह प्रयास करना परमावश्यक है।

प्रश्न– महाराजजी! क्या अध्यात्म में युद्ध अनिवार्य है?

उत्तर– अध्यात्म ही एक ऐसा स्थल है जहाँ युद्ध अनिवार्य है, अन्यत्र कहीं नहीं। संसार में बड़े-बड़े संघर्ष होते हैं परन्तु इनका उद्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति है न कि परमार्थ। मोह से पराधीन होकर सांसारिक शक्तियों के मद में इन्द्रिय-तृप्ति के लिए लोग विशाल जनसमूहों में लड़ते हैं, जिसे युद्ध की संज्ञा दी जाती है। ऐसे युद्ध में असंख्य लोग मर मिटते हैं; किन्तु जीत जीवित रहनेवालों की भी नहीं होती। अरे, यह प्रवृत्ति मार्ग है। जो जिसको जितना दबाता है, परिणाम में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। आज जो शरीर के अभिमान में पड़कर अपने को शेर समझता है, कल उसे गीदड़ भी बनना पड़ेगा। कारण कि बदले की भावना को हर हालत में भोगना ही पड़ता है। यह मानव-शरीर क्षणभंगुर है एवं कल के लिए कुछ भी निश्चित नहीं है तो फिर इसके लिए एकत्रित भोग्य-सामग्री कब सत्य हो सकती है? अतः ऐसी प्राप्ति पूर्णतया अप्राप्ति ही है। थोड़ा गीता पर विचार करें, श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रिय-सुख को चाहनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है, अतः तू इनके वश में न हो। आगे जन्मान्तर में मिलनेवाली योनियों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि, हे अर्जुन! मृत्युकाल में जो जिसका चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, प्रायः वह उसी स्तर की योनि को प्राप्त करता है और जो मेरा चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करता है। यदि ऐसा सरल उपाय है तो सभी मरणकाल में भगवान का चिन्तन कर लेंगे, परन्तु कहते हैं कि हे अर्जुन! उस प्रयाणकाल में बरबस आकर वही चिन्तन होने लगता है जिसका कि जीवन में अधिक अभ्यास हुआ रहता है। मरणकाल में बुद्धि भ्रमित रहने के कारण जीवन के भले-बुरे कार्यों का बरबस स्मरण होने लगता है। इसलिए तू निरन्तर मेरा ही चिन्तन कर, जिससे प्रयाणकाल में मेरा ही चिन्तन तुझमें प्रसारित हो सके। आजीवन जिसमें मारकाट, झगड़े-फँसाद एवं जीवों के सताने

की भावना रही है प्रयाणकाल के बाद भी वह मरने और जीने की परिधि में जन्म लेता है। झगड़ने की प्रवृत्ति जीव-श्रेणी का स्वभाव है। अतः काम-क्रोध, मोह-लोभवश झगड़े अवश्य होते हैं, जिसका परिणाम अधोगति है। जहाँ इसकी उपलब्धि है वहाँ विजय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अब एक दृष्टि मानस पर भी डालें। जब रावण युद्धस्थल में आया तो विभीषण को बड़ी चिन्ता हुई। उसके पराक्रम का स्मरण कर वह विचार करने लगा कि, 'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा।' *(मानस, ६/७६/१)*- रावण रथारूढ़ है, भगवान राम विरथ हैं, उनके पाँव में जूते भी नहीं हैं तो इस भयंकर शत्रु को कैसे जीतेंगे?

याद रखें, यहाँ गोस्वामीजी के शब्दों में राम एवं रथादि का चित्रण प्रतीकों के रूप में प्रत्यक्ष है। यहाँ पर मोह ही रावण एवं उसका रथ ही मोह का प्रसार है। हम मोहमयी दृष्टि से जिधर भी देखें वह वहीं से गति पकड़ने लगता है। बस यही वह रथ है जो मोह को अपने में आसीन कर घुमाता रहता है। ऐसा विचार कर विभीषण बोला-

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना।
केहि बिधि जितब बीर बलवाना।। *(मानस, ६/७६/३)*

भगवन्! न आपके पास रथ है और न पाँव में जूते ही हैं। इस महाभयंकर शत्रु को आप कैसे जीतेंगे? उसके बल से वह भलीभाँति परिचित था। इस पर भगवान राम उसके प्रेम को देखकर कहते हैं कि-

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।। *(मानस, ६/७६/४)*

भगवान राम बोले, "जिससे विजय होती है वह रथ ही दूसरा है।" आखिर उसका स्वरूप क्या है?

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।। *(मानस, ६/७६/५)*

शौर्य एवं धैर्य ही उस रथ को चलानेवाले चक्के हैं। सत्य (जो तीनों कालों में अबाधित है) एवं शील (सत्य का अनुसरण)- यही दोनों ध्वजा और पताका हैं। याद रखें, ध्वज सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतीक होता है। उसके खिलाफ कोई कार्य हो ही नहीं सकता। यदि उसके खिलाफ कोई कार्य होता है तो राष्ट्र समाप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार सत्य से विपरीत कोई कार्य नहीं हो सकता।

बल बिबेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे।। *(मानस, ६/७६/६)*

शक्ति, विवेक, इन्द्रियों का दमन एवं परम वस्तु से हित ही घोड़े हैं जिनके द्वारा सही दिशा अर्थात् वास्तविक गति मिलती है। क्षमा, कृपा एवं समत्वरूपी रस्सियों में बँधकर ये घोड़े कार्य करते हैं।

ईस भजनु सारथी सुजाना।
बिरति चर्म संतोष कृपाना।। *(मानस, ६/७६/७)*

ईश का भजन सुजान सारथी है। वैराग्य ही वह ढाल है, जिस पर विकारों का असर नहीं पड़ता। सन्तोष ही कृपाण है।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा।। *(मानस, ६/७६/८)*

दान ही परशु एवं बुद्धि ही प्रचण्ड शक्ति है। विशेष अनुभूतियों का संचार ही वह धनुष है जिसमें प्रकृति का पहलू एक बार जितना समाप्त हुआ, पुनः जीवित नहीं होता।

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा।
एहि सम बिजय उपाय न दूजा।। *(मानस, ६/७६/१०)*

ब्रह्म में स्थित महापुरुष व उनमें जो सद्गुरु हैं, उनका मन-कर्म-वचन से पूजन ही अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर।। *(मानस, ६/८० क)*

अत्यन्त दुर्जय संसाररूपी शत्रु को वही वीर जीत सकता है, जिसके पास उपरोक्त रथ की स्थिति दृढ़ता के साथ प्राप्त हो। राम ने रथ द्वारा विजय प्राप्त की थी और स्वयं कहते हैं कि दूसरे रथों से विजय कदापि नहीं हो सकती। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या उन्होंने किसी सोने या चाँदी के रथ में बैठकर विजय प्राप्त की थी?

यह मानस है। इसका बाह्य दृष्टिकोण से यथार्थ अर्थ नहीं मिल सकता। हाँ, भगवत्-पथ की एक निर्धारित सीमा पार की जा सकती है। एकाग्रता के बाद जो मन का स्वामित्व है, वही इन्द्र है। ऐसी एकाग्रता में ही उपरोक्त रथ का होना सम्भव है। जैसा कि शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, ईश-भजन, निरन्तर चिन्तन, सद्गुरु का पूजन इत्यादि का संचार एवं उनमें स्थायित्व आने पर ही इन्द्र ने रथ को प्रदान किया था। वस्तुतः इन्द्रियों के निरोधकाल में वह दैविक सम्पत्ति, जिसके द्वारा परमदेव परमात्मा का साक्षात्कार होता है, ढल जाती है। इसी के द्वारा आवागमन से मुक्ति एवं इष्टोपलब्धि होती है। यहाँ मोह ही रावण है। जैसा कि-

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहि बहु सूला।। *(मानस, ७/१२०/२८)*

सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह (रावण) ही जब मिट जाता है तो **'रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।'** *(मानस, ६/१०३/१०)* अब कोई नहीं बचा अर्थात् संसाररूपी शत्रु पर विजय मिल गई। याद रखें, भगवान संसाररूपी शत्रु को जीतनेवाले रथ का वर्णन करते हैं। जब तक उपरोक्त रथ की योग्यता नहीं आती, तब तक विजय नहीं मिलती। भगवान राम की वास्तविक विजय से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि राम-रावण युद्ध किसी महापुरुष के अन्तःकरण की लड़ाई है। जो प्रायः सभी के अन्तःकरण में प्रसुप्तावस्था में विद्यमान है। वह किसी-किसी प्रयत्नशील पुरुष के अन्तःकरण में अनुभवी महापुरुष द्वारा जागृत कर दी जाती है। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ हैं, पहली सजातीय एवं दूसरी विजातीय, दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। रावण अर्थात् आसुरी सम्पद् को निर्जीव बनाकर आध्यात्मिक युद्धहेतु कल्याण-क्षेत्र में उतर आओ। यदि थोड़ा भी करते बन गया तो संस्कार प्रबल हो जायेंगे।

प्रश्न- महाराजजी! अमृत का प्रभाव है कि जिसके ऊपर पड़ जाय, जिला दे किन्तु युद्ध की समाप्ति में अमृत-वर्षा से बानर-भालू तो जी उठे लेकिन निशाचरों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, क्या कारण है? जैसा कि-

सुधा बृष्टि भै दुहु दल ऊपर।
जिए भालु कपि नहिं रजनीचर।। *(मानस, ६/११३/६)*

उत्तर- जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि मानस अन्तःकरण की लड़ाई है। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद् सब में हैं परन्तु उनकी जानकारी सबको नहीं है। किसी विरले प्रयत्नशील, पुण्यात्मा के हृदय में यह आत्मा प्रत्यक्ष होकर कार्य करने लगती है, तब दोनों प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इनको केवल वाचिक निर्णय से ही हम नहीं पकड़ सकते। शब्द-संकेतों से तो केवल भगवत्-पथ की दिशा ही मिलती है। दैवी सम्पद्-आसुरी सम्पद्, विद्या-अविद्या, सजातीय-विजातीय आदि के रूप में महापुरुषों ने इन दोनों प्रवृत्तियों का नामकरण किया है। जैसा कि-

'विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदाया।' अर्थात् विद्या उसे कहते हैं जो ब्रह्मगति को प्रदान कर दे। इन्हीं दो प्रवृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही राम-रावण युद्ध है, जिसमें मोहरूपी रावण, क्रोधरूपी कुम्भकरण, कामरूपी मेघनाद, लोभरूपी नारान्तक, प्रकृतिरूपी सूर्पणखा आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ जब कार्यरूप ले लेती हैं तो इनकी संख्या अनन्त हो जाती है।

उदाहरण के लिए, सबके मर जाने पर जब रावण युद्ध के लिए चला तो उसने अनन्त सेना का निर्माण कर लिया। तात्पर्य यह है कि यदि अविद्या का एक भी सदस्य जीवित है तो उसी का प्रसार हो जाता है।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। (मानस) यह मोहरूपी रावण सकल व्याधियों का मूल होने से राजा है। दसों इन्द्रियों के मुख अपने-अपने विषयों की ओर खुले हैं इसलिए दशानन कहलाता है। जब विषयों से इन्द्रियों का निरोध हो जाय तो मोह का स्वरूप मिट जायेगा, जो सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति को चलाता है।

दसों इन्द्रियों का दमन ही दशरथ है, जो दैवी सम्पत्ति को जन्म देता है। जिस समय भक्तिरूपी कौशल्या, कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा और साथ ही कुमतिरूपी मन्थरा (भगवत्-पथ की आधी दूरी तक चलनेवाला कुतर्क) आदि दैवी प्रवृत्तियों का जागरण हमारे हृदय में हो जाय, उसी समय विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत और सत्संगरूपी शत्रुघ्न आदि प्रगट हो जाते हैं। विश्वासरूपी विश्वामित्र एवं श्वास-प्रश्वास का जप ही शृंगी ऋषि हैं। मोह के पूर्णतया मिट जाने पर ही यह दैवी सम्पत्ति स्वस्थ होती है।

अमृत कोई तरल पदार्थ नहीं है कि उठाकर पी लिया जाय। **'रस पीयूषा'** *(मानस, ६/२५/६)*- अंगद कहते हैं कि रे बुद्धिहीन रावण! अमृत क्या कोई रस है? मृत कहते हैं नाशवान् या मरणधर्मा को और अमृत कहते हैं अविनाशी को। महापुरुषों के शब्दों में अमृत की स्थिति आत्मा व परमात्मा का एकताकाल है। इस एकताकाल में परमात्मा के अजर, अमर, शाश्वत, एकरस इत्यादि गुणधर्म आत्मा में प्रसारित होने लगते हैं। अतः मनीषियों ने आत्मा की इस अवस्थाकाल को अमृत अर्थात् मृत्यु से परे बताया है; किन्तु मोहजनित विकारों के रहते हुए आत्मा परमात्मा में स्थित नहीं होता। इस गुणवाला यह अमृत निशाचरों की जड़ रावण के मिट जाने पर ही मिला। मोह के सह-अस्तित्व विलय होने पर चिदाकाश से मायिक स्फुरण व तरंग शान्त हो जाती है। ऐसे निर्दोष चित्त में ही अमृत-संचार सम्भव है। यही कारण है कि विकारों के निर्लिप्त होते ही अमृत-तत्त्व का संचार हुआ जिसके परिणामस्वरूप अविद्या, आसुरी सम्पद् सदा के लिए विलीन हो गई एवं आत्मा की स्थिति दिलानेवाली विद्या (दैवी सम्पद्) अंशोंसहित विकसित हो गई। अधोगति में ले जानेवाली प्रवृत्ति का एक भी सदस्य जीवित है तो अमृत कैसा? वस्तुतः तत्त्व का संचार होने पर मृत्यु के कारण सदा के लिए मिट जाते हैं। पुनः अमृत का महत्त्व बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं-

जियत वारि बिनु जे तनु त्यागा। मुए करइ का सुधा तड़ागा।। *(मानस)*

यदि वारि के बिना शरीर चला गया तो मरने के बाद अमृत का कोई उपयोग नहीं है।

राम भगति जल मम मन मीना।
किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना।। *(मानस, ७/११०/६)*

राम की अभेद्य भक्ति ही जल है, जिसमें कि हे मुनीश्वर! मेरा मन मछली हो गया है। भला वह विलग कैसे हो सकता है? भक्तिरूपी जल के द्वारा ही वह अमृत-तत्त्व प्रत्यक्ष होता है। यदि जीते-जी भक्तिरूपी रस न प्राप्त कर सके तो मरने के बाद उस अमृत का कोई उपयोग नहीं है। कोई अनुभवी सद्गुरु रथी बन जाय तो भवरोग के लिए वैद्य और पार कर देने के लिए कर्णधार होगा। उसकी असीम कृपा के द्वारा ही अमृत-तत्त्व की उपलब्धि सम्भव है।

प्रश्न- आश्रम घोर जंगल में है, कोई रास्ता भी नहीं है। अतः दस बजे के पूर्व किसी भी यात्री का पहुँचना असम्भव है। एक बार कुछ सशस्त्र दर्शनार्थियों ने बहुत सुबह ही पहुँचकर प्रणाम इत्यादि किया, तब महाराजजी ने कहा कि इतनी जल्दी कैसे आ गये? वे उत्तर देते हुए कहे कि महाराजजी, हम लोग शिकार के लिए आये थे। कुछ मिला नहीं तो सोचे कि महाराजजी का दर्शन ही कर लें। इस पर आप बोल पड़े- तुम अहीर, तुम ठाकुर, पर तुम ब्राह्मण होकर यह क्या कर रहे हो? तब वे अति विनम्र शब्दों में बोले कि भगवन्! इसमें मेरा क्या दोष है? 'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन' (मानस, ७/११२/१) उनकी प्रेरणा के वगैर पत्ता भी नहीं हिलता, मैं तो उन्हीं के हाथों का यंत्र हूँ।

उत्तर- देखो, इस मानस में तो बहुत कुछ लिखा गया है, उन सभी स्थलों पर विचार करना चाहिए।

किस स्थिति में भगवान प्रेरणा करते हैं और किस विडम्बना में माया। सबके लिए कहीं मोह प्रेरणा करता है तो कहीं काम, कहीं काल प्रेरक है तो कहीं स्वभाव और गुण। ऐसी दुविधा में भगवत्-प्रेरणा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ वासनाओं का ही बाहुल्य है, वहाँ तो-

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल करम सुभाव गुन घेरा।। *(मानस, ७/४३/५)*

जब तक भगवत्-पथ की एक निर्धारित सीमा को नहीं पार कर लेते तब तक माया ही प्रेरक है और उस सीमा को पार कर लेने के बाद भगवान प्रेरक बन जाते हैं। अतः साधन, चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए जिससे कि वे प्रेरक बन जायँ। भगवान के प्रेरक बन जाने पर साधक को माया का भय नहीं रह जाता। जैसा कि-

'करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।' *(मानस, ७/११५/७)*
'माया खलु नर्तकी बिचारी।।' *(मानस, ७/११५/४)*

कागभुशुण्डि अनेक जन्मों से चलनेवाले पथिक थे। अबकी बार वे भक्त की श्रेणी में आये। उनका प्रत्येक कदम भगवत्-प्रेरणा पर उठता था। उनमें जो कमी थी, उसे महामुनि लोमश में प्रेरणा कर भगवान ने पूरी कर दी। भरत ने खड़ाऊँ व चरणों के ध्यान के माध्यम से भगवत्-प्रेरणा प्राप्त कर राज्य का कार्य सँभाला। लक्ष्मण का भी कार्य प्रेरणा पर ही आधारित था। अतः कागभुशुण्डि, भरत, लक्ष्मण और हनुमान आदि कुछ ही सदस्य ऐसे थे, जिनके उर में भगवान प्रेरणा करते थे। आकाश में फेंका हुआ पत्थर पृथ्वी के ऊपर आकर गिरता है। यदि ग्रेवटी के ऊपर फेंक दिया जाय तो नीचे न आकर अन्य ऊपरी ग्रहों पर चला जायेगा। इसी प्रकार भगवान और माया के बीच एक ग्रेवटी की सीमा है, जिसके पूर्व माया प्रेरणा करती है और बाद में भगवान। इसके बाद हम गिरना भी चाहें तो नहीं गिर सकते। जिस प्रकार नारद गिरना चाहते हुए भी भगवत्-प्रेरणा से बच गये।

प्रश्न– महाराजजी ! आपकी वाणी सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि रामचरित मानस सबके अन्दर की वस्तु है। इसको समझने की कोई दिशा बतायें।

उत्तर– प्रत्येक मानव बाहर खड़ा है एवं वहीं से सिमटकर शनैः-शनैः अन्दर की जानकारी प्राप्त करता है। अतः ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बाहर वाला व्यक्ति गलत है। भगवत्-पथ की एक सीमा को पार कर लेने पर भजन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी उसे होने लगती है। ऐसी स्थिति के बाद मानस की एक भी चौपाई का उपयोग बाहर नहीं रह जाता। जैसा कि–

बालमीक नारद घटजोनी।
निज निज मुखन कही निज होनी।। *(मानस, १/२/३)*

मानस के प्रथम रचयिता एवं मानस के विशेषज्ञ इन महापुरुषों ने अपने-अपने मुखों से अपनी-अपनी होनी को व्यक्त किया है, न कि अन्य किसी राम एवं उनकी कथा को। शीर्षक का विस्तार अन्दर की पंक्तियों में हुआ करता है। उदाहरण के लिए, यदि पुस्तक का नाम 'घर का डाक्टर' है तो उसके अन्दर दवाइयों का ही विवरण रहेगा। उसमें यदि हम कर्मकाण्ड और देश-नीति खोजें तो नहीं मिलेगी। गोस्वामीजी की इस रचना का नाम है 'रामचरित मानस', जिसका अर्थ होता है-राम के वे चरित्र, जो अन्तःकरण में समाहित हैं। अब आप ही बतायें कि राम का घर हृदय है या पुस्तक? भगवान का घर हृदय ही बताया गया है। जैसा कि–

जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया।
तिन्हके हृदय बसहु रघुराया।। *(मानस, २/१२६/२)*
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिन्हके हिय तुम कहँ गृह रूरे।। *(मानस, २/१२६/४)*

इसी प्रकार सम्पूर्ण मानस में भगवान के रहने के जितने भी स्थल बताये गये हैं, वे सभी हृदय अथवा विशेष अवस्थावाले अन्तर्मन हैं। सम्पूर्ण मानस में यही रूप है। अतः यह हृदय की वस्तु है। कृतिकार के शब्दों में इसका शीर्षक है 'रामचरितमानस' अर्थात् राम के वे चरित्र जो अन्तःकरण में समाहित हैं। मानस का अर्थ मानसरोवर नहीं हुआ करता।

जिन्ह एहिं बारि न मानस धोये।
ते कायर कलि काल बिगोये।। *(मानस, १/४२/७)*

अर्थात् मानस एक ऐसी वस्तु है जो धोयी भी जा सकती है। कलियुग के भयंकर वेग को देखकर भगवान शंकर ने विचार किया कि मानव की बुद्धि विकल है। यदि उन्हें साक्षात् भगवान भी मिल जायेंगे तो वे उनसे उदरपूर्ति ही करायेंगे। बुद्धि कुण्ठित है अतः पूर्व साधनक्रमों से कल्याण नहीं हो सकता, इसीलिए द्रवित होकर कल्याणकारी साबर मंत्र की रचना की।

कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा।
साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।। *(मानस, १/१४/५)*

कलि के भयंकर प्रवाह को देखकर शंकर जी ने साबर मंत्र की रचना की जो जगत् के लिए कल्याणकारी है। वह साबर मंत्र है कैसा?:-

अनमिल आखर अरथ न जापू।
प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू।। *(मानस, १/१४/६)*

न तो अक्षरों की ही संगति बैठती है और न अर्थ-जाप का ही कोई सिलसिला है। तब तो सिद्ध हुआ कि यह निरर्थक है; किन्तु शंकर जी के प्रभाव से प्रत्यक्ष फल देने की यदि क्षमता है तो साबर मंत्र में। कलियुग में दूसरा कल्याण का कोई उपाय नहीं है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि-

सो उमेस मोपर अनुकूला।
करिहिं कथा मुद मंगल मूला।। *(मानस, १/१४/७)*

वही शंकरजी मुझपर अनुकूल हैं अतः यह कथा मैं कल्याणहेतु कहने जा रहा हूँ। इस कथा को सर्वत्र एवं सभी से नहीं कहना चाहिए। जैसा कि-

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।।
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।।
(मानस, ७/१२७/३-५)

यह हठधर्मी, कामी एवं क्रोधी के प्रति नहीं कहना चाहिए। भला आप ही बताइए कि इन दोषों से रहित हृदय कितने मिल सकते हैं? यहाँ तक कि इन दोषों से युक्त इन्द्र के समान प्रतिभाशाली पुरुष के प्रति भी नहीं कहना चाहिए। जब इन्द्र के समान प्रतिभाशाली होगा तो हजार-पाँच सौ विद्वानों को बुलाकर सुन लेगा। जब घर-घर में रामचरितमानस (रामायण) है तो न कहने का क्या सवाल है। यदि एक-एक चौपाई में हम बहुत से अर्थ करें तो भी कहने-सुननेवाली बात से वंचित रह जाते हैं क्योंकि यह साबर मंत्र है। जैसा कि-

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी।।
गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।।
(मानस, ७/१२७/६-७)

रामकथा के अधिकारी वे ही हैं जिन्हें सत्संग अति प्रिय है और गुरु के चरणों में अत्यन्त प्रेम है, उनके द्वारा निर्धारित नीति अर्थात् साधना-पद्धति में जो रत हैं, साथ ही द्विज के सेवक हैं, वही इसके अधिकारी हैं। यह शीघ्र समझ में आनेवाली वस्तु नहीं है बल्कि अधिकारी पाकर शनैः-शनैः हृदय-देश में ढलने लगती है।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।। *(मानस, १/३० क)*

प्रत्येक शास्त्र के तीन अर्थ हुआ करते हैं- रोचक, भयानक और यथार्थ। रोचक का अर्थ--जो रुचि पैदा करनेवाला हो, जैसे-रामलीला इत्यादि। भयानक उसे कहते हैं, जो प्रकृति से भय पैदा करनेवाला हो। जिस अर्थ से भय प्रकट और निवारण-हेतु हम भगवान की आवश्यकता समझें एवं प्राप्ति का उपाय करने लगे। यथा-

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
(मानस, ७/४३/७-८)

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ।। *(मानस, ७/४४)*

जो ऐसे तन को पाकर खो देता है, वह अपनी आत्मा का हत्यारा है।

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। *(मानस, ७/४०/५)*

उनके लिए मैं ही कालरूप बन जाता हूँ। जिनसे मोक्ष की आशा है जब वही कालरूप बन जाते हैं तो भय का संचार होता है और किसी-न-किसी रूप में उसे प्राप्त करने के उपाय होने लगते हैं। यथार्थ का ऐसा स्वरूप है जैसा कि हमने सुना है, वैसा प्रत्यक्ष अपने में देखता भी जाय। उत्पत्ति से पूर्तिपर्यन्त की लीला हमें दिखाई पड़े, रटना दूसरी चीज है। यह तभी सुलभ हो सकता है, जब किसी महापुरुष का साक्षात्कार हो। इन्हीं का रूप पकड़ने से परमचेतन की जागृति सम्भव है। सभी अधिकारी की योग्यता पा जाएँ, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। निरन्तर पढ़नेवाले भी डिग्री का अधिकार खो बैठते हैं। इसलिए महापुरुषों ने शास्त्र को तीन भागों में रचा है। यदि आप प्रवेशिका में हैं तो मानस के अध्ययन से दिशा मिलेगी। यदि आपकी स्थिति सूक्ष्म है तो यही प्रत्यक्ष दर्शाते हुए राम की स्थिति से अवगत करा देगा। अब रही बात यह कि मानस की अन्तिम क्रिया हम कैसे समझें?

श्रीगुर पदनख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्यदृष्टि हियँ होती।। *(मानस, १/५/५)*

गुरु महाराजजी के चरणों की ज्योति मणि-माणिक्य के तुल्य है। उनके स्मरण से हृदय में दिव्यदृष्टि का संचार होता है।

बड़े भाग उर आवइ जासू।। *(मानस, १/५/६)*

वे बड़े भाग्यशाली हैं, जिनके हृदय में ध्यान के द्वारा गुरु के चरण आ जायँ।

उघरहि बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।। *(मानस, १/५/७)*

इस प्रक्रिया-विशेष के द्वारा ही आँखें खुलती हैं जिससे कि रामचरितमानस प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। ध्यान में सदगुरु के चरण आ गये तो-

जथा सुअंजनि अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान। *(मानस, १/१)*

याद रखें कि गोस्वामीजी ने श्री गुरुदेव के चरण-रज को अंजन-विशेष की संज्ञा दी है, जो हृदय के नेत्रों को खोलनेवाला है; किन्तु यह तभी सम्भव है जब चरण ध्यान में आ जायँ। यह भगवत्-चिन्तन में लगे हुए साधक के लिए ही सम्भव है, जिनकी संख्या औसतन बहुत कम है। अतः चिन्तन में प्रवृत्त साधक ही उसको प्राप्त करता है और उसके बाद सिद्ध और सुजान हो जाता है। उस अंजन का स्पर्श कर, जो लिखने में आ गया है एवं जो लिखने में नहीं आया है, वे सब प्रत्यक्ष हो जाते हैं। कारण कि मनोगत सम्पूर्ण भाव लिखने में नहीं आते। गोस्वामीजी अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि मैं इतना ही लिख पाया हूँ, जैसे कि आकाश में मक्खी उड़ती है और थाह नहीं पाती।

प्रश्न- एक बार एक भक्त ने आकर प्रणाम किया एवं अति विनीत स्वर में बोला कि महाराजजी! मै गंगोत्री का जल लेकर दस बार रामेश्वर जा चुका हूँ और अब पुनः ग्यारहवीं बार दर्शनहेतु जा रहा हूँ। वैसे तो रामेश्वर-दर्शन का प्रभाव गोस्वामीजी ने इतना बताया है कि-

मम कृत सेतु जो दरसन करिही।
सो बिनु श्रम भवसागर तरिही।। *(मानस, ६/२/४)*

अर्थात् एक बार रामेश्वर का दर्शन कर लेने पर मानव भव-सागर से पार हो जाता है। उसे साधन-श्रम नहीं करना पड़ता। यथा-

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि।
सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।। *(मानस, ६/२/२)*

भगवन्! गंगाजल चढ़ाने से सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है परन्तु मेरे चित्त में तो अभी तक शान्ति नहीं मिली।

उत्तर- महाराजजी ने हँसते हुए अत्यन्त गम्भीर स्वर में उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया कि तीर्थ-माहात्म्य के द्वारा कल्याणकामना तो अपने भावों की देन है। हर व्यक्ति परमकल्याण एवं शान्ति पाने के लिए प्रयत्नशील है; किन्तु उनके साधनीय स्तर अलग-अलग हुआ करते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में हमें बाह्य तीर्थों को मान्यता देनी पड़ती है परन्तु क्रमागत साधना के विकास के साथ ही साथ इन तीर्थों का रूप भी बदल जाता है। जैसा कि आप रामेश्वर का अर्थ समझ रहे हैं, साधन-पथ में बढ़ने के लिए यही उदीयमान लक्षणों के अंकुरण हैं, लेकिन कल्याण प्राप्त करने के लिए यह प्रयास पर्याप्त नहीं है। इसीलिए यथार्थ की पृष्ठभूमि में प्रयोगात्मक साधना प्रारम्भ करनी पड़ती है। द्रष्टव्य है-

नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं। *(मानस, ६/सो० २)*

भगवन्! आपका नाम ही वह सेतु है जिसपर चढ़कर मनुष्य भवसागर पार हो जाता है। इस नाम का उतार-चढ़ाव श्वास के ऊपर है। यहाँ इसी आशय को स्पष्ट किया गया है।

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं।
ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।। *(मानस, ६/२/१)*

रामेश्वर का अर्थ होता है राम और ईश्वर। राम सबके मानस में रमण करनेवाली सर्वव्यापी सत्ता है और इस स्वर के सर्वथा निरोध में ही वह दिखाई पड़ती है। ईश्वर का आशय इस स्वर से है। श्वास के उतार-चढ़ाव में नाम का अनवरत भजन करने

से, स्वर के सर्वथा निरोधकाल में उस व्यापक सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है। वस्तुतः जिस महापुरुष ने स्वर का साक्षात्कार कर लिया है, उसी को यह स्थिति सुलभ हुई है।

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि।
सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।। ***(मानस, ६/२/२)***

प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है और यह ज्ञान ही गंगा है। स्वर के माध्यम से ज्ञान का स्पर्श जब उस चेतन सत्ता से हो जाता है, तदुपरान्त तादात्म्य स्थापित करने की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं। सायुज्य मुक्ति का अर्थ है- प्रभु के समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेना। लक्ष्य की प्रत्यक्ष जानकारी के बाद ही प्रभु के समस्त ऐश्वर्य अपने में आ जाते हैं। जैसा कि-

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। ***(मानस, २/१२६/३)***

उपरोक्त परम पावनी गंगा ही मुक्तिदात्री है। लौकिक चक्षुओं से दृश्यमान होनेवाली गंगा तो छिटपुट मलों को ही धोती है, जो अलगाव होते ही पुनः बढ़ने लगता है; परन्तु इस गंगा का अवगाहन शाश्वत शान्ति से मेल कराता है। अतः रामेश्वर के दर्शनार्थ किसी महापुरुष की शरण एवं सान्निध्य परम आवश्यक है, जिसकी कृपा से शनैः-शनैः उस प्रयोगात्मक पथ पर हमें वह स्थिति सुलभ हो सकती है।

प्रश्न- महाराजजी! समुद्र के जलचर समुद्र से भी बड़े एवं असंख्य थे तो वे रुके कहाँ? सतयोजन समुद्र के बराबर एक-एक जलचर का शरीर था और कुछ तो इतने बड़े थे कि उन्हें खाने की क्षमता रखते थे।

उत्तर- विषयरूपी जल से परिपूर्ण यह संसार ही समुद्र है। यदि हम कुछ नहीं करते तो यह अथाह समुद्र है; किन्तु ज्यों-ज्यों चिन्तन में लगते जायेंगे, इसका आयतन भी घटता जायेगा।

सतयोजन तन- सत्य में आयोजित प्रक्रिया की पूर्ति कर लेने पर संसार या भव का पार मिल जायेगा। वैराग्य एवं अनुभवकाल में यही इस समुद्र का आयतन है। जब 'लव' में अंकुर आना बन्द हो जाता है तब-

गोपद सिन्धु अनल सितलाई।। ***(मानस, ५/४/२)***

जितना हमारी इन्द्रियों का विस्तार है, उतना ही समुद्र है। लगनकाल में इन इन्द्रियों के एक-एक हरकत पर नियंत्रण रहता है, पूर्व में नहीं। वही नाम-यजन जब परावाणी के पूर्तिकाल में पहुँच जाता है, तब यही समुद्र सूख जाता है। जैसा कि-

नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। ***(मानस, १/२४/४)***

नाम इतना ही नहीं है जितना कि हम लोग जुबान से कहते हैं। यह तो उसकी

प्रारम्भिक अवस्था है। आगे चलकर यही नाम सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु उसकी जानकारी का पैमाना इष्ट-प्रेरणा पर आधारित रहता है। जब तक अनुभवी सद्गुरु नहीं मिलते तब तक नाम की सूक्ष्म जानकारी असम्भव है। अब सिद्ध हुआ कि संसार ही समुद्र एवं योगी की आत्मिक प्रवृत्ति ही जलचर है। जब हम भजन नहीं करते, तब आत्मा से मिलनेवाली प्रवृत्ति सबके हृदय-देश में छिपी रहती है और विषयरूपी जल का प्रवाह ऊपर छाया रहता है। दृष्टिगोचर न होने के कारण यही जलचर है। श्वास के निरोधकाल में यही यौगिक प्रवृत्ति ऊपर उठकर परिपक्व हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप विषय का वेग कम हो जाता है। एक-एक साधन इतना परिपक्व हो जाता है कि उसकी आड़ में विषयरूपी तरंग आती ही नहीं। उनके यौगिक नाम इस प्रकार दिये गये हैं-

मकर- करना मेरा कर्तव्य है और मुझे करना है।

नकर- करते हुए भी मैं कुछ नहीं करता हूँ। मैं मात्र यंत्र हूँ, करनेवाला कोई और है।

नाना झक ब्याला- इसी प्रकार की मानसिक भजनमयी प्रवृत्तियाँ हैं।

तिन्हकी ओट न देखिअ बारी।
मगन भये हरि रूप निहारी।। *(मानस, ६/३/८)*

ध्यान की मस्ती एवं स्वरूप का आभास तभी होता है, जबकि विषयरूपी वारि भजनमयी प्रवृत्तियों के प्रबल प्रवाह में पूर्णतया आवृत्त हो जाय। जब तक एक भी तरंग बाधक है, तब तक ध्यान की मस्ती नहीं मिल सकती। यह मानस है। सबके हृदय में छिपी हुई स्थितियाँ किसी महापुरुष के द्वारा ही जागृत होती हैं।

प्रश्न- महाराजजी! तीर्थयात्रा में जानेवाला हूँ परन्तु आपकी वाणी से विदित हुआ कि तीर्थ की योग्यता अन्दर में अधिक पायी जाती है। कृपा करके बतावें कि बाह्य तीर्थों का क्या महत्त्व है?

उत्तर- देखो, भगवत्-पथ की प्रत्येक क्रिया बाहर से चलकर अन्दर की ओर मोड़ लेती है। हर व्यक्ति बाहर खड़ा है इसलिए इन तीर्थों को छोड़ने का विधान नहीं है। जब भगवान ही कृपा करके अन्तरंग तीर्थों की ओर मोड़ते हैं, तब इनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि-

जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं।
तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।। *(मानस, १/३३/६)*

जिस समय अन्तःकरण में भगवान का अवतार व अवतारी कार्य संचारित हो जाता है, उस समय समस्त तीर्थ अन्तराल में प्रकट हो जाते हैं। बाहर की अपेक्षा अधिक

विशेषता या महत्त्व अन्दर में हो जाने के कारण प्रायः उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि-

तीरथ गये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सतगुरु मिले अनन्त फल, कहैं कबीर विचारि।।

तीर्थ जाने से एक फल है कि पुण्य और पुरुषार्थ बढ़ता है (दर्शन, स्पर्श, इच्छा न होने पर भी देखादेखी दान इत्यादि का करना आदि पुरुषार्थ स्वाभाविक रूप से होने लगता है)। महापुरुषों की तपोभूमि होने के कारण वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध रहता है। चूँकि महापुरुषों ने मन का निरोध कर साक्षात्कार कर लिया है, इसलिए वहाँ निरोध के परमाणु अधिक रहते हैं और विषय के कम। वहाँ बैठकर हम जब चिन्तन करेंगे तो घर की अपेक्षा मन अधिक लगेगा। यदि तीर्थों में सन्त-मिलन हो जाय तो चारों फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष- और कहीं सद्गुरु मिल जायँ तो अनन्त फल मिल जाता है। प्रकृति का अन्त महापुरुषों द्वारा हो चुका है, अनन्त तो परम ब्रह्म परमात्मा का नाम है, वह सुलभ हो जाता है।

प्रश्न- महर्षि विश्वामित्र राम को अधिकारी पाकर वह कौन-सा मंत्र प्रदान किये, जिससे भूख-प्यास नहीं लगती थी। क्या कलियुग में इस प्रकार का मंत्र नहीं प्राप्त किया जा सकता?

उत्तर- मान लिया कि तुम्हारी दृष्टि में आज कलियुग है और तब नहीं था। अब जरा विचार करो कि मंत्र में क्या गुण थे? मंत्र में इतनी क्षमता बतायी गयी है कि वह भूख-प्यास दोनों से रक्षा करती थी, परन्तु उनकी पालन-क्रिया न तो महर्षि विश्वामित्र में ही पायी गयी और न राम में ही। जैसा कि मंत्र के आदान-प्रदान के कुछ समय उपरान्त जब जनक की यज्ञस्थली में पहुँचे तो-

करि भोजनु मुनिबर बिग्यानी।
लगे कहन कछु कथा पुरानी।। *(मानस, १/२३६/५)*

पहले महर्षि विश्वामित्र ने भोजन-प्रसाद ग्रहण किया तत्पश्चात् पुराण अर्थात् प्राचीन कथाओं को विस्तृत ढंग से कहना प्रारम्भ किया। राम के लिए जनकपुर की बात छोड़ ही दी जाय क्योंकि वे वहाँ के प्रमुख अतिथि थे। वनवासकाल में ही देखिये, कहीं कोल-भीलों के कन्द-मूल फल खाये और कहीं महर्षियों का आतिथ्य स्वीकार किये। उस त्रेता-जैसे शुद्ध युग में जब उन मंत्रज्ञ महापुरुषों के ऊपर उस मंत्र का कोई प्रभाव न रहा तो कलियुग-सतयुग आदि युगधर्मों के माध्यम से प्रश्न का हल असम्भव-सा है। अब मंत्र में शायद पौष्टिकता की कमी रही हो तो ऐसी भी बात नहीं थी।

अतुलित बल तनु तेज प्रकासा। *(मानस, १/२०८/८)*- वह मंत्र इसी तन में अतुलनीय शक्ति प्रदान करनेवाला था। अब वस्तुओं की कल्पना व शरीरों की निर्बल-सबल आकृतियों पर दृष्टि डालने से इसका अर्थ नहीं मिलेगा। यह मानस है, यह किसी योगी के अन्तःकरण में घटित होनेवाले उस व्यापक राम की पकड़ का तारतम्य है। मानस कहते हैं मन को, जो साधना की सही स्थिति में मिलनेवाली अवस्था-विशेष है। विज्ञानरूपी राम अर्थात् जिस परमात्मा की हमें चाह है जब वही हृदय से रथी बनकर पथ- प्रदर्शन करने लगता है और जिस स्तर पर हम खड़े हैं, वहीं से प्रेरक बनकर उठाने लगता है तब साधक का विश्वास दृढ़ हो जाता है इसी का नाम विज्ञान है। विश्वासरूपी विश्वामित्र अर्थात् जब विश्वासपूर्ण यज्ञ का आरम्भ हुआ तो तर्कनारूपी ताड़का, स्वभावरूपी सुबाहु और मन का मैलरूपी मारीच आदि मारे जाते हैं। इष्ट के आदेशों में विश्वास दृढ़ होने पर ही तर्कनारूपी ताड़का समाप्त होती है और वहीं से श्वास-प्रश्वास का यज्ञ सुचारु रूप से चलता है। जब तक इष्टदेव हृदय से रथी होकर विश्वास नहीं दिला देते कि बेटा तुम तो निमित्त मात्र हो, कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ, तब तक यजन (यज्ञ) नहीं हो पाता। जब यज्ञ की प्रक्रिया तर्कनाओं से उपराम हो जाती है तो अनन्त बल देकर ही शान्त होती है अन्यथा नहीं। प्रकृति का बल भी तो महापुरुषों द्वारा तौल लिया गया है। अनन्त या अतुलित बल उस परमात्मा में है जिसमें शुभाशुभ जगत् हवन-सामग्री के रूप में है। वह भजन-क्रम, जप, यज्ञ अथवा भजन की विधि तर्कनाओं से ऊपर उठकर विश्वास या प्रेरक के बल का आश्रय पा जाती है। फिर वही मंत्र एवं यजन (यज्ञ) उस परमात्मा को पैदा करनेवाला होता है जिसकी उपलब्धि के बाद किसी प्रकार की क्षुधा या तृष्णा नहीं रह जाती। बाहर जैसा कि हम ढूँढ़ते हैं, उसका इस स्थल पर कोई उपयोग नहीं है। कलियुग की विकलता को देखकर शंकरजी द्रवित हो गये और उद्धार की पूर्तिहेतु इस कथा का निर्माण किया। जब कलियुग में उद्धार की विशेष सम्मति है, तब प्रभाव क्यों नहीं होगा?

देखो, भोजन दो प्रकार का होता है। जितनी खाद्य सामग्रियाँ हैं, वे केवल स्थूल शरीर का पोषण करती हैं, उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को पूर्ण पुष्टि एवं तृप्ति प्रदान करनेवाला भजन ही भोजन है। भजन के द्वारा ही वास्तविक अन्न मिलता है जिसको पाकर यह आत्मा परमात्म-स्वरूप अमृत से पूर्ण तृप्त हो जाती है। यह केवल इसी मंत्र (भजन) द्वारा सम्भव है। साधारण भजन अतुलनीय सत्ता परात्पर ब्रह्म की उपलब्धि नहीं करा सकता। इसलिए ब्रह्म से प्रेरित पूर्ण विश्वास से युक्त एवं तर्कनाओं से उपराम हो जाने पर वह मंत्र अतुलनीय सत्ता परमात्मा को दिलाने की क्षमता रखता है।

प्रश्न– महाराजजी! अनेक धार्मिक ग्रन्थों में अवतार का वर्णन पाया जाता है। क्या अवतार का यही रूप है अथवा कोई और? उदाहरण के लिए गीता को लें–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

उत्तर– हाँ, अवतार सत्य है परन्तु उसका रूप कुछ और ही है। भला उसका समर्थन कौन नहीं करेगा? वही कल्याण का यथार्थ मार्ग है; किन्तु वह अवतार किसी योगी के हृदय में होता है बाहर नहीं। सभी शास्त्रों में अवतार का वास्तविक रूप यही है। किसी अनुभवी महापुरुष के द्वारा वह विशेष प्रक्रिया जागृत होती है जो अवतार का कारण है। जैसा कि अभी आपने गीता की चर्चा की कि–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। *(गीता, ४/७)*

जब-जब धर्म के विषय में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है (परमात्मा ही परमधर्म है, उस परमात्म-धर्म के पालन के विषय में ग्लानि बढ़ जाती है।), तब-तब अधर्म को नष्ट करने के लिए मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। यह ग्लानि मन में होती है और उसके प्रकट होने का स्थान हृदय है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। *(गीता, ४/८)*

साधूनाम्--साध्य वस्तु में एकता दिलानेवाले विवेक, वैराग्य, निरन्तर चिन्तन-प्रवृत्ति एवं भाव-श्रद्धा इत्यादि को निर्विघ्न संचालित करने के लिए तथा दुष्कृताम्-(दूषित कृत्यों के माध्यम) जिनसे दूषित क्रियाएँ होती हैं, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अनन्त आशा एवं तृष्णा इत्यादि को समाप्त करने के लिए और धर्म की स्थिति को दिलाने के लिए हर युग में प्रगट होता हूँ।

यह युग-धर्म मन की स्थिति पर अवलम्बित है। अब अपने प्रगट होने का तरीका बताते हुए कहते हैं कि–मैं योग की पूर्ति से प्रगट होता हूँ। मैं अजन्मा, भूतों के श्वास में स्थित होने पर भी आत्मिक प्रक्रिया से सम्पूर्ण माया को वश में करके प्रगट हो जाता हूँ। 'आत्ममायया'– आत्मा को दिलानेवाली माया अर्थात् यौगिक प्रक्रिया (जिसकी पूर्ति में ईश्वर का वह स्वरूप है) के द्वारा प्रगट होता हूँ। अब प्रश्न उठता है कि जब ऐसे प्रगट होते हैं तो देखने में कैसे आयेंगे? अन्त में श्रीकृष्ण का भी यही निर्णय है :–

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन।। *(गीता, ४/९)*

मेरा वह जन्म व कर्म दिव्य (अलौकिक) है, जिसको तत्त्वदर्शी ही जानता है। इस जानकारी का नाम तत्त्वदर्शन है। इसे जानकर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता बल्कि मुझमें स्थित हो जाता है।

प्रत्येक योगी का यही उद्देश्य रहा है कि 'आत्ममायया'- भजन की प्रक्रिया के द्वारा माया को स्वाधीन कर उस परमतत्त्व परमात्मा की स्थिति पा ले। वही तत्त्वदर्शी एवं स्थितिवाला है। श्रीकृष्ण के शब्दों में वह अवतार तत्त्वदर्शी के सामने प्रत्यक्ष रूप में है, जिसको पाकर वह भी वही हो जाता है। इस स्थितिवाले महापुरुष ही कल्याणस्वरूप हैं। उनका सान्निध्य प्राप्त करो।

प्रश्न- महाराजजी! सगुण एवं निर्गुण उपासना में क्या अन्तर है? ऐसी धारणा है कि तुलसी व मीरा इत्यादि सगुण उपासक थे और कबीर व जायसी इत्यादि निर्गुण, जबकि अभी आपके श्रीमुख से यह सुनने में आया कि कबीर अपने चिन्तनकाल में राम-नाम का आधार लिए थे।

उत्तर- देखो, यह प्रश्न आज मानव-समाज के अन्दर एक विवादग्रस्त विषय के रूप में है; किन्तु इस जगत् में निर्गुण उपासना नाम की कोई वस्तु नहीं है। निर्गुण कोई उपासना नहीं है बल्कि सन्तों की एक रहनी है। लक्ष्य प्रत्यक्ष होते ही वह गुणातीत हो जाता है अर्थात् गुणों के बन्धन से छूट जाता है और उसके बाद की रहनी निर्गुण है। सन्त कबीर ने वैदिक तत्त्व को इतने सूक्ष्म तरीके से और इतने गोपनीय रूप में दर्शाया है कि वह लोगों की समझ के बाहर की वस्तु हो गई है। यही एकमात्र कारण है कि प्रायः कबीर को लोग निर्गुण उपासक की संज्ञा दिया करते हैं। यदि हम कबीर की प्रारम्भिक अवस्था पर दृष्टिपात करें तो-

साहब का घर दूर है, जैसे पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै रामरस, गिरै तो चकनाचूर।।

साहब कहीं दूर हैं और स्वयं कहीं अलग। उस दूरी को तय करने के लिए चढ़ना और गिरना लगा ही हुआ है और सगुण क्या होता है? निर्गुण स्थिति में अपने से अलग कोई सत्ता नहीं होती। पुनः आगे कहते हैं कि-

राम न रमसि कवन दण्ड लागा।
मरि जइबे का करिबे अभागा।। *(कबीर)*

राम का भजन क्यों नहीं करता, इसमें क्या तेरा कुछ खर्च हो रहा है? रे अभागे! मर जायेगा तब क्या होगा?

रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय।

'रा' और 'म' दो अक्षरों के अन्तराल में कबीर ने अपने मन को खड़ा कर लिया था। कबीर नाम के प्रभाव से भलीभाँति परिचित थे। बैखरी से मध्यमा, पश्यन्ती और परावाणी के उतार-चढ़ाव के मर्म को वे अच्छी तरह जानते थे। जैसा कि-

जप मरे अजपा मरे, अनहदहूँ मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल ना खाय।।

जप मरे कब? जब अजपा पकड़ में आ जाय। अजपा मरे कब? जब अनहद पकड़ में आ जाय। अनहद मरे कब? जब सुरति शब्द के साथ तद्रूप हो जाय अर्थात् शब्द में समा जाय। जब सुरति शब्द में प्रवेश पा जाती है तब वहाँ काल नहीं पहुँच पाता। इसलिए नाम को आधार बनाते हुए अग्रिम सोपान दर्शाते हैं। वही कबीर क्रमशः आगे चलकर जब उस इष्ट को पा गये तो कहते हैं कि-

अवधू बेगम देश है मेरा।
जहाँ न उपजे मरे न बिनसे, नाहिन काल का फेरा।।
तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरा।।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा।।

अर्थात् मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं, यही निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है। गोस्वामीजी भी इसी प्रकार अपने उपासनाकाल में रोते-गाते, चलते-फिरते प्रार्थना के परिणामस्वरूप जब आराध्य देव को पाते हैं तो-

जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।
सपनेहुँ नहीं सुख द्वैत-दरसन बात कोटिक को कहै। *(विनय०, १३६)*

भगवत्-कृपा से सन्त की रहनी आई, स्वप्न में भी दुःख का आभास नहीं, कौन करोड़ों बातों को कहे। अब आखिर कबीर ही कौन लाठी मारते हैं, बस यही तो कहते हैं कि द्वैत का बखेड़ा नहीं है। गोस्वामीजी भक्ति के पूर्तिकाल में यही निर्णय देते हैं कि-

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।।

भगवान की भक्ति कहने में सरल और करने में अत्यन्त कठिन है। जानता वही है जिसका लहान बैठ जाता है। पुनः कहते हैं कि छोटी मछली गंगा की धारा के विपरीत चल लेती है जबकि बड़ा हाथी बह जाता है। इसी प्रकार भक्ति भी एक कला है। भक्ति की पूर्तिकाल में इसकी पराकाष्ठा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि-

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी।। *(विनय०, १६७)*

सम्पूर्ण दृश्य को समेटकर हृदय में केन्द्रित कर लेते हैं और निद्रा का त्याग कर सुप्त हो जाते हैं। यह स्थिति जिसकी भी आ गयी, वही भगवान का दर्शन करता है। भला वे हैं कैसे? **'अतिसय द्वैत बियोगी'**- जहाँ द्वैत की कल्पना नहीं है। जब गोस्वामी जी पाये तो किस रूप में, कि मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं। सन्त कबीर भी इसी रहनीवाले थे। मीरा रोती एवं विनय करती रही, परन्तु उपलब्धि के बाद किस प्रकार राणा को ललकार कर कहती है-

राणा जी मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
सबके पिया परदेश बसत हैं, लिखि लिखि भेजत पाती।
मेरे पिया मेरे हिये बसत हैं, नहि कहुं आवत जाती।।

राणा जी, मैं गिरिधर के रंग में रंग गयी हूँ। दूसरों के प्रियतम परदेश में निवास करते हैं और पत्र लिख-लिखकर भेजते हैं। मेरे प्रियतम मेरे हृदय में निवास करते हैं।

उपासना के तीन अंग होते हैं- ध्याता (साधक), ध्येय (लक्ष्य) और ध्यान (लक्ष्य को पकड़ने की युक्ति)। इन तीनों में से यदि एक भी खण्डित है तो उपासना नहीं बनती। ध्याता नहीं है तो भजेगा कौन? ध्याता है और भजनेवाली वस्तु ध्येय (ईश्वर) नहीं है तो भजेगा किसको? यदि ये दो वस्तुएँ हैं और उपासना की युक्ति नहीं है तो भी उपासना नहीं बनती। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि निर्गुण कोई उपासना नहीं है। कबीर सगुण से चलकर निर्गुण में आये, जो सन्तों की एक रहनी है। तुलसी भी ठीक इसी प्रकार सगुण से चलकर निर्गुण में आ गये। निर्गुण ब्रह्म का चित्रण करते हुए सन्त कबीर कहते हैं-

सबहि सन्त हैं राम के, सबहि राम के आस।
सरगुण राम प्रसाद भै, निर्गुण पलटत दास।।

सभी सन्त राम के हैं और सभी को राम की ही आशा है। सरगुण (सगुण) जब परावाणी साध्य की अवस्था में आ जाती है तो भगवान जो हैं, जिस प्रभाववाले हैं, जिन विभूतियों व गुणधर्मों से युक्त हैं आदि समक्ष दिखाई पड़ने लगते हैं। यदि इन वाणियों की प्रक्रिया सद्गुरु से उपलब्ध नहीं है तो सगुण नाम की कोई वस्तु नहीं है और जब प्रत्यक्ष हो गया तो- **जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।** *(मानस, २/१२६/३)*

जो उसको जानता है वह उसी में फना हो जाता है। गोस्वामीजी के शब्दों में सेवक सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बच रहता है। अन्त में कहते हैं- **'निर्गुण पलटत दास'**- उस दास की रहनी निर्गुण है, न कि निर्गुण कोई उपासना।

।।ॐ।।

सन्ध्याकालीन वन्दना के पश्चात् साधकों एवं भाविकों के बीच प्रणाम का महत्त्व बताते हुए श्री परमहंसजी

पूज्य महाराजजी साधकों के मनोगत भावों को पकड़कर तदनुकूल उपदेश दिया करते थे और सामूहिक कार्यों में किसी-न-किसी त्रुटि का बहाना लेकर चिन्तन-पथ प्रशस्त कर दिया करते थे। आरती हो रही थी, सब लोग पूर्ण तन्मयता के साथ प्रार्थना में संलग्न थे। आरती समाप्त होने के उपरान्त सभी लोगों ने प्रणाम किया। जिन साधकों ने मन से सम्बन्ध जोड़, हृदय में स्वरूप पकड़कर प्रणाम किया उन्हें कुछ समय लगा; किन्तु कुछ नवीन साधक शीघ्र ही प्रणाम कर इधर-उधर ऐसे देखने लगे, जैसे कि उनकी पूजा पूरी हो चुकी हो। उन भोले पथिकों की ऐसी विकृति देख आप स्नेहपूर्वक बोले--बैठ जाओ, देखो जैसा कि अभी आरती होने पर सभी ने प्रणाम किया है। दो-एक साधकों को इंगित करते हुए कहा कि ये लोग तो इस प्रकार खुश हुए जैसे कि सिर का बोझ उतर गया हो। तुम लोगों को शर्म नहीं लगती! यह तो तुम्हारे अन्तःकरण की हाजिरी है। यदि यही क्रम तुम लोगों का अधिक दिनों तक चलता रहेगा तो अपनी साधना में असफल हो जाओगे।

प्रार्थना या आरती जो कुछ भी हम करते हैं, अपने भावों को सद्गुरु को समर्पित करते हैं। उसके बाद प्रणाम का यह मतलब नहीं हुआ कि हम ड्यूटी पूरी करके निकल जायँ, जैसे फर्ज अदायगी। जब प्रार्थना से चित्त शान्त हो जाता है, मन में संकल्पों की लहर हल्की हो जाती है, तब ऐसे समय में थोड़ा चिन्तन भी कर लें। इससे भजन में मदद मिलेगी। प्रणाम ही सब कुछ है किन्तु जो वास्तविक प्रणाम है, वह सिर झुकाना ही नहीं बल्कि सामने खड़े होकर उन्हीं सद्गुरु के स्वरूप को हृदय में पकड़ना चाहिए, जिस प्रकार कि ध्यान में पकड़ते हो। पाँच मिनट समय भले ही लग जाय, परन्तु पूर्णरूप में सुरति के द्वारा स्वरूप को हृदय में पकड़कर प्रणाम करना चाहिए। पहले अन्दर तत्पश्चात् बाहर से प्रणाम कर लो। यदि तुम्हारा यह क्रम जारी रहेगा तो धीरे-धीरे तुम्हें ध्यान में मदद मिलेगी; क्योंकि दिन में चार-पाँच बार प्रणाम करने का अवसर मिलता है। स्नान करने के बाद, सुबह, शाम एवं आरती आदि सब मिलाकर दिन में बीस या पचीस मिनट हो जाते हैं। यही उस ध्यान में सहायता प्रदान कर हमें परमकल्याण की ओर प्रेरित करता रहेगा। जो केवल ऊपर से प्रणाम करते हैं, शनैः-शनैः उनका ऊपरी भाव समाप्त होने लगता है और प्रणाम केवल फर्ज अदायगी के रूप में ही शेष रह जाता है। वस्तुतः वह उस कल्याण को नहीं दे पाता जिसके लिए कि हम प्रणाम करते हैं। यदि

हमने लक्ष्यप्राप्ति के लिए गृहत्याग किया हो तो हृदय में स्वरूप पकड़कर प्रणाम करें। वैसे तो हजारों आकर प्रणाम करते हैं किन्तु भगवान के यहाँ भावों का ही महत्त्व है और दुनिया में फर्ज अदायगी एवं एक्टिंग का। हमारा प्रबल भाव ही उधर से कृपा बनकर लौटता है। यदि भावों में कुछ भी सन्दिग्धता है तो वही हमारे लिए घातक बन जायेगा, जैसे कि हनुमानजी संजीवनी लेकर आते समय गर्व किये कि अगर आज मैं न होता तो राम के भाई लक्ष्मण को कौन जिलाता? अतः यह लड़ाई मेरे ही बल पर हो रही है। इष्ट के प्रति अभाव उत्पन्न हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भरत की तरफ से एक ऐसा सींक का बाण लगा कि हनुमानजी गिर पड़े। जिसके उपर बड़े-बड़े अस्त्र एवं वज्र का भी असर नहीं होता था, वह एक साधारण सींक के लगने से धराशायी हो गया।

वस्तुतः वैराग्य ही हनुमान है एवं भाव ही भरत है। हमारे भावों का दूषित हो जाना ही भरत का बाण है। जब हमारे भाव दूषित हो जाते हैं तो वही हमारे लिए घातक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में वैराग्यवान पथिक गिर जाता है। यदि एकाध बार गिरने के बाद समझ काम कर गई तो वह प्रभु (सद्गुरु) जो दया के सागर हैं, सँभाल लेते हैं; किन्तु हमें उनकी परम दयालुता पर अटल विश्वास होना चाहिए। हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, पर अपना नियम न छोड़ें। चाहे बुखार आ जाय, चाहे वज्र पड़ जाय, लेकिन नियम नहीं टाला जा सकता।

'दिन दिन बढ़त सवायो'- हमारे चिन्तन-क्रम में उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिए। प्रतिदिन सायंकाल एकान्त में बैठकर हमें यह हिसाब करना चाहिए कि आज मेरा भजन कितना है और कल कितना था। यदि किसी प्रकार की कमी रह गयी तो प्रयत्नपूर्वक चौबीस घंटे के अन्दर ही पूर्ण करें। इस प्रकार पूर्तिपर्यन्त हमें प्रयास करना है। हम जो सेवा करते हैं, उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। आज हम एकान्त में जाकर बैठ गये। दस दिन भजन करेंगे, किन्तु ग्यारहवें दिन अवश्य भागना पड़ेगा। भजन करने की क्षमता हमलोगों में नहीं है, वह तो किसी स्थितिप्राप्त महापुरुष के द्वारा ही हृदय में प्रवाहित होती है अतएव उनकी सेवा एवं सान्निध्य परम आवश्यक है। इस प्रकार सेवा करते-करते मन के निरोध की धारा जो सद्गुरु के अन्दर सतत प्रवाहित रहती है, वही साधक में उतरने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय बाद हमारे अन्दर वह क्षमता आ जाती है जिससे कि पूर्ण सन्तोष का आभास होने लगता है।

।। ॐ ।।

अवतरण-विधि

प्रश्न- महाराजजी! आपने बताया कि अवतार किसी योगी के हृदय में ही होता है; किन्तु मानस में पृथ्वी ब्रह्मा के पास गयी तब भगवान का अवतार हुआ। कृपया मानस के आधार पर बतायें कि अवतार किस प्रकार होता है?

उत्तर- देखिये, मानस में भी वही है जो गीता में है। एक समय पृथ्वी पर निशाचरों की वृद्धि होने लगी। खल, चोर, लम्पट, लोभी, जुआरी इतने बढ़ गये कि पृथ्वी अकुलाने लगी। **'परम सभीत धरा अकुलानी।'** *(मानस, १/१८३/४)*- परम भयभीत होकर धरती उससे मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगी। पहले वह गाय का रूप धारणकर देवताओं के पास गयी। देवताओं और मुनियों ने कहा कि हम सहायता अवश्य करेंगे, किन्तु पूर्ण कल्याण करने की सामर्थ्य हममें नहीं है। ब्रह्मा के पास सभी गये। ब्रह्मा ने सब कुछ जान लिया कि ये क्यों आये हैं? इन्हें कितना कष्ट है? उन्होंने कहा, "देखो! हम कोई सीधा उपाय नहीं कर सकेंगे। तुम्हें युक्ति बताते हैं, तुम इस प्रकार भगवान की प्रार्थना करो, हम भी तुम्हारे साथ रहेंगे।" प्रार्थना की गयी तो भगवान की गगन वाणी से निर्देश मिला कि सभी देवता पृथ्वी पर उतर जायँ। पृथ्वी! तुम उसी तरह धैर्य के साथ मेरी प्रतीक्षा करो। हम तुम्हारा भार दूर कर देंगे। पूर्णतया मुक्ति दिला देंगे। बस इतनी ही तो बात है अवतरण की।

यह अवतरण-विधि विचारणीय है। क्या अमेरिका, इग्लैण्ड, भारत, जापान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, समुद्र एवं पहाड़ों से घिरी यह पृथ्वी गाय का स्वरूप धारण करके गयी? नहीं, यह शरीर ही एक पृथ्वी है। कबीरदासजी कहते हैं-

धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।।

जो कुछ बाहर पृथ्वी पर दिखाई देता है, सब हृदय में देखने को मिला। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं-

असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर, अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे।। *(१२४)*

बहुमूल्य मणि की कीमत में जिस प्रकार भोजन, वस्त्र, पशु और अनेक प्रकार की वस्तुएँ निहित हैं, ठीक इसी प्रकार स्वर्ग-नरक, चर-अचर अनेकानेक लोक मन के अन्तराल में छिपे हैं। बाहर तो मात्र मृत्युलोक है, भले ही उसका नाम हम भारत या अमेरिका रख लें; किन्तु मन के भीतर बहुत से लोक हैं, यहाँ तक कि परमतत्त्व परमात्मा का परमधाम भी इसी में निहित है। जिन महर्षियों ने इस मन का निरोध कर लिया,

तत्क्षण उन्हें मन के अन्तराल में वह परमधाम भी मिला। इस प्रकार यह शरीर ही पृथ्वी है। छान्दोग्य उपनिषद्, अष्टम अध्याय के प्रथम खण्ड में वर्णन आता है कि जितना यह भौतिक आकाश है, उतना ही आकाश हृदय के अन्तर्गत है। द्युलोक और पृथ्वी दोनों लोक सम्यक् प्रकार से हृदय के भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत और नक्षत्र तथा इस आत्मा का जो कुछ भी इस लोक में है और जो नहीं है, वह सभी सम्यक् प्रकार से हृदय में स्थित है।

इस शरीर के अन्तराल में दो प्रवृत्तियाँ हैं-एक दैवी सम्पद् और दूसरी आसुरी सम्पद्। एक सजातीय तथा दूसरी विजातीय। आसुरी सम्पद् अधोगति एवं नीच योनियों का सृजन करती है, तो दैवी सम्पद् परमकल्याण करनेवाली है एवं शाश्वत स्वरूपपर्यन्त दूरी तय कराती है। विनयपत्रिका में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं, **'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका'** *(५८)*- यह शरीर ही सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है जिसमें मायिक प्रवृत्ति ही लंका है। इसमें मोहरूपी रावण है, जो दशानन है। क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, लोभरूपी नारान्तक, अहंकाररूपी अहिरावण, प्रकृतिरूपी सूर्पणखा इत्यादि आसुरी सम्पद् इस लंका में हैं। ये मोहरूपी प्रवृत्तियाँ अनन्त हैं। क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, कामरूपी मेघनाद, लोभरूपी नारान्तक इत्यादि दुर्धर्ष योद्धाओं की समाप्ति के पश्चात् जब रावण दुर्ग से निकला तो वह भी अपार सेना लेकर निकला। सब तो मर गये थे फिर अपार कहाँ से आ गये? वस्तुतः मोह ही रावण है और **'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहुसूला।।** *(मानस, ७/१२०/२८)* सम्पूर्ण भवरोग का मूल कारण मोह है। यदि मूल जीवित है तो उसमें शाखायें, डाल, तना, टहनियाँ, पत्ते सब कुछ विद्यमान रहते हैं। यदि मोह जीवित है तो सभी विकार उससे प्रस्फुटित हो जाते हैं। अतः मोह के रहते साधक यदि असावधान हुआ तो यह पनपकर साधक को अनन्त दिशाओं से आवृत्त कर लेता है। साधक अपने श्रेय-साधन से परावर्त हो जाता है- **शृंगी को भृंगी करि डारी, पराशर के उदर विदार।** भगवान से एक इंच की भी दूरी है, तब तक माया सफल हो जाती है।

रावण जब मर गया तो **'रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।'** *(मानस, ६/१०३/१०)*- आसुरी सम्पत्ति सहअस्तित्व मिट गयी। **'मूलो नास्ति कुतो शाखा'**- जब मूल ही कट गया तो बचेगा क्या? अब पत्ते, टहनियाँ, शाखायें झाड़ने की आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वतः सूख जायेंगे। इस मोह के निर्जीव होते ही अमृत-तत्त्व का प्रस्फुटन होता है जहाँ मृत्यु का समावेश नहीं है। उस अमृत-तत्त्व के संचार में आसुरी प्रवृत्ति सदा-सदा के लिए शान्त हो जाती है तथा दैवी सम्पत्ति पूर्णतया विकसित हो उठती है-

सुधा वृष्टि भै दुहु दल ऊपर।
जिये भालु कपि नहिं रजनीचर।। *(मानस, ६/११३/६)*

दूसरी ओर यह शरीर ही अवध है; क्योंकि इसमें अवध्य स्थिति का सूत्रपात होता है। इसके अन्तराल में दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है-

राम नाम सब कोई कहै, दशरथ कहै न कोय।
एक बार दशरथ कहै, कोटि यज्ञ फल होय।।

राम-नाम सभी कहते हैं, दशरथ कोई नहीं कहता। यदि एक बार कोई दशरथ कह दे तो करोड़ों यज्ञ का फल होता है। फल तो इतना बड़ा, फिर भी दशरथ-दशरथ कोई नहीं जपता। सब राम-राम ही जपते हैं। जपना भी चाहिए। वस्तुतः दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। दसों इन्द्रियों को संयत करके 'राम' का उच्चारण ही तो शुद्ध जप है। निरोध के साथ जप में करोड़ों यज्ञों का फल निहित है, किन्तु इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हैं और जिह्वा राम-राम रटती है तो उसका यथार्थ प्रभाव नहीं होता। परमकल्याण तो नहीं ही होता; हाँ, पुण्य-पुरुषार्थ अवश्य बढ़ता है जो कल्याण करनेवाला होता है। अतः दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। पहले तो यह मन उधर ही दौड़ता है **'जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो'** *(विनय०, ८८/१)*; किन्तु जब दसों इन्द्रियों की लगाम रथी के हाथ आ जाती है तभी पुरुष दशरथ बन जाता है।

इस प्रकार इसी शरीर के अन्तराल में दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति दशरथ है। इसी में भक्तिरूपी कौशल्या है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसके कोश में लव अर्थात् लगन दिलानेवाली कौशल्या है। कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा, कुमतिरूपी मन्थरा, विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण; इस प्रकार यह दैवी सम्पत्ति भी अनन्त है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही वानरी सेना है जिसमें अनुरागरूपी अंगद, वैराग्यरूपी हनुमान, सुरतिरूपी सुग्रीव, साधनरूपी जामवन्त इत्यादि असंख्य वानर हैं।

बानर कटक उमा मैं देखा।
सो मूरख जो करन चह लेखा।। *(मानस, ४/२१/१)*

भगवान शंकर कहते हैं- उमा! मैंने वानरी सेना देखी। वह मूर्ख है जो उसकी गणना करना चाहता है। अर्थात् वानरी सेना अगणित थी। इधर अगणित वानरी सेना; उधर रावण की अनगिनत निशाचरी सेना। युद्धस्थल लंका। आज कुल पाँच लाख की जनसंख्या है वहाँ! छठें या सातवें लाख के लिए भी स्थान नहीं है। भारतीयों को वहाँ नागरिकता नहीं मिल रही है; क्योंकि स्थानाभाव है। उस समय करोड़, नील, पद्म तथा महाशंख से

भी अधिक असंख्य निशाचर और असंख्य वानरी सेना थी। कहाँ टिके थे वे सब? लड़ते कहाँ थे? खाते कहाँ थे? क्या घटनाएँ नहीं घटीं?

घटनाएँ घटित हुईं, इसमें सन्देह नहीं है। अन्यथा इतिहास न बनता, दृष्टान्त न बनते। बाह्य घटनाओं के माध्यम से महापुरुषों ने अन्तःकरण की घटनाओं को भी इंगित किया। इन घटनाओं के माध्यम से महापुरुषों ने कुशलतापूर्वक जीवनयापन करने का मर्यादित उदाहरण प्रस्तुत किया; किन्तु सदाचारपूर्वक जी लेने मात्र से ही हमारा परमकल्याण सम्भव नहीं है। इसलिए मनीषियों ने ऐतिहासिक कथानकों के माध्यम से परमकल्याण की क्रियाओं का, अन्तःकरण के संघर्ष का तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध का भी पथ प्रशस्त किया। वास्तव में शरीर ही ब्रह्माण्ड है, पृथ्वी है। इसके अन्तराल में चर-अचर, अनन्त लोक और असंख्य शरीर विद्यमान हैं। यह असंख्य निशाचरी और वानरी सेना एवं नाना प्रकार के शरीर मन में ही हैं--

मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये। *(विनयपत्रिका, १२४/४)*

इस प्रकार शरीर में दैवी एवं आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। आसुरी प्रवृत्तियों से एवं मोह के द्वन्द्व से आकुल होकर मनुष्य तीर्थों में जाता है। देवताओं और मुनियों की शरण में जाता है। ऐसी ही विकलता मनु को हुई थी--

हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।। *(मानस, १/१४२)*

हृदय ग्लानि से भर गया और मनु निकल पड़े देवताओं और मुनियों की शरण में। नैमिषारण्य पहुँचे। नियम ही नैमिषारण्य है। नियम करने कहीं जाना नहीं पड़ता। केवल **'धेनुमति तीरा'** *(मानस, १/१४२/५)*- इन्द्रियों को बुद्धि के अधीन करना पड़ता है। इसी प्रकार यह शरीररूपी पृथ्वी भी **'गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी'** *(रामचरित मानस, १/१८३/७)*, देवी-देवताओं की शरण में जाती है, तीर्थों का आश्रय लेती है। तीर्थों से प्रेरणा मिलती है, पुण्य-पुरुषार्थ बढ़ता है; सहयोग भी मिलता है परन्तु उतने से परमकल्याण सम्भव नहीं होता। मुनियों से उपदेश मिलता है, पुण्य और बढ़ता है, भजन की विधा बढ़ती है फिर भी इतने से ही परमकल्याण नहीं हो जाता। तीर्थों ने, मुनियों ने सहयोग दिया और पृथ्वी के साथ ब्रह्मा तक गये।

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। *(मानस, ६/१५ क)*

ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मस्थित महापुरुष, जिनकी बुद्धि मात्र यंत्र है, जिनके माध्यम से परमात्मा ही प्रसारित होता है, ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का संकलन वेद है। इसीलिए वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि उन महात्माओं की वाणी से अव्यक्त पुरुष मुखरित होता है।

तीर्थों एवं मुनियों के उपदेशजनित पुण्य से शरीर ब्रह्मस्थित सद्गुरु तक पहुँचता है। उन्होंने देखते ही जान लिया कि साधक किस स्तर का है। ऐसे महापुरुषों के पास जब तक केवल शरीर से आते-जाते हैं, कल्याण सम्भव नहीं है। इसके लिए तो मनसहित इन्द्रियों का सर्वतोभावेन समर्पण अपेक्षित है। ब्रह्मा ने कहा, "हमसे भी कल्याण नहीं होगा। मैं विधि बताता हूँ, तुम चिन्तन करो, मैं भी तुम्हारे साथ ही रहूँगा। तुम्हारा निश्चित कल्याण होगा।"

सद्गुरु साथ देने लगे। जहाँ चिन्तन में प्रविष्ट हुए, आकाशवाणी हुई। इष्ट से आदेश मिला, "तुम्हारा निश्चित कल्याण होगा। पृथ्वी पर (शरीर में) देवताओं को उतारो।" साधक मनसहित इन्द्रियों के अन्तराल में दैवी सम्पत्ति को शनैः-शनैः अर्जित करता है। जब दैवी सम्पत्ति पूर्णरूप से परिपक्व हो जाती है तहाँ भक्तिरूपी कौशल्या (भग इति सः भगति। भग अर्थात् प्रकृति से उपराम करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष का नाम भक्ति है। उस भक्तिरूपी कौशल्या) की गोद में विज्ञानरूपी राम का आविर्भाव होता है।

'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः'- जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, उसी का नाम है राम। योगी दिन-रात किसमें रमण करते हैं?

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता।
अनुभव गम्य भजहिं जेहि सन्ता।। *(मानस, ३/१२/१२)*

योगी अनुभव में रमण करते हैं। अनुभव भव से अतीत एक जागृति है, विज्ञान है; जिसके द्वारा परमात्मा के निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। वही राम हैं जो पहले संचालक, पथ-प्रदर्शक के रूप में आते हैं। विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत, सत्संगरूपी शत्रुघ्न सभी एक दूसरे के पूरक हैं। प्रारम्भ में संकेत, इष्ट का निर्देश बहुत संक्षिप्त एवं क्षीण रहता है। राम बालक रहते हैं। क्रमशः उत्थान होते-होते वह योगरूपी जनकपुर में पहुँचते हैं। जनक वह है जिसने जना, जन्म दिया। सृष्टि में शरीरों का जन्म माता-पिता से होता है, किन्तु निज स्वरूप का दिग्दर्शन एवं जन्म योग से ही होता है। योग से स्वरूप की अनुभूति होती है इसलिए वह जनक है। योगरूपी जनकपुर- जनक एकवचन है किन्तु यहाँ जनकपुर है; क्योंकि एकमात्र योग से ही अनन्त आत्माओं ने अपना स्वरूप पाया है और भविष्य में भी योग ही माध्यम है। योग का आश्रय पाकर राम शक्ति से संयुक्त हो जाते हैं, आसुरी प्रवृत्तियों का शमन करके सर्वव्यापक हो जाते हैं और फिर रामराज्य की स्थिति चराचर पर छा जाती है। योग की पकड़ आते ही अनुभव जागृत हो उठते हैं। जागृतिरूपी जयमाला मिलती है और अनुभवरूपी राम शक्तिरूपी सीता से संयुक्त हो जाते हैं। यह योग की प्रवेशिका है।

शनैः-शनैः राम शक्ति के साथ आगे बढ़ते हैं, व्यवधान आते हैं और जब मोह का समूल अन्त हो जाता है तो अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है, सुधावृष्टि होती है। अमृत कोई घोल पदार्थ नहीं है कि पानी की तरह वर्षा हो। अंगद ने रावण से कहा-

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।
पसु सुर धेनु कल्पतरू रूखा। अन्न दान अरू रस पीयूषा।।
(मानस, ६/२५/५-६)

बुद्धिहीन रावण! राम क्या मनुष्य हैं? गंगा क्या किसी नदी का नाम है? कामधेनु क्या किसी पशु का नाम है? काम क्या कोई धनुर्धर है? अमृत क्या कोई घोल पदार्थ है कि उठाकर पी लोगे या छिड़क दोगे? जब अमृत घोल पदार्थ नहीं है तो है क्या? वस्तुतः मृत नाशवान् को कहते हैं, जो मरणधर्मा हो। अमृत वह है जो अक्षय है, अक्षर है, शाश्वत है। परात्पर ब्रह्म ही अमृत है, जहाँ पहुँचकर यह मरणधर्मा मनुष्य पुनर्जन्म का अतिक्रमण कर जाता है।

उस अमृतत्व के संचार के साथ ही क्रमशः उत्थान करते-करते भक्त खो जाता है और राम ही शेष बचते हैं।

राम राज बैठे त्रैलोका।
हरषित भये गये सब सोका।। *(मानस, ७/१९/७)*

उस अन्तःकरण में पूर्णरूपेण रामराज्य की स्थिति आ जाती है, जहाँ पर तीनों लोकों में भव-सम्बन्धी शोक-सन्ताप सदा के लिए मिट जाते हैं। तीनों लोकों में आवागमन का कोई स्थान नहीं रह जाता। उसके लिए सर्वत्र राममयी स्थिति आ जाती है। वह परमात्मा ही छा जाता है और उसी के अन्तराल में आत्मा लीन हो जाती है, द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही राम की पराकाष्ठा है और जहाँ से साधन प्रारम्भ होता है, उनका प्रगटीकरण होता है, वही अवतरण की निम्नतम सीमा है।

इस प्रकार अवतार किसी विरले योगी के हृदय की वस्तु है, न कि बाहर कहीं अवतार होता है। जिस पुरुष में वह अवतरित हो जाता है वह जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। उसके पश्चात् **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** सेवक सदा-सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बच रहता है, राममयी स्थिति ही शेष बचती है।

सरग नरक अपबरग समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनुबाना।। *(मानस, २/१३०/७)*

न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में और न नरक नरक के रूप में रह जाता है। जहाँ भी दृष्टि पडती है, आराध्य देव का स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। विलय के पश्चात् वह सत्ता

अपने में ही दिखाई देती है। 'साईं सन्त अतीत'- अपने से भिन्न कोई सत्ता नहीं रह जाती। शाश्वत ही शेष बच रहता है। शरीर तो रहने का एक मकान मात्र रह जाता है। इसके पश्चात् महापुरुष जब तक संसार में रहता है, लोककल्याण के लिए ही उसका उपयोग है। स्वयं के लिए उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता।

निर्विवाद है कि अवतार किसी विरले योगी के हृदय की वस्तु है। गीता में भी इसी अवतरण-प्रक्रिया का निरूपण है। बाहर पिण्ड-रूप में अवतार की खोज में भटकनेवाले भ्रम में हैं; क्योंकि अवतार दिव्य और अगोचर होता है। जो वस्तु मनसहित इन्द्रियों अथवा इन आँखों से दिखायी पड़े, वह माया है, अवतार नहीं--

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।। *(मानस, ३/१४/३)*

।। ॐ ।।

राम का वास्तविक स्वरूप

प्रश्न– महाराजजी! राम का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर– देखिये, सती की भी यही जिज्ञासा थी। उनका एक जन्म तो संशय में चला गया कि नर-तन धारण करनेवाले राम भगवान कैसे हो सकते हैं? दूसरे जन्म में उन्होंने अथक परिश्रम किया, घोर तपस्या की, भगवान शंकर को पुनः प्राप्त किया और तत्पश्चात् सत्संग आरम्भ हुआ। पिछले जन्म में प्रश्न जहाँ से छूटा था, सत्संग वहीं से प्रारम्भ हुआ। शैलजा ने प्रश्न रखा कि, राम भूप-सुत कैसे हुए? राम का स्वरूप क्या है? नर भगवान कैसे हो सकता है? शंकरजी ने पहले तो बहुत डाँटा, बोले--

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद बिमुख, जानहिं झूठ न साच।। *(मानस, १/११४)*

ऐसा अधम नर कहते हैं जो मोहरूपी पिशाच से ग्रसे हैं। जिनके हृदय में विषयरूपी काई लगी है, वे ही ऐसा कहते हैं। गिरिजा! तूने वेद-असम्मत वाणी कही है, यद्यपि तुम्हारा भाव अच्छा है। तत्पश्चात् उन्होंने उत्तर देना आरम्भ किया तो राम का स्वरूप बताया--

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।
(मानस, १/११६/५-६)

अर्थात् विषय, विषयों को करनेवाली इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीवात्मा उत्तरोत्तर एक दूसरे के सहयोग से सचेत होते हैं, एक दूसरे के सहयोग से जागृत होते हैं और इन सबको प्रकाश देनेवाली जो मूल सत्ता है, वही है राम। इन सबका जो परम प्रकाशक है वही अवधपति राम हैं। वास्तव में इन्द्रियाँ एवं मन तो चराचर में सर्वत्र पाया जाता है इसीलिए **'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।'** *(मानस, १/११६/७)*- जगत् प्रकाश्य है और राम प्रकाशक हैं। वे मायाधीश हैं, ज्ञान और गुण के धाम हैं। राम तो सर्वत्र एक जीवनी शक्ति के रूप में हैं तभी तो पेड़ हरा-भरा है। यही उनका प्रकाश है। गिरिजा को भ्रम हुआ था कि राम भगवान कैसे हो सकते हैं?- इसलिए शंकरजी कहते हैं-

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।
गिरिजा सोई कृपालु रघुराई।। *(मानस, १/११७/३)*

ऐसा भ्रम जिनकी कृपा से मिट जाता है वही कृपालु रघुराई हैं। वह भ्रम जब कभी किसी का मिटा है तो अनुभव से मिटा है। जब कभी किसी ऋषि-महर्षि ने उस भ्रम का

निवारण पाया तो अनुभव के द्वारा ही पाया है। महर्षि मार्कण्डेय ने अनुभव में महाप्रलय की लीला देखी और अन्त में प्रलय के बाद भी उस शाश्वत सत्ता को जीवित पाया। उसके स्पर्श के साथ ही महर्षि का भ्रम दूर हो गया। कागभुशुण्डि ने हजारों-लाखों वर्ष तक भगवान के उदर में पर्यटन किया। वहाँ राम-अवतार भी देखा। अपने आश्रम को देखा। विविध रूप में भरतादिक भ्राताओं को देखा-

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति बिचित्र हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउँ, प्रभु राम न देखेउँ आन।। *(मानस, ७/८१ क)*

अगणित भुवनों में भटका। सभी शक्तियाँ तो भिन्न-भिन्न रूप में थीं किन्तु राम को दूसरे प्रकार का नहीं देखा। भरत दूसरे प्रकार के थे, लक्ष्मण दूसरे प्रकार के थे, माता कौशल्या दूसरे प्रकार की थीं, लेकिन राम ठीक उसी प्रकार के थे- जैसा बाहर देखा था। वह सदैव एकरस रहनेवाली सत्ता है। सुनने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कागभुशुण्डि ने भगवान के पेट के अन्दर प्रवेश कर यह सब देखा; लेकिन नहीं, यह भी एक अनुभव था-

उभय घरी महँ मैं सब देखा।
भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा।। *(मानस, ७/८१/८)*

अगणित तो वे नगर देखते रहे, लोक-परलोक देखते रहे, बहुत-सा समय अपने आश्रम में भी बिताया। युग पर युग बीतते गये और अन्त में निर्णय देते हैं, **'उभय घरी'**- दो ही घड़ी में मैंने सब कुछ देखा। सिद्ध है कि वह एक अनुभव था। चिन्तन में आनेवाला, ध्यान में मिलनेवाला, इष्ट से प्रसारित एक 'रील' थी। समाधिजन्य एक दृश्य था। ऋतम्भरा प्रज्ञा की अनुभूति थी। जब ऐसा भ्रम होता है कि राम सगुण हैं या निर्गुण हैं? कहाँ पैदा होते हैं? कैसे रहते हैं? ऐसा भ्रम जिस युक्ति से दूर हो जाता है, बस वही राम हैं। **'जासु कृपा अस भ्रम'**- जैसा कि तुमको हुआ, **'मिटि जाई। गिरिजा सोई कृपालु रघुराई।।'**- अर्थात् विज्ञानरूपी राम।

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा।
अज विज्ञान रूप बल धामा।। *(मानस, ७/७१/३)*

राम कैसे हैं? उनका स्वरूप कैसा है? विज्ञानरूपी उन राम का कार्य-कलाप कैसा है? कैसे वे चलते हैं? कैसे युद्ध कराते हैं? कैसे भक्त के साथ रहते हैं? शंकर जी बताते हैं-

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।

तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।
(मानस, १/११७/५-८)

वह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना पैर के चलता है, बिना हाथ के सम्पूर्ण कृत्य करता है। इस प्रकार राम की करनी सब तरह से अलौकिक है। सिद्ध है कि वह अनुभवगम्य है, अर्थात् विज्ञानरूपी राम- ऐसा शंकरजी का निर्णय है।

राम का जन्म भी विचारणीय है-

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद।। *(मानस, १/१९८)*

जो कभी व्यक्त नहीं होता, बिना पैरों के चलता है, बिना आँखों के देखता है, बिना शरीर के शरीरधारी है, वही अजन्मा, अव्यक्त, शाश्वत राम प्रेमरूपी भक्ति के द्वारा कौशल्या की गोद में आता है। वस्तुतः प्रेममयी भक्ति का ही दूसरा नाम 'कौशल्या' है। अतः 'भक्तिरूपी कौशल्या'। कोश कहते हैं सम्पत्ति के केन्द्र को। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। उस स्थिर सम्पत्ति का संग्रह भक्ति में है इसलिए उसका नाम कौशल्या है।

इसी क्रम में राम के नामकरण पर भी विचार कीजिए। जब भगवान राम इत्यादि का जन्म हो गया तो दशरथ हर्षोल्लास के साथ गुरु वशिष्ठ के पास पहुँचे कि इनका नामकरण किया जाय। वशिष्ठ ने कहा- इनके नाम अनेक और अनन्त हैं, गिने नहीं जा सकते; किन्तु व्यवहार में सम्बोधन के लिए उन्होंने चारों पुत्रों का क्रमशः नाम दिया और यह भी कहा कि ये साधारण पुत्र नहीं हैं बल्कि वेद के तत्त्व हैं--

धरे नाम गुर हृदयँ बिचारी।
बेद तत्त्व नृप तव सुत चारी।। *(मानस, १/१९७/१)*

हृदय में विचार करके वशिष्ठ ने नाम रखा और अन्त में निर्णय दिया कि राजन्! ये साधारण पुरुष नहीं हैं। ये चारों सुत वेद के तत्त्व हैं। परमतत्त्व, जो विदित नहीं है, उसको भी विदित करा देनेवाला वेद है, उसके तत्त्व हैं। अब चारों भाइयों का नामकरण देखें--

बिस्व भरन पोषन कर जोई।
ताकर नाम भरत अस होई।। *(मानस, १/१९६/७)*

जो विश्व के भरण-पोषण की क्षमता रखते हैं, उनका नाम भरत है। चारों भाइयों में भरण-पोषण की क्षमता यदि किसी में थी तो भरत में थी, इसीलिए उनका नाम भरत

पड़ा। किन्तु कार्यक्षेत्र में वैसा लक्षण नहीं पाया जाता, जैसा वशिष्ठजी ने कहा। जब माता कैकेयी के आदेश से राम वनवास के लिए चले गये तो बिलखते हुए भरत राम के पीछे चित्रकूट पहुँचे। लोगों ने भरत से राज्य करने का आग्रह किया किन्तु भरत ने उसे नहीं स्वीकारा। राम ने कहा- अच्छा, कम से कम चौदह वर्षों तक ही प्रजा का पालन-पोषण करो; किन्तु भरत खड़ाऊँ पर भार छोड़कर नन्दिग्राम की एक कन्दरा में जाकर बैठ गये। चौदह वर्षों तक बाहर ही नहीं निकले। विश्व-पोषण तो गया भाड़ में, मात्र अयोध्या के भरण-पोषण का जहाँ प्रश्न आया, भरत कन्दरा में बैठ गये; उलटकर देखा तक नहीं। संयोग से मंत्री अच्छे और स्वामिभक्त थे अतः व्यवस्था चलती रही। किन्तु नामकरण जिस विशेष गुण के आधार पर हुआ था, व्यवहार में वैसा नहीं पाया गया। दूसरे पुत्र का नामकरण देखें-

जाके सुमिरन तें रिपु नासा।
नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।। *(मानस, १/१९६/८)*

शत्रुओं का नाश करने की क्षमता थी तो एकमात्र शत्रुघ्न में थी। उनके स्मरण मात्र से ही शत्रुओं का नाश हो जाता है इसीलिए तो उनका नाम शत्रुघ्न पड़ा। लेकिन 'मानस' के अवलोकन से ज्ञात होता है कि राम लड़े, लक्ष्मण लड़े, आवश्यकता पड़ने पर भरत ने भी एक बाण हनुमान को मारा, लेकिन शत्रुघ्न ने तो एक चुहिया तक नहीं मारी। जबकि नामकरण में, चारों भाइयों में शत्रु-दमन की क्षमता थी तो एकमात्र शत्रुघ्न में थी। हाँ, कुबरी को शत्रुघ्न ने लात अवश्य मारी थी क्योंकि वह बेचारी घूमकर मुक्का भी नहीं चला सकती थी। शत्रुघ्न ने देखा कि वह कुछ कर नहीं पायेगी फिर भी एक लात पीछे से लगायी, तभी तो कुबड़ पर लगी। यही उनका पराक्रम था; किन्तु कार्यक्षेत्र में ऐसा पाया नहीं जाता। इसी प्रकार लक्ष्मण के नामकरण का आधार देखें--

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।। *(मानस, १/१९७)*

जो लक्षणों के धाम हैं, जगत् के आधार हैं, राम के प्रिय हैं; गुरु वशिष्ठ ने उनका नाम लक्ष्मण रखा। वे शुभ लक्षणों के धाम थे। एक भी दुर्गुण नहीं था उनमें, इसीलिए लक्ष्मण कहलाये। जबकि लक्ष्मण महान् क्रोधी थे। क्रोध एक दुर्गुण है। यद्यपि भरत सहृदयता के साथ राम को मनाने जा रहे थे, किन्तु लक्ष्मण उन्हें आते देखकर धनुष उठाकर छलाँग भरने लगे। लक्ष्मण का क्रोधी स्वभाव प्रसिद्ध है। धनुर्भंग, वनवास, किष्किन्धा, लंका सर्वत्र उनका यह स्वरूप दिखायी देता है फिर भी वे लक्षणों के धाम कहे गये। जब सीता चोरी चली गईं, तो 'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना।' *(मानस,*

३/२३/५)- केवट मर्म जान गया था; किन्तु 'लच्छन धाम' नहीं जान सके। युद्ध में मेघनाद से सामना होने पर, यह जानते हुए भी कि शत्रु कमजोर नहीं है उसका प्रबल शस्त्र सामने से चला आ रहा है, लक्ष्मण सीना तानकर मूर्च्छित हो जाते हैं। लक्ष्मण एँड़े अवश्य हैं, लेकिन जहाँ तक लक्षण का प्रश्न है, वे कोरे दीखते हैं। लक्षण तो तब होता जब वे शत्रु के इरादों को पहले ही भाँप जाते। **'कहेउ न तात लखन लरिकाई'**- साथ-साथ पैदा हुए; किन्तु राम के और उनके स्वभाव में कितना अन्तर था। चारों भाइयों में सम्पूर्ण शुभ गुण लक्ष्मण में थे; किन्तु व्यवहार में वैसा नहीं पाया जाता। अब, राम के नामकरण पर दृष्टिपात करें-

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।। *(मानस, १/१९६/५)*

वे आनन्द के समुद्र हैं, सुख की राशि हैं, अपनी एक बूँद से त्रैलोक्य को सुपास प्रदान करनेवाले हैं--

सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोकदायक बिश्रामा।। *(मानस, १/१९६/६)*

वे सुख के धाम हैं, इसलिये उनका नाम राम है। वे सम्पूर्ण लोकों को विश्राम प्रदान करनेवाले हैं। राम आनन्द के समुद्र, सुख के धाम तो थे जिन्हें दुःख स्पर्श ही नहीं करता था; लेकिन यदि राम का जीवनवृत्त देखा जाय तो वे सुख-शान्ति से कभी नहीं रहे। बचपन में ही उन्हें विश्वामित्र ले गये। ले जाकर ताड़का से लड़ा दिया। इसके उपरान्त शादी-विवाह हुआ, कुछ सफलता मिली, राजपाट के सुख का समय आया तो मन्थरा गले पड़ गयी। राम को राज्य की जगह चौदह वर्ष का वनवास मिला। वनवास में किसी तरह समय काट रहे थे कि सीता चोरी चली गयी, फिर तो "हाय मृगलोचनी! हाय गजगामिनी! हाय सीते! मुझे छोड़कर कहाँ चली गई।" **'लता तरु पाती'** से पूछते-बिलखते रहे। नारद को उनकी दशा देखकर महान् पश्चाताप हो रहा था कि मेरे शाप के कारण राम दुःखों का बोझ सहन कर रहे हैं। यह बात अलग है कि राम ने हँसते हुए दुःख झेला, किन्तु थे तो दुःख ही।

राम ने सेना का संगठन किया, रावण को जीता। सीता सहित अवध के सिंहासन पर आसीन हुए, तो एक धोबी ने फाँसी दे दिया। संयोग से धोबी की पत्नी रात भर किसी के यहाँ उत्सव के कारण रुक गई। धोबी बोला- मैं राम नहीं हूँ जो दूसरों के घर रहनेवाली स्त्री को पुनः अपना लूँ। राम ने ऐसा सुना तो लोकरंजन के लिए सीता का परित्याग करके असह्य दुःख झेला; यद्यपि सीता की निर्दोषिता प्रमाणित थी। वाल्मीकि

और लवकुश के प्रयास से जब जनता ने सीता को निर्दोष मान लिया और राम ने सीता से अयोध्या वापस चलने का आग्रह किया तो सीता अँगूठा दिखाकर पृथ्वी में समा गयीं। राम के दुःख की क्या कोई सीमा थी? अन्त में एक बात पर लक्ष्मण सरयू में प्रविष्ट हो गये। राम को इतना कष्ट हुआ कि वे भी सरयू में कूद पड़े। जिसका जीवन ही दुःख से भरा पड़ा हो, वशिष्ठ उसे कहते हैं--**"सो सुख धाम"** जिन्हें दुःख स्पर्श ही नहीं करता, उनका **"राम अस नामा। अखिल लोकदायक विश्रामा।"** वे ही सम्पूर्ण लोकों के विश्रामदाता हैं।

इस प्रकार जैसा नामकरण किया गया, वैसा कार्यक्षेत्र में पाया नहीं जाता। क्या वशिष्ठजी ने दक्षिणा के लिए ऐसी प्रशस्ति कर दी अथवा तुलसीदासजी झूठ लिखते थे? नहीं; मानस अक्षरशः सत्य है, एक भी चौपाई गलत नहीं है। लेकिन **"वस्तु कहीं ढूंढ़े कहीं, कैसे पावै ताहि।"** वह वस्तुस्थिति ही कहीं अन्यत्र है। देखिये, प्रत्येक शास्त्र का निर्माण दो दृष्टियों से होता है- एक तो ऐतिहासिक घटना-क्रम जीवित रखना और दूसरे उस घटित घटना के माध्यम से आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा परमतत्त्व तक की दूरी तय करा देना। ऐतिहासिक घटनाओं से हम मर्यादित जीवन की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से मनुष्य का कल्याण नहीं हो जाता। अतः संसार में जब तक रहें तब तक शिष्टजन अनुमोदित विधि से जीवन-यापन करें, इस दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं को जीवित रखा जाता है। साथ ही, इस प्रकार जीते-खाते समझ-बूझ काम करने लगे तब उस परमप्रभु के अंक में प्रवेश पाने के लिये आध्यात्मिक विद्या का सृजन मनीषियों ने किया। घटना हुई न होती तो दृष्टान्त कहाँ से बनते। उसी घटना को माध्यम बनाकर ऋषियों ने उस आध्यात्मिक संघर्ष का विस्तार से वर्णन किया, जिसका परिणाम परमशान्ति और परमतत्त्व है। रामचरित मानस में भी इन्हीं वस्तुओं को छिपाकर लिखा गया है। मानस को मात्र इतिहास मान लेना भयंकर भूल होगी।

'रामचरित' का अर्थ है- राम का चरित्र। तो क्या शरीर में या भूखण्डों में जो राम हुए थे, तुलसीदास उनका चरित्र लिखने जा रहे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं नहीं, अपितु 'मानस' लिख रहे हैं। मानस मन को, अन्तःकरण को कहते हैं। अतः रामचरितमानस का तात्पर्य राम के उस चरित्र से है जो मन के अन्तराल में प्रसारित है। हैं तो सब में किन्तु दिखाई नहीं देते। यहाँ तो रात-दिन काम का चरित्र, लोभ का चरित्र, मोह और छल-छद्म का चरित्र ही दिखायी देता है। राम के चरित्र तो मन में दिखाई ही नहीं देते। हैं सब में। वे जिस प्रकार मन में जागृत होते हैं और जागृत होकर राम तक ही दूरी तय कराते हैं वहाँ तक का साधन-क्रम इस मानस में अंकित है।

याद रखें, जो पुस्तक के शीर्षक में होता है, उसी का पट-प्रसार, उसी का विस्तार पंक्तियों में हुआ करता है। रामचरितमानस का आशय राम के उस चरित्र से है जो मन के अन्तराल में प्रसारित है। प्रश्न उठता है कि किस प्रकार प्रसारित है? अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं। एक आसुरी सम्पद्, दूसरी दैवी सम्पद्। आसुरी सम्पत्ति अधोगति एवं नीच योनियों में फेंकनेवाली है और दैवी सम्पद् परमकल्याण करनेवाली होती है। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदासजी कहते हैं, **'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूपधारी।'** *(५८)*- यह शरीर ही सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है, जिसमें 'प्रवृत्ति लंका'- मायिक प्रवृत्ति, शारीरिक अनुरक्ति ही लंका है। तुलसीदासजी रोचक कहते-कहते कहीं-कहीं यथार्थ का भी संकेत करते चलते हैं। मनरूपी मय दानव ने इस प्रवृत्तिरूपी लंका का निर्माण किया है, जिसमें--

> **मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।**
> **लोभ अतिकाय, मत्सर महोदरदुष्ट, क्रोध पापिष्ठ-विबुधान्तकारी।।**
> *(विनयपत्रिका, ५८)*

मोह ही रावण है जो **'सकल व्याधिन्ह कर मूला'** है, इसीलिए राजा है। इस लंका में क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, लोभरूपी नारान्तक, अहंकाररूपी अहिरावण, प्रकृतिरूपी सूर्पणखा हैं और इन्हीं के बीच जीवरूपी विभीषण है जो है तो दुष्टों के बीच, मोह इसका सगा भाई है, किन्तु उसकी दृष्टि सदैव राम पर रहती है। जीवात्मा वास्तव में मोह के कारण फँसा है। मोह के संयोग से ही तो इसका नाम जीव पड़ा। यह जीव अपने परिवार, बाल-बच्चों के भरण-पोषण इत्यादि की चिन्ता में रहता है लेकिन साथ ही इसकी दृष्टि परमात्म-तत्त्व पर भी रहती है। अभी आश्रम में एक अमेरिकन सज्जन आये थे। हमने पूछा कि इतने व्यस्त अमेरिका में भी क्या लोग भगवान को मानते हैं? वह बोले-''यह तो 'नेचुरल' है। न मानने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। हाँ, यह बात अलग है कि हम लोग यह नहीं जानते कि किस रास्ते से उन्हें ढूँढ़ा जाय?- इसीलिए तो भारत आये हैं।''

इसी प्रकार यह आसुरी सम्पद् क्रमशः चलकर असंख्य अधोमुखी प्रवृत्तियों का कारण बनती है। युद्ध में सबके मिटने के बाद रावण जब दुर्ग से निकला तो उसके साथ असंख्य सेना थी। सब तो मर गये थे, यह अगणित सेना अभी शेष ही थी। लेकिन है कुछ ऐसा ही। मोहरूपी रावण ही सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है। यदि मूल जीवित है तो शाखाओं और पत्तियों का पुनः हरा-भरा हो जाना स्वाभाविक है। उस मूल में सभी प्रसुप्त हैं; समय पाकर उभड़ेंगे इसीलिये सभी जीवित माने जाते हैं।

दूसरी ओर यह शरीर ही अवध है। इसमें अवध्य स्थिति का संचार है, इसलिये यह अवध कहलाता है। इसमें दस इन्द्रियों का निरोध ही दशरथ है। इसमें भक्तिरूपी कौशल्या, कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा, मलिन मति मंथरा और ज्ञानरूपी वशिष्ठ हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना सब ज्ञान से ही होता है, क्या यही ज्ञान? जी नहीं, **'वश इष्ट सः वशिष्ठ'**- इष्ट को वश में करनेवाली जानकारी ही वशिष्ठ है। यही जानकारी ही सच्चा ज्ञान है। तो भला वह कौन-सी युक्ति-विशेष है जिससे वह इष्ट वश में होता है? वह है श्वासरूपी शृंगी ऋषि। शृंगी ऋषि ने यज्ञ किया। **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** *(गीता, १०/२५)*- जप ही यज्ञ है। श्वास-प्रश्वास का यजन ही यज्ञ है, हृदय की विमलता ही हवि है। जहाँ ऐसा यज्ञ हुआ तहाँ भक्तिरूपी कौशल्या की गोद में विज्ञानरूपी राम प्रकट हो जाते हैं। अनुभवी सूत्रपात होने लगता है। साथ ही विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत, सत्संगरूपी शत्रुघ्न का प्रादुर्भाव हो जाता है। साधक के हृदय में जब ये अनहोनी वस्तुएँ जागृत होती हैं तो उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है इसीलिए विश्वासरूपी विश्वामित्र का आगमन होता है।

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती।। *(मानस, ७/८८/७)*

जब तक वह जानने में नहीं आता तब तक विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास हुए प्रीति नहीं होती, हार्दिक लगाव नहीं होता--

प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।। *(मानस, ७/८८/८)*

बिना प्रीति के भक्ति दृढ़ नहीं होती। भक्त तो सभी बनते हैं किन्तु वह भक्ति ऐसी ही होती है जैसे जल की चिकनाई। पूरब की हवा चली तो पश्चिम के कोने में चिकनाई इकट्ठी हो गयी और दक्षिण की हवा चली तो चिकनाई उत्तर चली जाती है। संग-दोषरूपी वायु कभी-कभी न रहने से वह जल पर छायी हुई दिखाई देती है लेकिन यह क्षणिक है। जहाँ कुसंग मिला तहाँ सारी भक्ति किनारे चली जाती है। जब साधक में अनुभव, भाव, विवेक, सत्संग का सूत्रपात होने लगता है तभी इष्ट की सर्वव्यापकता में विश्वास होता है। लोग कहते हैं विश्वास करो, किन्तु करे भी तो कैसे? आँखें मूँदकर विश्वास करोगे तो अन्धविश्वास होगा। जब अनुभवी सूत्रपात मिलने लगता है तहाँ 'विश्वासरूपी विश्वामित्र', विश्वास का होना स्वाभाविक है। तब विश्वास के साथ उसी यज्ञ को करने लगे। यज्ञ कोई दूसरा नहीं है। उसी यज्ञ को करने लगे जो पहले करते थे किन्तु अब विश्वास के साथ कर रहे हैं, विश्वामित्र भी साथ ही हैं। तहाँ तर्करूपी ताड़का, स्वभावरूपी

सुबाहु, स्वभाव में मैलरूपी मारीच विघ्न डालते हैं किन्तु अनुभव से, विज्ञानरूपी राम द्वारा शान्त हो जाते हैं। फिर 'अवध हृदय लय सः अहिल्या' की गति प्राप्त होती है।

यहाँ से दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ है। क्रमशः चलकर दैवी गुण भी अनन्त हो जाते हैं। दैवी सम्पद् का तात्पर्य ब्रह्म आचरण की प्रवृत्ति है--

बानर कटक उमा मैं देखा।
सो मूरख जो करन चह लेखा।। *(मानस, ४/२१/१)*

भगवान शंकर कहते हैं- उमा, मैंने वानर कटक देखा। वह निपट मूर्ख है जो उसकी गणना करना चाहता है। आज चार अरब ही विश्व की जनसंख्या है फिर भी खाद्य-समस्या विश्वस्तर पर बनी ही हुई है। उस समय भगवान शंकर के शब्दों में, असंख्य वानर थे। वे बुद्धिहीन हैं जो गणना करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि यह सेना भी सद्गुणों की है जो मन के अन्तराल में ही है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही वानरी सेना है इसीलिये जब गुरु वशिष्ठ ने नामकरण किया तो स्पष्ट बताया कि मानस के राम हैं। उन्होंने कहा-

बिस्व भरन पोषन कर जोई।
ताकर नाम भरत अस होई।। *(मानस, १/१९६/७)*

भाव ही भरत है। 'भावे विद्यते देवा'- भाव में वह शक्ति है कि परमदेव परमात्मा तक विदित हो जाता है। **'भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।'** *(मानस, ७/९२ ख)*, भगवान अन्य किसी युक्ति से वश में नहीं होते। एकमात्र भाव से ही भगवान वश में होते हैं, जो सुख के निधान और करुणा के धाम हैं। अतः भावरूपी भरत। विश्व में किसी ने किसी का भरण-पोषण किया है, पूर्ण तृप्ति प्रदान की है तो एकमात्र भाव से। जिन-जिन के हृदय में भाव हार्दिक लगाव जागृत हुआ है, इष्ट से सीधा सम्बन्ध जुड़ा है। मनुष्य अपूर्ण है। भौतिक वस्तुओं से, रुपयों-पैसों से मनुष्य पूर्ण नहीं बन जाता। वह तो जब भी पूर्ण होगा, आत्मदर्शन से ही होगा और उस आत्मदर्शन की एकमात्र क्षमता भाव में ही सम्भव है। इन आत्माओं को कभी भी तृप्ति मिली है तो ईश्वर-दर्शन से ही मिली है और वह ईश्वर भाव के वश में है इसलिये भाव ही भरत है। भाव में ही वह क्षमता है जो इन आत्माओं को विश्व में पूर्ण तृप्त कर दे इसीलिये उसका नाम भरत पड़ा। ऐसा नहीं कि आजकल के नेताओं की तरह भरत जनता का पेट भरते। आज तो जिसके पास बैल थे, ट्रैक्टर आ गया है; लेकिन पेट नहीं भरता। उसे दस बसें दे दी जाएँ, पेट खाली ही रहता है। 'बिड़ला' की फैक्टरियाँ मिल जायँ, किन्तु तृष्णा तब भी कम नहीं होगी। हाँ, शोषण की भावनाएँ अवश्य बढ़ती जाती हैं। कब किसको तृप्ति मिली? महाबीर, बुद्ध को राज्य भी तृप्ति नहीं दे सका। जब कभी

किसी को तृप्ति मिली है तो परमात्मा के अंक में ही मिली है, वही यथार्थ भरण और पूर्ण पोषण है। वह पोषण कैसे मिलेगा? भाव के द्वारा! अतः भाव ही भरत है। यह वेद का तत्त्व है अर्थात् जो तत्त्व विदित नहीं है, अलख-अदृश्य-अव्यक्त है उसे विदित करा देनेवाला तत्त्व है भरत; न कि कोई हाड़, माँस और चमड़ी का भरत रहा होगा।

तदनन्तर शत्रुघ्न का नामकरण करते हैं--

जाके सुमिरन तें रिपु नासा।
नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।। *(मानस, १/१६६/८)*

जिनके सुमिरन से शत्रुओं का नाश होता है, उनका नाम शत्रुघ्न है, 'वेद प्रकासा'-वेदों का ऐसा निर्णय है। गुरु वशिष्ठ ने उसी निर्णय पर विश्वास किया और स्वयं भी वही निर्णय दिया। वेद और महर्षि दोनों का मत एक है कि शत्रुघ्न के सुमिरन का विधान है। इतना होते हुए भी शत्रुघ्न का सुमिरन कोई नहीं करता। इस वेदाज्ञा और सद्गुरु आज्ञा पर चलनेवाला कोई दिखायी नहीं देता। सुमिरन तो सभी राम का ही करते हैं। 'शत्रुघ्न-शत्रुघ्न' जपनेवाला आज तक दिखायी ही नहीं दिया। आपने कहीं सुना है? नहीं, यह है मानस का सत्संगरूपी शत्रुघ्न!

सत्संग दो प्रकार का होता है। एक सत्संग तो वह है जो वाणी से किया जाता है, जो सुनने में आता है, जैसा आप सत्पुरुषों की सभाओं में सुनते हैं। दूसरा सत्संग क्रियात्मक है। वस्तुतः सत् की संगति ही सत्संग है, यथा-

सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजे बात विचार।।

सत्य और शाश्वत तो वह आत्मा ही है, उसका संग ही सत्संग है। यह सत्संग ध्यान, समाधि, चिन्तन, भजन के द्वारा होता है। यह अन्तरंग सत्संग केवल मन से होता है इसलिए सुमिरन से ही सत्य की संगति सम्भव है। मन सब ओर से सिमटकर उस आत्म-चिन्तन में रत हो जाय, श्वास की संगत करने लगे, उस आत्मा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने लगे, बस उसी दिन से सत्य की संगति-- सत्संग का प्रारम्भ हो जाता है। चिन्तन ज्यों-ज्यों सूक्ष्म होता जायेगा, मन सब ओर से सिमटकर इष्ट में केन्द्रित होता जायेगा, त्यों-त्यों शत्रुओं का नाश होता जायेगा। मन का सुमिरन और इष्ट जब तद्रूप हो जाते हैं तब मायिक शत्रुओं का उन्मूलन हो जाता है। अजेय शत्रु तो हमारे भीतर ही हैं- **'महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।।'** *(मानस ६/८० क)* काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि वास्तविक शत्रुओं को महापुरुषों ने शोध निकाला है। बाहरी लड़ाई तो मोह का द्वन्द्व मात्र है--

जलचर-बृन्द जाल अन्तरगत, होत सिमिटि इक पासा।
एकहि एक खात लालचबस, नहिं देखत निज नासा।। *(विनय०, ९२)*

वास्तव में चराचर के शत्रुओं का उन्मूलन, मोहरूपी रावण इत्यादि सम्पूर्ण शत्रुओं का समूल नाश सत्संग के माध्यम से ही हुआ है। राम तो अनुभव से सूचित करनेवाले यंत्र का नाम मात्र है। सुमिरन और चिन्तन से ही मायिक शत्रुओं के नाश का विधान है। सुमिरन-चिन्तन पर ही सत्संग का उतार-चढ़ाव निर्भर है इसीलिए सत्संगरूपी शत्रुघ्न। **'जाके सुमिरन तें रिपु नासा।'**- जिसके स्मरण से काम, क्रोध, मोहादि शत्रुओं का शमन हो जाता है, **'नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।।'**- उसका नाम शत्रुघ्न है। राजन्! यह वेद तत्त्व है। जो परमात्मा विदित नहीं है उसको विदित करा देनेवाला तत्त्व है, न कि पाँच भौतिक पिण्डधारी कोई शत्रुघ्न थे। इसी प्रकार--

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।। *(मानस, १/१९७)*

जो सम्पूर्ण लक्षणों के धाम हैं, राम के प्रिय हैं, **'सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ट तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।।'** विवेकरूपी लक्ष्मण! सत्य क्या है? असत्य क्या है?- इसकी जानकारी और जानकारी के पश्चात् सत्य पर आरूढ़ रहने की क्षमता का नाम विवेक है। सत्य और शाश्वत तो एकमात्र ईश्वर है, आत्मा है। उस पर आरूढ़ होने की क्षमता जिसमें आ गई, वही लक्ष्मण है, वही लक्षणों का धाम है-

दच्छ सकल लच्छन जुत सोई।
जाकें पद सरोज रति होई।। *(मानस, ७/४८/८)*

उल्लेखनीय है कि उत्तरकाण्ड का यह निर्णय भी वशिष्ठजी का ही है। वही लक्षणों का धाम है, वही राम का प्रिय है। सत्य वस्तु आत्मा पर ही जिसकी दृष्टि होती है, भगवान को वही प्रिय होता है--

पुरुष नपुसंक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ।। *(मानस, ७/८७ क)*

पुरुष हो, नपुंसक हो, नारी अथवा नर हो, कपट का त्याग करके सर्वतोभावेन जो भी मुझे भजता है, वही मुझे परमप्रिय है। इस प्रकार परमसत्य परमात्मा की ओर अग्रसर रहने की क्षमता का नाम ही 'लक्ष्मण' है, 'विवेक' है। जिसमें यह क्षमता होगी, वही राम को प्रिय होगा, वही सकल जगत् का आधार है। इष्ट या लक्ष्य का मनन ही लक्ष्मण है। मनन करते-करते मन इष्ट के तद्रूप होकर ईश्वरमयी स्थिति प्राप्त कर लेता है जो

सम्पूर्ण जगत् का आधार है। राजन्! यह अविदित परब्रह्म को विदित करा देनेवाला तत्त्व है, लक्षण है, न कि कोई व्यक्ति-विशेष।

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।। *(मानस, १/१९६/५)*

जो आनन्द के समुद्र हैं, सुख की राशि हैं, अपनी एक बूँद से त्रैलोक्य को सुपास प्रदान करनेवाले हैं, वे राम हैं। कभी-कभी साधक घबड़ाने लगता है, वहाँ भगवान एक बूँद फेंक देते हैं। कहते हैं तुम चिन्ता न करो, तुम्हें मुक्ति दे देंगे। बस एक बूँद मिला यद्यपि मुक्ति अभी अलग है किन्तु मात्र इतने आश्वासन से, जो राम द्वारा मिलता है, साधक त्रैलोक्य में सुपास पा जाता है, उसे भय नहीं रह जाता। वह पुनः साधना में लग जाता है। फिर घबराहट हुई तो बोल देते हैं, "तुम्हारी साधना ठीक है, बस थोड़ी-सी वृत्ति रुकी हुई है।" सन्तोष प्रदान कर दिया, एक बूँद दे दिया। इसी प्रकार अलौकिक अनुभूतियों के द्वारा, अंग-स्पन्दन के द्वारा, ध्यानजनित दृश्यों के द्वारा, स्वप्न के द्वारा, आकाशवाणी के द्वारा ईश्वरीय संकेत का नाम 'राम' है। यह राम के अनुभूति की प्रारंभिक अवस्था है। राम बिना मुँह के बोलते हैं, ध्यान में बोलते हैं, हृदय एवं मस्तिष्क में बोलते हैं, मन में बोलते हैं- उस बोली का नाम राम है। वह बिना पैरों के चलते हैं, साधक के साथ-साथ चलते हैं, उनका नाम राम है। वह विज्ञान, अनुभवी उपलब्धि ही राम है। 'भव' कहते हैं संसार को और 'अनु' अतीत को कहते हैं अर्थात् भव से बाहर करनेवाली जागृति-विशेष (अनुभव) का नाम ही राम है। वह है उस परमात्मा की आवाज का हृदय में प्रस्फुटन! वह सन्देश भीतर सुनायी पड़ता है, दिखायी पड़ता है। इष्ट जब साधक की आत्मा से अभिन्न होकर जागृत हो जायँ, हृदय में दिखाई पड़ने लगें, पथ प्रदर्शन करने लगें, वही राम हैं। वह स्वयं 'आनन्द सिन्धु' और 'सुखराशि' हैं। **'सीकर तें त्रैलोक सुपासी'** एक बूँद भी जिस साधक को देता है, उसे त्रैलोक्य में सुपास दे देता है, निर्भय बना देता है। **'सो सुख धाम राम अस नामा।'**- वह सुख का धाम है उसका नाम राम है। **'अखिल लोक दायक विश्रामा'**- सम्पूर्ण लोक को विश्राम देनेवाला वही एक स्थल है। यही अनुभव चलते-चलते जब ईश्वर के समीप की अवस्था आ जाती है तो अनुभवगम्य स्थिति ही मिल जाती है। यह अनुभव साधक भक्त को अपने में विलय कर लेता है। यजनपूर्ण स्वर की सरयू है। राम सरयू में विलीन हो जाते हैं। राम कहीं चले नहीं जाते बल्कि श्वासरूपी सरयू में प्रविष्ट हो जाते हैं, हर श्वास के साथ रहते हैं। अवधवासी भी, साथ ही, सरयू में लीन हो जाते हैं अर्थात् अवध्य स्थिति, अजर-अमर, शाश्वत स्वरूप साधक को प्राप्त हो जाता है। यही राम की पराकाष्ठा है।

प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति से परे परमात्मा में लय हो जाय, उससे मिल जाय यही तो 'योग' है। एक में मिलने का नाम 'योग' है। दूध में जल मिल जाता है, शरीर से वस्त्र मिल जाता है, टार्च आपके हाथ से मिलती है, यह योग नहीं है। यह तो मैटर क्षेत्र की वस्तुएँ ही परस्पर टकरा रही हैं। पदार्थ पदार्थ से टकरा रहा है। योग तो दो भिन्न तत्त्वों का होता है। प्रकृति में स्थित जीवात्मा क्रमशः उत्थान करते-करते प्रकृति से भिन्न परमात्मा से मेल कर ले, वही योग है। प्रकृति नश्वर है, पुरुष शाश्वत है। दोनों दो भिन्न तत्त्व हैं। उनके मिलन और विलय का नाम 'योग' है। मिलन के साथ-साथ प्रकृति, जो कमजोर है, विलय हो जाती है और जो शाश्वत है वही शेष बचा रहता है। यही 'योगरूपी जनकपुर' है।

योगरूपी जनकपुर में ध्यानरूपी धनुष है। चित्तचढ़रूपी चाप है। चित्त के चांचल्य को तोड़ना ही चाप का तोड़ना है। जिस चित्त की चंचलता टूट जाती है ध्यान उसी से होता है-

नाथ संभु धनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा।। *(मानस, १/२७०/१)*

भगवन्! वह स्वयंभू धनु, स्वयं को उपलब्ध करानेवाला ध्यान, उस ध्यान में आनेवाली चंचलता को समाप्त करनेवाला विरला ही कोई आपका दास होगा। किसका दास? किसने पूछा था? एक महापुरुष ने पूछा था कि किसने तोड़ा, तो **'होइहि केउ एक दास तुम्हारा।'** चित्त चढ़रूपी चाप--जब चित्त के चांचल्य का क्रम टूट जाता है तहाँ वही स्थिति ध्यान में बँध जाती है। ध्यान की योग्यता आ जाती है। जब चित्त चलायमान ही नहीं तो ध्यान ही तो लगेगा। तुरन्त शक्तिरूपी सीता मिलती है। सीता कौन थी? राम की शक्ति थी। तो शक्तिरूपी सीता! जो अनादि शक्ति है वही अनुभवों (राम) में संचारित हो जाती है। विज्ञानरूपी राम! विज्ञान और अनुभव एक दूसरे के पर्याय हैं। पहले तो अनुभव आते हैं किन्तु वे क्षीण होते हैं। चार-छः महीने किसी महापुरुष का साथ करें तो कुछ-न-कुछ देखने लगेंगे। परन्तु प्रारम्भ में अनुभव अनियमित होते हैं। जान-बूझकर गलती करने पर अनुभवों का संचार बन्द भी हो जाता है। किन्तु जब चित्त के चांचल्य का निरोध हो जाता है तहाँ शक्तिरूपी सीता मिल जाती है। अनुभवों में शक्ति का संचार हो जाता है। फिर अनुभव में जो कुछ मिलेगा वह अकाट्य होगा। ऐसा अनुभव इष्ट का मौलिक निर्णय होगा।

फिर तो 'जागृतिरूपी जयमाला।' साधक जब पहले भजन करने बैठता है तो निद्रा आ जाती है किन्तु चित्त की चंचलता टूटने पर, अनुभवों में शक्तिरूपी सीता का संयोग

होने पर निद्रा का वेग मन्द पड़ जाता है। वह इस मोहनिशा से सचेत हो जाता है, नींद नहीं आती; क्योंकि लक्ष्य आगे दिखायी देने लग जाता है।

इस योगरूपी जनकपुर में भरत को माण्डवी मिली। भाव पहले खंडित होता रहता है। आज भाव है तो कल अभाव में परिणत हो जाएगा किन्तु चित्त की चंचलता समाप्त होते ही, अनुभवों में गति आ जाने पर माण्डवी मिलती है। पहले जो भाव खण्डित हो जाता था, वही भाव अब मण्डित हो जाता है। फिर टूटता नहीं, कभी नहीं टूटता।

विवेकरूपी लक्ष्मण को उनकी शक्ति उर्मिला मिली। पहले विवेक बौद्धिक स्तर पर होता है। क्या सत्य है, क्या असत्य है?- बुद्धि के द्वारा विचार कर निर्णय करना पड़ता है। विचार के द्वारा विवेकी बनना पड़ता है। किन्तु जब चित्त के चांचल्य की समाप्ति से ध्यान बँध जाता है तहँ फिर 'उरमिला'- विवेक हृदय से मिलने लगता है। बौद्धिक निर्णय लेने की आवश्यकता शिथिल पड़ जाती है। सत्य और असत्य का निर्णय इष्ट ही हृदय में कर देते हैं।

सत्संगरूपी शत्रुघ्न को उनकी शक्ति 'श्रुतिकीर्ति' मिली। सत् का संग सुमिरन से होता है। सुमिरन करते तो सभी हैं किन्तु इष्ट के चरणों में सुरति नहीं लगती। भजन करते समय शरीर अवश्य बैठा दिखायी देता है; किन्तु मन अन्यत्र भटकता रहता है।

जब तक इष्ट के चरणों में सुरत न लग जाय, उनका रूप हृदय में धारावाही दिखायी न पड़ने लगे तव तक सत्संग नहीं होता। योगेश्वर श्रीकृष्ण का निर्देश है कि, अर्जुन! काया, ग्रीवा और शिर को एक सीध में रखकर, दृढ़ होकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ, अन्य किसी भी ओर न देखता हुआ मुझमें चित्त लगावे और मेरे सिवा कुछ भी न देखे। (गीता, अध्याय ६) प्रारम्भ में तो ऐसा नहीं होता, किन्तु जब चित्त के चांचल्य का क्रम टूट जाता है तहँ 'सुरत कृत्य'- जो सुरत लगायी जाती थी उसमें कृतार्थता आ जाती है, सफलता मिल जाती है। इसीलिए श्रुतिकीर्ति के बिना शत्रुघ्न अपूर्ण हैं। सत्य की संगति करते-करते जब सत् और सुरत पूर्णतः तद्रूप हो जायेंगे तो मायिक विकारों का, चराचर के शुभ-अशुभ संस्कारों का समूलोच्छेद हो जायेगा। इस प्रकार भाव, विवेक, सत्संग, विज्ञान सभी एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं। साधना के समस्त सोपानों से क्रमशः पार होकर साधक अनुभवगम्य स्थिति ही प्राप्त कर लेता है। सर्वत्र राममयी स्थिति ही हो जाती है। यही राम का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न- महाराजजी! क्या राम हुए ही नहीं?

उत्तर- राम अवश्य हुए। ऐतिहासिक घटना घटी। वास्तव में राम एक महापुरुष थे, हुए थे, जिनके द्वारा आदर्श व्यवस्थाओं की स्थापना हुई, इसलिये वे मर्यादा पुरुषोत्तम

कहलाये। ऐतिहासिक बातें अपने स्थान पर सही हैं किन्तु जहाँ तक 'रामचरित मानस' का प्रश्न है, यह विलक्षण ग्रन्थ है। यह इतिहास मात्र नहीं है। यह लौकिक मर्यादा और पारलौकिक उपलब्धियों का अद्भुत समन्वय है। राम के जीवन-क्रम से हमें सांसारिक जीवन की सुव्यवस्थित मर्यादा मिलती है, तो उसी 'मानस' में साधना का सांगोपांग क्रम भी सुरक्षित है। 'मानस' साधनापरक ग्रन्थ है। इसे पढ़ने के लिए चर्मचक्षु नहीं, 'मानस चख चाही।' *(मानस, १/३८/६)* हृदय के नेत्रों की आवश्यकता है। वैसे, राम की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। हुए न होते तो दृष्टान्त कहाँ से बनता? आधार कहाँ से मिलता?

प्रश्न- महाराजजी! राम यदि अनुभवगम्य हैं तो जो लोग राम के चित्र का ध्यान करते हैं, उन्हें इष्ट मानकर उनकी मूर्ति पूजते हैं, क्या वह निरर्थक है?

उत्तर- नहीं, निरर्थक नहीं है। महापुरुष कोई भी हो, सदैव रहता है। क्योंकि कोई भी महापुरुष जब स्वरूप की उपलब्धि कर लेता है तो अजर-अमर हो जाता है। आप अत्रि का ध्यान करें, कृष्ण का ध्यान करें अथवा किसी भी महापुरुष का ध्यान करें, वे मिलेंगे और वर्तमान में जो महापुरुष हैं, उनकी सेवा करने का निर्देश दे देंगे कि वे मेरे ही रूप हैं, उनमें-मुझमें कोई अन्तर नहीं है, उनकी सेवा करो। उन अनुभवी महापुरुष की टूटी-फूटी सेवा से, उनके सान्निध्य एवं सत्संग से आपके अन्दर वह चेतना जागृत हो जायेगी जिससे आप अपने अन्तःकरण में परम प्रकाशक राम की अनुभूति प्राप्त करते जायेंगे, स्वयं राम बन सकेंगे, अनुभवगम्य स्थिति के होंगे। श्रीकृष्ण कहते हैं-

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। *(गीता, ७/२१)*

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, जिसकी श्रद्धा जहाँ झुकती है उसी देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ। मेरे ही विधान से उस देवता द्वारा वह पुरुष इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है।

।। ॐ ।।

'मानस' में नारी का स्वरूप

प्रश्न– *महाराजजी! गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' में स्त्रियों को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा है। प्रतीत होता है कि मानस में उन्होंने पुरुष के लिए पक्षपात किया है। इस पर आपके क्या विचार हैं?*

उत्तर– पूज्य परमहंस महाराज बताते थे– हो! एक बार मैं हरिद्वार में हर की पैंड़ी पर बैठा चिन्तन कर रहा था। थोड़ी ही दूर पर महिलाओं का एक शिविर लगा था। महिलायें वहाँ एकत्र हो रही थीं। समय-समय पर तालियों की गड़गड़ाहट भी सुनायी पड़ जाती थी। कुतूहलवश मैं भी चला गया। मंच पर अधेड़ महिला बता रही थी कि तुलसीदास की रामायण घर में रखना महिलाओं के लिये अपमानजनक है। कैसा लिख मारा कि **'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।'**– हम सब डण्डों और जूतों के अधिकारी हैं! ऐसा रामायण घर में रखना भी अपराध है। लिखा है, **'अवगुन आठ सदा उर रहहीं।'** देखो न! ये पुरुष दूध के धोये हैं, इनमें एक भी अवगुण नहीं और हम लोगों में आठ अवगुण सदैव रहते हैं। ऐसी रामायण फूँक देनी चाहिए।''– ऐसा कहकर जब वह रामायण को मेज पर पटकती, तो बड़े जोर की तालियाँ बजती थीं। उस सभा में स्कूल की छात्राएँ थीं, जो अबोध थीं। महाराजजी ने हम लोगों से बताया, ''हो! जब उन्हीं लोगों का गोल था तब हम क्या बताते।'' यद्यपि महाराज जी महापुरुष थे, वास्तविकता उनको विरासत में मिली थी, तथापि उस समय वे विरक्त स्वरूप में विचरण कर रहे थे। क्या प्रयोजन कि कौन क्या कह रहा है?

इन्हीं चौपाइयों को लेकर रामायण के पन्ने फाड़ने की घटनाएँ भी यत्र-तत्र सुनने में आती रहती हैं। संसद एवं विधानसभाओं में चर्चा होती है कि रामायण समत्व में बाधक है।

लिखा तो वास्तव में ऐसा ही है; लेकिन शास्त्र कोई विरला ही महापुरुष जानता है और उनके संरक्षण में कोई विरला अधिकारी ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं; क्योंकि पूरी की पूरी रामायण एक साबर मंत्र के रूप में है। कलियुग के भयंकर प्रवाह को आते देखकर भगवान शंकर ने विचार किया कि अब वेद इत्यादि संस्कृत-गर्भित पुरातन शास्त्रों से जीव का कल्याण सम्भव नहीं है, तब उन्होंने जगत् के परमकल्याण के लिये एक साबर मन्त्र का सृजन किया।

कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा।
साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।। (१/१४/५)

भगवान शंकर ने देखा कि कलियुग में मनुष्य की स्मृति भ्रमित है, बुद्धि विकल है, वह यथार्थ को सहसा ग्रहण नहीं कर सकेगा– इस तरह की विकृति देखकर भगवान शंकर ने जगत् के हित के लिये 'साबर मन्त्र' की रचना की। यह मंत्रजाल है कैसा?–

अनमिल आखर अरथ न जापू।
प्रकट प्रभाउ महेस प्रतापू।। *(१/१४/६)*

'अनमिल आखर'– न तो उसमें अक्षरों की संगति बैठती है, न अर्थ का ही विधान है और न उसके जप का ही क्रम है। ऐसा है मंत्रजाल! तब तो निरर्थक होना चाहिए? किन्तु निरर्थक नहीं है, **'प्रकट प्रभाउ महेस प्रतापू'**– शंकरजी के कृपा-प्रसाद से यदि कहीं प्रत्यक्ष प्रभाव है, कल्याण कर देने की क्षमता है, तो वह साबर मंत्र में ही है। जिनमें अक्षरों की संगति नहीं बैठती, न अर्थ का विधान है और न जप का ही सिलसिला है। सिद्ध है कि व्याकरण से उस साबर मंत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा में यदि बड़ी मात्रा के स्थान पर छोटी मात्रा लग जाय तो परीक्षक लाल लकीर खींच देते हैं, विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। इस साबर मंत्र में तो **'अनमिल आखर'**– अक्षरों की संगति ही नहीं बैठती। अतः अक्षरों की संगति बैठानेवाला अथवा भाषा का ज्ञाता, भले वह दस भाषाओं का ज्ञाता ही क्यों न हो, भाषा के बल पर इस 'मानस' को समझ नहीं सकता।

प्रश्न खड़ा होता है कि जब कलियुग में साबर मंत्र से ही जगत् का कल्याण सम्भव है तो तुलसीदासजी कौन-सी गाथा कहने जा रहे हैं? क्या वे इस साबर मंत्र से भिन्न कोई नयी कथा कहने जा रहे हैं? नहीं–

सो उमेस मोहि पर अनुकूला।
करिहिं कथा मुद मंगल मूला।। *(१/१४/७)*

उसी साबर मंत्र के रचयिता भगवान शंकर मुझ पर अनुकूल हैं। मैं उसी "मंगल मूल साबर मंत्र" की रचना करने जा रहा हूँ। अर्थात् यह पूरी की पूरी रामायण एक साबर मंत्र के रूप में है, जिसे भाषा के बल पर पहचाना नहीं जा सकता। इसलिए जो लोग समय-समय पर तर्क-कुतर्क करते हैं वह उनके लिए स्वाभाविक ही है। कुछ न करने से करनेवाला श्रेष्ठ होता है इसी बहाने वे कुछ पढ़ते तो हैं।

जब रामायण का समापन होने लगा तो प्रश्न खड़ा हुआ कि यह कहा किससे जाय?–

यह न कहिअ सठही हठसीलहि।
जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।। *(७/१२७/३)*

यह शठ से नहीं कहनी चाहिए, हठधर्मी से नहीं कहनी चाहिए। जो मन लगाकर नहीं सुनता उससे भी नहीं कहनी चाहिए।

कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।
जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।। *(७/१२७/४)*

यह लोभी से, क्रोधी से, कामी से नहीं कहनी चाहिए। यहाँ तक कि उपर्युक्त विकारों से युक्त इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली नरेश ही क्यों न हो, उससे भी नहीं कहनी चाहिए-

द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ।
सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।। *(७/१२७/५)*

भला जो इन्द्र के समान प्रतिभाशाली नरेश होगा तो वह हजारों पण्डित बैठाकर पढ़-सुन लेगा जबकि रामायण बाजार में मिलनेवाली पुस्तक है। फिर उससे न कहने का क्या अभिप्राय है? परन्तु नहीं, इस प्रकार भले ही कोई रामायण पढ़ ले, कण्ठस्थ कर ले, बाल की खाल निकालकर समझ ले, फिर जो समझने और समझाने वाली वस्तु है उससे वह पुरुष कुछ दूर ही खड़ा रहेगा। यह मानस है, साबर मंत्र के रूप में है।

कामी, क्रोधी, लोभी, मोही से यह रामायण नहीं कहनी चाहिए। कितने व्यक्तियों में ये विकार नहीं है? क्या आप में नहीं हैं? तो बताइये कहा किससे जाय? क्या हमारे लिए रामायण नहीं है? लेकिन है हमी-आप के लिए! हाँ, इन विकारों में ज्यों-ज्यों न्यूनता आयेगी, त्यों-त्यों रामायण आपकी समझ में ढलती जायेगी। इसके लिए तो नितान्त सुलझे हुए, अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य ही समझने का एकमात्र माध्यम है और रहेगा। जिनके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह का दबाव नहीं है वे ही इसके वास्तविक जानकार होंगे।

यही कारण है कि अबोध लोगों को 'मानस' में स्त्रियों की निन्दा दृष्टिगोचर होती है। वे 'मानस' के कतिपय प्रसंगों का उल्लेख करते हैं, जैसे- भरत ननिहाल से लौटकर आये, माता की करतूति पर विचार किया, तो बोले-- **भूँप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही।।** *(२/१६१/३)* राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया? नहीं, राजा का दोष नहीं है। ब्रह्मा जिसने सृष्टि की, वे भी नारी को नहीं जान सके। फिर राजा तो धर्म में रत और सरल स्वभाव के थे। वे भला त्रिया-चरित्र क्या जानते?

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।।
सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ।।
(मानस, २/१६१/४-५)

आगे कहते हैं-

काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ।। *(२/४७)*

ऐसी कौन-सी वस्तु है जो समुद्र में नहीं समाती? ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे आग जला नहीं डालती? कौन ऐसा प्राणी है जिसे काल खा नहीं लेता और कौन-सा ऐसा कृत्य है जो अबला नहीं कर डालती? अबला क्यों! वह तो साक्षात् काल है, समुद्र है, अग्नि है! इससे अधिक नारी-निन्दा क्या होगी? अतः विचारणीय है कि वह अबला है क्या बला? 'मानस' में नारी का स्वरूप क्या है?

नारी के लिये अन्यत्र कहते हैं-

बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बंसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना।। *(३/४३/८)*

बुद्धि, वल, शील और सत्य सभी मछली के तुल्य हैं और त्रिया उस कँटिया के समान है जिसे बच्चे चारा चिपकाकर पानी में फेंक देते हैं। जहाँ मछली ने पकड़ा तहाँ उठाकर बाहर पटक देते हैं। इस प्रकार स्त्री बुद्धि, बल, शील, सत्य इत्यादि के लिए काल ही है। 'मानस' में यहाँ तक लिखा गया है कि भगवत्पथ में यदि कोई रुकावट है तो केवल नारी ही है, अन्य कोई रुकावट है ही नहीं।

जप तप नेम जलाश्रय झारी।
होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।। *(३/४३/२)*

जप, तप, नियम भजन सभी जल के झरने हैं और नारी प्रबल ग्रीष्म के तुल्य है जो इन सम्पूर्ण झरनों को सुखा डालती है। जप-तप, यम-नियम, चिन्तन इत्यादि भगवत्-पथ के ही माध्यम हैं और यदि इनमें कहीं रुकावट है, सुखा डालने की कोई प्रक्रिया है तो वह एकमात्र नारी ही है। भगवत्-पथ में यदि कोई बाधा है तो केवल नारी!

जब नारी भगवत्-पथ में बाधा है, तो नारी के लिये भजन का विधान नहीं होना चाहिए? नारी रुकावट है तो स्वयं भजन क्या करेगी? जो दूसरों को डुबाती है वह स्वयं पार क्या जायेगी? किन्तु नहीं, नारी के लिये भी भजन का अधिकार पुरुषों के समान ही है--

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।। *(७/८७ क)*

पुरुष हो, नपुंसक हो, नारी अथवा नर हो- हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो- ऐसा नहीं कहा, क्योंकि--

अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया।। *(मानस, ७/८६/७)*

सम्पूर्ण विश्व भगवान की रचना है, सब पर समान दया है। इसमें से जो मद-माया का त्याग करके भगवान को भजता है वही उन्हें परमप्रिय है। सम्पूर्ण विश्व का अर्थ क्या भारत होता है? क्या यूरोप होता है? नहीं, सारा जगत्! जगत् का कोई भी पुरुष हो, नपुंसक हो, नारी हो अथवा नर हो, सम्पूर्ण भावों से सिमटकर, कपट का त्याग करके जो भजता है; भगवान कहते हैं, वह मुझे परमप्रिय है। प्रिय ही नहीं, परमप्रिय है। इस प्रकार माताओं के लिये भी भजन का उतना ही विधान है जितना पुरुषों के लिये। नारी के लिये पहले तो भजन का विधान नहीं होना चाहिये था क्योंकि वे ही तो साक्षात् बाधा हैं; किन्तु उन महापुरुष के शब्दों में विधान भी समान है तब तो कम से कम नारियों के लिये भजन में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए **'मोह न नारि नारि कें रूपा।'** *(मानस, ७/११५/२)* परन्तु बाधा भी समान ही दिखायी पड़ती है; क्योंकि जप-तप-नियम स्त्री का हो या पुरुष का, उसे सुखानेवाली नारी ही है। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियों के भजन में बाधाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक हैं। पुरुष भजन करता है तो बाधाएँ कुछ कम हैं; क्योंकि यदि स्त्रियाँ पुरुष के मार्ग में बाधक बनती हैं तो मात्र हाव-भाव से साधक की बुद्धि विकृत करती हैं। जब साधक स्वयं विचलित होता है तभी नष्ट हो जाता है; किन्तु पुरुषों में बलात्कार का एक दोष अधिक है जो स्त्रियों में नहीं पाया जाता। बहुत-सी अटूट श्रद्धावाली महिलायें इन अभागों के कारण अपने भजन-पथ से च्युत हो जाती हैं। इसीलिये पूर्व मनीषियों ने माताओं के लिये घर में ही रहकर भजन करने का विधान रखा। उन्हें परिवार के संरक्षण में रहकर अनवरत चिन्तन में समय देना चाहिये। बाहर रहकर भी उनके भजन का विधान है; किन्तु जब क्षमता आ जाय तभी। जब वे अपने बचाव की क्षमता प्राप्त कर लें तभी उन्हें गृह-त्याग करना उचित है। सीता, नर्वदा, अनुसुइया, मीरा, शबरी इत्यादि ने भगवान को इतना अनुकूल कर लिया था कि उन पर विघ्न आये परन्तु असफल हो गये। मीरा के ऊपर बड़े-बड़े उपद्रव आये- राणा ने साँप भेजा, विष भेजा; किन्तु एक समय ऐसा आ ही गया कि मीरा ने राणा को ललकार दिया-

राणो जी! मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
औरों के पिया परदेश बसत हैं, लिख लिख भेजत पाती।
म्हारे पिया म्हारे हिये बसत हैं, नहि कहुं आती जाती।।

अब तक तो बाधायें पहुँचायी, किन्तु अब भगवान क्षमा नहीं करेंगे। राणाजी ने चरणों में प्रणाम किया और फिर उन्हें कोई कष्ट न दिया। अस्तु, जिस नारी पर गोस्वामीजी बार-बार बल देते हैं, वे ये नारियाँ नहीं हैं। फिर कौन-सी हैं?--

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।। *(मानस, ३/४३)*

काम, क्रोध, लोभ इत्यादि मोह की धारायें हैं, जिनमें अत्यन्त दुखदायी मायारूपी नारि है। माया ही नारी है। स्त्रियाँ भजन करती हैं तो माया ही बाधक है। पुरुष भजन करते हैं तब भी माया ही बाधक है। माया क्या है? इन्द्रियों की विषयमयी तरंगें, मनसहित इन्द्रियों का संसार। न कि संसार-सागर में कहीं जल भरा है जिसमें डूब जाओगे। माया तो लम्बी-चौड़ी है, जो कुछ दिखायी-सुनायी पड़ता है माया है; लेकिन हमारे-आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है जितना हमारे चित्त की प्रवृत्तियाँ विकृत अथवा उन्नत हैं। कारण यह है कि माया जिस माध्यम से पुरुष पर आक्रमण करती है वह माध्यम 'चित्त' है। जिस महापुरुष ने इस चित्त की वृत्ति का निरोध कर लिया उसके ऊपर से माया का प्रभाव सदा-सदा के लिये टल गया। माया ने जहाँ पिण्ड छोड़ा, वे द्रष्टा-स्वरूप में स्थित हो गये।

इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से 'चित्तवृत्ति' ही नारी है। भजन में तल्लीन साधक की 'चित्तवृत्ति' जब विषयोन्मुख होती है, संगदोष से साधन छोड़कर किसी इन्द्रिय के पीछे बह जाती है, विषय के चिन्तन में डूब जाती है, उस समय-

दीप सिखा सम जुबति तन, मन जनि होसि पतंग।। *(मानस, ३/४६ ख)*

उस क्षण यही चित्तवृत्ति तरुण होती है, दीप-शिखा के समान होती है और निश्चित जला डालती है। आज नहीं, यहाँ नहीं, तो अवसर मिलते ही कहीं ले जाकर पटक देती है- **'शृंगी की भृंगी करि डारी, पराशर के उदर विदार।।'** जब यह चित्तवृत्ति किसी विषय को लेकर उसी के चिन्तन में सराबोर हो चलती है और भजन का क्रम टूट जाता है तब **'दीप सिखा'**- यह पूर्ण युवा होती है, जला देनेवाली होती है। उस समय न बुद्धि बचेगी, न बल बचेगा, न भजन बचेगा और न योग-युक्ति ही बच पायेगी। **'मन जनि होसि पतंग'**- रे मन! तू पतंगा न हो जा। काम, क्रोध, मद इत्यादि को छोड़कर **'करहु सदा सतसंग'**- इस दीपशिखा से यदि चित्तवृत्ति को बचाना है तो सदैव सत्संग करो।

सत्संग दो प्रकार का होता है। एक सत्संग तो वह है जिसे आप महापुरुषों से सुनते हैं। दूसरा सत्संग सूक्ष्म और क्रियात्मक है जो चिन्तन-ध्यान और समाधि के द्वारा सम्पन्न होता है; क्योंकि **'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत् पसार'**- सत्य वस्तु तो आत्मा है, उसका संग ही सत्संग है। सब ओर से चित्त को समेटकर उस आत्मा की संगति करना, उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना, उस आत्मा के साथ रहना ही वास्तविक सत्संग है। अतः सब ओर से चित्त समेटकर उन चरणों में लगाने से ही 'दीपशिखा' से रक्षा सम्भव है।

'दीपसिखा सम जुबति तन' *(मानस, ३/४६ ख)*- यदि सांसारिक युवतियों की बात होती तो पिता के सामने प्रथम पुत्री युवती ही होती है, भाई के लिए बहन युवती ही होती है, वह तो कहीं खरोंच नहीं मारती! कितना स्नेह रहता है! कितनी सहृदयता रहती है कि जब तक जीवन है, दोनों का स्नेह समाप्त नहीं होता। प्रथम पुत्र के समय माता भी युवती ही होती है लेकिन वह पुत्र को जला नहीं डालती? वह मातृस्नेह आजीवन रहता है और माँ के मरने पर भी नहीं भूलता। अभी कल-परसों ही एक को बिच्छू ने डंक मार दिया। कराह रहा था, "अरे माई रे! अरे माई रे!" था एकदम वृद्ध किन्तु माँ का स्नेह आज भी उसके मन में कसक रहा है। इस दृष्टि से युवतियों का तन 'दीपसिखा सम' कहाँ है? वस्तुतः चित्तवृत्ति जब किसी विषय की तरंग लेकर उसमें ओत-प्रोत हो चलती है तब वह युवा होती है, विकराल रूप धारण कर लेती है और दीप-शिखा के समान मानव (स्त्री-पुरुष दोनों मानव हैं) को पतंगे की तरह जला डालने में सक्षम होती है। ऐसी परिस्थिति में इससे बचने के लिए सत्संग ही एकमात्र माध्यम है। गोस्वामीजी जिस नारी से बचने पर बल देते हैं, वह आन्तरिक ही है, बाहर से उसका कोई प्रयोजन नहीं है।

जब तक यह चित्तवृत्ति जीवित है तब तक **'अवगुन आठ सदा उर रहहीं।'** *(मानस, ६/१५/२)* आज कदाचित् मन केन्द्रित लगता है, श्वास का यजन सुचारु रूप से हो रहा है किन्तु प्रारम्भ में मन की ऊपरी सतह ही केन्द्रित रहती है, भीतर तो संस्कारों की रील (राशि) भरी है। जब भी उन संस्कारों का अभ्युदय होगा, चित्तवृत्ति युवा हो जायेगी। उस समय दुःसाहस, असत्य, चंचलता, कपट, भय, छल-छद्म, अविवेक, अभ्यान्तरिक मलिनता और कठोरता इत्यादि विकार चित्तवृत्ति में विद्यमान रहते हैं।

इसी सन्दर्भ में इस बहुचर्चित चौपाई पर विचार करें-

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी।। *(मानस, ५/५८/६)*

'ताड़ना के अधिकारी' - लोग इसका आशय लगाते हैं कि सभी डण्डे के अधिकारी अथवा जूतों के अधिकारी अथवा मारने-पीटने के पात्र हैं। यह एक भ्रान्ति है। 'ताड़न' का तात्पर्य परखने से है। आये दिन लोग कहा करते हैं कि "भाई, हम तो पहले ही ताड़ गये थे कि आज बदली का रूख खराब है, बीज न छिड़को।", "हम पहले ही ताड़ गये थे कि वह क्या कहनेवाला है?" इत्यादि। ढोल 'ताड़न' के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है।

'ताड़न' का अर्थ पीटना मानें तो किसी को दीजिये ढोल, पीटना आरम्भ करे! आप कहने लगेंगे, भाई! रहने दो, दिमाग मत खराब करो। रख दो! प्रचलित अर्थ में वह ताड़न ही तो करता है, लेकिन किसी को अच्छा नहीं लगता। किन्तु वास्तविक अर्थों में यदि कोई कलाकार है, ढोल की सम्पूर्ण कलाओं को जिसने ताड़ लिया है तो 'किटधिन्न, ताता धिन्ना'' ताल बढ़ाते-बढ़ाते १६वें ताल तक सबको मुग्ध कर लेगा, समा बँध जायेगी। इस प्रकार 'ताड़न' का आशय जानकारी का होना या विशेषज्ञ होना है।

गँवार से काम करा लेना, उसे सत्पथ पर चला देना भी सबके वश की बात नहीं है और न तो वह मारने, पीटने से ही वश में किया जा सकता है। सहसा किसी कार्य को करने के लिये वह तैयार ही नहीं होता। यदि आप उससे कहें कि सभ्य आदमियों की तरह क्यों नहीं रहते, तो तुरन्त कह देगा कि अपनी सभ्यता अपने पास रखें। परन्तु जो व्यक्ति उनकी गतिविधियों से परिचित है, मनोविज्ञान का विशेषज्ञ है, वह क्रमशः उसका उत्थान करते-करते सुयोग्य बना देगा। गँवारों को ताड़ना-परखना भी अधिकारी के क्षेत्र की वस्तु है। डाकू अंगुलिमाल इतना क्रूर और असभ्य था कि मानव अंगुलियों की माला पहनता था; किन्तु गौतम बुद्ध से टकराते ही वह दानव से मानव बन गया। क्रूर, गँवार भी सुधर गया। बुद्ध ने डण्डा नहीं मारा था अपितु उस क्षेत्र के ताड़क थे, विशेषज्ञ थे। उस कला का प्रयोग करके उन्होंने अंगुलिमाल को सत्पथ पर प्रवृत्त कर दिया।

इसी प्रकार शूद्र भी अधिकारियों के ताड़न का विषय है। शूद्र का तात्पर्य चमार या हरिजन नहीं होता, जैसा कि वर्तमान में प्रचलन है। आध्यात्मिक जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम साधकों के चार भेद मात्र हैं। शूद्र का अर्थ है- बहुत छोटा, तुच्छ। मान लीजिये हम छः घंटे भजन करने बैठते हैं किन्तु सांसारिक विषयों में अनुरक्त मन हवा से बातें करता है और दस मिनट भी हम उसे एकाग्र अपने पक्ष में नहीं पाते। सिद्ध है कि चिन्तन-पथ में हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। वहाँ हम तुच्छ हैं, शूद्र हैं, अल्पज्ञ हैं। अल्पज्ञ का क्रमशः उत्थान करके उसे विज्ञ बना देना किसी ताड़क अर्थात् विशेषज्ञ के क्षेत्र की बात है। जो स्वयं विज्ञ है वही विज्ञ बना सकता है क्योंकि वह उन घाटियों से गुजर चुका है, उस पथ के प्रत्येक उतार-चढ़ाव को उसने ताड़ा है, परखा है। इसी सन्दर्भ में एक कथानक का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। किसी राजा के चार कुमार शूद्र प्रकृति के थे। विद्वानों ने बहुत प्रयास किया किन्तु वे पढ़ते ही न थे। राजा ने घोषणा करायी कि क्या कोई ऐसा विद्वान् है जो रात-दिन हँसने-खेलनेवाले गँवारों को शिक्षित बना सके? विद्वान् तो हजारों थे

किन्तु इस चुनौती को स्वीकारनेवाला एक ही निकला; क्योंकि वह मूर्ख, गँवार, अल्पज्ञों के उन्नयन में पारंगत था। उसने छोटी-मोटी कहानी सुनाना प्रारम्भ किया। बालकों का मन लगने लगा। उनका उत्साह बढ़ा तो वे गुरुजी से आगे की घटना को सुनाने का आग्रह करने लगे। सुनते-सुनते एक दिन वे पूर्ण विद्वान् बन गये। ऐसी ही कथाओं का संकलन विष्णु शर्मा के 'पंचतंत्र' में मिलता है। जिसमें रीति-नीति, राजनीति, लोकनीति, भेदनीति इत्यादि का अद्भुत समन्वय है। डण्डे के बल पर ऐसे बालकों को सुधारना कदापि सम्भव न था। अतः गँवार तथा शूद्रों का उदात्तीकरण भी विशेषज्ञ के क्षेत्र की वस्तु है।

इसी क्रम में पशु भी ताड़न के अधिकारी हैं। हाथी पशु है। ताड़न का अर्थ यदि पीटना है तो मारिये डण्डा, वह उलटकर चढ़ बैठेगा, चीरकर फेंक देगा; भले आप कितने ताकतवर क्यों न हों। परन्तु यदि कोई कलाविद है, उसकी कला का अधिकारी है तो वह "चैधत, अगत, मल" कहता हुआ उसे उठायेगा, बैठायेगा, आगे बढ़ायेगा, पीछे हटायेगा, घुमायेगा, दो पैरों पर खड़ा करेगा और यहाँ तक कि उससे जमीन से सुई उठवा लेगा। साधारण-सा पीलवान ऐसा कर लेता है, हम-आप नहीं कर पायेंगे। क्यों? क्योंकि वह उसकी कला का विशेषज्ञ है। भैंस दूध देनेवाली जानवर है। जब पशु ताड़न के अधिकारी हैं तो लगाइये डण्डा। आज यदि पाँच किलो दूध देती है तो कल तीन किलो ही देगी। किन्तु ग्वाला जो उसकी गतिविधियों से अवगत है, खली-भूसी खिलाकर, नहलाकर, सहलाकर उसका दूध पाँच से बढ़ाकर सात किलो कर लेगा। ऐसा ग्वाला पशुओं के ताड़ने का अधिकारी है। पशु उसके क्षेत्र की वस्तु है। सबके क्षेत्र की वस्तु नहीं है। अनधिकारियों के खूंटे पर तो वह सूख जाते हैं।

ठीक इसी तरह 'मायारूपी नारि' भी है। पूर्वोक्त प्रकरण के अनुसार माया तो लम्बी-चौड़ी है- **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** *(मानस, ३/१४/३)* जो भी दिखाई-सुनाई देता है, माया है; किन्तु व्यक्ति पर उसका उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि चित्तवृत्ति केन्द्रित अथवा विकृत है। जनसाधारण के लिये माया पूरे वेग पर है किन्तु योगियों के लिये कम है; क्योंकि चिन्तन में केन्द्रित होने के कारण उनकी चित्तवृत्ति निरोध की ओर है। माया जिस माध्यम पर अंकित होकर आक्रमण करती है वह है चित्तवृत्ति। अतः चित्तवृत्ति ही नारी है। अब इस विकृत चित्तवृत्ति को निरुद्ध कर देना, शनैः-शनैः उसका उत्थान कर चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना तथा 'मायारूपी नारि' से पार दिलाना किसी सद्गुरु के अधिकार-क्षेत्र की वस्तु है; क्योंकि वे महापुरुष उस रास्ते से गुजरे हुए हैं। आरम्भिक अवस्था से क्रमशः चलते हुए उन्होंने

पूर्ण निरोध तक की घाटियाँ पार की हैं। इसलिये वे इस क्षेत्र के विशेष ज्ञाता हैं। जिन्होंने भी इस चित्तवृत्ति का पार पाया है सद्गुरु के ही आधार पर पाया है-

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई।। *(मानस, ७/९२/५)*
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।। *(मानस, ७/४३/८)*

इस मायारूपी नारी का अन्त उनके बल पर ही सम्भव है। सद्गुरु ही साधक के हृदय में जागृत हो जाते हैं और उनके संरक्षण में चलनेवाला साधक मायारूपी नारी से पार पा जाता है। चलना तो साधक को ही पड़ता है किन्तु साधक जो पार होता है वह उन्हीं सद्गुरु की ही देन है। हल का भार बैलों पर होता है, किन्तु बैल नहीं जोतते, हलवाहा जोतता है। हल के पीछे रहकर वह बैलों को संचालित करता है, उन्हें सही दिशा देता है। इसी प्रकार साधना का समस्त भार साधक पर ही रहता है, किन्तु उसके द्वारा जो पार लगता है, वह उन्हीं प्रेरक की देन है अन्यथा साधक को कैसे ज्ञात होगा कि वह सही दिशा में बढ़ रहा है अथवा नहीं।

'करत करावत आप हैं, पलटू-पलटू शोर।' करते-कराते स्वयं सद्गुरु हैं किन्तु नाम उसका होता है जिससे कराते हैं। साधक अपने बल पर नहीं, बल्कि तत्त्वदर्शी सद्गुरु के कृपा-प्रसाद से चित्तवृत्तिरूपी नारी अथवा मायारूपी नारी का पार पा सकता है।

नोट- प्रेरक के रूप में सद्गुरु और भगवान एक दूसरे के पूरक हैं।

सज्जनो! अब तो आप इस प्रसंग को समझ गये होंगे। बतायें- भगवत्-पथ में बाधा कौन है?

श्रोतागण- महाराजजी, भजन करते समय पुरुष के लिए नारी बाधा है और नारी के लिये पुरुष।

महाराजजी- तब तो आप जहाँ के तहाँ रह गये। देखिये, शरीर तो रहने का एक मकान मात्र है। आत्मा न तो स्त्री है न तो पुरुष, वह न तो स्त्रीलिंग है और न पुलिंग। वह तो निर्लेप है। स्त्री-शरीर से भजन किया जाय अथवा पुरुष-शरीर से, बाधक चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति ही नारी है। चित्तवृत्ति और विषय के संयोग से भावनाओं का चित्रण होता है, साथ ही उसकी क्रिया शरीर में भी उभर आती है। संसार में स्त्री-पुरुष के संयोग से केवल काम का सृजन होता है, जबकि भगवत्-पथ में काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि माया की सैकड़ों धाराएँ हैं। अकेला काम ही तो रुकावट नहीं है, हाँ वह

भी एक अंग मात्र अवश्य है। मोह एक अलग शत्रु है, तृष्णा एक अलग शत्रु है, सभी माया के अंग-प्रत्यंग हैं। सामान्य नारी से तो सभी व्यक्त नहीं होते। अतः केवल स्त्री ही माया कैसे हो गई? स्त्री के लिये पुरुष ही सम्पूर्ण माया कैसे हो गया? इनके पारस्परिक सम्पर्क से अनन्त विकारों में से केवल एक विकार 'काम' का ही खतरा है। अन्य विकार तो अपने जगह पर बने ही हैं। अतः चित्तवृत्ति ही नारी है। वही माया है। न पुरुष माया है, न स्त्री माया है। चित्त की प्रवृत्ति ही माया है।

जहाँ तक इस प्रवृत्ति के निरोध का प्रश्न है, यह ताड़न के क्षेत्र की वस्तु है अर्थात् जो तत्त्वदर्शी महापुरुष उसका पार पा चुके हैं, जिनकी चित्तवृत्ति बाधक न रहकर विलीन हो चुकी है, ऐसे तपोधन ही उसके ताड़क हैं, विशेषज्ञ हैं। नारी उनके अधिकार-क्षेत्र की वस्तु है और वे ही इस नारी से आपको छुटकारा दिलाने में समर्थ हैं। गीता के अनुसार, इसके निरोध के लिये अनुभवी महापुरुषों का सत्संग, एकान्त देश का सेवन, यौगिक क्रियाएँ और चिन्तन परम आवश्यक है।

।।ॐ।।

नारियों को समान अधिकार

प्रश्न– महाराजजी! आजकल नारियों के समान अधिकार की बड़ी चर्चा है। यह कहाँ तक उचित है?

उत्तर– हाँ, चर्चा तो बड़ी जोरदार है। स्त्रियों की एक सभा हो रही थी। अध्यक्षीय भाषण चल रहा था कि स्त्रियों के अधिकार भी पुरुषों के समान हैं। हमें पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहिए। इतना सुनते ही एक आधुनिका ने प्रश्न किया कि हमारे पतिदेव तो कुछ ऊँचे पड़ते हैं, कन्धे से कन्धा कैसे मिलाऊँ? अध्यक्षा ने व्यवस्था दी– बहनजी! आप ऊँची एँड़ीवाली जूती खरीद लीजिए! इस प्रकार बराबरी का प्रयास तो बहुत चल रहा है। बराबरी ही क्यों, कुछ महिलायें तो पुरुषों को नौकर तक बना लेना चाहती हैं। अभी उस दिन किसी पत्रिका में एक 'कार्टून' प्रकाशित हुआ था– आधुनिक सभ्यता में पली किसी लड़की ने अपने 'रिंग लीडर' से कहा कि मुझे एक ऐसे नौकर की आवश्यकता है जो भोजन बनाए, मालिश करे, घर की सफाई करे, कपड़े धोये, क्रोध आने पर मेरी मार तक सह ले। उत्तर मिला कि ऐसा नौकर तो शादी के बाद ही मिलेगा।

स्त्रियों में ही एक सनक सवार हो, ऐसी बात भी नहीं। पाश्चात्य विलासिता में अनुरक्त पुरुषों का एक वर्ग इस माँग को नारियों के नाम पर उछालकर अपने को उनका हितैषी प्रमाणित करना चाहता है। एक भारतीय युवक को पाश्चात्य सभ्यता इतनी पसन्द आई कि देश, परिवार के लोग उसे असभ्य और गँवार प्रतीत होने लगे। पत्नी से उसने घूँघट उठाकर अपने साथ 'डान्स' करने को कहा; किन्तु भारतीयता में पली पत्नी ऐसा न कर सकी। युवक ने सोचा कि भारत में रहकर जीवन का भरपूर आनन्द नहीं लिया जा सकता। अतः वह अपनी पत्नी के साथ अमेरिका चला गया। वर्षों वहाँ रहकर अपना जीवन सफल करता रहा। यूरोप के विभिन्न देशों में घूमकर नयी सभ्यता के तौर-तरीकों से परिचित होता रहा। जेब हल्की हो गयी, तो सोचा अब वापस चलकर देखें कि भारत में कितनी प्रगति हुई। विदेशों में भारत के महात्माओं का बड़ा नाम सुना था। उनसे भी मिलने का शौक चर्राया।

जहाज से भारतीय भूमि पर कदम रखते ही युवक ने देखा कि बहुत से लोग प्रयाग के कुम्भ मेले में जा रहे हैं। युवक ने विचार किया कि मेले में महात्माओं के दर्शन भी होंगे। अतः वह पत्नी के साथ माघ मेले में चला आया। त्रिवेणी का तट महात्माओं के कैम्प और धूनियों से खचाखच भरा था। युवक अपनी पत्नी के साथ जहाँ-तहाँ

घूमता-फिरता एक महात्मा के पास पहुँचा। कमर से दो इञ्च आगे झुककर प्रणाम किया, बोला- "महात्माजी! हमको भी थोड़ा उपदेश कर दीजिए।" महात्माजी ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा, सोचा इसे बतावें भी तो क्या? मुस्कराये, बोले- रामायण पढ़ा करो। युवक ने कहा- वाह रे, महाराज! आपने तो विचित्र उपदेश दिया। विश्व का ऐसा कौन-सा शब्दकोश है जो हमें कण्ठस्थ न हो। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों की पोथियाँ हमने उलट डालीं। रामायण किस खेत की मूली है। बस हो गया कल्याण! आपने तो अच्छा उपदेश दिया। पुनः दो इञ्च झुककर प्रणाम किया, यहाँ-वहाँ मेला देखा और ट्रेन पकड़कर अपने स्टेशन पर उतरा, किन्तु पत्नी कहीं दिखाई नहीं पड़ रही थी।

अब तो वह युवक प्रत्येक डिब्बे में 'पुष्पा, पुष्पा' पुकारने लगा परन्तु पुष्पा वहाँ हो तो बोले, वह तो इलाहाबाद स्टेशन पर ही छूट गयी थी। माघ के मेले में भीड़ ही इतनी अधिक होती है कि लम्बी भीड़ में धक्के खाते हुए ट्रेन तक पहुँच पाना सबके लिए सम्भव नहीं होता। युवक तो बन्दरों की तरह कूदता-फाँदता किसी प्रकार डिब्बे में पहुँच गया। उसकी पत्नी बेचारी नहीं चढ़ सकी थी। उस भीड़ में वह कैसे धक्के खाती? उधर युवक अपने स्टेशन पर 'पुष्पा, पुष्पा' जप रहा था। सोचा, पत्नी तो गयी। अमेरिका इत्यादि पाश्चात्य देशों में स्त्री खोने का अर्थ ही कुछ दूसरा है। पत्नी जब गायब होती है तो लौटकर वापस नहीं आती, दूसरा पति कर लेती है। दूसरा स्थान पसन्द न आने पर तीसरे स्थान पर दिखाई देती है और भूतपूर्व पति महोदय हाथ मलते रह जाते हैं। इन्हीं आशंकाओं से ग्रस्त युवक ने प्रत्येक डिब्बे में अपनी पत्नी को पुकारा। स्टेशन में जाकर कानूनी कार्यवाही की और जाड़े में भी पसीने से तर वह पुनः ट्रेन की ओर दौड़ने लगा, जो अब छूटने ही वाली थी।

रास्ते में ही प्रयाग वाले महात्मा हाथ में कमण्डल लिए दिखाई पड़े। वे डिब्बे से उतरकर धीरे-धीरे स्टेशन की ओर बढ़ रहे थे। युवक ने पहचाना, प्रणाम किया और बोला, "महात्माजी, हमारी 'वाइफ' गायब हो गयी।" महात्मा ने पूछा, "बेटा! वाइफ क्या होता है?" युवक ने बताया, "महात्माजी! पत्नी खो गयी। क्या करूँ?" महात्मा ने कहा, "बेटा रामायण पढ़ा करो।" युवक ने चिढ़कर कहा, "वाह! हमारा तो सर्वनाश हो गया और आपको अभी रामायण की सनक लगी है।" महात्मा ने समझाया, "बेटा यदि तूने रामायण पढ़ी होती तो आज यह दुर्घटना न होती। रामायण में लिखा है, **'सियहिं चढ़ाइ चढ़े रघुराई।'**- जब भगवान राम वनवास के समय नाव पर चढ़ने लगे, सीताजी का हाथ पकड़कर पहले उन्हें नाव पर बिठाया, फिर स्वयं बैठे। घर में स्त्रियों का कर्तव्य है कि पुरुषों की सेवा करें और घर से बाहर पुरुषों का कर्तव्य है कि पत्नी की सेवा,

देखभाल करे। तू तो बन्दर की तरह ट्रेन में चढ़ गया। वह अबला, अपार भीड़ में कैसे ट्रेन में चढ़ पाती। तू अकेला क्यों चढ़ गया?'' युवक ने कहा, ''महात्माजी, विदेशों में स्त्रियों को समान अधिकार है। मैंने सोचा कि ट्रेन पर जितने अधिकार से मैं चढ़ गया, उतना ही अधिकार तो पुष्पा का भी है। इसलिए मैंने उसकी प्रतीक्षा नहीं की। सोचा था, वह भी चढ़ गयी होगी। महाराजजी! आपकी रामायण तो सचमुच दर्शनीय है। आज से मैं उसका पाठ अवश्य करूँगा। लेकिन, महाराजजी दया करें! वह मिलेगी कि नहीं?'' महात्मा ने कहा, ''पहले पाठ तो करो, वह तो मिली-मिलाई है।'' युवक ने उसी दिन से पाठ प्रारम्भ कर दिया। उसकी पत्नी बेचारी कहाँ जाती। दो-एक दिन पश्चात् भीड़ कम होने पर ट्रेन में जगह मिलते ही वह भी चली आई। अब तो युवक की आँखें खुल गयीं और वह रामायण की शिक्षाओं पर सोत्साह चलने लगा। वैसे भी, रामायण परमकल्याणकारक ग्रन्थ है, विश्व में उसकी मान्यता है। यहाँ तो समान अधिकार के सन्दर्भ में उसका दृष्टान्त मात्र दिया गया है। स्त्रियों को आधुनिका बनाने में पुरुषों का दोष भी कम नहीं है।

समान अधिकार का आकर्षण नयी शिक्षा पानेवाले युवक-युवतियों में विशेष पाया जाता है। संयोग से एक दम्पति बी०ए० थे। पति-पत्नी दोनों ही समान शिक्षित थे। दोनों को समान पद भी प्राप्त हो गया। दोनों साथ-साथ रहते-खाते थे। एक दिन प्रातः 'बेड टी' आयी तो पत्नी चाय में चीनी डालना भूल गयी थी। साहब ने चाय होठों से लगाया और फीकी लगते ही कप उठाकर फेंक दिया। अपनी बनायी चाय का अपमान देख पत्नी तमतमाकर अन्दर गयी और पूरा टी सेट उठाकर पटक दिया। साहब का होश तुरन्त ठिकाने आ गया, बोले- अरे, अरे! यह क्या कर रही हो? कप-प्लेट क्यों तोड़ डाला? पत्नी ने कहा- आपने क्यों तोड़ा? साहब ने सफाई दी कि चाय में चीनी नहीं थी। पत्नी ने कहा- तो आप न पीते। आपको कप फेंकने का अधिकार है तो मुझे भी समान अधिकार है, आप बी०ए० पास हैं तो मैं भी बी०ए० पास हूँ।

बात बढ़ती गयी। दोनों के पक्षपाती स्त्री-पुरुष एकत्र होते गये। विवाद का अन्त न होते देखकर किसी ने एक महात्मा से इस विवाद के निर्णय का प्रस्ताव रखा। सभी महात्मा के पास पहुँचे। अपना-अपना पक्ष रखा। महात्मा ने कहा कि समान अधिकार अवश्य होना चाहिए; किन्तु माताओं और बहनों, इसके लिए आपको एक कदम और आगे बढ़ना होगा। देखिए, आप नौ महीने पेट में बच्चे का भार वहन करती हैं। मिचलियाँ आती हैं। कभी-कभी प्रसव के समय मृत्यु भी हो जाती है। माताओं को असह्य दुःख झेलना पड़ता है, **'ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव, अति दारुन दुख उपजै।'** *(विनय*

पत्रिका, ६६)- दारुण दुःख उठाना पड़ता है। जब समान अधिकार है तो यह दुःख अकेले ही क्यों झेलती हो? पतिदेव से कहो कि साढ़े चार माह तक इस दुःख में अपना भाग स्वयं वहन करें। प्लेट तो आपने एक के स्थान पर छः फोड़ डालीं! लेकिन इसे कैसे बाँटोगी? ईश्वरीय व्यवस्था में कोई उलट-फेर कैसे कर लेगा?

हाँ, जहाँ तक व्यावहारिक दृष्टि के समान अधिकार का प्रश्न है, भारत में सदैव समान अधिकार रहा। पार्वतीजी को शंकर की अर्धांगिनी कहा जाता है। अर्धांगिनी का तात्पर्य है समान अधिकार। भारतीय दर्शन में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार सदैव रहा है। अन्तर इतना ही है कि घर से बाहर का कार्य पुरुषों को सौंपा गया और घर के भीतर की व्यवस्था स्त्रियों का कर्तव्य माना गया। बाहर से धन कमाना, वस्तुओं का संग्रह करना पुरुषों पर भारित है और संग्रह की हुई वस्तु की साज-सँभार, सुव्यवस्था और सदुपयोग स्त्रियों पर आधारित है; क्योंकि घर से बाहर रहकर धनोपार्जन करना स्त्री-प्रकृति के प्रतिकूल है। मासिक धर्म या गर्भावस्था इत्यादि उनके कर्तव्य में बाधक हैं। स्त्रियाँ बाहर कार्य करें तो इन अवसरों पर कार्य स्थगित रखना पड़ेगा। सैनिक एवं प्रशासनिक कार्य भी उनके लिए सुविधाजनक नहीं है। पुरुषों द्वारा बलात्कार का भय अलग बना रहता है, यहाँ तक कि माता सीता चोरी चली गयीं। इसीलिए स्त्रियों को पुरुष के संरक्षण में घर के भीतर की व्यवस्था सौंपी गयी। यद्यपि शुभ कार्यों में वे सदैव साथ रहीं। सीता वन के कंटकाकीर्ण पथ में साथ गयीं। कैकेयी ने युद्ध में दशरथ का साथ दिया।

वस्तुतः जीवन के दो पहलू हैं- एक धनोपार्जन, वस्तु-संग्रह और दूसरा संग्रह की हुई वस्तु का सुचारु रूप से उपयोग। इन दोनों दायित्वों में से संग्रह पुरुषों के हिस्से में है और सदुपयोग, सुव्यवस्था महिलाओं पर निर्भर हैं। इस तरह भारत में तो स्त्री और पुरुषों का समान अधिकार सदैव रहा है। इससे अधिक आप लोग कौन-सी समानता चाहते हैं? क्या दोनों को कुश्ती लड़ाना चाहते हैं? 'बाक्सिंग' कराना चाहते हैं? जिस क्षेत्र में ईश्वर ने ही असमान बनाया, वहाँ समानता कैसे होगी?

स्त्रियाँ कहती हैं- हम नौकरी करेंगे, गोली चलाएँगे, फुटबाल खेलेंगे और आवश्यकता पड़ने पर पुरुषों को चपत भी लगायेंगे। बात तो ठीक है, लेकिन चपत मारने का साहस उनमें आयेगा कहाँ से? जीव जगत् पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि पचास गायें मिलकर भी एक साँड़ का सामना नहीं कर पातीं। पचासों बन्दरियाँ एक बन्दर की बराबरी नहीं कर पातीं। पशु समाज में स्त्रियों का सम्मान यहीं तक सीमित है। मनुष्यों में भी जिनका जीवन पशुओं की तरह "खाने-पीने और मौज करने" तक ही सीमित रहा, नारियों का स्थान पशु-समाज जैसा ही था। मुहम्मद साहब के समय में

अरब निवासी कई-कई स्त्रियाँ रखते थे। मुहम्मद साहब ने इसका बड़ा विरोध किया और व्यवस्था दी कि एक व्यक्ति चार पत्नी रख सकता है। समान अधिकारवालों को यह व्यवस्था खटक सकती है; किन्तु अरब निवासियों को यह संख्या इतनी कम प्रतीत हुई कि उन्होंने मुहम्मद के विरुद्ध तूफान खड़ा कर दिया। वे लोग स्त्रियों का वैसा ही प्रयोग करते थे, जैसा पशुओं का करते थे। पिता के मरने पर पुत्र माँ को रख लेता था और उसके भी मरने पर स्त्री को नाती रख लेता था। पुत्र-वधू का उपभोग पत्नी की तरह करते थे। मुहम्मद साहब ने व्यवस्था दी कि कम से कम दूध बचाकर शादी विवाह करना चाहिए। पशुवत् समाजों में सर्वत्र ऐसा ही था और आज भी समान अधिकार को लेकर जिन देशों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, उन देशों में वलात्कार, तलाक, हत्या, आत्महत्या, पागलपन, स्त्रियों के अपहरण जैसी घटनाएँ भारत से हजारों गुना अधिक हैं। आज भी विश्व में भारत ही एकमात्र देश है जहाँ सतीत्व का मूल्य है और सतीत्व आज भी यहाँ सुरक्षित है। माताओं के प्रति पुरुषों में सम्मान और गौरव की धारणा है।

सच कहा जाय तो स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने का विचार भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उपज है। किन्तु इस अर्थ में नहीं, जैसा कि आज प्रचलन है। महर्षियों ने अभ्यास करते-करते जब उस परमतत्त्व परमात्मा का दिग्दर्शन पाया, उस पथ पर भलीभाँति दृष्टिपात किया, उस पर सभी को चलाकर देखा तो पाया कि स्त्री और पुरुष कहलानेवाली आत्माएँ समान हैं। भगवत्पथ पर चलने की समान क्षमता रखती हैं। इसीलिए भजन के क्षेत्र में उन्होंने स्त्री को भी पुरुषों के समान अधिकार दिया।

समानता ही नहीं, मनीषियों ने माता को पिता और स्वर्ग से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया। प्राचीन भारत में पुत्र को माता के नाम से सम्बोधित करने की प्रथा थी। अन्धे धृतराष्ट्र को अम्बिकानन्दन कहा जाता था। चित्रांगदनन्दन किसी ने नहीं कहा। चार-पाँच सौ वर्ष के वयोवृद्ध भीष्म पितामह गांगेय सम्बोधन में अपना गौरव मानते थे। कुन्तीपुत्र अर्जुन को कौन्तेय कहा जाता था। इस तरह माताओं का आदर सदैव रहा है और आज भी सौभाग्य से भारत में है।

खेद का विषय है कि विलासिता के नशे में आज कुछ लोग पाश्चात्य अर्थों में स्त्री-पुरुष को समरूप बनाने के लिए आन्दोलन करते रहते हैं किन्तु माताओं और बहनों को इससे सतर्क हो जाना चाहिए अन्यथा ठोकर खाने पर अपने आदर्शों से च्युत होकर उन्हें पाश्चात्य पशुवत् रहन-सहन का शिकार बनना पड़ेगा। अतः माताओं को चाहिए कि वे पूर्व महर्षियों द्वारा अनुमोदित अपनी चिरसंचित मर्यादा के अनुरूप आचरण करें। इसी में उनका कल्याण है।

भौतिक दृष्टि से देखा जाय, तब भी भारत में स्त्रियों के अधिकार उनकी सुख-सुविधा का विधान पुरुषों की अपेक्षा अधिक ही है। यदि पुरुष के ऊपर सौ रुपये का वस्त्र है तो माताओं के वस्त्र हजारों में आते हैं। पुरुष के हाथ में अँगूठी भी न हो किन्तु माताओं की पेटियाँ वस्त्राभूषणों से भरी मिलेंगी। अमेरिका इत्यादि देशों की तथाकथित प्रगतिशील महिलाओं के पास आभूषणों के नाम पर आपको निराशा ही हाथ लगेगी।

एक कनेडियन दम्पति पूज्य महाराजजी के आश्रम में अनुसुइया पहुँचे। महाराजजी ने पूछा, "क्यों आए?" तो बोले- "योग सीखने आये हैं। दर्शनशास्त्रों में भारतीय योग के बारे में पढ़कर हम बहुत प्रभावित हुए। सोचा, भारत चलकर देखें कि वास्तविकता क्या है?" महाराजजी ने पुनः प्रश्न किया, "अच्छा यह बताओ कि अमेरिका अच्छा है या भारत?" दोनों एक स्वर में बोल पड़े- "भारत!" महाराजजी ने कहा, "अमेरिका तो बहुत समृद्ध है?" कनेडियन ने उत्तर दिया कि "समृद्ध तो है, लेकिन अशान्ति बहुत है। यदि हम पति-पत्नी पूरे अमेरिका से गुजरते तो कम-से-कम दो-चार बार हमारी पत्नी का अपहरण हो गया होता। इसे कोई ले जाता और फिर यह मुझे तीन-चार दिनों बाद ही मिलती। लेकिन जब से हमने भारत में कदम रखा तब से किसी ने भी हमारी पत्नी को 'सिस्टर' छोड़कर अन्य दृष्टि से नहीं देखा। इससे भी हमको बड़ी शान्ति मिली। अब हमारा पासपोर्ट समाप्त होने को है किन्तु सन्त-महात्माओं का सान्निध्य लाभ लेने के लिए 'डेट' बढ़वाने की सोच रहे हैं।"

देखिए, पाश्चात्य आदर्शों से अनुप्राणित शिक्षा-प्रणाली मे ढलने के कारण ही नारियों में यह विचार पैदा हो रहा है। वैदिक एवं शास्त्रीय आदर्शों को शिक्षा में स्थान न मिलने के कारण ही मस्तिष्क विलासिता में विकृत हो रहा है। आपके मन का वेग सत्संग-अभाव के कारण ही है। अतः सत्संग करें। यदि सत्पुरुष उपलब्ध न हो, तो राम, शिव, ओम् इत्यादि नामों के जप से भी आपको सत्पथ का सही निर्देश मिलेगा और इनमें से किसी नाम रूप की साधना में कुछ भी समय देते बन गया तो पाँच-सात साल में ही आपको लगेगा कि काम, क्रोध अथवा कोई भी ऐसा शत्रु नहीं है जिसका आप पार न पा सकें। वस्तुतः विकारों का उतार-चढ़ाव तन पर नहीं बल्कि मन पर है। मन यदि साधना के सही दौर में आ जाय तो विषयों का भान कौन करेगा? मन स्वतः नियंत्रित हो जाता है।

सीता, सावित्री, मीरा, गार्गी, अनुसुइया, मदालसा सभी आपकी पूर्वज हुई हैं। सभी ने इसी क्रियात्मक पथ का अनुसरण किया और उन्हीं के पदचिन्हों पर चलकर आप भारत ही नहीं, विश्व के लिए उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत कर सकेंगी।

।। ॐ ।।

निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई

प्रश्न– *महाराजजी! लंका जाते समय हनुमानजी को सिंहिका मिली थी– "निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई।" बीच समुद्र में वह किस प्रकार रहती थी कि उसके ऊपर जल का प्रभाव नहीं पड़ता था और वह परछाईं पकड़कर खींच लेती थी। यह परछाईं पकड़ना क्या है?*

उत्तर– देखिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं! आज भी लाखों लोग बीच समुद्र में दिन-रात निवास करते हैं। पनडुब्बियों में भरे लोग अदृश्य भी रहते हैं। दाहिने-बायें जानेवाले किसी भी शत्रु को तुरन्त गिरा देते हैं। आज ही यह साइंस प्रगति पर है, ऐसी बात नहीं है, यह सदैव थी। संघर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचकर यह मन्द पड़ जाती है– कालान्तर में अन्य-अन्य माध्यमों से पनप जाती है। संयोग से इस बार साइंस के पनपने का स्थल भारत से बाहर के देशों में रहा। वैसे तो दुनिया ही एक गाँव है, एक घराना है। जलवायु के अनुसार गोरा-काला, लम्बी-चपटी नाक, कद की लम्बाई इत्यादि का परिवर्तन होता रहता है। आप यहाँ रह रहे हैं, कश्मीर में चार साल रह लें, कुछ गोरे हो जायेंगे। अगली पीढ़ी गुलाब की तरह हो जायेगी।

वैसे यह 'मानस' है। मानस कहते हैं– मन को, अन्तःकरण को। 'रामचरित मानस' अर्थात् राम के वे चरित्र जो मन में प्रवाहित हैं। इसमें संसार ही समुद्र है, वैराग्यवान् पुरुष ही इसका पार पाता है।

निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई। करि माया नभु के खग गहई।।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हकै परछाहीं।।
(मानस, ५/२/१-२)

सिन्धु में एक निशिचरी रहती थी। **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'** *(गीता, २/६९)*– इस जगत्‌रूपी निशा में, चलने और चलानेवाली है, इसीलिए इसका नाम निशिचरी है। यह भवसिन्धु में रहती है, और समुद्र में जिसकी परछाईं पड़ती है उसे दबोच लेती है, फिर वह नीचे गिर जाता है।

गहइ छाँह सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई।। *(मानस, ५/२/३)*

वह छाया को पकड़ लेती थी, जिससे जीव-जन्तु उड़ नहीं पाते थे, उनकी गति कुण्ठित हो जाती थी। इसी प्रकार गगनचरों को, आकाश में उड़नेवालों को खा लिया करती थी।

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा।
तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा।। *(मानस, ५/२/४)*

वही छल उसने हनुमान के साथ किया। उसके कपटाचरण को हनुमान ने तुरन्त पहचान लिया, फिर तो-

ताहि मारि मारुतसुत बीरा।
बारिधि पार गयउ मतिधीरा।। *(मानस, ५/२/५)*

तुरन्त उसे मारकर हनुमान समुद्र पार कर गये। वैराग्य ही हनुमान है- मान और सम्मान का हनन करनेवाला है, इसलिए वैराग्यरूपी हनुमान। पक्षी उड़ता तो आकाश में है किन्तु जमीन का सहारा लेता है। केवल वैराग्यवान् पुरुष ही इस संसार-सिन्धु के ऊपर उड़ान भरता है। वह भवसिन्धु से ऊपर उठना चाहता है, उठता भी है और क्रमशः उत्थान करते-करते परमतत्त्व परमात्मा में, भव से परे सत्ता में विलय पा जाता है।

जब पथिक चलता है तब **'निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई।'**- दूसरों की इच्छाशक्ति ही निशिचरी है। कोई अच्छा साधक अपनी साधना में अग्रसर होता जाता है तो दूसरे लोग मायिक विचारों को लेकर उससे टकराने लगते हैं। महिलाओं के लिए पुरुष या पुरुषों के लिए महिलायें ऐसा सोचने लगती हैं कि, "बाबा तो बड़े अच्छे हैं। न जाने कब से कटिबद्ध हैं, ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं। कितने अच्छे हैं। हमारे संगी साथी रहे होते तो कितना अच्छा होता।"- बस विषय की भयंकर वेदना लेकर वह चिन्तन करेंगी। तहाँ उनका चिन्तन ज्यों-का-त्यों वैराग्यवान् पुरुष के शान्त चित्त से टकरायेगा; क्योंकि चित्त तो सबका एक ही है। साधक यह निर्णय नहीं कर पाता कि ऐसा चिन्तन आया कहाँ से। तुरन्त उसी चिन्तन से वह आक्रान्त हो जाता है। वही भाव पनपते-पनपते कुछ ही समय में साधक को इसी संसाररूपी समुद्र में गिरा देता है। संसार ही समुद्र है। जिसमें विषयरूपी जल भरा है; किन्तु--

बार बार रघुबीर सँभारी।
तरकेउ पवन तनय बल भारी।। *(मानस, ५/चौ० ८)*

जो निरन्तर भगवान का स्मरण करता रहता हैं, जिसमें इष्ट का बल है, जो इष्ट के इशारों पर चलनेवाला है, उस विरक्त पुरुष में तुरन्त इस छल को पहचानने की क्षमता होगी कि हमारे चिन्तन तो गन्दे थे ही नहीं, फिर ये कहाँ से आ रहे हैं? जिसके अन्दर इस चिन्तन के विभाजन की क्षमता होती है, अपने और पराये चिन्तन को जो पहचानने लगता है, उसके ऊपर से इस संकल्पजनित संगदोष का प्रभाव टल जाता है। साधक जान जाता है कि ऐसा बुरा संकल्प कौन कर रहा है? जब चिन्तन हमारा है ही नहीं, किसी

अन्य की मनःस्थिति टकरा रही है। दुनिया में सब विषयी ही तो हैं, वे कुछ भी सोच सकते हैं; क्योंकि वे उसी क्षेत्र में खड़े हैं, उसी वायुमण्डल में हैं और वे करेंगे भी क्या? अतः उन्हें माँ अथवा बहन कह दें, तो फिर संकल्पों की लहर, जो साधक से टकरा रही थी, समाप्त हो जाती है। उनकी भाव-भंगिमा बदल जाती है।

संसाररूपी सिन्धु में विषय-रस से ओत-प्रोत दूसरों की इच्छाशक्ति साधक के चित्त को पकड़ती है। यही परछाईं का पकड़ना है। जब साधक का चित्त विषय-चिन्तन में आवृत्त होने लगता है तो वे संस्कार बन जाते हैं। परिणामतः वह श्रेय साधन से गिर जाता है; किन्तु जिस साधक में इष्ट का बल है, अनुभवी आधार पर संकल्पों के विभाजन की क्षमता है, वह इसको सहज ही पार करके आगे निकल जाता है। साधक जानता है कि दुनिया प्रायः वही चिन्तन करेगी जिसमें वह लिप्त है। जिसे सर्प ने काटा है, उसे लहर तो आयेगी ही। साधक भी तो पहले दुनिया में रहकर यही सब चिन्तन करता था। जहाँ संकल्पों के विभाजन की क्षमता आयी, सांसारिक संकल्पों की लहर साधक के मन से विलग हो जाती है; किन्तु यह क्षमता इष्ट को हृदय में सतत सँजोनेवाले साधक में प्रभु की कृपा द्वारा ही आती है। इष्ट द्वारा प्रदत्त अनुभवों के बल पर ही साधक ऐसा कर पाता है।

ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा।।

अतः भजन करो। वे दया के सागर हैं। तुम भी पाओगे।

।। ॐ ।।

युग-धर्म

प्रश्न- अब तो कलियुग आ गया महाराज! अब धरम-करम कैसे होगा?

उत्तर- देखिये, रामचरित मानस में कलियुग-महिमा-गायन का प्रसंग जहाँ-जहाँ आया है उस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कभी सतयुग था और आज कलियुग है, ऐसी कोई बात नहीं है। कागभुशुण्डिजी ने अपने पूर्वजन्मों का वृतान्त प्रस्तुत करते समय जिन शब्दों में मल-मूल कलियुग का वर्णन किया, ठीक उन्हीं शब्दावली और उन्हीं लक्षणों का उल्लेख गोस्वामीजी ने उत्तरकाण्ड में असन्त लक्षण तथा बालकाण्ड में रावण की उत्पत्ति और निशाचरों के आतंक के अवसरों पर किया है। कलियुग में **'सब नर काम लोभ रत क्रोधी'** हैं तो असन्त **'काम क्रोध मद लोभ परायन'** होते हैं। दोनों एक ही बात है। कलियुग में **'पर त्रिय लंपट कपट सयाने'** लोग होते हैं तो असन्त **'पर द्रोही पर दार रत, परधन पर अपवाद'** हैं। इसी प्रकार निशाचरों के उत्कर्ष के समय **'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा'** का साम्य देखने को मिलता है। छिटपुट स्थल तो अनेकों हैं; किन्तु उपर्युक्त तीन-चार स्थलों पर गोस्वामीजी ने कलि के गुण-धर्म पर प्रकाश डाला, कलियुग के अनेक लक्षण बताये--

जो कह झूँठ मसखरी जाना।
कलिजुग सोइ गुनवन्त बखाना।। *(मानस, ७/९७/६)*
जाकें नख अरु जटा बिसाला।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।। *(मानस, ७/९७/८)*

इसी प्रकार-

देव न बरसहिं धरनी, बये न जामहिं धान। *(मानस, ७/१०१ ख)*

इत्यादि पचासों लक्षण गिनाये और अन्त में निर्णय देते हैं कि-

ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं।
द्वापर कछुक बृन्द बहु, होइहैं कलिजुग माहिं।। *(मानस, ७/४०)*

ऐसे अधम मनुष्य सतयुग और त्रेता में नहीं होते, द्वापर में कुछ होते हैं और कलियुग में झुण्ड-के-झुण्ड होते हैं। प्रश्न खड़ा होता है कि क्या सतयुग और त्रेता में अधम मनुष्य होते ही नहीं थे?

ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सतयुग में हिरण्यकशिपु नामक एक नरेश हुआ। अपनी वेधशाला में उसने ऐसा आविष्कार कर लिया कि न दिन में मरे, न रात में मरे। न अस्त्र-शस्त्र से मरे, न पशु-पक्षी से, न मानव से। जब उसने देखा कि हमें मरना ही नहीं है फिर भगवान की क्या आवश्यकता? अतः उसने घोषणा करा दी कि

मैं ही भगवान् हूँ। जो भी मुझसे भिन्न किसी भगवान का नाम ले उसे मृत्युदण्ड दिया जाय। अपने सिद्धान्त का वह इतना कट्टर था कि अपने इकलौते बेटे प्रह्लाद को भी वह क्षमा नहीं कर सका। प्रह्लाद को भी फाँसी पर चढ़ा ही दिया। मारने के अनेक प्रयत्न किये गये किन्तु भक्त प्रह्लाद का रक्षक तो कोई और था। वस्तुतः यदि भगवान एक अबोध शिशु का भी स्पर्श कर दे तो संसार में कोई शक्ति नहीं जो उसे मिटा दे। भगवान का वरदहस्त प्रह्लाद पर रहा और उसके माध्यम से उस युग में भक्ति की एक लहर सर्वत्र दौड़ गई।

इस प्रकार उस सतयुग में भी ऐसी परिस्थिति आयी कि धर्म की चर्चा-मात्र करने पर मृत्युदण्ड का विधान था और तुलसीदास कहते हैं, **'ऐसे अधम मनुज खल'**- ऐसे अधम मनुष्य **'कृतजुग त्रेता नाहिं'**- सतयुग और त्रेता में होते ही नहीं। जबकि उसी सतयुग में ऐसे भयंकर लोग हुए कि भगवान का नाम लेने पर फाँसी की सजा देते थे। आज कोई फाँसी तो नहीं देता, बहुत हुआ तो दस लोग छींटाकशी करेंगे; किन्तु उतने ही प्रशंसक भी मिलेंगे कि दादाजी महात्माओं के यहाँ जाते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं। चौथेपन की यही शोभा है; इत्यादि।

आइये, उस त्रेता पर दृष्टिपात करें जिसका इतिवृत्त 'मानस' में चित्रित है। त्रेता में भी अधम नर थे। रावण **'धर्म सुनिअ नहिं काना। आपुनु उठि धावइ, रहै न पावइ'** *(मानस, १/१८२/छ०)*- धर्म कानों से सुन भर पाता तो बौखलाकर स्वयं चल पड़ता था। धर्म को नष्ट करने के लिये 'फोर्स' भेज देता था। अधर्मियों को नष्ट करने की आज्ञा नहीं थी, केवल धर्मियों को ही निर्मूल करने की योजना थी। चोर-डाकुओं को नष्ट नहीं करना था बल्कि राम-राम कहनेवालों को नष्ट करने का आदेश था। ऋषि-महात्माओं से भी कर के रूप में रक्त वसूल किया जाता था। उनका अपराध मात्र इतना था कि भगवान का नाम लेते थे। गुप्त रूप से निशाचरों की टुकड़ियाँ चला करती थीं, जो धार्मिकों को अकेला पाते ही मारकर चट कर डालती थीं। वनवासी राम जब चित्रकूट से आगे बढ़े तो नर-कंकालों का एक पहाड़ मिला-

अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया।। *(मानस, ३/८/६)*

हड्डियों का विशाल संग्रह देखकर भगवान राम ने मुनियों से पूछा कि ये नरकंकाल कैसे हैं? मुनियों ने कहा, 'आप तो अन्तर्यामी हैं, जानते हुए भी क्यों पूछते हैं? परन्तु जब आप पूछते ही हैं तो बताना कर्तव्य होता है। **'निसिचर निकर सकल मुनि खाये।'** *(मानस, ३/८/८)*- निशाचरों ने सम्पूर्ण मुनियों को खा डाला। यह उन्हीं की हड्डियों

का ढेर है। आज आप नाम तो ले सकते हैं? कोई टैक्स तो नहीं लेता? वेद-पुराण कहने पर देश-निकाला तो नहीं मिलता? उस समय युग कौन-सा था? त्रेता! और गोस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे अधम खल कृतयुग और त्रेता में होते ही नहीं! कलि का एक अन्य लक्षण त्रेता के ही सन्दर्भ में देखें-

सौभागिनीं बिभूषन हीना।
बिधवन्ह के सिंगार नबीना।। *(मानस, ७/९८/५)*

उस त्रेता में सूर्पणखा विधवा ही तो थी। उसका पति विद्युतजिह्व युद्ध में रावण द्वारा मारा गया तो वह उलाहना देते हुए बोली- "तू मेरा भाई है या शत्रु? तूने मेरे पति को मार डाला। आज से लोग मुझे विधवा कहेंगे।" रावण ने सान्त्वना दी- 'बहन! भूल तो मुझसे अवश्य हुई, किन्तु हमारी जाति में भी क्या कभी विधवा होती हैं? हम हजारों स्त्रियाँ रखते हैं, तुम हजारों पुरुष रख सकती हो। भाई खर-दूषण के साथ जाओ और जनस्थान में मनचाहा विचरण करो।" इसी क्रम में, **'पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।।'** *(मानस, ३/१६/४)* जब वह राम के समक्ष पहुँची तो बहुत रूप-स्वरूप बनाकर, मुस्कराकर बोली- **'मनु माना कछु तुम्हहि निहारी।'** *(मानस, ३/१६/१०)* तुम भी बहुत सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं है। हाँ, काम चल जायेगा इसीलिए तो अभी तक कुमारी हूँ, जबकि एक भी कुकर्म उससे छूटा नहीं था। सूर्पणखा जितना अधःपतन आज तो नहीं पाया जाता! फिर भी गोस्वामीजी की उक्ति है कि त्रेता में ऐसे अधम नर होते ही नहीं थे।

फिर जब त्रेता में अधम नर होते ही नहीं थे तो राम लड़े किससे? उनका चरित्र ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि त्रेता में भी अधम खलों का अस्तित्व था। केवल अस्तित्व ही नहीं था वरन् उनके अत्याचारों से धरती भी आकुल हो उठी थी।

महात्माओं को निशाचर खा जाते थे। यह बात अलग है कि महर्षि अगस्त्य, अत्रि, शबरी, सुतीक्ष्ण, वाल्मीकि इत्यादि कुछ ऐसे तपोधन थे जिनके ऊपर इन निशाचरों का बल काम नहीं करता था। इसीलिये ये जहाँ भी थे सुरक्षित थे। लेकिन निशाचरों ने अजमाया इनको भी। इनका भी पीछा किया, अछूता नहीं छोड़ा। आतापी और वातापी दो निशाचर थे। उनका यह तरीका था कि पहले तो वे महात्माओं को निमन्त्रण दे आते थे। आमंत्रित महात्माओं के आने पर बड़ा भाई छोटे को काटकर भोजन बनाता था। विविध प्रकार के व्यंजनों का आस्वादन कर महात्मा जब प्रस्थान करते तो बड़ा भाई उन्हें प्रचुर दक्षिणा भी देता था; क्योंकि वह जानता था कि दक्षिणा भी तो थोड़ी देर में लौटकर वापस आ जायेगी। वे महात्मा जब कुछ दूर निकल जाते तो बड़ा भाई छोटे को पुकारता

था और छोटा भाई सबका पेट फाड़ता हुआ निकल आता था। फिर दोनों निशाचर मरनेवाले महात्माओं को गिन लेते। कुछ को ताजा ही खा जाते, कुछ को तल-भूनकर और शेष को सुखाकर रख लेते। एक ही प्रयास में परिवार भर का, कई दिनों का प्रबन्ध हो जाता था।

इसी प्रकार का छल उन्होंने महर्षि अगस्त्य के साथ भी किया। जब वे उन्हें निमन्त्रित करने चले तो छोटे ने सावधान किया कि वे महात्मा बड़े खतरनाक हैं, उन्हें न छेड़ो। बड़े ने झिड़का- तुम तो बड़े कायर निकले! कैसा तपोधन? तपस्या क्या होती है? अस्तु, महर्षि अगस्त्य उस भक्त के यहाँ पहुँचे। आतिथ्य के पश्चात् जब वे लौटने लगे तो बड़े भाई ने छोटे को आवाज दी। महर्षि के पेट में हलचल होने लगी। ध्यान से देखा तो पता चला कि राक्षस पेट के भीतर है। तुरन्त उन्होंने कमण्डल से जल लिया, बाहर छिड़का, पेट पर हाथ फेरा और 'आतापी वातापी स्वाहा' करते ही भीतर का राक्षस भीतर और बाहर का राक्षस बाहर ही समाप्त हो गया। इस प्रकार महर्षि अपनी तपस्या के प्रभाव से बचे। वैसे, निशाचरों ने छोड़ा किसी को नहीं था। हिरण्यकशिपु ने भी छोड़ा नहीं था। वह तो प्रह्लाद अपनी शक्ति से बच गया अथवा प्रभु को इतना अनुकूल कर चुका था कि बचता गया। इतने पर भी गोस्वामीजी कहते हैं, ऐसे अधम खल सतयुग और त्रेता में होते ही नहीं। वास्तविकता तो यह है कि आज से भी अधम नरों का प्रमाण उस युग में पाया जाता है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी कहना क्या चाहते हैं? अन्त में वे स्वयं निर्णय देते हैं-

नित जुग धर्म होहिं सब केरे।
हृदय राम माया के प्रेरे।। *(मानस, ७/१०३/१)*

सभी युगों के धर्म सबके हृदय में नित्य होते रहते हैं। **'हृदय राम माया के प्रेरे'**- भगवान की माया की प्रेरणा से होते हैं। माया के दो रूप हैं - एक तो अविद्या माया है, जो विभिन्न योनियों का कारण होती है। दूसरी राममाया है जिसे विद्या भी कहते हैं। यह हरि-प्रेरित होती है और साधनात्मक क्रिया से ही इसकी जागृति सम्भव है। अविद्या माया की सीमा पार कर लेने पर राममाया की प्रेरणा से साधक के हृदय में क्रमशः चारों युगों के गुण-धर्मों का प्राकट्य होता है। वास्तव में यह भी भगवत्पथ की चार श्रेणियाँ हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था। अब पहचाना कैसे जाय कि हृदय में कौन-सा युग आया? गोस्वामीजी पहचान बताते हैं-

सुद्ध सत्व समता बिग्याना।
कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।। *(मानस, ७/१०३/२)*

जिसमें सत्वगुण ही कार्यरत हो, समता आ गई हो, विषमता सदा-सदा के लिए समाप्त हो गई हो, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलब्धि हो, प्रत्येक समस्या पर इष्ट से निर्णय मिलने लगे, असीम प्रसन्नता की अनुभूति हो, ऐसा पुरुष सत्ययुगीन है। इसी प्रकार -

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा।
सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा।। *(मानस, ७/१०३/३)*

सत्त्व अधिकांश मात्रा में हो, कुछ राजसी गुण हों, कर्म अर्थात् आराधना में पूर्ण अनुरक्ति हो, सब प्रकार की शान्ति हो- यह त्रेता का विशेष लक्षण है। जिसके हृदय में उपर्युक्त गुण हों उसे त्रेता-श्रेणी का साधक कहा जाता है। पुनः-

बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस।
द्वापर धर्म हरष भय मानस।। *(मानस, ७/१०३/४)*

राजसी गुणों के साथ-साथ सत्व एवं तामसी गुणों का किंचित् मिश्रण हो, हृदय में कभी हर्ष और कभी भय बना रहे तो साधक द्वापरयुगीन है। दुविधा से द्वापर बना है। यदि साधना में हर्ष-विषाद का आरोह-अवरोह लगा है, दुविधा बनी है तो साधक द्वापरयुगीन है। और अन्त में-

तामस बहुत रजोगुन थोरा।
कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।। *(मानस, ७/१०३/५)*

जहाँ अधिकांश तामसिक वृत्ति हो, रंचमात्र राजसी गुण हों, मन में चारों ओर बैर और विरोध भरा हो- ऐसा हृदय कलियुग का परिचायक है। यदि इस स्तर पर साधक जीवित है तो सिद्ध है कि वह कलियुगीन है। इस स्तर पर उसमें वे सभी लक्षण विद्यमान रहेंगे, जिनकी गणना गोस्वामीजी ने कलि-प्रसंग में की है।

जब मन में उच्छृङ्खलता है, वैर-विरोध ही है, बुद्धि विकल है तो भला मनुष्य-तन की सार्थकता क्या है? बड़े भाग्य से मानव-तन मिला तो कल्याण कैसे हो? ऐसी स्थिति में हम भजन कहाँ से आरम्भ करें?

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।
(मानस, ७/४२/७-८)

बड़े भाग्य से मानव-तन मिला है। अरे, पशु-पक्षी सभी तो जी रहे हैं। कौआ भी सुखी है। बड़े ताव से उड़ता है, पेड़ पर बैठता हैः फिर मनुष्य में कौन-सा बड़ा भाग्य है? इसलिये कि शेष चौरासी लाख योनियाँ केवल भोग भोगने के लिए हैं किन्तु मनुष्य स्वयं कर्मों का रचयिता है। बुरे से बुरे संस्कारों को काटने की इसमें क्षमता है, बशर्ते

कि कर्म की क्रिया को समझ ले। अपने लक्ष्य को मन में, हृदय में स्थान भर दिये रहे। यह साधन का धाम, मुक्ति का दरवाजा है। इसको पाकर जिसने अपना निज परलोक नहीं सुधार लिया (किसी पर एहसान न करें, किसी की भलाई न करें, केवल अपनी भलाई तो कर लें)-

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ।। *(मानस, ७/४३)*

वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है, सिर धुन-धुनकर पछताता है और काल-कर्म-ईश्वर को व्यर्थ दोष देता है। यदि मानव-तन उपलब्ध है और अपना परलोक नहीं सुधारा तो वस्तुतः सब दोष उसी का है। प्रायः मनुष्य दो-तीन बहाने कर लिया करता है। 'करम में नहीं लिखा है'- कर्म को दोष देना, 'समय अनुकूल नहीं है'- काल को दोष देना, 'कर्ता-धर्ता तो भगवान हैं वे कराते ही नहीं।'- इस प्रकार भगवान को दोष देना जीवों का स्वभाव बन गया है। लेकिन यहाँ भगवान राम कहते हैं कि यदि मानव-तन उपलब्ध है और कोई निज परलोक नहीं सुधार लेता तो न काल का दोष है, न कर्म का है और न ईश्वर का है। वस्तुतः सब दोष उसी का है। मनुष्य कर्मों का रचयिता है। **'मेटत कठिन कुअंक भाल के।'**- भाल में यदि असाध्य कुअंक, नरक और यातनाएँ लिखी हैं तो आप उसे मिटा सकते हैं बशर्ते कि नाम की युक्ति उपलब्ध हो। अब हमें यह देखना है कि यह मानव-तन तो उपलब्ध हुआ किन्तु तामसी गुण का बाहुल्य है, कलियुग का बाहुल्य है तथा भजन में हमारा मन लगता ही नहीं। तब तो हमारा मानव होना ही बेकार हुआ। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए भजन का विधान है भी कि नहीं? किन्तु भजन का विधान तो है-

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।। *(मानस, ७/१०२/१)*

सतयुग में सब योगी और विज्ञानी होते हैं। भगवान का ध्यान करते ही स्वाभाविक ध्यान जम जाता है और पार हो जाते हैं। अर्थात् जब सात्विक गुण कार्य करेगा, अनुभवी उपलब्धि होगी; उस समय सहज ध्यान की क्षमता आप में होगी।

त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।। *(मानस, ७/१०२/२)*

जब त्रेता की योग्यता होगी तब भगवान को सम्पूर्ण कर्म समर्पण करने की क्षमता होगी। **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** *(गीता, १०/२५)* श्वास-प्रश्वास का यज्ञ सभी यज्ञों में सर्वोपरि है। लेकिन यज्ञ की श्रेणीवाले जप का उतार-चढ़ाव इस श्वास के ऊपर है। यह

न माला के ऊपर है, न जुबान के ऊपर। त्रेता में विविध यज्ञ अर्थात् श्वास-प्रश्वास का यजन करने की क्षमता होगी, भगवान को कर्म समर्पण करने की क्षमता होगी तो समर्पण कर क्रिया में प्रवृत्त रहकर वह भवसागर का पार पा लेता है।

द्वापर करि रघुपति पद पूजा।
नर भव तरहिं उपाय न दूजा।। *(मानस, ७/१०२/३)*

जब आप द्वापर की श्रेणीवाले होंगे तो ध्यान तो लगेगा नहीं क्योंकि मन में दुविधा लगी है तो 'पद पूजा'-भगवान के स्वरूप को हृदय में पकड़ना, चरणों में मन को केन्द्रित करना (ध्यान रहे यह केवल करने का प्रयास मात्र है, होता नहीं, बस अभ्यास करने की क्षमता होती है) ऐसा करके वह भवसागर का पार पाता है।

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव थाहा।। *(मानस, ७/१०२/४)*

यदि हम कलियुग के स्तरवाले हैं तो केवल **'हरि गुन गाहा'**- भगवान का गुण-गायन, उनकी लीलाओं का चिन्तन--जैसे रामायण में यह लिखा है, श्रीकृष्ण ने ऐसी लीलाएँ कीं, उन महापुरुषों का चरित्र ऐसा था, इत्यादि गुण-गायन और नाम-जप के अतिरिक्त कलियुग से पार जाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब मन विकल है, तामसी गुण है, वैर-विरोध भरा है, राग-द्वेष का संचार है, मन हवा से बातें करता है, उस समय यदि हम आँख मूँदकर बैठ जायँ तो शरीर तो बेशक बैठा रहेगा लेकिन जिस मन को ध्यानस्थ होना है वह तो हवा से बातें करता है, इसलिए वह नहीं लगेगा। ऐसी परिस्थिति में बैठे रहने से, समय नष्ट करने से क्या लाभ? इस परिस्थिति में लीलाओं के श्रवण करने और साधारण नाम-जप की स्वाभाविक क्षमता होती है। ऐसा करने से मनुष्य भवसागर का थाह पा जाता है।

प्रश्न खड़ा होता है कि क्या चार भवसागर हैं?, तो नहीं, भवसागर तो एक ही है किन्तु उससे पार होने के लिए चिन्तन-पथ की चार श्रेणियाँ हैं। उन्हें ही सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि कहा गया। यदि हम कलियुग की श्रेणी के हैं, प्रवेशिकावाले हैं, तो इस अथाह भवसागर से पार होने के लिए साधना का आरम्भ गुण-गायन और नाम-जप से ही करना होगा। इससे हम भवसागर से सीधे पार नहीं हो जायेंगे बल्कि द्वापर में प्रवेश मिलेगा। जब हमारे अन्तराल में पद-पूजा की क्षमता आ जायेगी तो उसका अभ्यास करते-करते भवसागर का थाह पायेंगे। इतने से ही पार नहीं हो जायेंगे बल्कि चरणों का चिन्तन और उसे हृदय में पकड़ने के सतत अभ्यास के फलस्वरूप त्रेता में प्रवेश मिलेगा। उस समय श्वास-प्रश्वास का यजन, ईश्वर में कर्मों का समर्पण करने की

योग्यता हममें स्वाभाविक होगी और ऐसा करने पर ही मनुष्य भवसागर का पार पाता है। ऐसा नहीं है कि त्रेता से ही सीधे-सीधे पार लग जायँ बल्कि इतना कर लेने पर सतयुग में प्रवेश मिलेगा। उस समय ईश्वरीय ध्यान की स्वाभाविक क्षमता होगी। जब लगाना चाहेंगे, जिस क्षण लगाना चाहेंगे, मन तुरन्त स्वरूप को पकड़ लेगा, केन्द्रित हो जायेगा। अनुभवी उपलब्धि होगी। प्रत्येक समस्या का हल बुद्धि से न होकर ईश्वर के निर्देशन पर आधारित होगा। ऐसा करके मनुष्य भवसागर का पार पा जायेगा।

इस प्रकार ये साधन-पथ की चार श्रेणियाँ हैं। इन्हीं को महापुरुषों ने कलियुग, द्वापर, त्रेता और सतयुग इन चार सोपानों में विभक्त किया है। महर्षि पतञ्जलि ने 'योगदर्शन' में इन्हीं का उल्लेख अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के साधकों के रूप में किया है। गोस्वामीजी ने मानस के अरण्यकाण्ड (४/१२) में **'उत्तम के अस बस मन माहीं।'** माताओं के माध्यम से इन्हीं चारों युगधर्मों का निरूपण किया है।

१- हम निःसन्देह कलियुगी हैं लेकिन चिन्तन के माध्यम से क्रमशः द्वापर, त्रेता, सतयुग और उसका भी पार पाकर ब्रह्म के दिग्दर्शनकाल में उसके स्वरूप की स्थिति पा सकते हैं। अतः युगधर्म सबके हृदय में हैं और गुणों के परिवर्तन से युगधर्म बदले भी जा सकते हैं।

२- युगधर्म वहीं तक चलते हैं जब तक ईश्वर अलग है, हम अलग हैं। युगधर्म तब तक निरन्तर चलते हैं जब तक परमतत्त्व परमात्मा का आविर्भाव नहीं हो जाता। उस आविर्भाव के साथ ही साधना, युगधर्म और उसकी केन्द्रभूमि मन भी शान्त हो जाता है और इनमें प्रवाहित तीनों गुणों का भी विलीनीकरण हो जाता है। वही शाश्वत राममयी स्थिति है-

काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही।
रघुपति चरन प्रीति अति जाही।। *(मानस, ७/१०३/७)*

३- वास्तव में युगधर्मों के उतार-चढ़ाव की स्थली मन है, इसीलिए-

बुध जुग धर्म जानि मन माहीं।
तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।। *(मानस, ७/१०३/६)*

विवेकी लोग युग-धर्म को मन के अन्तराल में जानकर अधर्म से धर्म की ओर, छोटे धर्म से महान धर्म की ओर क्रमशः अग्रसर होते हैं। स्पष्ट है कि युगधर्मों को बदला जा सकता है।

४- अब, यदि हम समाज का वास्तविक कल्याण चाहते हैं, तो मिलकर सत्य के लिए प्रयास करें। जब बहुमत में सत्यप्रधान लोग होंगे तो सतयुग स्वाभाविक, स्वतः हो

जायेगा। समाज में आप परमकल्याण के स्रष्टा कहलायेंगे। लोक-कल्याण भी होगा और स्वयं तो कल्याण-भाजन होंगे ही।

५- अनुभवी अन्तस्प्रेरक महापुरुष के द्वारा ही युगधर्मों का पार पाया जा सकता है। इससे सामान्य पाठक की अनेक भ्रान्तियों का भी निराकरण होगा और उन्हें अनन्त शाखाओं में से उचित मार्ग का चयन कर सकना सम्भव हो सकेगा कि वे किस कोण से प्रारम्भ करें। वे तभी जान पायेंगे कि किस मार्ग पर चलकर वे वस्तुतः कल्याण के भागी हो सकते हैं। अतः किसी अनुभवी महापुरुष के लिए अन्तःकरण में सदैव शोध की लालसा रखें।

प्रश्न- महाराजजी, गोस्वामीजी ने नारियों के माध्यम से युगधर्म का चित्रण क्यों किया?

उत्तर- आप स्त्री हों अथवा पुरुष, यह शरीर भजन नहीं करता। इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति ही भजन करती एवं कराती है जो स्त्री-संज्ञा में आती है, इसीलिए नारियों को प्रतीक बनाकर उसका चित्रण किया गया।

।। ॐ ।।

स्वार्थ

प्रश्न– महाराजजी! दुनिया में स्वार्थियों की भरमार है। 'सुर-नर-मुनि' भी इससे नहीं बच सके। फिर स्वार्थ रहते परमार्थ कैसे होगा?

उत्तर– देखिये, अभी हमने पूछा था तो यह दस साल का लड़का, इसे भी ज्ञात है कि स्वार्थी अधिक हैं। साठ-सत्तर वर्षीय वयोवृद्ध भी कह रहे हैं कि हम स्वार्थी हैं, स्वार्थियों की भरमार है। किन्तु नहीं, वस्तुतः संसार में स्वार्थी कम हैं। स्वार्थ के दो स्वरूप हैं। एक स्वार्थ तो वह है जैसा अभी आपने कहा। इसी से अभिभूत होकर लोग रात-दिन झूठ-कपट तथा छल-छद्म करते रहते हैं। उनसे पूछा जाय कि ऐसा आज क्यों करते हैं, तो कहेंगे स्वार्थ के लिए! यह एक प्रकार का स्वार्थ है, किन्तु यौगिक शास्त्रों में स्वार्थ की जो परिभाषा है उसमें और इसमें पूरब और पश्चिम का अन्तर है। उस दृष्टि से देखें तो दुनिया में स्वार्थी कम हैं।

रामचरित मानस के अनुसार, भरत स्वार्थी थे। माता कैकेयी ने भरत के लिए साम्राज्य की व्यवस्था कर दी। साम्राज्य भी ऐसा, जिसमें कोई कमी नहीं थी। यहाँ तक कि–

अवध राजु सुरराज सिहाई।
दसरथ धन सुनि धनद लजाई।। *(मानस, २/३२३/६)*

अवध का कोष इतना सम्पन्न था कि धनपति कुबेर भी लज्जित हो जाता था। सोचता था कि अवध की तुलना में तो मेरे पास कुछ भी नहीं है। और सम्मान कितना था?–

आगे होइ जेहिं सुरपति लेई।
अरध सिंहासन आसन देई।। *(मानस, २/६७/४)*

देवराज इन्द्र भी अवध के नरेश से आगे बढ़कर मिलते थे, अपना आधा सिंहासन उन्हें बैठने के लिए देते थे। सम्मान में इन्द्र के समकक्ष, ऐश्वर्य में कुबेर से भी उत्कृष्ट साम्राज्य की व्यवस्था अम्बा कैकेयी ने भरत के लिए कर दी; फिर भी भरत विकल थे। कहीं कोई कमी कसक रही थी, उसकी पूर्ति के लिये वे चित्रकूट चल पड़े। रोते-बिलखते जब प्रयाग पहुँचे, सुना कि यह प्रयागराज सब कुछ देने में सक्षम हैं, इन तीर्थराज का महत्त्व अगाध है तो भरत प्रार्थना करने लगे, भीख माँगने लगे–

माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू।
आरत काह न करइ कुकरमू।। *(मानस, २/२०३/७)*

ऐसा कौन-सा कुकर्म है जो आर्त नहीं करता? मनुष्य भीख कब माँगता है? जब पेट नहीं भरता! मनुष्य आर्त कब होता है? जब अर्थ की कमी होती है! अर्थ तो कुबेर से भी अधिक था, फिर भरत आर्त क्यों थे? वस्तुतः एक अर्थ तो रुपया-पैसा है जिससे जीविका की व्यवस्था होती है, किन्तु एक सम्पत्ति आत्मिक भी है जो इस शरीर का नहीं बल्कि आत्मा का पोषण करती है। इसी आत्मिक सम्पत्ति के लिये भरत आर्त थे। चित्रकूट की सभा में भरत इसकी पुष्टि भी करते हैं-

कहउँ वचन सब स्वारथ हेतू।
रहइ न आरत के चित चेतू।। *(मानस, २/२६८/४)*

मैं जो कुछ कह रहा हूँ, अपने स्वार्थ के लिये कह रहा हूँ। आर्त के चित्त में चेत नहीं रहता। स्वार्थ के लिये भरत आर्त हैं, अपना धर्म त्यागकर गिड़गिड़ा रहे हैं, भीख माँग रहे हैं। माँगा भी तो क्या?-

सीताराम चरन रति मोरे।
अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।। *(मानस, २/२०४/२)*

भिक्षा में उन्होंने भगवान के चरण कमलों का स्नेह माँगा। भरत की दृष्टि में भगवान के चरण कमलों का स्नेह ही एकमात्र स्वार्थ है।

भगवान राम तो नहीं लौटे लेकिन उनकी खड़ाऊँ मिली। भरत ने उसे सिर पर रखा, लौट पड़े और नन्दिग्राम में आकर बैठ गये। चिन्तन करते-करते सुरत की डोरी जब लग गई, उन खड़ाऊँओं की पूजा में मन केन्द्रित हो चला तब उन्होंने अपने स्वार्थ को कुछ हल हुआ समझा। यद्यपि-

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेज बलु मुख छबि सोई।।
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़इ धरम दलु मनु न मलीना।।
(मानस, २/३२४/१-२)

शरीर उत्तरोत्तर दुबला होता जाता था (खान-पान से बढ़नेवाला बल घटता जाता था) किन्तु **'मुख छबि सोई'**- मानसिक प्रसन्नता वही थी क्योंकि राम के प्रेम का प्रण नित्य नवीन तथा परिपुष्ट होता जा रहा था, इसीलिये मानसिक प्रसन्नता कम नहीं थी, मन मलीन नहीं था। यहाँ पर भरत ने अपने स्वार्थ को कुछ हल होते देखा और जब राम लौटे, उस दिन उन्होंने अपना स्वार्थ सम्पन्न पाया।

कागभुशुण्डिजी स्वार्थी थे। एक समय गरुड़ को सन्देह हो गया। वे नारद, ब्रह्मा इत्यादि के पास से होते हुए शंकरजी तक पहुँचे। शंकरजी ने कहा कि आपका संशय इतना शीघ्र दूर नहीं होगा-

तबहिं होइ सब संसय भंगा।
जब बहु काल करिअ सतसंगा।। *(मानस, ७/६०/४)*

दीर्घकाल तक सत्संग करो, तभी तुम्हारा संशय दूर होगा। वह सत्संग जहाँ होता है, मैं तुम्हें वहीं भेज देता हूँ। शंकरजी ने गरुड़ को कागभुशुण्डि आश्रम पर भेज दिया। आश्रम में जाते ही उनके अधिकांश सन्देह दूर हो गये, जब सत्संग आरम्भ हुआ तो सर्वथा निर्मूल हो गये। गरुड़ ने कहा- अब मुझे कोई सन्देह नहीं है; किन्तु भगवन्! आप समर्थ हैं, महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता- ऐसा भगवान शंकर ने बताया है और भगवान शंकर कभी झूठ नहीं बोलते- **मुधा वचन नहिं ईस्वर कहई।** *(७/६३/६)* जब आप इतना समर्थ हैं कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता तो फिर आपने यह निकृष्ट काला कलूटा कौवे का तन क्यों धारण कर रखा है? कागभुशुण्डिजी ने इसका एक ही उत्तर दिया-

जेहि तें कछु निज स्वारथ होई।
तेहि पर ममता कर सब कोई।। *(मानस, ७/६४/८)*

जिससे अपना निजी स्वार्थ होता है, उस पर सभी ममता करते ही हैं। भला इस निकृष्ट काग-तन से कौन-सा स्वार्थ सिद्ध हुआ? महर्षि काग समाधान करते हैं-

राम भगति एहिं तन उर जामी।
ताते मोहि परम प्रिय स्वामी।। *(मानस, ७/६५/४)*

इसी निकृष्ट तन से मुझे राम-भक्ति उपलब्ध हुई, इसीलिए यह मुझे परमप्रिय है।

महर्षि ने यह भी कहा कि मैं सदैव कौवा ही रहा, ऐसी बात भी नहीं है। मैंने सुन्दर तन भी धारण किया था-

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं।।
(मानस, ७/६५/८-९)

दानव-देव, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, ऊँच-नीच ऐसी कौन-सी योनि है जिसमें हमने भ्रमवश बार-बार जन्म न लिया हो। सभी प्रकार की क्रियाएँ करके भी मैं थक गया; किन्तु इस बार कौवे के तन में, जिसे आप निकृष्ट कहते हैं, मुझे भक्ति उपलब्ध हुई है। इस बार मैं जैसा सुखी हुआ हूँ वैसा कभी नहीं रहा। ऐसा देव-तन भी किस काम का जो रामभक्ति से शून्य है? कागभुशुण्डिजी का निर्णय है कि रामभक्ति ही एकमात्र स्वार्थ है-

स्वारथ साँच जीव कहुं एहा।
मन क्रम बचन राम पद नेहा।। *(मानस, ७/९५/१)*

वस्तुतः जीवमात्र का सच्चा स्वार्थ मन-क्रम-वचन से भगवान के चरण कमलों में स्नेह का होना ही है। 'स्व' का अर्थ ही स्वार्थ है जिससे स्वयं की सिद्धि होती है, 'स्व'-रूप की उपलब्धि होती है। धन-दौलत, विशाल साम्राज्य किसके रह गये? जब शरीर ही हमारा साथ नहीं देगा फिर इसके सुख के लिये संग्रहीत वस्तुएँ कब साथ देंगी? मकान-दुकान, पद-प्रतिष्ठा, राज्य-वैभव पा लेने पर भी वस्तुतः 'स्व' को कुछ नहीं मिलता क्योंकि हम शरीर तो हैं नहीं! दूसरे, इन नश्वर भोगों में 'स्व' का वास्तविक कल्याण निहित नहीं, वह तो रामभक्ति से ही होगा। अतः जीवमात्र का वास्तविक स्वार्थ इसी में है कि इष्ट के चरण-कमल में स्नेह हो जाय। इससे आप परमात्मस्वरूप का दिग्दर्शन कर उसी स्थिति को प्राप्त करेंगे जहाँ से फिर कभी पतन नहीं होता। यही सच्चा स्वार्थ है।

कालान्तर में इस शब्द का अपभ्रंश हो गया। आन्तरिक आशय को लोग बाह्य वस्तुओं में खोजने लगे। इसी को लक्ष्य करके गोस्वामीजी लिखते हैं-

करहिं मोह बस नर अघ नाना।
स्वारथ रत परलोक नसाना।। *(मानस, ७/४०/४)*

मोहासक्त मनुष्य नाना प्रकार के कुकृत्य करता है। अपनी सूझबूझ से तो वह स्वार्थ में ही अनुरक्त है; किन्तु **'परलोक नसाना'**- यहाँ के भोग-विलास तो यहीं छूट जाते हैं, वह परलोक तक भी खो बैठता है क्योंकि मोहाच्छन्न नहीं जान पाता कि वास्तविक स्वार्थ तो मन-क्रम-वचन से भगवान के चरणों में स्नेह का होना ही है।

कहते तो सभी हैं कि हम मन-क्रम-वचन से भगवान का भजन करते हैं, तब तो सभी सच्चे स्वार्थी हैं? परन्तु नहीं, उसकी भी एक कसौटी है, भजन करने का एक विधान है। विभीषण जब राम की शरण में गया तो राम ने स्वयं उस विधि पर प्रकाश डाला--

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।।
(मानस, ५/४७/४-५)

माता-पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, प्रिय परिवार, परम हितैषी अथवा जहाँ तक मन का लगाव है, वहाँ-वहाँ से ममत्व के धागों को समेटकर एक रस्सी बना लें और सारे ममत्व का केन्द्र मेरा चरण बन जाय। मन को सब ओर से समेटकर मेरे चरणों में रस्सी

बनाकर बाँध दें। ऐसा जो भी कर ले 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।' *(मानस, ५/४७/३)*- मैं तत्काल उसे साधु के समानान्तर स्थिति प्रदान कर देता हूँ, साध्य वस्तु को सम्भव करा देता हूँ।

इस प्रकार स्वार्थी बनने की कसौटी इतनी कठिन है कि सभी उस पर खरे उतरने की कल्पना भी नहीं कर सकते। मित्र-परिवार, सगे-सम्बन्धी सबका त्याग सबसे नहीं होता। किसी विरले से ही पार लगता है। इसीलिए गोस्वामीजी ने सच्चे स्वार्थियों की गणना कर डाली।

श्रद्धा एवं विश्वास के साथ स्वार्थ के लिए प्रयत्नशील अल्पभाववाले भी एक दिन सुर-नर-मुनि की शुद्ध रहनी में परिवर्तित हो जाते हैं--

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।। *(मानस, ४/११/२)*

मानव-जगत् में साधकों की तीन श्रेणियाँ ही ऐसी हैं जो केवल स्वार्थ के लिए प्रीति करती हैं। वे साधक न तो ऋद्धि के लिए लालायित होते हैं, न सिद्धि ही उन्हें आकर्षित कर पाती है, बल्कि मन-क्रम-वचन से इष्ट के चरणों में ही उनका लगाव रहता है। 'सुर' उन साधकों को कहते हैं जो दैवी सम्पत्ति को हृदय में ढाल चुके हैं। दैवी सम्पत्ति जब हृदय में पूर्णतः प्रवाहित हो जाती है, उस समय आसुरी वृत्तियों का शमन हो जाता है, साथ ही सुरा में प्रवेश करने की क्षमता आ जाती है। अतः सुरा में विचरने की क्षमता वाले सुर कहलाते हैं। इष्ट के अतिरिक्त अन्य संकल्प-विकल्प उसके चिन्तन में बाधक नहीं होते। इसी प्रकार नर भी साधना का एक स्तर-विशेष है। लिंग-भेद के आधार पर नारी और नर का लौकिक विभाजन यहाँ अभीष्ट नहीं है। 'मानस' के समापन पर गोस्वामी जी ने मानस रोगों का निदान किया और अन्त में 'नर' के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला-

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहुसूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
(मानस, ७/१२०/२९-३०)

मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है। काम वात है। कफ लोभ है। क्रोध पित्त है जो निरन्तर छाती जलाता रहता है।

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई।। *(मानस, ७/१२०/३१)*

काम, क्रोध, लोभ तीनों जब हृदय में एक साथ कार्य करने लगते हैं तो दुखदायी सन्निपात हो जाता है। वह व्यक्ति फिर जलपता-कलपता ही रह जाता है, भगवच्चरणों

में उसे सोचने का अवकाश ही नहीं रहता। **'अहंकार अति दुखद डमरुआ'** *(मानस, ७/१२०/३५)*- अहंकार दुखदाई गँठिया रोग है। इसी तरह--

तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी।
त्रिविधि ईषना तरुन तिजारी।। *(मानस, ७/१२०/३६)*

तृष्णा उदर-वृद्धि के समान है जो बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार बीसों रोगों की परिगणना के अन्त में गोस्वामीजी निर्णय देते हैं--

एक ब्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।।
(मानस, ७/१२१ क)

उपर्युक्त रोगों में से यदि एक भी व्याधि नर का स्पर्श कर दे तो **'नर मरहिं'**- नर मर जाता है। सिद्ध है कि नर कोई ऐसा स्वरूप है जिसमें लोभ, मोह, काम-क्रोध, मद-मत्सर इत्यादि मन के रोग नहीं होते। संयोग से, इनमें से यदि किसी व्याधि ने भी स्पर्श कर लिया तो वह व्यक्ति नरत्व से च्युत हो जाता है और जिसके पास सभी व्याधियाँ हों तो **'पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।'**- वह व्यक्ति जीव और जड़ है, उसके समाधि लेने का तो कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

श्रोताओं से महाराजजी ने पूछा--बतावें, क्या आप सब में काम है, क्रोध है, लोभ है? 'सभी भरे हैं महाराज'--सबने उत्तर दिया। महाराज ने कहा, भला बताइये कि इनमें से एक भी रोग जिसका स्पर्श कर ले, वह नर मर जाता है। आप तो जी रहे हैं। मर क्यों नहीं जाते?

स्पष्ट है कि नर कोई ऐसा स्वरूप है जिसमें एक भी मानस रोग नहीं होता। नर वह है जिसके ऊपर से 'मायारूपी नारि' का प्रभाव टल चुका हो, भले ही वह आक्रामक के रूप में खड़ी हो। विकार खड़े हैं, लेकिन स्पर्श नहीं कर पाते। कदाचित् वे विकार सफल हो गये तो वह व्यक्ति नरत्व से च्युत हो जाता है। इसी तन को गोस्वामीजी ने मानुष तन की संज्ञा दी है--

बड़ें भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।। *(मानस, ७/४२/७)*

बड़े भाग्य से मानुष तन अर्थात् मन के अन्तराल में टिकनेवाला तन प्राप्त होता है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है--ऐसा सद्ग्रन्थों ने गायन किया है। ऐसे नर-तन को प्राप्त कर जो भवसागर का पार पा नहीं लेता; गोस्वामीजी कहते हैं वही आत्महत्यारा है।

अतः सुर-नर-मुनि ही एकमात्र स्वार्थ-हेतु प्रीति करते हैं। भगवान के चरण कमलों में स्नेह ही सच्चा स्वार्थ है। इसी स्तर के स्वार्थी भरत थे, कागभुशुण्डि थे, हनुमान और लक्ष्मण थे। 'महाभारत' में अर्जुन भी इसी स्तर के स्वार्थी थे। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा कि धन-धान्यसम्पन्न त्रिलोकी के साम्राज्य से भी हमारा क्या प्रयोजन? सिद्ध है कि भौतिक उपलब्धियों से वह स्वार्थ-- 'स्वयं' का हित, स्वयं की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

'स्वयं' को प्राप्त करनेवाले प्रत्येक महापुरुष का यही निर्णय है। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि एक महापुरुष थे। स्वार्थ के सन्दर्भ में उनकी भी मान्यता है-

सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः
परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।। *(पातञ्जल योग०, विभूतिपाद ३५)*

अर्थात् सत्व (बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इनको कभी एक नहीं किया जा सकता। इनका जो सम्मिश्रण-सा हो गया है, जिसे मानव विचार से विलग नहीं कर पाता, वही भोग है जिसकी दो प्रवृत्तियाँ परार्थ और स्वार्थ हैं। जब बहिर्मुखी परार्थ को दबाकर संयम स्वार्थ की कसौटी पर आ जाता है तो **'पुरुष ज्ञानम्'**- परम पुरुष परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। दुनिया में बहुसंख्यक जिसे स्वार्थ कहते हैं उसके द्वारा सम्पत्ति चाहे जितनी मिल जाय, किन्तु उससे परमात्मा मिलता दिखायी नहीं देता। अतः जिससे यह आत्मा परमात्मा का साक्षात् कर ले, वही स्वार्थ है।

साक्षात्कार किसका होगा? किसी रूप का? नहीं, वह तो मन की एक कल्पना है। **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** *(मानस, ३/१४/३)* आप शरीर तो हैं नहीं, मन भी नहीं हैं। आप तो आत्मा हैं। जो शाश्वत है, एकरस है उस आत्मा का दिग्दर्शन हो जाय, पुनः योनियों का चक्कर न काटना पड़े, तभी पुरुष का स्वार्थ सिद्ध होता है।

महाभारत का प्रस्तुत आख्यान इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। एक यक्ष शापवश अजगर बनकर जलाशय पर पड़ा हुआ था। उसके चार प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जो भी जलाशय से जल लेने का प्रयास करता, वह निश्चेष्ट होकर उसका आहार बन जाता। यथार्थ उत्तर पाते ही अजगर की शाप से मुक्ति का विधान था। वनवासकाल में विचरण करते हुए एक बार पाण्डव उसी जलाशय के पास आये। युधिष्ठिर ने सहदेव को जल लेने भेजा। अजगर ने अपना प्रश्न रखा। सहदेव ज्ञानी तो थे; किन्तु उन गूढ़ प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये। धर्मराज की आज्ञानुसार जल ले जाना भी आवश्यक था। सहदेव ने अजगर की उपेक्षा करके जहाँ जल का स्पर्श किया, निश्चेष्ट हो गये। क्रमशः नकुल, अर्जुन और भीम की भी यही दशा हुई। अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर पहुँचे। पूछा--महाभाग

अजगर! आप कौन हैं? मेरे शूरवीर भाई संज्ञाशून्य कैसे हो गये? मैं प्यासा हूँ, मुझे जल चाहिए। अजगर ने उनसे भी अपना प्रश्न दुहराया- **का च वार्ता, किमाश्चर्यम् कः पन्था कश्च मोदते?'** अर्थात् वार्ता क्या है? आश्चर्य क्या है? रास्ता कौन है? और सुखी कौन है?

युधिष्ठिर ने समाधान किया कि मोहरूपी कड़ाह में जीवों को रात-दिन काल पका रहा है, इसमें उपयोगी वार्ता वही है जो तत्त्व का निर्णय प्रदान करे। मनुष्य एक-एक करके काल के गाल में सिमटते जा रहे हैं फिर भी बचे हुए लोग अपने को अजर-अमर मानते हैं, काल से बचने का प्रयास नहीं करते; इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा? **'महाजनः येन गतः स पन्था'**- जिस रास्ते से महापुरुष, भगवान के महान् भक्त निकल गये, वही हमारा अभीष्ट पद है। इसी प्रकार परमतत्त्व में स्थित निस्पृह महापुरुष ही वस्तुतः सुखी हैं, जिनके पीछे दुःख नहीं है।

इन उद्बोधनों को सुनकर अजगर की जड़ता समाप्त हो गई। वह पुनः यक्ष के स्वरूप में परिणत हो गया। बोला--राजन्! आपकी जानकारी यथार्थ है। हम आपसे प्रसन्न हैं। आप जिसे कहें, आपके एक भाई को हम जीवित कर सकते हैं। युधिष्ठिर ने नकुल या सहदेव में से किसी को जिलाने की सम्मति व्यक्त की। यक्ष ने कहा कि भीम और अर्जुन जैसे भाई वन में निशाचरों से आपकी रक्षा करते हैं, उन्हें छोड़कर इन बच्चों से आप कौन-सा स्वार्थ सिद्ध करेंगे?

युधिष्ठिर ने कहा कि शरीर तो नश्वर है। किसी दिन तो यह चला ही जायेगा। अतः धर्म की रक्षा ही जीवात्मा का एकमात्र स्वार्थ है। मुझे अपनी रक्षा का भय नहीं अपितु धर्म का भय है। कुन्ती का एक पुत्र मैं जीवित हूँ, नकुल या सहदेव के जीवित रहने पर माद्री का भी वंश जीवित रहेगा। धर्म यही कहता है। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा देखकर यक्ष ने सबको जीवित कर दिया।

अतः प्रचलित भ्रम का परित्याग करके हम सबको वास्तविक अर्थों में स्वार्थी बनने का प्रयास करना चाहिए।

।। ॐ ।।

शिक्षा और विद्या

प्रश्न– महाराजजी! आजकल बहुत से पढ़े-लिखे बेकार भटक रहे हैं, उनको नौकरी नहीं मिलती। लगता है कि विद्या अनावश्यक है। विद्यालयों में बच्चों का समय अकारण क्यों नष्ट किया जाय?

उत्तर– देखिए, शिक्षा का अर्थ नौकरी नहीं होता। आप जब एम०ए० अथवा किसी क्षेत्र में 'रिसर्च' तक पहुँच गये तब देश को आपके जीवन की चिन्ता नहीं होनी चाहिए, इसलिए कि आप अब सक्षम हैं, अपनी जीविका का स्रोत स्वयं ढूँढ निकालेंगे। इसी का नाम तो शिक्षा है। पूर्ण शिक्षित होने के बाद भी यदि आप किसी की आशा करते हैं तो आपके पास शिक्षा कहाँ है। आप कोई व्यवसाय, कोई हुनर तुरन्त शोध निकालेंगे, ऐसी कला जिससे मनुष्य को ठेस न पहुँचे। यह नहीं कि डाका डालने लगे, नहीं तो चन्द दिनों में ही मारे जायेंगे। आजकल ऐसी उलटी खोपड़ीवालों की औसत आयु बीस से तीस वर्ष तक ही होती है; क्योंकि अठारह वर्ष के बाद ही उनका सिर घूमता है। पहले दो-चार वर्ष तो लड़कपन में बीतते हैं कि चलो लड़का है, भूल हो गयी फिर पचीस वर्ष तक आते-आते लोग सोचेंगे 'सीरियस' है, खतरनाक है, फिर तो वह अकेला छिपनेवाला और हजारों उसका पीछा करेंगे; कब तक बचेगा? अतः यह मानवता नहीं है।

अब यदि आप इधर देखें तो ये भेड़ चरानेवाले गड़ेरिये, इनके पास कोई शिक्षा नहीं है, लेकिन ये सुखी हैं। खाते-पीते परिवार आज के बुद्धिजीवियों से अधिक सुखी हैं; क्योंकि इनकी चिन्ताएँ, आवश्यकताएँ कम हैं। दण्ड-बैठक लगाया, भेड़ चराया, दूध पीया, जो मिला पेटभर खाया। केवल मटर मिला तो उसी की रोटी बनी। न इन्हें कभी अजीर्ण होता है न अरुचि होती है। साठ वर्ष की आयु हो गयी लेकिन इन्हें कभी भी वैद्य की आवश्यकता नहीं पड़ी। अभी कुछ दिनों पहले इन्होंने आश्रम के बगल में भेड़ रखा था। रातभर मूसलाधार वर्षा होती रही। सवेरे हमने इनसे पूछा कि रात तो तुमलोगों को बड़ा कष्ट रहा, रातभर पानी में भींगते रहे, तो वे बोले, "नहीं, महाराज! लोमड़ के जाड़ा और अहीर, गड़ेरिया के वर्षा हितात है। हम लोगों को कोई कष्ट नहीं रहा। रात को कपड़े भींग जाते हैं तो सुबह सुखा लेते हैं। दिन भर के भींगे वस्त्र शाम को सुखा लेते हैं। रातवाले कपड़े सुबह पहन लेते हैं। इसी क्रम से चलता रहता है।" हमने पूछा– क्या कपड़े सूख जाते हैं? वे बोले, 'पानी चूना बन्द हो गया, बाकी शरीर पर सूखते रहेंगे।' न उनको शीत होती है, न गर्मी। यहाँ कोई भींगे वस्त्र पहनकर रहे या दो घण्टे भींग ले तो बीमार पड़ जाय, दवा खानी पड़ेगी लेकिन इनके स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। इनमें प्रकृति को सहन करने की क्षमता है। हमने पूछा-- तुम्हें कोई

चिन्ता तो नहीं है? तो बोला- नहीं महाराज! कोई चिन्ता नहीं। हमने पूछा- कोई दुःख? तो सोचते-सोचते बहुत देर के बाद उनमें से एक बोला- हमको तो कोई दुःख समझ में नहीं आता महाराज! यही जब सबेरे आँख खुलती है तो सोचते हैं कि भेड़ इधर हाँके या उधर और जब भेड़ चल पड़ीं तब फिर चौबीस घण्टों के लिए कोई चिन्ता नहीं। हमने कहा- तुम्हें अपने स्त्री-बच्चों की चिन्ता नहीं सताती। मान लो, कोई बीमार पड़ जाय तो? वह बोला- घर में जो सयान होगा देखेगा। अब हम भेड़ौं चराई और घरौं देखीं? बोलिये! कितने स्वस्थ हैं ये लोग, शरीर और मस्तिष्क से। कोई चिन्ता नहीं, कोई दुःख नहीं। इतने के लिए ही तो दुनिया तरसती है। इधर बुद्धिजीवी दिन-रात घुलता रहता है कि हमारी इज्जत, हमारी मर्यादा, हमारा 'स्टैण्डर्ड'; इसे कैसे बनाये रखें?

अब देखा जाय तो प्रकृति-पुत्र गड़ेरिये इत्यादि अधिक स्वस्थ, चिन्ताविहीन और सुखी दिखाई देते हैं, हैं भी; लेकिन नहीं, ऐसे रहने से दुनिया जीने नहीं देगी। अशान्त प्रकृतिवाले शान्तिप्रिय लोगों को जीने नहीं देते। चीन ने तिब्बत को हड़प लिया। भारत में भी शस्त्रविद्या किसी समय बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। भारत सम्पूर्ण विद्याओं में निपुण था किन्तु महाभारत के पश्चात् शस्त्र-विद्या में न्यूनता आ गयी। स्वाभाविक रूप से जो शस्त्र उपलब्ध थे उसी से लोग काम चलाने लगे। जब बाबर इत्यादि की लड़ाई हुई तो बाबर के पास तोपखाना था, जो भारतीयों के पास नहीं था। इधर केवल भाला और तलवार चलानेवालों की भीड़ थी। इसलिए राजपूतों को हारना पड़ा। यह तोपखाना भी भौतिक शिक्षा की ही देन है। इससे भी उन्नत शिक्षा अंग्रेजों के पास थी। जिसके बल पर उन लोगों ने एक बार तो सम्पूर्ण विश्व पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। गड़ेरिए की तरह शान्त-प्रकृतिजीवियों को उन्होंने जीने नहीं दिया, जैसा अंग्रेजों ने आस्ट्रेलिया में किया। या तो उन्हें प्रकृतिप्रिय पशुओं की तरह गुलाम बनाकर अन्य देशों को सप्लाई कर बेच दिया अथवा अपने फार्मों पर उनसे बेगार कराया। यह मात्र शिक्षाहीनता का कुपरिणाम था। संसार में यदि हमें कुशलतापूर्वक जीना है तो शिक्षा अपरिहार्य है। इतना ही नहीं, अपितु शिक्षा के अभाव में हम अपनी अध्यात्म विद्या को सँजोकर रख नहीं सकेंगे। कोई आचार्य-पद्धति से कुछ भी सुझाव देगा, हम शिक्षा के अभाव में उसे स्वीकार कर लेंगे। इसीलिए आज पीने से, खाने से, नदी-नाला पार करने से सनातन-धर्म नष्ट होने लगा है, जो एक भ्रम है। इस प्रकार धर्म की जानकारी को सँजोकर रखने के लिए भी शिक्षा परम आवश्यक है।

शिक्षा से लाभ चाहे जितना हो किन्तु वह विद्या नहीं है। विद्या कुछ और ही है। आजकल भ्रमवश भौतिक जानकारी को विद्या और उसके जानकार को विद्वान् कहा जाता

है किन्तु वस्तुतः विद्या और शिक्षा में महान् अन्तर है। दुनिया में जीवन की दो धारायें हैं--एक तो जीवनयापन और दूसरी परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति। कुशलतापूर्वक जीवनयापन के लिए शिक्षा आवश्यक है; किन्तु यह आत्मा जिसका अंश है उस परमात्मा तक पहुँचानेवाली तथा उस अमृततत्त्व को प्राप्त करा देनेवाली युक्ति-विशेष का नाम विद्या है। आजकल के विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा वह विद्या नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् (प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड) में कथा आती है कि शौनक नामक एक प्रसिद्ध मुनि थे, विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता थे। पुराणों के अनुसार उनके ऋषिकुल में अट्ठासी हजार ऋषि पढ़ते थे; किन्तु वास्तविक विद्या का ज्ञान उन्हें भी नहीं था। अतः एक बार वे उस समय की परम्परा के अनुसार हाथ में समिधा लेकर महर्षि अंगिरा की शरण में गये। विनयपूर्वक पूछा- **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति?।।३।।**

भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है? कृपया बताइए, उसे कैसे जाना जाय? महर्षि अंगिरा ने बताया--

द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।।४।। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।।५।।

विद्याएँ दो प्रकार की हैं। इन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इत्यादि अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं किन्तु जिस विद्या से वह अविनाशी परमात्मा जाना जाता है वह परा विद्या है। अंगिरा की मान्यता है कि वेद, व्याकरण, ज्योतिष कोई चाहे जितना पढ़ ले, इतना पढ़े कि रट ले; फिर भी अविनाशी परमात्मा को नहीं जान सकता। जिस विद्या से परमात्मा का साक्षात्कार होता है वह विद्या ही दूसरी है। उस विद्या के लिए अंगिरा की सलाह है-

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

(मुण्डक १, खण्ड २/१२)

उस परब्रह्म की प्राप्ति करा देनेवाली विद्या के लिए हाथ में समिधा लेकर, वेद को भलीभाँति जाननेवाले ब्रह्म में स्थित सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसी से मिलता-जुलता आख्यान छान्दोग्य उपनिषद् (प्रथम अध्याय/प्रथम खण्ड) में मिलता है। एक बार नारदजी ने सनत्कुमार से उपदेश करने की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने उनसे कहा, "तुम जो कुछ जानते हो उसे बताओ तो मैं तुम्हें उससे आगे बताऊँ?" नारद ने बताया कि भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ।

मैंने इतिहास-पुराण भी पढ़ा है जिसे पाँचवाँ वेद कहा जाता है। वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र विद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या, नृत्य तथा संगीत इत्यादि का भी मैंने अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है। भगवन्! यह सब जानकर भी मैं केवल मन्त्रों का जाननेवाला ही हूँ। आत्मा को नहीं जान सका। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है किन्तु मैं तो शोक करता हूँ। अतः भगवन्! मुझे शोक से पार कर दीजिए। सनत्कुमार ने उपर्युक्त शिक्षा को वाणी का विलास मात्र माना और इससे आगे क्रियात्मक उपासना पर जोर दिया। बृहदारण्यक उपनिषद् (चौथे अध्याय, चौथे ब्राह्मण की २१वीं ऋचा) में भी निर्देश है कि बहुत से शब्दों का अध्ययन न करें क्योंकि वह तो वाणी का श्रममात्र है। वाणी के श्रम से वह ब्रह्म मिल ही नहीं सकता। तैत्तिरीयोपनिषद् की श्रुति है--**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।** (ब्रह्मानन्दवल्ली, नवम अनुवाक्)।

मनसमेत वाणी इत्यादि इन्द्रियाँ जिसे न पाकर लौट आती हैं--

मन समेत जेहि जान न बानी। *(मानस, १/३४०/७)*

पुस्तकीय ज्ञान को तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावल्ली/२) में शिक्षा की संज्ञा दी गई है-

शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।
साम सन्तानः। इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।।१।।

आचार्य कहते हैं कि अब हम शिक्षा का वर्णन करेंगे। जिसमें वर्ण, स्वर, ह्रस्व-दीर्घादि मात्राएँ, वर्णों के उच्चारण में लगाए गये बल, उनकी गेयता एवं सन्धि इत्यादि के नियमों की शिक्षा दी जायगी। तत्पश्चात् लौकिक विद्या, नक्षत्र विद्या, प्रजनन विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद, व्यायाम आदि शारीरिक संहिताओं का वर्णन, किन्तु साथ ही 'अधिविद्यम्'- विद्या के विषय में भी जानकारी दी गयी है।

उल्लेखनीय है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के तीन भाग हैं- शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली। शिक्षावल्ली में दी गयी शिक्षा के अनुसार अपना जीवन बना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोक के सर्वोत्तम भोगों को पा सकता है तथा ब्रह्मविद्या ग्रहण करने योग्य बनता है। इस वल्ली में विद्वान् मनीषी ने शिक्षा द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति का शास्त्रानुमोदित मार्ग तो बताया किन्तु इन भोगों को नश्वर बताते हुए उनकी मुख्य दृष्टि ब्रह्मविद्या पर ही है। द्वितीय वल्ली में उन्होंने ब्रह्मानन्द की महत्ता पर प्रकाश डाला और अन्तिम भाग में उन्होंने उस क्रियात्मक विद्या का वर्णन किया जिस पर चलने का निर्देश वरुण ने अपने पुत्र भृगु ऋषि को दिया था।

उपनिषदों का निर्णय है, **'सा विद्या या विमुक्तये।'**- विद्या वह है जो मुक्ति दिला दे। इसी भाव को शंकराचार्य ने प्रश्नोत्तरी में व्यक्त किया है- **'विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदाया। बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः।।'**

बोध वही है जो पूर्ण मुक्ति का हेतु है। यह नहीं कि सब कुछ सुन लिया तो ज्ञानी बन गये। सब कुछ सुन लेने के बाद भी चलना तो शेष ही रहता है। वह दूरी बातों से नहीं; चलकर ही समाप्त की जा सकती है। इसीलिए भगवत्पथ में हजार शास्त्रों को पढ़ने की अपेक्षा उस पथ पर एक कदम चलनेवाला भी अधिक महत्त्व रखता है। इसी प्रकार विद्या उसे कहते हैं कि जिसके पास आवे उसे घसीटकर ब्रह्मगति प्रदान कर दे। जो विद्या ब्रह्म से इंच भर भी दूरी रखती हो, उसके अन्तराल में अविद्या भी कार्यरत है। आजकल की पढ़ाई से क्या ब्रह्मगति मिलती है? अधिक से अधिक अच्छा खाने-पहनने की व्यवस्था हो जाती है। अतः आज की पढ़ाई को विद्या माननेवाले या कोरे पुस्तकीय ज्ञान का ढिंढोरा पीटनेवाले वस्तुतः भ्रम में हैं। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। *(१/२/८)*

अविद्या में स्थिर होकर भी अपने आप को बुद्धिमान् और पण्डित माननेवाले मूर्ख लोग बार-बार कष्ट सहते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के निर्देशन में चलता हुआ अन्धा भटकता रहता है।

कबीर साहब का भी यही विचार है--

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।।

इसी वेदना को पूज्य परमहंसजी महाराज प्रायः व्यक्त करते थे- हो! का कहीं, कैसे कहीं, दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है। सार पढ़तौ जात हैं; लिखतौ जात हैं; लेकिन साधन एक ऐसी वस्तु है जो कभी लिखने में नहीं आती।

उस विद्या को सभी पढ़ भी तो नहीं सकते। कठोपनिषद् में प्रसंग आता है कि महर्षि उद्दालक की आज्ञा शिरोधार्य कर उनका पुत्र नचिकेता यमराज के समक्ष उपस्थित हुआ। यमराज ने नचिकेता से वर माँगने को कहा। नचिकेता ने उनसे ब्रह्मविद्या का रहस्य जानना चाहा तो यमराज ने उसे पृथ्वी के दुष्प्राप्य भोगों तथा स्वर्ग के दिव्य भोगों का प्रलोभन दिया, किन्तु नचिकेता उन सबको ठुकराता गया। यमराज उसके वैराग्य की प्रशंसा करते हुए उसे विद्या का अधिकारी घोषित करते हैं--

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्तः।।
(द्वितीय वल्ली, ४)

विद्या और अविद्या ये दोनों परस्पर अत्यन्त विपरीत और भिन्न फल देनेवाली हैं। नचिकेता! तुम्हें मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ; क्योंकि तुमको बहुत से भोग भी लुभा न सके। सिद्ध है कि विद्या का अधिकारी वही जिज्ञासु बन सकता है जिसने पुत्र-पौत्र, सम्पत्ति-प्रतिष्ठा एवं स्वर्गिक सुखालयों के चिरभोग सुख तक को भी तिलाञ्जलि दे दी हो। अनधिकारी को विद्या देने पर गुरु और शिष्य दोनों को ही पश्चाताप करना होता है। 'मानस' में कागभुशुण्डिजी की अनुभूति है--

अधम जाति मैं विद्या पाये।
भयउँ यथा अहि दूध पियाये।। *(मानस, ७/१०५/६)*

दूध पीकर पुष्ट हुआ सर्प सबसे पहले दूध पिलानेवाले को ही काटता है। कागभुशुण्डिजी के पूर्व जीवन में इसकी परिणति गुरु अवमानना के रूप में हुई थी।

उपनिषदों में विद्या का फल परमात्मा बताया गया है। ईशावास्योपनिषद् का मन्त्र है, **'विद्ययामृतमश्नुते।'**- विद्या से अमृत स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का प्रमाण मिलता है। गीता के नवम अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कहते हैं--

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। *(९/१)*
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।। *(९/२)*

अर्जुन! अब मैं तेरे प्रति उस ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा जिसको जानकर तू इस संसार-बन्धन से भलीभाँति मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान सभी विद्याओं का राजा है, राजविद्या है। स्पष्ट है कि विद्या कोई ऐसी वस्तु है जिसे जानकर व्यक्ति दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जाता है। यह विद्या अव्यक्त है, स्लेट पर लिखी जानेवाली नहीं है। बल्कि अव्यक्त से प्रवाहित एक धारा विशेष है जो परमकल्याण करनेवाली है।

परमगति प्रदायिनी विद्या को सोलह साल नहीं पढ़ना पड़ता-

गुर गृहँ गये पढ़न रघुराई।
अलप काल बिद्या सब आई।। *(मानस, १/२०३/४)*

अल्पकाल में **'विद्या सब आई'**- सम्पूर्ण विद्या आ जाती है। गुरुओं के घर की विद्या बहुत थोड़े समय में आनेवाली है। यह नहीं कि जन्मभर वेद-शास्त्र रटना पड़े। यह

विद्या इष्टप्रेरित है, अनुभवगम्य है जो अनुभवी महापुरुषों के सान्निध्य से ही हृदय में जागृत होती है।

'मानस' में प्रसंग आता है कि दस हजार जन्म भोगकर कागभुशुण्डि मानव-तन में आये। इसके पूर्व भी वे साधु ही थे, लेकिन दम्भी थे। मूर्ख नहीं थे, उग्र बुद्धि थी- **'उग्र बुद्धि उर दम्भ बिसाला।।'** *(मानस, ७/९६/३)* गुरु हितकर उपदेश देते थे, विद्या ही देते थे किन्तु थोड़े समय में उसे रट लेने के बाद उनके अन्दर यह भाव उठा कि अब गुरु महाराज में क्या रखा है, जो था वह सब हमें आ गया। **'गुर नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम।'** *(मानस, ७/१०५ख)*- गुरुदेव नित्य ही वास्तविक प्रबोध करते थे। मेरे आचरणों को देखकर दुःखी होते थे (यहाँ भी गुरुओं के घर की शिक्षा और आजकल की शिक्षा में अन्तर है। आजकल के शिक्षक कक्षाओं में सामूहिक व्याख्यान देते हैं, छात्रों के पल्ले जितना पड़ता है ग्रहण करते हैं। इसके पश्चात् शिक्षक छात्रों को प्रारब्ध पर छोड़ देते हैं, जबकि सद्गुरु अपने शिष्य को तब तक समझाते रहते हैं जब तक शिष्य हृदयंगम न कर ले। वे शिष्य को उसके भाग्य पर नहीं छोड़ते, वे जब बनाते हैं तो गुरु ही बना देते हैं। शिष्य को भी उसी गुरुत्व में स्थिति दिला देते हैं, चाहे इसके लिए शिष्य को हजार जन्म लेना पड़े; किन्तु गुरुदेव की विद्या उसमें सदैव रहती है, आज की शिक्षा की तरह 'आज पढ़े, कल साफ' नहीं होती- **'कवनेउ जनम मिटिहि नहिं ग्याना।'**) अस्तु, गुरुदेव मुझे समझाते रहते थे, मेरे आचरण को देखकर दुःखी थे; किन्तु **'मोहि उपजई अति क्रोध, दम्भिहि नीति कि भावई।'** *(मानस, ७/१०५ख)* मुझे अत्यन्त क्रोध होता था, भला कहीं दम्भी को नीति अच्छी लगती है।

एक बार मैं मन्दिर में बैठकर शिव-नाम जप रहा था। उसी समय गुरु महाराज पहुँचे तो अभिमानवश उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरुदेव तो परम दयालु थे, उन्होंने कुछ नहीं कहा; लेकिन **'अति अघ गुर अपमानता सहि नहिं सके महेस।'** *(मानस, ७/१०६ख)*- गुरुदेव का अपमान बहुत बड़ा अपराध था जिसे भगवान शंकर ही सहन नहीं कर सके। जिन शंकरजी का मैं भक्त था वे इष्ट ही शत्रु हो गये। तुरन्त शाप दिया कि, रे अधम! अजगर की तरह बैठा ही रह गया। जा! आज से अजगर हो जा और एक हजार जन्म इसी तरह भोग! लेकिन सद्गुरु कभी नाराज नहीं होते हैं, वे तो शिष्य के कल्याण के लिए होते हैं, न कि उसके पतन के लिए। कुम्हार घड़े को इसीलिए पीटता है कि वह अपना सही आकार-प्रकार पा जाय, न कि फोड़ देने के लिए। ठीक ऐसे ही गुरुदेव का नियम है कि वे ताड़ना भी देते हैं तो शिष्य के कल्याण के लिए। गुरु महाराज ने हाहाकार किया। भगवान शंकर ने कहा कि एक हजार जन्म तो यह

अवश्य भोगेगा, उसके बाद मानव-तन पायेगा लेकिन आपके द्वारा दिया गया उपदेश इसे कभी भूलेगा नहीं--

कवनेउ जनम मिटिहि नहिं ग्याना।
सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना।। *(मानस, ७/१०८/६)*

जब मानव-तन प्राप्त हो गया, हजार जन्म पूर्व गुरु ने जिस विद्या का उपदेश किया था उसका स्फुरण हो आया, उस पर 'सुरत' टिक गई और भगवान के चरणों में मन लगने लगा। अस्तु विद्या एक बार जागृत हो गई तो फिर वह कभी नष्ट नहीं होती।

प्रौढ़ भएँ मोहि पिता पढ़ावा।
समझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।। *(मानस, ७/१०६/५)*

प्रौढ़ हो जाने पर पिता ने शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था कर दी। मैं मूर्ख नहीं था, समझता था, सुनता था, चिन्तन करता था, लेकिन 'नहिं भावा'- रुचिकर नहीं लगता था। 'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।' *(मानस, ७/१०६/८)* अन्ततः पिता पढ़ा-पढ़ाकर हताश हो गये लेकिन मैंने नहीं पढ़ा। तब गरुड़ का सन्देह स्वाभाविक था कि अरे! ज्ञान से बढ़कर तो कुछ नहीं है। आपके लिए शिक्षा की व्यवस्था भी थी। आप सीखे क्यों नहीं? महर्षि काग उत्तर देते हैं--

कहु खगेस अस कवन अभागी।
खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।। *(मानस, ७/१०६/७)*

गरुड़जी! जब मनचाहा दूध देने के लिए कामधेनु उपलब्ध है तो ऐसा कौन अभागा है जो छटाँक भर दूध देनेवाली गदही की सेवा करता फिरे? इसीलिए गरुड़जी! हम नहीं पढ़े। सिद्ध है कि वह शिक्षा विद्या नहीं थी; विद्या कुछ और ही है। यद्यपि कागभुशुण्डि निरक्षर थे फिर भी वे उस युग के सर्वोपरि विद्वान् थे। यहाँ तक कि उनके यहाँ पढ़नेवाले हंसों का अर्थात् अनुरागियों का जमघट लगा रहता था--

बर तर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा।। *(मानस, ७/५६/७)*
सुनहिं सकल मति बिमल मराला।
बसहिं निरन्तर जे तेहिं ताला।। *(मानस, ७/५६/६)*

त्यागरूपी तालाब में जो तैरते थे, वही वहाँ निरन्तर कथा सुनते थे। यहाँ तक कि शंकर, जिनके डमरू से विद्याएँ निःसृत हैं, वे भी वहाँ सत्संग सुनने जाया करते थे। सिद्ध है कि भगवत्पथ में भौतिक शिक्षा का कोई उपयोग नहीं है और न यह शिक्षा विद्या ही है।

तो फिर विद्या है क्या? एक बार लक्ष्मण ने पंचवटी में प्रश्न किया कि भगवन्! ईश्वर क्या है? जीव क्या है? माया क्या है? इस प्रकार पाँच-सात प्रश्न लक्ष्मण ने किये, तो भगवान राम बोले--

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई।। *(मानस, ३/१४/१)*

तात! मैं थोड़े में ही समझाकर कह देता हूँ तुम बुद्धि, चित्त और मन लगाकर सुनो--

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।। *(मानस, ३/१४/२)*

यह मैं हूँ, मेरा है, तूँ है, तेरा है- बस यही माया है। इसी ने चराचर जीवों को अपने वश में कर रखा है। उन्हें अपने लक्ष्य से च्युत कर रखा है।

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।। *(मानस, ३/१४/४)*

इस माया के दो भेद हैं, एक विद्या और दूसरी अविद्या।

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा।। *(मानस, ३/१४/५)*

इनमें से अविद्या अत्यन्त दुष्ट है, उसके अधीन होकर यह जीवात्मा भवकूप में पड़ता है, और दूसरी शाखा विद्या के लिये कहते हैं-

एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।। *(मानस, ३/१४/६)*

विद्या वह है जिसके वश में गुण हैं। गुण माया में कहीं हैं ही नहीं। जो नश्वर है **'अशाश्वतं दुखालयम्'** – जो दुःख का आगार और नश्वर है उसमें गुण एवं सुख कहाँ? कल्याणकारी गुणधर्म तो एकमात्र ईश्वर में हैं। तो माया का दूसरा भेद विद्या, जिसके आश्रित गुण हैं, स्कूलों में पढ़ने से वह नहीं आती। **'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'**– वह विद्या प्रभुप्रेरित है। जब प्रेरक के रूप में स्वयं प्रभु उतर आते हैं, आत्मा में जागृत होकर पथ-प्रदर्शक के रूप में खड़े हो जाते हैं, उनकी प्रेरणा से ही वह विद्या हमारे अन्दर उतरती है और कार्य करने लगती है।

अतः यदि हमें विद्या (जो भवसागर से पार करनेवाली है, परम कल्याणकारी है) की आवश्यकता है तो उर-प्रेरक की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। किसी अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करने, उनके संरक्षण में रहकर टूटी-फूटी सेवा करने और

उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-पथ पर साल-छः महीने अभ्यास करने से आत्मा जागृत हो जाती है और उस ईश्वरीय प्रेरणा का स्रोत उपलब्ध हो जाता है, जिसके द्वारा मिलनेवाला उपदेश अथवा आदेश ही विद्या है। ज्यों-ज्यों साधक ऊपर उठता जायेगा, त्यों-त्यों यह आदेश, ईश्वरीय स्रोत, ईश्वरीय गुणधर्मों का प्रसार घना होता जायेगा। मायिक द्वन्द्व क्षीण होता जायगा। सर्वथा ईश्वर के निकट की अवस्था आ जायेगी तो हृदय ईश्वरीय गुणधर्मों का ही केन्द्र बन जायगा किन्तु यह सब उन्हीं की प्रेरणा से ही सम्भव होगा; अन्य कोई रास्ता नहीं है। इसलिए जो आत्मा को पकड़ चुके हैं, उनके स्वरूप को पकड़कर आत्मा की आवाज पकड़ने का उपाय करें। जब तक आत्मा की आवाज पकड़ में नहीं आती तब तक वह विद्या 'विद्या' नहीं है। तब तक उसके लिए हम जो कुछ आहें भरते हैं, उस दिशा में अग्रसर होते हैं, वह प्रयास मात्र है जो विफल कभी नहीं होगा।

प्रश्न – महाराजजी! विद्या के पश्चात् भी क्या विवेक की आवश्यकता रह जाती है?

उत्तर– देखिए, विद्या जब हरि-प्रेरित है तो विवेक इतना ही रखना पड़ता है कि हरि कहते क्या हैं?– उसको पकड़ो और उसके अनुसार चलो। उस आदेश पर आरूढ़ रहने की क्षमता ही विवेक है। यदि उस पर आरूढ़ रहने की क्षमता नहीं है तो विद्या कार्य नहीं करेगी, भगवान भी रुष्ट हो जायेंगे–

मोरेहु कहें न संसय जाहीं।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।। *(मानस, १/५१/६)*

पूज्य परमहंसजी महाराज ने इस विवेक को बड़े सरल ढंग से समझाया कि, "हो! आज्ञापालनै भजन है। तुम मत सोचो कि आज्ञा गलत है कि सही।" लेकिन हमसे उन्होंने यह आठ साल बाद कहा। प्रारम्भ में नहीं बताया था। प्रारम्भ में साधक के पास आज्ञापालन करने की क्षमता और आज्ञा ही कहाँ है? जब हृदय में ईश्वरीय आदेश का सूत्रपात हो गया, उसके बाद ही महाराजजी ने कहा कि आज्ञापालन ही भजन है। उस आज्ञा में मिलनेवाली वस्तु ही विद्या है। विवेक का इतना ही स्थान है कि उस आज्ञा पर दृढ़ता से चलें। भगवान आदेश देते हैं कि इस रास्ते से आगे बढ़ो, तो यह मत सोचो कि वहाँ पर सर्प है। सर्प होगा भी तो हार बन जायेगा। मीरा के लिए हार बन गया था। विष होगा तो अमृत बन जायगा, मीरा के लिए अमृत बन गया था; क्योंकि उत्प्रेरक के संकेत पर ही उसने विषपान किया था–

राणा जी! मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
कोई के पिया परदेश बसत हैं, लिख लिख भेजै पाती।
मेरे पिया मेरे हिय बसत हैं, ना कहुं आती जाती।।

मीरा के परम पिया परमात्मा उसके हृदय में जागृत थे, प्रत्यक्ष रूप में बैठे थे, इसलिए वह निर्भय थी।

प्रश्न-महाराजजी! तब तो जो संकेत हृदय के भीतर से मिलता है, क्या वही विद्या है?

उत्तर- हाँ, वही विद्या है। **'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'**- वह विद्या प्रभु प्रेरित ही होती है। यही कारण है कि विश्व के अनेक तत्त्वज्ञ महापुरुष पार्थिव शिक्षा में निरक्षर थे। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार पाँच वर्ष के बच्चे ही तो थे, कहाँ पढ़े? शुकदेव बचपन से ही भाग खड़े हुए; किन्तु वे अनेक जन्मों से चलनेवाले योगी थे। विद्या स्वाभाविक रूप से जन्म के साथ ही उनके हृदय में प्रवाहित थी। उनके पिता व्यास अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। चार वेद, छः शास्त्र, अठारहों पुराण, महाभारत और भागवत इत्यादि के रचयिता थे, संकलनकर्ता थे; किन्तु वास्तविक जानकारी में शुकदेव उनसे कहीं आगे थे। यदि लिखने-पढ़ने का नाम ही विद्या होता तो व्यास बहुत पढ़े थे। निरक्षर थे कागभुशुण्डि, **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।'** जड़ भरत पढ़े-लिखे नहीं थे। बचपन से ही उनकी दृष्टि इष्ट पर थी, लोगों ने समझा पागल हैं।

ठीक इसी प्रकार 'महामानव बुद्ध' भी सांसारिक शिक्षा के प्रति उदासीन रहे। वे राजपुत्र थे। उनके शिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था थी; किन्तु उनका मन पढ़ाई में न लगा। यद्यपि बौद्धग्रन्थ, 'ललितविस्तर' के अनुसार सिद्धार्थ को बचपन में तत्कालीन कलाकौशलों की शिक्षा कपिलवस्तु में मिली थी तथा दूसरे ग्रन्थ 'महावस्तु' के अनुसार यशोधरा के स्वयंवर में पाँच सौ शाक्य कुमारों के बीच आयुध कौशल-प्रदर्शन में उन्हें अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनी पड़ी; किन्तु जिस विद्या के स्पर्श से सिद्धार्थ बुद्ध बने, उनके लिए उस शिक्षा का कोई उपयोग नहीं था। चिन्तनशील होने के कारण बालक सिद्धार्थ का मन इन सांसारिक विषयों में अनुरक्त नहीं होता था। बहुधा लोगों ने उन्हें महल से दूर एक जम्बूवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ देखा था। साधनावस्था में सिद्धार्थ की घुड़सवारी, तीरन्दाजी, मल्ल-कला और धनुर्वेद की सिद्धहस्तता काम न आयी। इन पर सिद्धार्थ हँसे और इन्हें छोड़कर वास्तविक विद्या सीखने योग्य गुरु की खोज में राजगृह आये, जहाँ आलार एवं उद्रक नामक ऋषियों से उन्होंने आर्य साधना-पद्धति का ज्ञान प्राप्त किया। ध्यान की क्रमिक भूमिकाओं के उपरान्त गया में वटवृक्ष के तले उन्हें विद्या की अनुभूति हुई। ईश्वर

की प्रेरणा से वे विद्वान् बन गये। उन्हें 'बुद्ध' की पदवी मिली। तथ्य से अवगत होने के कारण उन्हें 'तथागत' कहा गया।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यातायात की कठिनाइयों को झेलते हुए, महासागरों की उत्ताल तरंगों को अपनी छोटी-छोटी नौकाओं से चीरते हुए भारतीयों ने चीन, जापान, मिस्र और यूनान तक बुद्ध की उसी विद्या का सन्देश सुनाया, जिसे वहाँ की जनता ने न केवल आदर के साथ सुना बल्कि हाथों-हाथ उठा लिया, जो आज भी विश्व की अधिकांश जनता का कल्याण-स्रोत बना हुआ है। कलिंग को ध्वस्त करते समय रणोन्मत्त अशोक के कर्णकुहरों में बुद्ध की इसी विद्या का स्वर पड़ते ही तलवार उसके हाथ से सदा-सदा के लिए गिर गयी। जहाँ-जहाँ भी यह विद्या पहुँची, भेरी का घोष बन्द होता गया। चतुर्दिक धर्मघोष ही सुनाई पड़ने लगा। इसी विद्या का प्रचार करने के लिए अशोक ने अपने पुत्र एवं पुत्री को लंका भेजा और अपना सारा जीवन इसी विद्या पर निछावर कर दिया। भारत पर आक्रमण करनेवाले यूनानियों, शकों, पह्लवों, कुषाणों और हूणों को इस विद्या ने न केवल आकर्षित किया बल्कि उन्हें आत्मसात् कर लिया, भारतीयता के रंग में रंग दिया। ईश्वर-प्रेरित विद्या से महिमान्वित इस मनीषी ने जहाँ टट्टी-पेशाब भी कर दिया, 'तीर्थ' बन गया। संसार के कोने-कोने से प्रतिवर्ष लाखों तीर्थयात्री लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया और कुशीनगर का दर्शन करके असीम शान्ति का अनुभव करते हैं; करते रहेंगे।

अरब के हजरत मुहम्मद कहाँ पढ़े थे? महात्मा कबीर ने तो **'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ'**- लेखनी का स्पर्श भी नहीं किया था। गुरु नानक को हिन्दू या मुसलमान कोई भी शिक्षक नहीं पढ़ा सका। पिता ने उन्हें खेती की देखभाल में नियुक्त किया। वहाँ भी वे असफल रहे। व्यापार से धन बढ़ाने की अपेक्षा 'सत नाम' का अर्जन करना ही उन्होंने श्रेयस्कर माना। लोकनायक तुलसी ने भी यद्यपि काशी में शेष सनातन के पास रहकर वेद-वेदांग का पन्द्रह वर्षों तक अध्ययन किया; किन्तु मानस की कथावस्तु का आधार उन्होंने उस विद्या को ही बनाया जिसे उन्होंने अपने गुरु नरहर्यानन्दजी से सुना था-

मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकर खेत। *(मानस, १/३० क)*
भाषाबद्ध करबि मैं सोई।
मोरें मन प्रबोध जेहिं होई।। *(मानस, १/३०/२)*

गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसी हरिप्रेरित विद्या का निरूपण 'मानस' में किया जिसका प्रस्फुटन हृदय-देश में होता है-

तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरे। *(मानस, १/३० ख/३)*

स्थान-स्थान पर गोस्वामीजी ने इसी स्रोत की ओर इंगित किया है-

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी।।
प्रनवउँ सोई कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुन गाथा।।
(मानस, १/१०४/६-७)

यदि लौकिक शिक्षा-दीक्षा का महत्त्व विद्या जैसा ही होता तब तो तुलसी से भी अधिक पढ़े-लिखे व्याकरणाचार्य काशी में थे किन्तु आज उनका कोई नाम तक नहीं जानता। क्या उनमें से एक भी तुलसी के समकक्ष बन सका? ब्रह्म-विद्या होने के कारण ही तुलसी-साहित्य नित नूतन कलेवर धारण करता जा रहा है। इसी विद्या की शोध में देश-विदेश के लाखों जिज्ञासु, विश्वविद्यालय के प्रोफेसर चित्रकूट के रामायण मेले में आते हैं और देखते-देखते संसार भर में इसी वा ङ्मय का प्रचार-प्रसार अबाध गति से होता जा रहा है।

मीरा पढ़ी-लिखी नहीं थीं किन्तु उस प्रेम-योगिनी के भाव प्रकाशन में भाषा बाधक नहीं बनी। उनके आत्म-निवेदन में ललित पदावलियों की ऐसी स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई कि राजस्थान की मरुभूमि एवं साहित्य महारथी दोनों ही एक समान उससे आप्लावित हो उठे। रामकृष्ण परमहंस के समक्ष पढ़ाई-लिखाई का प्रश्न ही नहीं था। सोलह वर्ष की आयु में पागलों की तरह थे तो भला शिक्षा कब हुई? इसी क्रम में काशी के हरिहर बाबा भी हुए। पार्थिव शिक्षा में निष्णात न होने पर भी ये सभी अपने युग के सर्वोपरि विद्वान् माने गये।

गोरखपुर के 'सत्संगी महाराज' को, जिन्होंने एक सौ पचीस वर्ष की आयु में महाप्रयाण किया, आजीवन लोग पागल समझते रहे। लेकिन पुण्यात्माओं को आकाशवाणी हुई कि ये महापुरुष हैं, मेरे स्वरूप की स्थितिवाले हैं। उनकी शरण में जाओ, उनसे शिक्षा लो। पूज्य परमहंसजी को भी आकाशवाणी हुई। मन्दिर में जाकर देखा तो वही पागल बाबा दिखाई पड़े जो रोज इधर-उधर घूमते थे। चरणों पर गिरे, अल्प अवधि में उस साधन को पकड़ा और ठीक चार महीने में हरिप्रेरित विद्या का स्रोत हृदय में प्रवाहित हो गया। पूज्य परमहंसजी महाराज भी पढ़े-लिखे नहीं थे, केवल तीन दिन पाठशाला गये थे। तीसरे दिन पण्डितजी ने एक छड़ी मार ही तो दिया। वे रोते-रोते घर आ गये। फिर तो माँ ने कहा- भाड़ में गयी ऐसी शिक्षा! और पार्थिव शिक्षा का पाठ उसी दिन से बन्द हो गया। एक समय अनुसुइया आश्रम में उनके हस्ताक्षर की आवश्यकता पड़ी तो एक सज्जन ने महाराज जी से तीन दिन तक हस्ताक्षर करने का अभ्यास

कराया। प...र...मा...न...न्द... के प्रत्येक अक्षर को महाराजजी ने बड़े मनोयोग से सीखा। 'द' के नीचे महाराजजी ने लकीर एक इन्च खींच दी थी। संकोच और भयवश उन सज्जन ने कुछ नहीं कहा। हमने देखा तो कहा- महाराजजी, यह लम्बाई कुछ कम कर दी जाय, तो वे मूँछों पर ताव देते बोले- 'हूँ! तूँ का जानिहै, मैं जो पढ़े हूँ!' वे जानते थे कि यह ठीक कह रहा है, लेकिन नहीं माने।

अनुसुइया आश्रम में विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर, विद्वान् पहुँचते ही रहते थे। साथ आनेवाले उनका परिचय देते कि महाराज ये डाक्टर साहब हैं। इन्होंने 'फिलासफी' या कई विषयों से 'रिसर्च' किया है। तहाँ पहले कुछ देर तक तो वे प्रोफेसर साहब ही अपनी कहें; तत्पश्चात् वे महाराजजी से कुछ सुनाने का आग्रह करते थे। जब महाराजजी का उपदेश आरम्भ हो तो वे सभी विस्मय में कहा करते थे कि, भगवन्! साधना कुछ और ही है। पढ़ना कुछ और है, करना कुछ और है। इस प्रकार निवेदन कर, आशीर्वाद लेकर चले जाते थे। विद्वानों की शिक्षा का उपयोग पूज्य महाराजजी की प्रत्यक्षदर्शिनी वाणी के समक्ष नहीं रह जाता था।

अतः इस भगवत्-पथ पर यदि आप पढ़े-लिखे हैं तो ठीक है और नहीं पढ़े-लिखे हैं तब भी आपके लिए कोई हानि नहीं है; क्योंकि यह विद्या केवल हरिप्रेरित और सद्गुरुओं के घर की विद्या है, उसकी पाठशाला ही दूसरी है। परमहंसजी कहा करते थे, "हो! मोके भगवान पढ़ावत हैं। संसार की चाहे जवन भाषा बोलो, भगवान मोके सब समझावत हैं।"

।। ॐ ।।

साइंस का भाषानुवाद 'विज्ञान'

प्रश्न– महाराजजी! प्राचीनकाल की अपेक्षा आजकल विज्ञान अधिक प्रगति पर है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर– विद्यार्थियो! आप लोगों ने एम.एससी., डबल एम.ए. सब कुछ किया। बता सकते हो कि साइंस का नाम विज्ञान क्यों पड़ा? कब पड़ा? हिन्दी में साइंस को विज्ञान कहते हैं, क्या यह उचित है? आप कहते हैं कि आजकल साइंस बड़ी प्रगति पर है। आज से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व हवाई जहाज की इस रूप में कदाचित् कल्पना भी नहीं थी। लेकिन आज वह सर्वसुलभ होता जा रहा है। राकेट, बम, परमाणु, हाइड्रोजन, मिसाइल और न जाने क्या-क्या आविष्कार होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि घर बैठे-बैठे हजारों मील की दूरी तक विध्वंस करना सम्भव हो गया है। रोशनी, बिजली आप देख ही रहे हैं। चकाचौंध कर देनेवाले टेलीविजन भी आप देखते ही हैं, जिस पर हजारों मील दूर के दृश्य उभरते हैं। चन्द्रमा तक के दृश्यों को संसार ने देखा। मोटर, ट्रेन इत्यादि आविष्कार आप देख रहे हैं, जिसमें आये दिन परिवर्तन होते ही रहते हैं। अंग्रेजी माध्यम से इन सबका नाम साइंस ही है।

यह साइंस आज ही प्रगति पर है, ऐसी कोई बात नहीं है। आज से हजारों-लाखों वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर सैकड़ों बार आविष्कार हुए और आविष्कार जब पराकाष्ठा पर पहुँचा, तो इसका परिणाम क्या हुआ? सर्वनाश! सैकड़ों बार यह साइंस प्रगति पर आई, भौतिक आविष्कार हुए, शक्तियाँ परस्पर टकराईं और उसका परिणाम भयंकर संघर्ष निकला। देवासुर-संग्राम से शास्त्र भरे पड़े हैं, आज से लाखों वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक घटना है। इतिहास तो आप जानते ही होंगे! पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि भारतवासी इतिहास लिखना नहीं जानते थे, यह गलत है। प्राचीन इतिहास पुराणों में अक्षुण्ण है। उनमें पुरानी घटनाएँ अंकित हैं इसलिए उन्हें पुराण कहा जाता है। कालान्तर में उसी का नाम इतिहास पड़ा, जिससे इति का आभास मिलता है।

लाखों वर्ष पूर्व सत्ययुग में हिरण्यकशिपु नामक एक क्षत्रिय नरेश हुआ। उसने अपनी वेधशाला में यहाँ तक आविष्कार कर लिया कि न दिन में मरें न रात में मरें, न अस्त्र से मरें न शस्त्र से, न पशु-पक्षी से मरें, न मानव से। जब उसने सोच लिया कि अब हमें मरना ही नहीं है तो भगवान क्या होगा? तुरन्त उसने भगवान को तिलाञ्जलि दे दी और घोषणा करा दी कि हमारे राज्य में जो भगवान का नाम लेगा उसे मृत्युदण्ड मिलेगा। वह इतना कट्टर था कि अपने इकलौते बेटे प्रह्लाद को भी क्षमा नहीं कर सका। फाँसी पर चढ़ा दिया। हाँ, यह बात अलग है कि भगवान एक ऐसी सूक्ष्म

सत्ता है कि मासूम बच्चे का स्पर्श कर ले, उस पर वरदहस्त रख दे तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसे नष्ट कर सके। उसको समुद्र में फेंक दिया गया, आग में झोंक दिया गया, हाथियों से कुचलवाया गया, लेकिन प्रह्लाद बच गया और एक समय आया कि हिरण्यकशिपु मारा गया। उसकी मृत्यु के लिए भी रास्ता निकल आया। उस समय की साइंस में अन्तर इतना ही है कि उस समय के मनुष्य शरीर-प्रधान थे। कोई आविष्कार करते थे तो अपने शरीर पर ही उसे मढ़ने का प्रयास था। आज की साइंस यन्त्र-प्रधान है, यद्यपि यन्त्र तब भी थे। प्रह्लाद के माध्यम से भगवद्-भक्ति की एक लहर दौड़ गयी और हिरण्यकशिपु का अन्त हुआ।

इसके पश्चात् त्रेतायुग में रावण नामक एक नरेश हुआ। पहले वह नास्तिक नहीं था, भक्त था। जैसा कि अभी आपने देखा, साइंस जब प्रगति पर आती है, उसका परिणाम सर्वनाश निकलता है। किन्तु इसके पूर्व ही एक अन्य परिणाम होता है- नास्तिकता की अभिवृद्धि। रावण भी पहले भक्त था। क्रमशः उसने यहाँ तक आविष्कार किया कि सर कटने पर भी वह न मरे। ऐसे-ऐसे यन्त्र बनाये कि उसे कोई न देखे; किन्तु वह सबको देखे। उसका लड़का मेघनाद युद्ध में क्रुद्ध होकर जब आगे बढ़ा, तो अदृश्य होकर लड़ने लगा। वह रथ पर आरूढ़ था किन्तु अदृश्य था। वह सबको देख रहा था, निशाने साध रहा था लेकिन उसको कोई देख नहीं रहा था। क्या आज भी है कोई आविष्कार जो उससे आगे हो? सिद्ध है कि उस समय का साइंस आज की अपेक्षा अधिक प्रगति पर था। हनुमानजी ने लंका में आग लगा दी तो रावण के संकेत पर मूसलाधार वर्षा होने लगी। वृष्टि पर रावण का अधिकार था। आजकल भी लोग पानी बरसाने का कृत्रिम उपाय सोच रहे हैं। परन्तु अभी सफल नहीं हो सके।

एक समय रावण अमरकण्टक में शिव की पूजा कर रहा था। उसी समय एक शक्तिशाली नरेश सहस्रार्जुन ने नर्वदा नदी का प्रवाह रोक दिया। रावण जहाँ पूजा कर रहा था, जल का स्तर बढ़ गया, फूल बह चले। पता चलने पर रावण के सेनापति प्रहस्त ने आक्रमण कर दिया। शत्रु सबल था अतः प्रहस्त ने सबल यन्त्र मूसल उठाया। मूसल जब चलने को हुआ तो उसके अग्र भाग से प्रलयकालीन लपटें निकलने लगीं। क्या वह धान कूँटनेवाला साधारण मूसल था? सिद्ध है कि वह यंत्र था। हाँ, उस समय की भाषा के अनुसार उसका नाम मूसल अवश्य था। धान कूटनेवाले मूसल से क्या प्रलयकालीन लपटें निकलती हैं। उस समय भी आविष्कार कितना आगे था।

इतने पर भी आविष्कार शान्त नहीं था। शोध जारी था। रावण ने निर्णय किया कि मैं स्वर्ग में सीढ़ियाँ लगवा दूँगा, काल का भय संसार से समाप्त कर दूँगा, अग्नि से धुआँ

मिटा दूँगा- इत्यादि। आविष्कार पराकाष्ठा पर पहुँचा, तहाँ वह मदान्ध हो गया। पहले तो उसने भगवान को तिलाञ्जलि दी, गालियाँ दी, कहने लगा- मैं ही ईश्वर हूँ। फिर उसने सर्वत्र आक्रमण करना, विध्वंस करना प्रारम्भ किया।

अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देश निकासइ जो कह बेद पुराना।।

(मानस, १/१८२/छन्द)

रावण 'धर्म' कानों से सुन भर लेता तो इतना बौखला उठता था कि स्वयं उसे नष्ट करने दौड़ पड़ता था, सेना भेज देता था।

आजकल भी लोग कहते हैं कि भगवान कुछ नहीं हैं। पूजा-पाठ व्यर्थ है। वस्तुतः मायिक क्षेत्र में खाने-जीने की सुख-सुविधा जब-जब मिली, मनुष्य ने भगवान को अनावश्यक और व्यर्थ की कल्पना माना; परन्तु भगवान ने मनुष्य का साथ तब भी नहीं छोड़ा। भगवान तब भी नष्ट नहीं हुए; क्योंकि वही तो एक ऐसी सत्ता है जो कभी नष्ट नहीं होती।

द्वापर में भी ऐसे आविष्कारों का बाहुल्य रहा। उग्रसेन को कोई पुत्र नहीं था। मन बहलाने के लिए उनकी पत्नी वन में विचरण करने गयीं। उसी जंगल में एक असुर रहता था। उसने सुना कि महाराज उग्रसेन की पत्नी घूमने आयी हैं जो अत्यन्त सुन्दरी भी हैं, उसने जंगल में तूफान खड़ा कर दिया। पेड़ गिरने लगे, बड़े-बड़े पत्थर लुढ़कने लगे, अव्यवस्था फैल गयी, घोड़े तितर-बितर हो गये। ऐसी विषम परिस्थिति में वह असुर पहुँचा। उग्रसेन का रूप बनाया और स्त्री से संयोग किया। जाते समय असुर ने अपना रूप दिखाया। उग्रसेन की पत्नी शाप देने को उद्यत हुई तो असुर ने कहा कि इस समागम से आपको अत्यन्त पराक्रमी पुत्र होगा। जिसे लड़का न हो, उसे लड़के की लालच पर्याप्त होती है। वह बेचारी मन मारकर लौट आई। कंस का जन्म हुआ। शास्त्रकार लिखते हैं कि उस अधम राक्षस ने आसुरी माया का प्रयोग किया। तूफान खड़ा कर देना, आग्नेयास्त्रों का संचालन, वृष्टि करा देना इत्यादि आसुरी माया की संज्ञा में था। द्वापर में ही एक अन्य असुर बाणासुर था। उसने भी अपनी वेधशाला में आश्चर्यजनक आविष्कार किये थे। बाणासुर की कन्या जब विवाह-योग्य हुई, तब बाणासुर ने उसे एक सुरक्षित महल में रख दिया। उसके चारों ओर तीन अक्षौहिणी सेना का पहरा बिठा दिया, जिससे कोई राजा-महाराजा उस अनिंद्य सुन्दरी कन्या का अपहरण न कर सके। उस बालिका ने देखा कि मेरे विवाह के लिए ही इतनी सतर्कता बरती जा रही है अतः उसे चिन्ता हुई। बार-बार चिन्तन करने पर स्वप्न में उसे पति का रूप दिखाई पड़े। उसने

अपनी सखी चित्रलेखा को बुलवाया, जो मेधावी साइंटिस्ट थी। सपना सुनाकर चित्रलेखा से यह पता करने को कहा कि सपने में उसे कौन मिला था। चित्रलेखा अनेक महाराजाओं के चित्र दिखाती हुई अन्त में जब श्रीकृष्ण का चित्र बनाने लगी तो बाणासुर की कन्या ऊषा ने बताया, यह तो नहीं हैं; किन्तु इनसे बहुत मिलते-जुलते हैं। जब अनिरुद्ध का चित्र आया तो ऊषा ने कहा, बस यही हैं। और जब यही हमारे भावी पतिदेव हैं तो संकोच किस बात का? क्यों न अभी इन्हें किसी युक्ति से लाया जाय। चित्रलेखा गयी और पलंग समेत अनिरुद्ध को उठा लायी। लाखों का पहरा इधर लगा था और ऐसा ही पहरा श्रीकृष्ण के यहाँ भी था। किन्तु न इन्हें पता चला, न उन्हें भान हुआ। आप ही बताएँ कि उस समय साइंस कितना उन्नत थी?

वनवासकाल में पाण्डव अपना समय बिता रहे थे। उसी समय सिन्धुराज जयद्रथ स्त्री-रत्न की तलाश में निकल पड़ा। उस समय बहुविवाह की प्रथा थी। जब वह घोर जंगल से निकला तो एक कुटिया के सामने अतीव सुन्दरी दिखाई पड़ी। जयद्रथ ने कहा कि इतनी सुन्दर स्त्री तो हमने कभी देखी ही नहीं। मन्त्रियों से कहा-"पता लगाओ यह कौन है? कोई मानवी है या देवी है? मनुष्यों के उपभोग योग्य है भी अथवा नहीं?" मन्त्रियों ने पता लगाकर बताया कि यह तो पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी है। जयद्रथ ने मन्त्रियों से उसे फुसलवाया और स्वयं भी गया। कहने लगा कि देखो, तुम सुखभोग करने योग्य हो। पाण्डव सुख-समृद्धि से हीन हो गये हैं। अतः तुम हमारे साथ चलो। मैं सिन्धुराज जयद्रथ हूँ। मेरे पास रत्न है, सेना है, तुम हमारे ही योग्य हो। द्रौपदी ने उसे बहुत फटकारा, किन्तु कामान्ध जयद्रथ उसे ले भागा। जब वह तीन-चार मील दूर पहाड़ों की ओट में पहुँच गया तब पाण्डवों को इसकी सूचना मिली। पाण्डव उस समय शिकार खेलने गये थे। अर्जुन ने वहीं से दिव्यास्त्र का सन्धान किया। जयद्रथ के घोड़े धराशायी हो गये, रथ चूर-चूर हो गया; किन्तु जयद्रथ और द्रौपदी को खरोंच तक नहीं आयी और भीम ने दौड़कर उसे पकड़ लिया। क्या आज भी ऐसा कोई अस्त्र है जो पचीस आदमियों में से जिसको चाहे मार दे और जिसे चाहे बचा ले, जबकि शत्रु भी अदृश्य हों? अभी तो नहीं है। सिद्ध है उस समय साइंस आज की अपेक्षा अधिक प्रगति पर था।

महाभारत युद्ध के समय दुर्योधन जब बहुत गिड़गिड़ाया तो भीष्म ने कहा- चलो मैं कल ही युद्ध का फैसला किये देता हूँ। एक ही वाण में सम्पूर्ण पाण्डव सेना को धराशायी कर दूँगा। दूसरे दिन भीष्म ने नारायण अस्त्र का सन्धान किया। वह भयंकर अस्त्र जब चला तब श्रीकृष्ण ने कहा- "देखो! इस अस्त्र का एक ही निवारण है कि पीठ दिखा दो। यह शूरवीर को ही मारता है। जो इसे पीठ दिखाता है उसे यह क्षमा कर

देता है।" यह सुनते ही पाण्डव सेना ने पीठ दिखा दी लेकिन भीम ने पीठ नहीं दिखायी। वे तो ताल ठोंककर खड़े हो गये। श्रीकृष्ण ने उन्हें सावधान भी किया कि इस तरह तुम मारे जाओगे, पीठ दिखा दो। भीम ने कहा- अपना उपदेश उसी अर्जुन को करो। मैं क्षत्रिय हूँ। मरना तो एक बार है ही। किन्तु मैं पीठ नहीं दिखा सकता। इधर वह अस्त्र सभी ओर से सिमटता हुआ समूचे वेग से भीम की ओर बढ़ने लगा, तो श्रीकृष्ण ने दौड़कर भीम को छाती से लगा लिया। इधर श्रीकृष्ण ने अपनी पीठ दिखायी, उधर भीम की पीठ तो थी ही। इस तरह श्रीकृष्ण ने उस भक्त की रक्षा की। ऐसे-ऐसे अस्त्र-शस्त्र थे जो हाथ से छूटने पर भी युद्धस्थल में यदि कोई उनसे क्षमा माँग ले तो तत्काल उन्हें छोड़ देते थे। ऐसे ही वाणों को आज बम कहते हैं। अन्यथा क्या वे लोहे की साधारण कीले थीं? क्या आज भी कुछ ऐसे आविष्कार हैं? विश्व में, विशेषतः भारत में यह साइंस आज की अपेक्षा पचासों गुना बढ़ा-चढ़ा था।

परन्तु जब-जब साइंस पराकाष्ठा पर पहुँचा, उसका परिणाम पहले तो नास्तिकता और तत्पश्चात् सर्वनाश ही हुआ। राम-रावण युद्ध, महाभारत युद्ध में असंख्य जनता मारी गयी। शक्तियाँ जब अधिक बढ़ जाती हैं तो ऐंठने लगती हैं। (जैसे आजकल रूस और अमेरिका ऐंठते रहते हैं।) एक-न-एक दिन उनमें टकराव हो जाता है, जिसका परिणाम सर्वनाश होता है। सर्वनाश का तात्पर्य यह नहीं है कि समूची सृष्टि ही समाप्त हो जाती है; अपितु बहुसंख्या समाप्त हो जाती है। अत्यल्प संख्या में लोग बचे रहते हैं। जैसे एकाध परिवार इस जिला में बचा तो दूसरा परिवार अगले जिले में। एक दीपक मिर्जापुर में जल रहा है तो दूसरा काशी में, तीसरा जौनपुर में। इस प्रकार पचीस-पचीस, पचास-पचास मील पर मनुष्य रहने लगा। जनसंख्या कम हो गयी। मनुष्य मनुष्य को देखने के लिए तरसने लगा। जहाँ घनी आबादी और लहलहाते खेत थे, वे स्थान घोर जंगल में परिणत हो गये। आज आप यहाँ बैठे हैं, यदि कोई पचास वर्ष तक यहाँ न आवे तो यहाँ के हरे-भरे खेतों में घनघोर जंगल पाया जायेगा। वनस्पतियाँ इतनी शीघ्र पनपती हैं कि यह स्थान जंगली जीव-जन्तुओं का एक निवास होगा। आपके पड़ोस में, यहाँ से दो मील पर 'मदरहवा' देखते-देखते जंगल बन गया जबकि वहाँ खेती होती थी।

अब मनुष्य उन आविष्कारों को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। उसने विचार किया कि यह उन्हीं आविष्कारों की ही तो देन है कि आज हमारा कोई नहीं बचा। केवल हम एक अभागे थे जो बचे। ढूँढ़ने पर कोई साथी भी नहीं मिलता और कहीं मिलता भी है तो पचासों मील की दूरी पर कोई एक मिलता है। अतः वह उन सिद्धान्तों को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है जिनको वह अपनी सर्वोपरि उपलब्धि समझता था।

धीरे-धीरे वे आविष्कार लुप्त होते गये और लोग साधारण तरीके से रहने लगे। विनाश और विकास तो सृष्टि का नियम है। जिस क्षेत्र के लोग पहले विकसित हुए, वे सभ्य कहलाने लगे और जहाँ कुछ देर से पनपे वे आदिवासी कहे जाने लगे। आदिवासी का तात्पर्य यह नहीं कि जब ब्रह्मा ने सृष्टि रची या आदम पैदा हुआ तभी से असभ्य बने हुए हैं। वस्तुतः वे कई बार सभ्य रह चुके हैं।

इस प्रकार आविष्कार तो बहुत उच्चकोटि के हुए लेकिन उनके आविष्कर्ताओं को किसी ने वैज्ञानिक नहीं कहा। उन्हें असुर कहा जाता था। सुर देवता को कहते हैं। परमदेव परमात्मा पर विश्वास करनेवाले और उसकी ओर चलनेवाले सुर कहलाते हैं। उसे केवल माननेवाले मानव कहलाते थे- जो हृदय में आस्था को सँजोये हैं किन्तु व्यस्तता के कारण ईश्वर-चिन्तन में समय नहीं दे पाते। असुर उन्हें कहते थे जो देवत्व से विलग थे। 'देव'-भगवान अनावश्यक है, मैं ही ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ- इस विचारधारा के लोग असुर कहलाये। कम्युनिज्म भी तो यही कहता है। यही हिरण्यकशिपु ने किया, आविष्कारों के नशे में यही रावण और उसके परिवार ने किया। इसी मदान्धता में महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें लगभग आधे असुर थे। असुर का तात्पर्य ऐसा नहीं है कि दो सींग, बड़ी-बड़ी आँखोंवाले या हाथ-हाथ भर के दाँतोंवाले व्यक्ति रहे हों। श्रीकृष्ण की सगी बुआ का लड़का शिशुपाल असुर था। सगा मामा कंस राक्षस था। सगा समधी बाणासुर निशाचर था। श्रीकृष्ण स्वयं देवता थे, वसुदेव देव-श्रेणी में गिने जाते थे। इन्हीं के सगे-सम्बन्धी पाण्डव शुद्ध नर थे तो दुर्योधन इत्यादि मध्यम अवस्थावाले थे। उनके पक्ष में अधिकांशतः आसुरी प्रवृत्ति के लोग एकत्र थे। इस प्रकार एक सम्बन्धी मानव है तो दूसरा सम्बन्धी दानव है और उसी का सगा सम्बन्धी देव-श्रेणी का भी पाया जाता है।

राक्षसों का एक पर्याय निशाचर भी है। वस्तुतः **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'**- गीता (अ० २/६९) के अनुसार जगत् ही रात्रि है। इस जगत्रूपी रात्रि में विचरनेवाला ही निशाचर है। जगत् को ही सत्य माननेवाले, जगत् में ही विश्वास रखनेवाले, 'खाओ पीओ मौज करो' में ही आस्था रखनेवाले निशाचर कहलाए। ऐसे प्राणी भौतिक आविष्कारों को ही अपना गौरव समझते रहे। जिसमें देवत्व नहीं, बल्कि माया का बहाव है। इसीलिए उनके द्वारा जो आविष्कार होता रहा, उस आसुरी माया को आजकल साइंस कहा जाता है। इनके आविष्कर्ताओं को पूर्वकाल में असुर कहते थे।

अंग्रेज जब भारत आये, अंग्रेजी भाषा के शब्दों का हिन्दी रूपान्तरण प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी शब्द साइंस के हिन्दी पर्याय का प्रश्न खड़ा हुआ। साइकिल चली तो कहा गया

कि यह साइंस की देन है। इतने में 'पी' करती कार आई! लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह निर्जीव लोहा चल कैसे लेता है। देखते-देखते ट्रेन के लिए पटरी बिछ गयी और भयंकर आकृतिवाली रेल हजारों लोगों को ढोने लगी। घोड़ा जहाँ दस घंटे में जाता था, कार एक घण्टे में जाने लगी। लोगों ने कहा कि यह साइंस है। दूर-दूर के समाचार यन्त्रों से आने लगे। तब भी लोगों ने साइंस का गुण गाया। भारतीयों ने देखा कि ऐसा विशेष चमत्कार तो योगदर्शन में पाया जाता है, जिसे हमारे मनीषियों ने विज्ञान की संज्ञा दी थी। इसलिए बंगाल के एक भाषाविद् ने साइंस का नाम झट से विज्ञान रख दिया। वस्तुतः यह विज्ञान नहीं है। विज्ञान तो उसे कहते हैं कि-

विज्ञान

बिनु बिग्यान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ।। *(मानस, ७/८६/३)* बिना विज्ञान के समता नहीं आती। जहाँ विज्ञान आ गया तहाँ विषमता सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है। विश्व में उसका कोई शत्रु नहीं रहता। उससे कोई द्वेष करता ही नहीं है। सर्वत्र एक समता की लहर व्याप्त हो जाती है। आज का सबसे बड़ा वैज्ञानिक अमेरिका को कहा जाता है, रूस को कहा जाता है; किन्तु उन्हें नींद नहीं आती। विषमता इतनी बढ़ गयी कि भारत को कैसे खरीदें, चीन को कैसे मिटा दें? क्या विज्ञान का यही गुणधर्म है? साइंस, जिसे भ्रमवश विज्ञान नाम दे दिया गया है, जहाँ-जहाँ बढ़ी है, वहाँ विषमता की बाढ़ आ गयी। राग, द्वेष और शोषण चरम सीमा तक जा पहुँचा। यह विज्ञान नहीं है। यह तो आसुरी माया का लक्षण है कि सब मरें और केवल हम जियें।

विज्ञान तो कोई ऐसी वस्तु है जिससे एकता आ जाती है, समत्व आ जाता है और जिनके पास आया उसका समर्थन महापुरुषों ने इन शब्दों में किया-

तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा।
नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा।। *(मानस, ७/१२२/४)*

कागभुशुण्डिजी गरुड़ की पीठ ठोंकते हुए कहते हैं कि तुम विज्ञान स्वरूप हो, मोह तो तुम्हें हो ही नहीं सकता। अतः विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है जिसके आ जाने पर मोह नहीं रह जाता। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। *(गीता, ६/८)*

ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार। प्रत्यक्ष दर्शन का नाम ही ज्ञान है। इसके पश्चात् विज्ञान आता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! ज्ञान और ज्ञान के पश्चात् कहीं विज्ञान आ जाय

तो यह आत्मा तृप्त हो जाती है, परिपूर्ण हो जाती है। न तो आत्मा अन्य किसी सम्पत्ति से तृप्त होती है, न दस भाषाओं के ज्ञान से तृप्त होती है और न खान-पान, भोग-विलास से ही तृप्त हो सकती है। आत्मा तो अपने ही शाश्वत रूप परमात्मा के दिग्दर्शन और उसमें प्रवेश पाने पर ही तृप्त होती है। उस ब्रह्मपीयूष को प्रत्यक्ष पाकर ही आत्मा सन्तुष्ट होती है। इससे पहले आत्मा को तृप्त कर देनेवाली कोई सत्ता है ही नहीं।

अतः विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है जो इस आत्मा को ब्रह्मपीयूष से भेंट कराती है और उसे पूर्ण तृप्ति प्रदान कर देती है। ऐसी आत्मा फिर कभी अतृप्त नहीं होती। विज्ञान उसे कूटस्थ, अचल और स्थिर कर देता है। फिर वह आत्मा कभी चलायमान नहीं होती। चलायमान होकर योनियों में जन्म नहीं लेती, शाश्वत स्थिति पा जाती है।

इस प्रकार विज्ञान का इतना बड़ा महत्त्व है कि आत्मा को पूर्ण तृप्ति प्रदान करता है, अचल स्थिति प्रदान करता है, विषमता को समाप्त करके समता प्रदान करता है। जहाँ विज्ञान रहता है वहाँ मोह नहीं रहता। किन्तु इस तथाकथित विज्ञान में तो जिनके पास जितने अधिक आविष्कार हैं, वह उतना ही अधिक इतराता है। उतना ही द्वेष और जलन की भावना उसमें अधिक पायी जाती है। संसार को गुलाम बनाकर अकेले वही जीने की कामना करने लग जाता है। जिनके पास और अधिक आविष्कार हैं, वे कहते हैं कि भगवान कुछ नहीं है, विषय ही सब कुछ है- ''खाओ पीओ मौज करो'' ही सर्वस्व है। जब-जब आविष्कार बढ़े; हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, दुर्योधन सभी ने एक स्वर से यही कहा। देवासुर संग्राम की गाथाओं से पुराणों के पन्ने भरे पड़े हैं; वे पुराण जिनमें हमारे पुरातन इतिहास का संकलन है। देवासुर संग्राम बार-बार हुआ किन्तु उल्लेखनीय है कि दैवी सम्पत्तिवाले समूल नष्ट कभी नहीं हुए। क्योंकि वे भगवान पर आधारित थे और भगवान ही एक ऐसी सत्ता है जिसे न शस्त्र से काटा जा सकता है न अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है। 'मैटर' क्षेत्र में पैदा होनेवाली कोई भी वस्तु उसका स्पर्श तक नहीं कर सकती। वह सर्वत्र संचालित है, वह अपरिवर्तनशील है और वही एक ऐसी सत्ता है जो शाश्वत है। इसीलिए दैवी सम्पत्ति के अनुयायी सदैव थे, आज भी हैं और नास्तिकता चाहे जितनी बढ़ जाय आस्तिकता का संचार बना ही रहेगा।

आज आप कहते हैं कि, ''विदेशों में विज्ञान बहुत प्रगति कर रहा है। इस पृथ्वी से वैज्ञानिकों ने बहुत कुछ पैदा कर लिया है।'' परन्तु यथार्थ तो यह है कि इस पृथ्वी का वे एक कण भी उठा नहीं पाये हैं। उनके सभी आविष्कार मायिक परिधि तक ही सीमित हैं। और विदेश क्या! दुनिया ही एक देश है। हाँ, भारत से बाहर आविष्कारों के पीछे भाग-दौड़ अधिक दिखाई देती है। भारत इस बार पीछे दिखाई दे रहा है। लेकिन

अतीत में आविष्कार भारत में ही हुए थे। हिरण्यकशिपु भारतीय था, रावण भारतीय था, देवासुर संग्राम भारतीयों के बीच ही हुआ था, पाण्डव भारतीय ही थे। आज की तुलना में उनके आविष्कार बढ़े-चढ़े थे; किन्तु परिणाम क्या निकला?- अपने ही स्वजनों की भयंकर क्षति! अतः यहाँ प्रलयकारी युद्धों में कल्याण न देखकर भारत शान्ति और भगवच्चर्चा की ओर अग्रसर हुआ। यही कारण है यह देश मायिक आविष्कारों में इस बार पीछे है। यही भारत की आध्यात्मिक विरासत है जिनके लिए वह सदैव जगद्गुरु रहा है, आज भी है और रहेगा। हमारे पूर्वजों में से क्षत्रिय नरेश विश्वामित्र का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वे अपने युग के जाने-माने आविष्कर्ताओं में से थे। उन्होंने रज-वीर्य के संयोग के बिना ही मनुष्यों की सृष्टि का संकल्प किया। भौतिक वस्तुओं को जोड़कर मनुष्याकृति तैयार की, नारियल-जैसा मुँह बनाया, सीप-जैसी आँखें इत्यादि। जब उनमें प्राण-संचालन करने लगे तो सम्भावित पुरुषों ने आकर उनसे निवेदन किया कि आप यह क्या कर रहे हैं? विश्वामित्र ने कहा कि नयी सृष्टि रचने जा रहा हूँ। महर्षियों ने कहा कि आप समर्थ हैं, रच लेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है; किन्तु तनिक विचार करें कि दुःख भोगने के लिए तो दुनिया भर के जीव पड़े ही हैं, आप और पैदा करने जा रहे हैं। दुःख भोगने के लिए आत्माओं का सृजन आपको शोभा नहीं देता। संसार में इतने जीव दिन-रात हाय-हाय कर रहे हैं। आपको तो ऐसा कुछ करना चाहिए जिससे इन दुःखों से छूटने का कोई मार्ग निकल आये। संसार को न रचकर संसार को पार करा देनेवाली कोई युक्ति रचें। ऐसा सुनकर विश्वामित्र ने अपने उस विचार को बदला। तपस्या में संलग्न हो गये और क्रमशः उस परब्रह्म परमात्मा का दिग्दर्शन कर उसी स्वरूप में परिपूरित हो गये। ब्रह्म से संयुक्त होते ही वे ब्रह्मर्षि कहलाने लगे। इस प्रकार मनीषियों ने मायिक चमत्कारों को कभी भी श्रेय नहीं माना।

विद्यार्थियो! अब तक आपने साइंस पढ़ा जो वस्तुतः आसुरी माया है, जो अधिक बढ़ जाने पर भगवान तक को तिलांजलि दे देता है; किन्तु अब आप वास्तविक विज्ञान की ओर बढ़ें, जिसे जान लेने पर और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, जिसे पा लेने पर और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। केवल वही आपको पूर्ण आत्मिक तुष्टि प्रदान करने में सक्षम है।

।। ॐ ।।

'गो' प्रकरण

प्रश्न– महाराजजी! आप कहते हैं कि अवतार योगी के लिए है, किन्तु 'मानस' में तो गाय के लिए अवतार हुआ। गाय के शरीर में देवताओं का निवास है। गाय हमारा धर्म है। क्या गो-रक्षा के लिए अवतार नहीं हुआ?

उत्तर– हिन्दू-धर्म में गाय के महत्त्व पर प्रायः आन्दोलन हुआ करता है। आज सर्वत्र माँग उठ रही है कि भारत में गो-वध बन्द किया जाय। लाखों भावुक इसके लिए प्राणों की आहुति दे चुके हैं। एक समय हिन्दू-धर्म के प्रचारक बम्बई पहुँच गये। भाविकों ने सत्संग में समस्या रखी कि जब भी धर्म-परिवर्तन होता है, हिन्दुओं को ही फोड़ा जाता है। हिन्दू ही मुसलमान बने, ईसाई भी हिन्दू ही बने। क्यों न हम लोग भी अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू-धर्म में प्रवेश दें। प्रचारक ने कहा, "मुसलमानों को हिन्दू तो बनाया जा सकता है; किन्तु उनके पेट में जो गो-मांस चला गया है, उसका क्या होगा?"

भाविकों ने कहा, "महाराज! अनर्थ तो हो ही गया। अब उपाय क्या है?" धर्म-प्रचारक ने कहा, "एक उपाय है। सम्पूर्ण तीर्थों की वे पैदल तीर्थयात्रा करें, पुनः काशी में यज्ञ इत्यादि के द्वारा उन्हें शुद्ध करके हिन्दुओं की एक अलग जाति बनाकर रखा जा सकता है।" अब किसे पागल कुत्ते ने काटा है कि भारत भर की पैदल यात्रा करे? दूसरे धर्म में भी भोजन मिलता ही है, वस्त्र और मकान हैं ही, धर्म के नाम पर भी कुछ-न-कुछ करते ही हैं- हिन्दू-धर्म में कौन-सा आकर्षण विशेष है; जबकि जातीय समानता भी मिलने से रही। अन्य जाति के रूप में उपेक्षित होकर रहना कौन चाहेगा?

वस्तुतः ऐसी मान्यताएँ हिन्दू-धर्म के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण ही हैं। मनीषियों की व्यवस्थाओं, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण के निर्देशों एवं आचरण से ही यह जान सकना सम्भव है कि शास्त्रों का यथार्थ सनातन स्वरूप क्या है? मानस में उल्लेख है कि हनुमान जब सीतान्वेषण-हेतु लंका गये तो सर्वप्रथम एक ऊँचे शिखर पर चढ़कर शत्रु की गतिविधियों को परखा। उन्होंने देखा कि विशालकाय निशाचर नगर के चारों ओर पहरा दे रहे हैं। कहीं मल्लयुद्ध-कला का अभ्यास कर रहे हैं तो **'कहुँ महिष मानुष धेनु खर, अज खल निसाचर भच्छहीं।'** ***(मानस, ५/२ छन्द)*** भैंस, मनुष्य, गाय, गधा और बकरों को अधम निशाचर खा रहे थे। वे गाय खाते थे, उनके पेट में गो-मांस भी था। उससे भी अधिक महत्त्व रखनेवाले विप्रों का मांस भी उनका आहार था फिर भी रावण से संत्रस्त होकर जितने भी निशाचर राम की शरण में आये, उनको राम ने स्थान दिया। विभीषण, उनके मंत्री, रावण का विश्वस्त गुप्तचर--सबको

राम ने अपने यहाँ स्थान दिया। ऐसा स्थान नहीं कि तुम आज से हिन्दू तो हो गये, किन्तु शूद्र रहोगे बल्कि उन्हें गले लगाया और अयोध्या की भरी सभा में **'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे।'** *(मानस, ७/७/८)* घोषित किया। राम के हृदय में जो स्थान भरत का था उतना ही बड़ा स्थान उन निशाचरों का भी था। यद्यपि वे गो-मांस भक्षी थे, विप्र-मांस भी उनका भोजन था फिर भी राम ने सगे भाई से बढ़कर उन्हें माना। उन्हें वही स्थान दिया जो सगे भाई का होता है। इस प्रकार वे भी शुद्ध सनातनधर्मी हुए। राम की तो घोषणा है कि पुरुष हो, नारी हो अथवा नपुंसक, चराचर का कोई भी जीव जो कपट तजकर सर्वतोभावेन मुझे भजता है वह मुझे परमप्रिय है। चराचर का अर्थ भारत ही नहीं होता, विश्व का कोई भी प्राणी सनातन-धर्मी हो सकता है। तुलसीदासजी की मान्यता है कि **'स्वपच शबर खस जमन जड़ पाँमर कोल किरात।'** *(मानस, २/२६४)* भी नाम के प्रभाव से परम पावन हो जाते हैं तथा चौदहों भुवनों में अत्यन्त सम्मानित बन जाते हैं। अतः सनातन-धर्म में सबका अधिकार है। जो अन्यथा कहते हैं वे सनातन-धर्म को नहीं जानते बल्कि सनातन-धर्म के नाम पर किसी रूढ़ि के शिकंजे में फँस गये हैं। भला जान-बूझकर कौन फँसना चाहेगा?

प्रश्न खड़ा होता है कि हमारे धर्म में गाय कब से आयी? धर्मप्रेमियों के एक समूह से हमने पूछा कि धर्म के स्थान पर गाय कब आयी? उन्होंने कहा- अनादिकाल से! हमने जानना चाहा कि शास्त्रों में कोई उल्लेख है। उन्होंने बताया-"श्रीकृष्ण गाय चराते थे।" हमने कहा कि यादव परिवार में पालन-पोषण हुआ तो गाय न चराते तो हाथी-घोड़ा कहाँ से पाते? जिस परिवार में जन्म होता है, बचपन में वैसी ही व्यवस्था भी मिलती है। रैदास को चमड़ा मिला था, मीरा को सिंहासन मिला था और राम को धनुष-बाण मिला था, तो क्या धनुष धर्म है? बड़े होने पर श्रीकृष्ण ने गाय नहीं चरायी। हमने प्रश्न रखा कि क्या और भी कोई प्रमाण है? इसके पश्चात् उनके पास कहने को कुछ नहीं था। हाँ, हठधर्मिता अवश्य थी। सन्देह की दृष्टि से देखने अवश्य लगे कि गाय के विरुद्ध कहनेवाले ये कहीं मुसलमान तो नहीं हैं?

क्या गाय वस्तुतः धर्म है? उपनिषद् के ऋषियों का कहना है कि सृष्टि में धर्म है तो मानव है। उनका निर्णय है- **'गुह्यं ब्रह्मतदिदं ब्रवीमि। न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।।'** बड़े रहस्य की बात कहता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मनसहित इन्द्रियों की दरार पाट ली जाय, इन्द्रियों की त्रुटियों का निवारण कर लिया जाय तो मनुष्य के रूप में परमात्मा देखा गया। योगेश्वर श्रीकृष्ण का भी यही उपदेश है कि आत्मा ही शत्रु तथा आत्मा ही मित्र है। जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियाँ जीती गई हैं, उसके लिए उसी

की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है तथा जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं, उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति तथा नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः अर्जुन ! तू इन इन्द्रियों को सब ओर से समेटकर मेरा ही चिन्तन कर। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा अर्थात् जैसा स्वरूप श्रीकृष्ण का है, उसी स्वरूप में अर्जुन भी स्थित होगा। स्पष्ट है कि मानव ही परमधर्म परमात्मा तक पहुँच सकता है। देवता तक इसी नर-तन से आशावान् हैं। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे हमारा धर्म नहीं हो सकते। परमधर्म तो परमात्मा ही है।

फिर गाय का इतना महत्त्व क्यों है? वैदिककाल से ही गाय का विशिष्ट स्थान रहा है। द्वापरकाल तक भैंस का दूध दुहा जा सकता है, ऐसी कल्पना भी नहीं थी। महाभारतकाल में भीष्म एवं द्रोण के पश्चात् दुर्योधन की व्यूह-व्यवस्था भंग होने लगी तो कर्ण को मुख्य सेनापति बनाया गया। कर्ण ने कहा कि मैं अर्जुन को मार सकता हूँ किन्तु सारथी श्रीकृष्ण-जैसा होना चाहिए। विचार-विमर्श हुआ, तो पता चला कि वैसा रथ-संचालन तो शल्य ही कर सकते हैं। शल्य का आह्वान हुआ। दुर्योधन ने प्रस्ताव किया- "राजन्! हमारे हित के लिए आप कर्ण का सारथित्व सँभालें।" शल्य बहुत बिगड़ा, बोला- "मुझे कायर और कर्ण को बहादुर समझते हो? हमारा हिस्सा निर्धारित कर दो, शाम तक सबको काटकर स्वदेश लौट जाऊँगा।" वह मद्र देश (मद्रास) का राजा था। बोला- "मैं मूर्धाभिषिक्त राजा हूँ। यह कर्ण तुम्हारे टुकड़े पर पलनेवाला है। मैं इसका सारथी नहीं बन सकता।" ऐसा कहकर शल्य उठ खड़ा हुआ और जाने लगा। दुर्योधन ने क्षमा माँगी और बोला-"राजन्! मेरा यह प्रयोजन नहीं था। बात यह थी कि आप-जैसा सारथी कोई नहीं है। एक आप हैं और दूसरे श्रीकृष्ण! और योद्धा तो आप-जैसा कोई है ही नहीं। आप श्रीकृष्ण से भी अधिक शक्तिशाली हैं।" शल्य लौट पड़ा, बोला-"इतने राजाओं के बीच में तुमने मुझे श्रीकृष्ण से भी शक्तिशाली कहा है। अतः मैं तुम्हारे हित के लिए कर्ण का सारथित्व भी करूँगा किन्तु मैं जो भी कड़वी बात कहूँ, कर्ण उसे सहन करे; क्योंकि मैं नरेश हूँ और यह सूत-पुत्र तुम्हारे टुकड़ों पर पलनेवाला है।" कर्ण ने भी दुर्योधन के हित में यह शर्त स्वीकार की।

युद्धभूमि में जब शल्य ने कर्ण को कड़वी-कड़वी बातें सुनाना प्रारम्भ किया तो कर्ण से न रहा गया। उसने शल्य से कहा, "तुम उस नीच जाति के लोगों के राजा हो जहाँ लोग लहसुन को दूध से खाते हैं। हमारे यहाँ सभी लोग स्वच्छ एवं साफ-सुथरे हैं। तुम्हारे यहाँ भेड़, बकरी, गधी और ऊँटनी का दूध पीते हैं।" स्पष्ट है कि बकरी के दूध का

आविष्कार था, भेड़ के दूध का आविष्कार था, गाय-गधी और ऊँटनी के दूध का प्रचलन था किन्तु 'भैंस' का भी दूध होता है, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

भैंस और भैंसे जंगली जानवर अवश्य थे। आज भी जंगली भैंसे हैं जिनका शिकार होता है। वनवासकाल में एक दिन भीम शिकार खेलने गये। कुछ समय पश्चात् महाराज युधिष्ठिर को अपशकुन होने लगा। युधिष्ठिर को लगा कि भीम संकट में हैं। ऋषियों को साथ लेकर युधिष्ठिर भीम की शोध में निकल पड़े। रास्ते में उनको भीम द्वारा आहत एवं मृत सैकड़ों शेर मिले, सैकड़ों भैंसे पड़े मिले, गैंडे मिले, जंगली हाथी भी मिले। इन्हीं चिन्हों का अनुकरण करते हुए वे वहाँ पहुँचे जहाँ अजगर-वेश में नहुष से लिपटा भीम निश्चेष्ट पड़ा था। युधिष्ठिर ने नहुष के प्रश्नों का समाधान कर भीम की जीवन-रक्षा की। इस प्रसंग में भीम द्वारा मारे गये भैंसों का उल्लेख है। भैंसे, शेर तथा हाथी जंगली जन्तु थे। दुधारू पशुओं में भैंस का उल्लेख महाभारतकाल तक नहीं पाया जाता।

इसीलिए गाय पूजनीय थी क्योंकि दूध देनेवाले पशुओं में वही सर्वश्रेष्ठ थी।

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।।

कृषि-कार्य करने के लिए गो का विशेष महत्त्व था। उस समय विराट के पास गोधन सबसे अधिक था जिससे दुर्योधन आदि नरेश स्पर्धा किया करते थे। बैलों से खेती होती थी, आज की तरह ट्रैक्टर नहीं थे। दूध, दही, घी, अन्न, खाद इत्यादि अत्यन्त उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का एकमात्र आधार गाय थी। अतएव गाय सर्वश्रेष्ठ धन थी और धन की पूजा तो होती ही है।

गजधन– हाथी एक धन था। युद्धों में टैंक के स्थान पर हाथियों का समूह बढ़ा दिया जाता था। किले का फाटक तोड़ने के लिए तथा सैनिकों को विचलित करने के लिए हाथी ही एकमात्र साधन था। रास्ता बनाने के लिए, पेड़ों को गिराने के लिए तथा सवारी एवं शृंगार के लिए भी उसका महत्त्व था। इसलिए हाथी की भी पूजा होती थी। उसका स्थान टैंकों और तोपों ने ले लिया तो हाथी को अनावश्यक चारा कौन खिलाए? पहले उसी की पूजा होती थी। आज भी उसका अस्तित्व है किन्तु क्षीण होता जा रहा है। या तो कुछ लोग भीख माँगते समय 'गणेशजी' कहकर उसकी पूजा कराते हैं अथवा विवाह या कुछ पर्वों पर गजशाला पूज ली जाती है। गज की पूजा समाप्त होती जा रही है; क्योंकि वह अब धन के स्थान से च्युत होता जा रहा है।

बाजिधन– घोड़ा एक धन था। प्रारम्भ में आवागमन के तीव्रतम साधन में उसकी गणना थी। राजा-महाराजाओं के पास जितने अधिक घोड़े और रथ होते थे, उतने ही सम्पन्न

समझे जाते थे। मोटर, हवाई जहाज इत्यादि सुलभ तीव्र साधनों के समक्ष घोड़ा भी महत्त्वहीन हो चला है। प्रारम्भ में घोड़ा की पूजा होती थी क्योंकि धन था। अब वह भी धन के स्थान से च्युत हो चला है इसलिए उसकी पूजा का प्रचलन भी अस्तित्व खोता जा रहा है।

'रतनधन' की पूजा पहले भी होती थी और आज भी होती है। सोना, जवाहरात आज भी अपने स्थान पर हैं। उनका स्थानापन्न कोई दूसरा स्वरूप सामने नहीं आया। उनसे भी उपयोगी द्रव्य अभी आविष्कार में नहीं हैं। इसलिए वे धन के स्थान पर यथावत् हैं। दीपदान के समय लक्ष्मी-पूजन की प्रथा अब भी है।

इस प्रकार प्राचीनकाल में गाय की पूजा इसलिए होती थी कि वह सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति थी। विराट इत्यादि जिन राजाओं के पास अधिक गोधन था, उनका विशेष महत्त्व था। दूसरे नरेश भी गोधन लूटकर अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की ताक में रहते थे। प्राचीन शिक्षा में गोचारण भी अनिवार्य विषय था। राजकुमार भी गाय चराते थे, जिससे गोधन की गतिविधियों से अवगत हो जायँ और उनकी रक्षा कर सकें। आज गाय की अपेक्षा भैंस दूध की अधिक पूर्ति करती है। कृषि भी ट्रैक्टरों पर आधारित होने लगी है। बैल उपेक्षित होते जा रहे हैं। विदेशों में तो बैल से खेती करने की कल्पना भी नहीं रह गई। खाद की समस्या भी दूसरी तरह से हल हो रही है। रासायनिक उर्वरक आवश्यक हो रहे हैं। इस प्रकार गाय अब धन के स्थान से च्युत हो रही है किन्तु अन्त में च्युत हुई इसलिए अभी घाव ताजा है। प्राचीन प्रथा को तोड़ते संकोच लग रहा है। सहन नहीं हो रहा है कि वह हमारा धर्म नहीं है। वस्तुतः गो धन थी इसलिए पूजा होती थी, न कि वह हमारा धर्म या उसका अंग है। भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में गाय की पूजा होती थी क्योंकि वह धन थी। वैदिक वाङ्मय में धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर गो-रक्षा का निर्देश है। उस साहित्य में मनसहित इन्द्रियों को 'गो' कहा जाता था। 'मानस' में भी इसी आशय से 'गो' का प्रयोग है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।। *(मानस, ३/१४/१३)*

इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयों में जहाँ तक मन कल्पना कर सकता है, उसे माया जानना चाहिए। जिन महापुरुषों ने मनसहित इन्द्रियों को संयमित कर लिया, उन्होंने तत्क्षण परमधर्म परमात्मा में प्रवेश पा लिया। काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि के द्वारा इन्द्रियाँ विकृत होती हैं, विषयों में बिखर जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं- यही इन्द्रियों का वध है, यही गो-वध है। विवेक, वैराग्य, नियम, संयम, ध्यान और समाधि द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ केन्द्रित होती हैं। यही गो-रक्षा है।

अतः 'गो-वध बन्द करो' 'गो-रक्षा करो' तभी धर्म की जय होगी, परमधर्म परमात्मा पर विजय मिलेगी। गो-रक्षा पर ही धर्म निर्भर है। यदि हमें परमधर्म की चाह है तो गो-रक्षा करें, उन्हें संयत करें। यदि इन्द्रियाँ विकृत हैं तो आप परमात्मा की पूजा नहीं कर सकेंगे। मनसहित इन्द्रियों के निरोध के साथ ही उस पूजन का विधान है। इसलिए गो-रक्षा सनातन-धर्म का सर्वोपरि अंग है।

साधना के सही दौर में पड़कर जब मन इष्ट के चरणों में लगते-लगते अतिसूक्ष्म होने लगता है, तहाँ ब्रह्म-पीयूष का स्रोत योगी के हृदय में मिलने लगता है। यह आनन्द-स्रोत ही नन्दिनी है। यही इन्द्रियाँ जब पूर्णतः साध ली जाती हैं, उस अवस्था में यही कामधेनु हो जाती है। इन्द्रियाँ जब तक विषयोन्मुख दौड़ती हैं, इच्छित वस्तुओं के लिए मन दौड़ता रहता है, पूर्ति नहीं होती; किन्तु मनसहित इन्द्रियाँ जब सिमटकर इष्ट के तद्रूप अचल स्थिर ठहर जाती हैं, उस समय इच्छायें शक्ति से संयुक्त हो जाती हैं, फिर तो **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** *(मानस, ७/११३/४)* उस समय कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता और अन्त में जब यह द्रष्टा जीवात्मा अपने परमात्म-स्वरूप में स्थित हो जाता है उस समय कामना ही नहीं रह जाती। **'पाप पुण्य की करे न आसा। सो पहुँचे रघुनायक पासा।'** उससे श्रेष्ठ आगे कुछ सत्ता ही नहीं है तो कामना किसकी करे। ऐसा पुरुष पूर्णकाम होता है।

इस प्रकार योगशास्त्रों में 'गो' का तात्पर्य इन्द्रिय ही होता है। मनसहित इन्द्रिय-समूह को विकृत न करें, इनका संयम करें, गो-रक्षा करें। जब हम वासनाओं से इन्द्रियों की रक्षा करने में सक्षम होंगे, परमधर्म परमात्मा विदित हो जायगा। इसलिए यदि धर्म की आवश्यकता है तो गो-रक्षा करें; किन्तु ऐसा नहीं कि किसी पशु का पीछा कर बैठें। यदि पूर्वजों ने किसी पशु का पीछा किया हो तो आप करें। किन्तु धर्मग्रन्थों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। पशु के रूप में गाय, बैल, हाथी तथा घोड़ों की पूजा करना 'धर्म' नहीं है। गाय का महत्त्व सामाजिक एवं आर्थिक उपादेयता के कारण था और धन तो आज भी पूजा जाता है।

आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से गायों का सम्वर्धन विदेशों में भी रहा है। मुहम्मद साहब ने कुरान शरीफ में लिखा है कि गाय पालतू पशु है, यह मारने की चीज नहीं है, इसकी रक्षा करो। 'कुरआन' का दूसरा सूरा 'अलबकर' है। गाय को अरबी में 'बकर' कहते हैं। वहाँ भी इन्द्रियों के दमन का निर्देश है। जिसे अल्पज्ञ 'गोकुशी' मान लेते हैं। वहाँ विचित्र गाय का उल्लेख है- जो न खेत जोतती हो, जिस पर जुआ न रखा गया हो, जो खेत को पानी न देती हो, एक रंग की हो, किसी दूसरे रंग की मिलावट न हो, सुनहले

रंग की हो, ऐसी गाय को ईश्वर के निमित्त मारना है। यहाँ भी इन्द्रियों द्वारा विषय-सेवन का निरोध कर विशुद्ध अन्तःकरण से उन्हें ईश्वर में लगा देने मात्र का निर्देश है। मुहम्मद साहब ने गाय के दूध और माँ के दूध को समान माना है और गायों की रक्षा पर बल दिया है। बकरीद का पर्व और उसमें गायों को काटना कुरान में कहीं नहीं लिखा है। किंवदन्ती है कि ईश्वर ने रसूल से उसकी प्रिय वस्तु माँगी। उसने अपने पुत्र की बलि दी तो पुत्र के स्थान पर 'बकरा' हो गया, लड़का बच गया। किन्तु कुरान में बकरीद की चर्चा तक नहीं है। खाने-पीने का एक तरीका धर्म के नाम पर चल पड़ा।

मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो गाय के प्रति हिन्दुओं की कमजोरी को भाँप लिया। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी तथा बाबर आदि सभी ने किसी-न-किसी रूप में गायों को आगे करके आक्रमण किया। स्वस्तिवाचक पुजारियों के निर्देश पर धर्मभीरु क्षत्रियों ने गोमाता की रक्षा के लिए शस्त्र नीचे रख दिये। मुट्ठीभर मुसलमानों ने गाय की ओट से निशाना लेकर पहले तो सैनिकों को मारा, पण्डितों को पकड़कर मुसलमान बना लिया और हिन्दुओं की भावनाओं को उत्पीड़ित करने के लिए गायों को भी भूनकर पचा लिया, जिसका इतिहास साक्षी है। मुसलमानों ने ऐसा जो किया उनका दोष नहीं है, दोष तो हमलोगों का है जो हमने धर्म को नहीं समझा और धर्म के नाम पर रूढ़ि पूजी जाने लगी। अतः पशु-पूजा, वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा जैसी रूढ़ि न अपनावें। धर्म का वास्तविक रहस्य एवं उसकी क्रिया समझने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महात्मा की शरण में जायँ।

यदि भगवान के अलावा और कोई धर्म हो तो आप ही बतावें। क्या गीता, क्या रामायण, क्या उपनिषद्, क्या योगदर्शन, सब में साधनाओं की ऊँची-नीची अवस्थाएँ तो ध्रुव अकाट्य है। इन अवस्थाओं का चित्रण तो अवश्य मिलेगा किन्तु वह अलग-अलग धर्म नहीं है।

।। ॐ ।।

आर्य

प्रश्न– *महाराजजी! अंग्रेज इतिहासकार भारत के इतिहास को आर्यों का इतिहास तो मानते हैं, लेकिन उनका कहना है कि आर्य भारत के रहनेवाले नहीं थे बल्कि भारत के बाहर से, यूरोप की ओर से आये थे। आर्य गोरे थे, अंग्रेज भी गोरे हैं; अतः अंग्रेज ही शुद्ध आर्य हैं, म्लेच्छ नहीं। यह देश सदैव विदेशियों द्वारा जीता गया, अतः अंग्रेज राज्य करने आये तो बुरा क्या है? अंग्रेज यह भी कहते हैं कि आर्यों के आने से पहले भारत में असभ्य काले लोग रहते थे। आर्यों ने उनको दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया। सिन्धु नदी के किनारे सभ्य लोगों की पुरानी बस्तियाँ खुदाई में आयीं तो अंग्रेजों ने कहा कि अपवाद रूप में कुछ काले लोग सभ्य हो गये थे। इसीलिए इस सभ्यता को आर्यों से भिन्न माना जाता है और इसे केवल 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' कहते हैं। सिन्धु घाटी में कोई मन्दिर नहीं मिला, और जो कहते हैं कि लाखों शिवलिंग मिले हैं, वास्तव में मूसल, लोढ़े, सिल-बट्टे हैं– ऐसा अर्नेस्ट मैके ने लिखा है। आर्य और अनार्य का प्रश्न खड़ा करके दक्षिण भारत में राम का पुतला जलाया गया। अंग्रेज यह भी कहते हैं कि पहले के भारतीय इतिहास लिखना ही नहीं जानते थे। उसमें सन्-तारीख लिखी ही नहीं गयी, इसलिए पुराणों में वर्णित इतिहास गप्प है। जबकि भारतीय ग्रन्थों में लाखों वर्ष पहले का इतिहास लिखा गया है। 'बाइबिल' में मानव-सृष्टि चार हजार वर्ष पहले की बताई गई है। इधर मुसलमान कहते हैं, चौदहवीं शताब्दी के बाद यहाँ प्रलय हो जायगा।– इन विचारों में कहाँ तक सत्यता है?*

उत्तर– भारतीय इतिहास के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इतिहास लेखन की ही बात लीजिए। हमारा इतिहास वेद में है, पुराणों में है; उसे अंग्रेज इतिहास मानने को तैयार ही नहीं हैं। महाराज हर्ष के समय में चीन का एक यात्री 'ह्वेनसांग' भारत आया था, उसने लिखा है कि प्रत्येक गाँव में एक कर्मचारी होता था जो अच्छी-बुरी सभी घटनाओं को लिखता था। इतिहास और कैसा होता है? उससे भी हजार वर्ष पहले चाणक्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में प्रत्येक गाँव में 'अक्ष पटल' विभाग होता था जो गाँवभर के धर्म, व्यवहार, चरित्र और अच्छी-खराब घटनाओं को रजिस्टर में दर्ज करता था। सिकन्दर के जहाजी बेड़े के एडमिरल नियार्कस ने लिखा है कि भारतीय कपड़े पर भी लिखते थे। अतः भारत में लिखने की परम्परा थी, यह निर्विवाद है।

प्रश्न उठता है कि पहले का इतना अधिक हमारा लिखित इतिहास कहाँ है? तो आप जानते हैं कि शान्ति-प्रिय भारतीयों के साहित्य अनेकानेक आक्रमणों में जलाये जाते रहे। विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय तीन वर्ष तक लगातार जलता रहा। पहले पुस्तकें बड़े परिश्रम से लिखी जाती रहीं। आजकल की तरह प्रेस-साधन नहीं थे। अतः उनको पुस्तकालयों में सुरक्षित रखा जाता था। हूणों ने, मुसलमानों ने, आक्रमणकारियों ने सारा साहित्य ही समाप्त करने का प्रयास किया। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत इत्यादि जो गिने-चुने ग्रन्थ बच रहे हैं, वे तो लोगों के याद रहने के कारण और घर में लिपि पड़ी रहने से बच गये। भारत में श्रुतिधरों में कमी कभी नहीं रही और आज भी इन शास्त्रों को कण्ठस्थ करनेवाले विद्वान् भारत में भरे पड़े हैं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत की सामग्री आध्यात्मिक दृष्टि से इतनी बहुमूल्य थी कि लोगों ने उसे कण्ठस्थ करना ही श्रेयस्कर समझा और इन्हीं के माध्यम से प्राचीन गौरवशाली इतिहास की भी एक झलक हमें मिल जाती है। यह बात अलग है हमारे साहित्य को अंग्रेज इतिहास की संज्ञा नहीं देते। उनकी दृष्टि में जब तक किसी घटना की तारीख और सन् न हो तब तक इतिहास कैसा? तारीख लिखना तो अंग्रेजों ने दो हजार वर्ष से सीखा, यहाँ तो अरबों वर्ष का इतिहास है। हमारे पूर्वज इतने तुच्छ स्तर पर सोचते भी नहीं थे।

जिस प्रकार सूर्य अनन्त है, पृथ्वी अनन्त है, उसी प्रकार समय भी अनन्त है। इस अनन्त समय को महीनों और वर्षों में गिनना उसी तरह हास्यास्पद है, जैसे समुद्र की जलराशि को मापने के लिए लीटर की इकाई निर्धारित करना। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने लाखों वर्षों के कलियुग, द्वापर, त्रेता इत्यादि युगों की कल्पना की, जो ब्रह्मा का एक दिन भी नहीं है। उन्होंने सन्, सम्वत्, तारीख-जैसे छोटे पैमानों का उपयोग इतिहास लेखन में नहीं किया। मनीषियों की सारग्राहिणी दृष्टि में घटनाओं का महत्त्व होता था, तारीख का नहीं। किसी महापुरुष के जन्म-मृत्यु की तारीख क्या लिखी जाय, जबकि आत्मा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है? यह तो विराट् प्रभु तक की यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं। यात्री की दृष्टि लक्ष्य पर ही रहती है, पड़ाव पर नहीं। आजकल के भौतिकवादी अपने नाम का प्रचार करने के लिए सड़क, पार्क, गार्डेन, शहर के नाम अपने से जोड़ देते हैं, पर महर्षियों ने अपना स्मारक सितारों पर बनाया जो युगों तक मानवता को अनुप्राणित करते रहेंगे। विक्टोरिया पार्क से गांधी पार्क भले ही बन जाय, किन्तु ध्रुव तारा, सप्तर्षि मण्डल, अगस्त्य तारा युगों तक उनकी उपलब्धियों का स्मरण कराता रहेगा। तुच्छ स्मारकों अथवा पैमानों में पूर्वजों की कोई रुचि नहीं थी। जिन महापुरुषों

के इतिवृत्त से जीव का वास्तविक कल्याण सम्भव है केवल उन्हीं आख्यानों को मनीषियों ने संकलित किया, साथ ही लोक-शिक्षणहेतु दुर्जनों का उदाहरण भी संग्रहीत कर लिया। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी आते हैं।। अर्थ. १/५।। पुराण का अर्थ ही पुरानी घटनाएँ हैं। अतः भारतीय आर्षग्रन्थों में निहित हमारा इतिहास सर्वथा प्रामाणिक है। महाभारत की घटना आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले की है- ऐसा शिलालेखों तथा पञ्चांगों की परम्परा से प्रमाणित है। महाभारत में रामायण की घटना का संकेत है। रामायण पुराण, शास्त्र, उपनिषद् और वेदों का सारांश है। जिससे स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ और भी प्राचीन हैं। अतः यदि आज कोई विश्व की सभ्यता को चार-छः हजार वर्ष पहले तक ही सीमित कहे तो उसका केवल यही आशय है कि वह अपने चार-छः हजार वर्ष पहले से सभ्य होने का दावा कर रहा है। रही प्रलय और महाप्रलय की बात! तो पूज्य महाराजजी का कहना था कि सृष्टि अनादि है और रहेगी। प्रलय न हुआ है, न होगा।

वस्तुतः 'प्रलय', 'महाप्रलय' योग के शब्द हैं। प्रलय के चार रूप होते हैं-- नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्रलय और महाप्रलय। नित्य प्रलय वह है जिसमें आप सो जाते हैं। आपके लिए सृष्टि डूब गई और सृष्टि के लिए आप अदृश्य हैं। नैमित्तिक प्रलय वह है जब आप नियम में ढल जाते हैं। नियम में बँधकर जब श्वास की डोरी लग जाती है, मन सब ओर से सुध-बुध खोकर इष्ट के चरणों में केन्द्रित होने की क्षमता पा लेता है, उस समय संसार और संसार की लहरें आप में नहीं रह जातीं। प्रलय वह है जब आपके जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की रील का शमन हो जाता है तथा महाप्रलय तब होता है जब संस्कारों से परे शाश्वत सत्ता का दिग्दर्शन और उसमें स्थिति मिलती है। प्रकृति पुरुषत्व में विलीन हो जाती है, यही 'महाप्रलय' है। न सृष्टि है, न हम हैं, न होंगे। सेवक खो जाता है और स्वामी ही शेष बचता है। ईश्वर की स्थिति और विलयवाला स्तर जब आता है तो **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'**- ईश्वर ही सर्वत्र दिखाई पड़ता है। यह स्थिति कहने में नहीं आती। इसीलिए बुद्ध आदि ने मूक प्रेरणा से इसे व्यक्त किया। शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद इस स्थिति पर पहुँचे, तो उन्होंने कहा- सृष्टि हुई ही नहीं; जब कि उन्हीं के हजारों शिष्य कल्याण के लिए साधन ही कर रहे थे। हाँ, जिसने पाया उसके स्वरूप में सृष्टि नहीं रह गई। जो भी ईश्वरमयी स्थिति पाता है, उसी में फना हो जाता है, मिट जाता है, उसके लिए सृष्टि मिट गई। इसी को कबीर ने अपने शब्दों में समझाने का प्रयास किया--**'अवधू! बेगम देश है मेरा।'**- वह बेगम है, अगम्य है। वहाँ न ईश्वर

है, न जीव है, न माया है। प्रलय और कैसा होता है? **'कहत कबीर सुनो भाई साधो, नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा।'**– वहाँ द्वैत का बखेड़ा ही नहीं है। काला-गोरा वहाँ कुछ भी तो नहीं है, वह स्थिति अनिर्वचनीय है। यही है महाप्रलय। बाहर दुनिया में न प्रलय हुआ है, न होगा। सृष्टि अनादि है और रहेगी। अंग्रेजों ने सृष्टि प्रारम्भ होने की तारीख को खोज निकाला, तो मुसलमानों ने प्रलय की तारीख निर्धारित कर दी। असल में महापुरुषों की ओट में आज के लोगों को तारीख खोजने का नशा है।

भारत में एक अंग्रेज ट्रेन से यात्रा कर रहा था। वह संस्कृत साहित्य पर शोध करने भारत आया था। समय बिताने के लिए उसने सहयात्री की किताब ले ली और पढ़ने लगा। संयोग से वह पुस्तक गीता थी। दो-तीन घंटे में वह पूरी गीता पढ़ गया। भारतीय साथी से उसने प्रश्न किया कि, आप रोज गीता पढ़ते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि अर्जुन किस तारीख को पैदा हुआ था? भारतीय सज्जन भौंचक्के रह गये। उन्होंने कभी ऐसे प्रश्न की कल्पना ही नहीं की थी। अतः बोले– गीता में ऐसा कहाँ लिखा है? अंग्रेज ने छाती फुलाते हुए कहा, "यही तो भारतीय और अंग्रेजों में अन्तर है। आप रोज पढ़ते हैं लेकिन जान नहीं सके। मैंने एक घंटे उलटा-पुलटा और अर्जुन के जन्म की तारीख खोज निकाली।" भारतीय सज्जन ने उससे गीता में ऐसा दिखाने का आग्रह किया तो अंग्रेज ने अध्याय चार का पाँचवाँ श्लोक दिखाया– **बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**

श्रीकृष्ण कहते हैं कि– अर्जुन! मेरे जन्म को तो बहुत दिन बीत गये। हाँ, तुम्हारा जन्म चार जून को हुआ था। 'चार्जुन' स्पष्ट लिखा है। ऐसे अंग्रेज विद्वान् शिवलिंग को मूसल, लोढ़ा, सिलबट्टा कह दें तो आश्चर्य क्या? यह तो तोड़-फोड़ की गर्हित कला है। मैकाले का विचार था कि किसी देश को नष्ट करना हो तो पहले उसकी भाषा और संस्कृति को नष्ट कर दो। इसीलिए बहुत से अंग्रेज संस्कृत को देवभाषा नहीं, गँवारू (डेड लैंग्वेज) कहते हैं। वेद को गड़ेरियों के गीत मानते हैं; कहते हैं, इससे अधिक उनका महत्त्व नहीं है। मतलब, वेद और बिरहे में अन्तर नहीं है। ये शंकरजी नहीं, लोढ़े हैं। वे हमारी ही दृष्टि में हमारी संस्कृति को गिराना चाहते हैं। वे कहते हैं कि शिवलिंग किसी मन्दिर में स्थापित नहीं है। वस्तुतः शिवलिंग सदैव मन्दिरों में स्थापित नहीं होते। गणेश चतुर्थी को अभी इसी बरैनी गाँव में सवा लाख मिट्टी के शिवलिंग बनाकर उनकी पूजा की गई। अपनी शक्ति के अनुसार कोई मिट्टी का तो कोई पत्थर का, कोई सोना-चाँदी का शिवलिंग बनवाता है। यदि इस तरह की परम्परा प्राचीनकाल में घर-घर में रही तो विस्मय की बात नहीं है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उसी प्रकार की खुदाई राजस्थान, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश में भी हुई है। वैसा ही रहन-सहन गंगा के किनारे, नर्मदा के किनारे भी मिला है। यदि सिन्धु के किनारे रहने से 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' नाम दिया जाय फिर तो गंगाघाटी की सभ्यता, नर्मदा की सभ्यता, लोथल की सभ्यता अनेकों सभ्यताएँ निकल आयेंगी। वस्तुतः यह सभ्यता भारत की सभ्यता थी। आर्यों की सभ्यता थी। किसी एक प्रदेश अथवा किसी भिन्न जाति की आकस्मिक सभ्यता नहीं थी।

लगे हाथ अंग्रेजों के 'ह्वाइट मेन्स बर्डेन' के दावे पर भी विचार कर लिया जाय कि उन्होंने भारतीयों को सभ्यता सिखाई। हम उन्हीं की बात मान लेते किन्तु प्राचीन खुदाइयों में अंग्रेजी सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं मिलता। एक भी मूर्ति कोट, पैण्ट, हैट, टाई लगाए नहीं मिली। एक भी क्रास नहीं मिला। इसके विपरीत विदेशों में होनेवाली खुदाइयों में हमारी सभ्यता की वस्तुएँ चूड़ियाँ मिली हैं, हमारे देवताओं के चित्र मिले हैं, हमारी गाथायें उत्कीर्ण हैं। कोलम्बस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीयों ने अमेरिका को शोध निकाला था। इसी वर्ष अमेरिका में हुई खुदाई से यह तथ्य उद्भासित हुआ है। वहाँ की खुदाई में वही वस्तुएँ, वही संस्कृति निकल रही हैं जो सिन्धुघाटी में मिली हैं। उनकी भाषा तमिल से मिलती-जुलती है इसलिए भारतीय भाषाविद् वहाँ बुलाए गये हैं। स्पष्ट है कि भारत वहाँ से लेकर यहाँ तक एक था। सर्वत्र भारतीय सभ्यता थी। अभी ढाई हजार वर्ष पहले यूनान, मिस्र, चीन, जापान आदि जिन-जिन देशों में गौतम बुद्ध की परम्परा गई; सभी आर्य हैं। हम तो यह कहते हैं कि विश्व को भारत ने सभ्यता सिखाई। सिन्धुघाटी की खुदाई में कांसे की नर्तकी मिली है जिसका पूरा हाथ चूड़ियों से भरा है। आज भी सिन्धु प्रदेश के समीपवर्ती राजस्थान में स्त्रियाँ कलाई से लेकर गले तक चूड़ियाँ पहनती हैं। वैसा ही सिंगार-पटार आज भी है, जैसा सिन्धुघाटी में मिला है। अतः सिन्धुघाटी की सभ्यता विशुद्ध आर्य सभ्यता है और यही सभ्यता घूम-फिरकर विश्व के कोने-कोने में पहुँची। भारतीय सभ्यता ही विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है। स्वयं अंग्रेज भी वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

इतिहासकारों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि आर्य बाहर से आये और काले रंगवाले भारत के आदिम निवासी हैं। उनका यह कहना भी धूर्ततापूर्ण है कि आज भारतीय न तो आर्यों की तरह गोरे रह गये न द्रविड़ों की तरह काले, बल्कि देशी-विदेशी लोगों के मेल से पैदा होने के कारण अपने रक्त की शुद्धता का दावा नहीं कर सकते। वस्तुतः रंग का निर्धारण जलवायु से होता है। अक्षांश और देशान्तर के विपुल विस्तार

के कारण भारत में तीन प्रकार की जलवायु पायी जाती है--शीत, उष्ण और समशीतोष्ण। ठण्डे प्रदेश कश्मीर के निवासी गोरे हैं, दक्षिण भारत में अधिक उष्णता है, इसलिए निवासी काले हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश जहाँ दोनों प्रकार की जलवायु का टकराव है वहाँ बालों का रंग गेहुवाँ है। दूसरा कारण भी है, भारत को पहले सोने की चिड़िया कहा जाता था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय सोने की थाली में भोजन करते थे। गीतों में प्रसिद्ध है- **'सोने की थाली में जेवना परोस्यों।'** घरों में सोने की थालियाँ होती थीं। बार-बार आक्रमण होने से वह सोना-चाँदी-जवाहरात विदेशों में खिंचता गया। भोलीभाली जनता खोखली होती गई। फिर तो जनता को जीवन-निर्वाह के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा। धूप में अधिक परिश्रम करने से रंग प्रायः काला हो ही जाता है। मल्लाहों के यही लड़के जब तक पढ़ते रहते हैं गोरे रहते हैं; किन्तु धूप में जहाँ नाव चलाना पड़ा कि काले पड़ जाते हैं। यह तो ताप की देन है। ऐसी बात नहीं है कि गोरे रंगवाले कहीं बाहर से आये हैं। वस्तुतः सभी प्रकार के 'कलर' भारत में पाये जाते हैं और सब-के-सब 'आर्य' हैं।

जहाँ तक आर्यों के विदेश से भारत आने का प्रश्न है, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व का विदेशी मेगस्थनीज लिखता है, "सिकन्दर से पहले न तो किसी देश ने भारत पर आक्रमण किया था और न भारत ने ही किसी देश को गुलाम बनाया। किसी भी देश ने भारत में अपनी बस्ती नहीं बसाई। भारत के सभी निवासी यहीं के मूल वंशज हैं।" मेगस्थनीज के समय में किसी को यह ज्ञात नहीं था कि भारतीय बाहर से आये हैं और ढाई हजार वर्ष बाद अंग्रेजों ने खोज लिया कि आर्य बाहर से आये हैं जबकि अंग्रेज जाति स्वयं ढाई हजार वर्ष की भी नहीं है।

जो लोग यह कहते हैं कि-"बाहर से आनेवाले आर्यों ने उत्तर भारत पर अधिकार कर काले द्रविड़ों को दक्षिण खदेड़ दिया और अपने एजेण्ट राम-लक्ष्मण को भेजकर दक्षिण भारत के नेता रावण को कटवाकर फेंक दिया।" उनका यह कथन भी राजनीति प्रेरित एवं दुरभिसन्धिपूर्ण है। राम से भी पहले सुग्रीव, बालि इत्यादि के पूर्वज तथा केरल-मद्रास तक विस्तृत उनके राज्य के निवासी भी आर्य ही थे। राम-रावण युद्ध हो रहा था। रावण के अनेक सेनापति मारे जा चुके थे, तब कुम्भकर्ण को जगाने का उपक्रम किया जाने लगा। बहुत प्रयास के बाद कुम्भकर्ण जागा। कुछ खा-पीकर अकेला ही युद्ध करने निकल पड़ा। भयंकर आकृतिवाले इस निशाचर को देखते ही वानरों में भगदड़ मच गई। बहुत से छटपटाकर गिर पड़े। बहुतों की हृदय-गति रुक गयी। बहुत से भालू, वानर दलदल में दुबक गये। भाग-दौड़ में लाखों समुद्र में गिर गये। बहुत-सी सेना पुल

से लौटने लगी। राम ने विभीषण से पूछा, "यह कौन है? हमारी पूरी सेना इसके आतंक से विचलित हो गयी है। अब लड़ाई कैसे होगी?" विभीषण ने कहा, "यह हमारा बड़ा भाई तथा रावण का छोटा भाई कुम्भकर्ण है। लंका नगरी में इससे शक्तिशाली और बलवान् कोई नहीं है। आपकी सेना वास्तव में नहीं रुक सकेगी। सेना को धैर्य बँधाइये कि यह कोई जीवधारी मानव नहीं है बल्कि यन्त्र है। यदि इन्हें आभास होगा कि यह जीवधारी है तो कभी नहीं रुकेंगे।" यह कार्य अंगद को सौंपा गया। अंगद भागकर सेना के मुहाने पर आया और उपदेश देने लगा, "बन्धुओ! हमलोगों के पूर्वजों ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीती हैं। हम लोग आर्य हैं। आज पीठ दिखलाने पर अनार्य कहलायेंगे।" देखें, सुग्रीव और बालि का खानदान शुद्ध आर्य था। समुद्र तटवासी वानरी सेना आर्य थी। राम तो बाद में पहुँचे। आर्य का तात्पर्य है, जो सत्य से पीछे नहीं हटता, जो कर्त्तव्य से च्युत नहीं होता।

कनक-मृग के पीछे जब राम चले गये, उसे मारा तो मृगरूपधारी कपटी मारीच ने राम के स्वर में लक्ष्मण को पुकारा। सीता सुनते ही विकल हो गई। बोली- 'लक्ष्मण शीघ्र जाओ। तुम्हारे भ्राता संकट में हैं।' लक्ष्मण ने कहा, "नहीं! वे कभी संकट में नहीं पड़ सकते। आपकी रक्षा का भार मुझ पर है। वे आपको मुझे सौंपकर गये हैं। यह राम की आवाज नहीं, किसी कुटिल निशाचर की करतूत है।" सीता बिगड़ पड़ीं, "कपटी लक्ष्मण! तू भाई की भक्ति जताकर पीछे लग गया। अयोध्या से ही मैं तेरे स्वभाव को ताड़ रही थी। तू सोचता था कि वनवास में राम कहीं मारे गये तो सीता को मैं प्राप्त कर लूँगा। कपटी लक्ष्मण! तुझे धिक्कार है। अनार्य लक्ष्मण! तुझको धिक्कार है।" स्पष्ट है कि वह पुरुष अनार्य है जो सत्य से विचलित हो जाता है। जो सत्य पर आरूढ़ रहता है उसे ही आर्य कहते हैं। जहाँ-जहाँ सत्य से च्युत होने का प्रश्न आया, वहाँ अनार्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

वाल्मीक रामायण का ही प्रसंग है कि एक बार रावण ने अपनी वेधशाला में राम का कृत्रिम सिर बनवाया। लाकर सीता के सामने फेंक दिया, बोला, "ले अजेय राम! मर्यादा राम! यह ले अपना राम! देख, हमारा सेनापति प्रहस्त गया और काटकर ले आया। अब तो मानेगी हमको?" सीता ने खून से लथपथ राम का सिर देखा तो विलाप करने लगी, "मुझ अनार्या को धिक्कार है जो मैं आपको प्राप्त न कर सकी। सिद्ध है कि मेरे सत्य में कोई कमी थी।" सिद्ध है कि आर्य वह है जो सत्य पर आरूढ़ रहता है। आर्य एक निष्ठा है, एक गुणवाचक कसौटी है। प्रत्येक मानव इस कसौटी पर पहुँच सकता है।

महाभारत का प्रसंग है। जब दुर्योधन की जाँघ टूट गई, तब भीम ने आक्षेपयुक्त वचन कहते हुए उसके सिर पर पाँव रखा, तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भीम को सान्त्वना

देते हुए कहा, "भीम! यह तो पहले से ही मरा हुआ है। अब इसे मत मारो। इसने झूठे जुए का स्वांग करके धर्मात्मा युधिष्ठिर को वनवास में भेजा था। यह तभी से मरा हुआ है। इसे अब कुछ मत कहो।"

कठिनाई से लम्बी साँस खींचते हुए दुर्योधन बोला, "ओ कंस के दास के बेटे! छली कृष्ण! तुमको धिक्कार है। तुम्हीं ने छल करके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और मुझ दुर्योधन को मरवाया है, अन्यथा पाण्डव तो क्या, विश्व की कोई भी शक्ति हमारी सेना को जीत नहीं सकती थी। शिखण्डी को आगे करके तुमने भीष्म को मरवाया--क्या मैं इसे नहीं जानता? ताल ठोंककर भीम को मेरी जाँघ पर प्रहार करने का संकेत तुमने किया--क्या यह भी मुझसे छिपा है? अनार्य कृष्ण! तुमको धिक्कार है।"

यहाँ दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के लिए 'अनार्य' शब्द का प्रयोग किया। स्पष्ट है कि सत्य से हटकर असत्य के आश्रित होनेवाला ही अनार्य है। आर्यत्व गुण है, जाति नहीं।

आर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता है। यह शब्द संस्कृत के 'ऋ' धातु से निकला है, जिससे ऋत् शब्द बना है। 'ऋ' का अर्थ तीक्ष्ण तथा काटने वाला तथा 'अर' हठपूर्वक काटने को कहते हैं। जो चिन्तन-पथ की बाधाओं को हठपूर्वक काटता है उसे आर्य कहते हैं। 'अरः यम' अर यम को भी कहते हैं। पातञ्जल योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं। इस यम-पालन में आनेवाली रुकावट को काटने में जो सक्षम है वही आर्य है, वही सत्यान्वेषी है। जो इनका पालन नहीं करता, उसके लिये यही यम दण्डधारी यमराज बन जाते हैं। इनका पालन करनेवाला आर्य है, भले ही वह मध्य एशिया का हो अथवा यूरोप, भारत या विश्व के किसी कोने का रहनेवाला ही क्यों न हो।

इस प्रकार 'आर्य' शब्द गुणवाचक है, जातिवाचक नहीं है। यह रंग-भेद पर आधारित नहीं है। जो लोग यह कहते हैं कि "उत्तर भारत के निवासी आर्य बाहर से आये, दक्षिण के काले द्रविड़ भारत के मूल निवासी हैं"- केवल समाज में दरार डालने के लिए, भारत में फूट डालने के लिए ऐसा कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि दक्षिण भारत वाले रावण की वंश-परंपरा में नहीं हैं। वे अंगद और सुग्रीव की सन्ताने हैं, जो आर्य ही थे। स्वयं रावण के पिता, पितामह सभी आर्य थे; किन्तु आर्य गुण से च्युत होने के कारण रावण असुर बन गया। इसी प्रकार, देखा जाय तो दक्षिण वालों ने ही रावण को मारा। उत्तर भारत की तो एक चुहिया तक नहीं मरी थी, एक भी सैनिक उत्तर भारत का नहीं था। राम को सीता की शोध में जाना ही था। दक्षिण के लोग रावण से त्रस्त हो चुके थे। राम ने केवल उनका संगठन खड़ा

कर दिया। वस्तुतः उत्तरी और दक्षिणी भारत के निवासी आर्य-परम्परा के ही हैं। इतना ही नहीं बल्कि जापान, चीन, मध्येशिया, अमेरिका इत्यादि जिन देशों में गौतम बुद्ध की परम्परा गई, गुरु नानक के उपदेश गये, आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ, सब-के-सब आर्य हैं, सत्य की ओर अग्रसर हैं। यह अवश्य है कि सर्वत्र सभी आर्य ही नहीं हैं। आसुरी विचारधारा के लोगों का अस्तित्व भी सदैव रहा है।

प्रायः प्रत्येक देश में, प्रत्येक समाज में आर्य-अनार्य, दैवी-आसुरी प्रवृत्तियों का प्रचलन रहा है। यह बात अलग है कि कभी दैवी प्रतिशत अधिक रहा है तो कभी आसुरी प्रवृत्तियों का बोलबाला हो जाता है। शास्त्रों को उठाकर देखें, पुराणों के पृष्ठ पलटें, इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर देवता पहाड़ों में जाकर छिप जाते थे और सर्वत्र असुरों का आतंक छा जाता था। यही हिरण्यकशिपु ने किया, यही रावण ने किया तथा यही समय-समय पर दानवों ने भी किया। परमदेव परमात्मा से विलग प्रकृति में विश्वास रखनेवाले असुर कहलाये और परमदेव परमात्मा की प्राप्ति में प्रयत्नशील पुरुष देवता एवं आर्य कहे गये। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के आख्यान से इसी अन्तर पर प्रकाश डाला गया है। एक समय इन्द्र और विरोचन प्रजापति ब्रह्मा से आत्मा के विषय में जानने के लिए गये। प्रजापति ने कहा, "आत्मा को शरीर में खोजो।" दोनों लौट आये। प्रजापति ने इन्हें लौटता देखकर कहा- "दोनों आत्मा का साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं। 'यह शरीर ही आत्मा है।'- ऐसा मानकर जो बैठ जायगा, वह देवता हो अथवा असुर उसका पतन हो जायगा।" असुर विरोचन शरीर को ही आत्मा मानकर उसे अलंकृत करके सुख देने में लगा रहा, जबकि इन्द्र ने बार-बार विचार करके सकलेन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य का पालन करके अन्त में आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया। 'खाओ, पीओ और मौज करो।'- यही असुरों का मत है। आज भी ऐसा प्रचार संसार में न्यूनाधिक हो रहा है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आज दैवी प्रकृति के पुरुषों को गुफाओं में छिपना नहीं पड़ रहा है। भारत की आर्य-संस्कृति विश्व में फैल चुकी है, न्यूनाधिक मात्रा में आर्य विश्व में सर्वत्र हैं। लोग केवल फूट डालने के लिए ऐसा कहते हैं कि आर्य बाहर से आये। अनेक भारतीय विद्वान् भी उसी लकीर के फकीर हो रहे हैं; क्योंकि उन्हें भी बचपन से वही पढ़ाया गया है। वास्तविकता लिखने पर उन्हें 'डिग्री' ही न मिले, नौकरी या कुर्सी भी न मिले, भारत और उसकी सभ्यता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। वे भी अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाकर आँख मूँद लेते हैं। कुछ अंग्रेजों ने वास्तविकता के प्रतिपादन का साहस भी किया; किन्तु विरोधियों के नक्कारखाने में तूती (शहनाई) की आवाज कौन सुनता है?

बरैनी निवासी श्री ओंकारनाथ सिंह ने प्रश्न किया, "महाराजजी! यदि संसार भर के निवासी आर्य हो सकते हैं तो यह मानने में क्या आपत्ति है कि आर्य बाहर से आये?" महाराजजी ने कहा- दो बातें हैं। यदि ईसाई भी आर्य ही हैं तो वे अपने को आर्य ही क्यों नहीं कहते? 'आर्य' शब्द ईसा से पहले का है अतः इन्हें आर्य कहलाने में हिचकना नहीं चाहिए। आपकी बात मानने में दूसरी आपत्ति यह है कि भारत में सदा से ही धर्म का अनुष्ठान एवं महापुरुषों का अवतरण अन्य देशों की अपेक्षा अधिक रहा है। आज के ही विश्व को लीजिए। संसार के अनेक देशों में जीवन की सुविधाएँ भारत से अधिक हैं। मोटर, बंगला, और विलासिता में अनेक देश भारत से आगे हैं; परन्तु अशान्ति, कलह, पागलपन और आत्महत्या की घटनाएँ वहाँ पर भारत से कई गुना अधिक हैं। आबादी भारत की अधिक है, किन्तु दुर्घटनाएँ उन देशों में अधिक हैं। भारतीय गरीब भले हो गये परन्तु सन्तुष्ट हैं, मानसिक अशान्ति नहीं है। विवाह की स्थिरता भारत में ही है। विदेशों में सातवाँ-आठवाँ तलाक सामान्य है। स्त्रियों का सतीत्व भारत में ही मर्यादा की वस्तु है। कम्युनिस्ट अथवा पूँजीवादी तथाकथित उन्नत देशों में यह शारीरिक भूखमात्र है। इतना सदाचरण तो भारत में आज भी सर्वत्र है।

प्राचीनकाल में भारत का सदाचरण कितना ऊँचा था?- इसे एक विदेशी के मुख से सुनिये। आज से लगभग साढ़े तेरह सौ वर्ष पहले चीन का पर्यटक ह्वेनसांग भारत आया था। पन्द्रह वर्षों तक उसने सम्पूर्ण भारत का पैदल भ्रमण किया। लौटने पर उसने यात्रा-वृत्तान्त लिखा--"भारतवासी बड़े सत्यवादी और प्रतिष्ठावान् होते हैं। वे पाप-पुण्य का सदैव ध्यान रखते हैं। उनका व्यवहार मधुर और नम्र होता है। पवित्रता इतनी अधिक है कि देश में मांस, मदिरा, लहसुन और प्याज का प्रयोग नहीं होता। केवल चाण्डाल लोग ही इनका प्रयोग करते हैं, जो नगर के बाहर ही रहते हैं। कहा जाता है कि इस देश की भाषा को ब्रह्मा ने बनाया है। सम्भवतः इसीलिए भारतीयों की भाषा बड़ी शुद्ध है, उनका उच्चारण बड़ा मधुर है। उनकी भाषा देवताओं-सी प्रतीत होती है, जबकि भारत से बाहर रहनेवालों की भाषा और उच्चारण अशुद्ध है। इस देश को हिन्दुस्तान कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी से बना है। कुछेक कहते हैं यह इन्दु से निकला है, जिसका अर्थ यहाँ चन्द्रमा होता है; किन्तु मेरे विचार से इस देश का वास्तविक नाम 'देवभूमि' होना चाहिए; क्योंकि यहाँ आदमी नहीं, देवता रहते हैं।"

वस्तुतः दैवी प्रकृति हमारी थी। दूसरी संस्कृतियों को, दूसरे देशों को यह गौरव कभी किसी ने नहीं दिया। अतः यह मानने का प्रश्न ही नहीं उठता कि हम बाहर से आये।

आर्य-संस्कृति का गढ़ तो भारत है। विश्व ने जो कुछ सीखा है, वह भारत की ही देन है। साधना के प्रारम्भ में ईसा भी योग सीखने भारत आये थे--ऐसा तिब्बत के पुस्तकालय की प्राचीन पुस्तकों से प्रमाणित हुआ है। बाइबिल में 'चिलचिलाती धूप में खेलनेवाले नंगे बच्चे', 'पानी भरती पनिहारिनें', 'आम की अमराई' का वर्णन है जिसे इंग्लैण्ड या जेरूसलम में पले लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। स्वयं 'ईसा' शब्द भारतीय शब्द ईश, ईश्वर की नकल है। ईसा को मसीहा कहा जाता है। मसीहा वैद्य को कहते हैं। गुरु ही सबसे बड़ा वैद्य है, जो भवरोग से बचा लेता है। इसीलिए ईसाई मिशनरियों में गाया जाता है- 'ईसू मसीह मेरे प्राण बचैया।' वस्तुतः यह सभी भारतीय दर्शन से प्रभावित है और कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह आर्यभूमि भारत की ही देन है। सही आत्मिक उपलब्धि के लिए भारत जगद्गुरु था और रहेगा। यह बात अलग है कि भारतीय शान्तिप्रिय दैवी सम्पत्ति में जीवन बिताने वाले थे, जबकि विदेशी आक्रमणकारी क्रूर और हिंसक थे। इसीलिए समय-समय पर भारत को गुलाम बनना पड़ा, न कि विदेशी शक्ति में अधिक थे। यही कारण है कि भारत और उसकी आर्य विरासत सर्वथा नष्ट कभी नहीं हुई। जब भी अपने शौर्य का स्मरण हुआ, भारत पुनः जागा और पुनः अपने उसी स्थान पर पहुँच गया। इसीलिए भारत आज स्वतन्त्र है। विदेशियों की अनेक चालों के बावजूद भारतीय संस्कृति, आर्य-संस्कृति अक्षुण्ण है। आर्य गुणधारी मनुष्यों की बहुसंख्या के कारण समग्र भारत ही मूल आर्यभूमि है। वैसे है सर्वत्र। इस आर्यत्व की उपलब्धि के लिए महर्षियों का सत्संग आवश्यक है।[1]

।। ॐ ।।

---

[1] भगवान गौतम बुद्ध के अनुसार, मनुष्यों के दो विभाग हैं। जो सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हैं उन्हें आर्य कहते हैं तथा जो सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं हैं, पृथग्जन कहे जाते हैं। वे भी जन ही हैं क्योंकि आर्य बनने की क्षमता उनमें प्रसुप्त है।

'मज्झिम निकाय' के पासरासि सुत्त (१-३-६) में कथा आती है कि एक बार भगवान श्रावस्ती में अनाथ पिण्डिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। पूर्वाह्न के समय पात्र-चीवर लेकर श्रावस्ती में भिक्षाटन करते हुए वे रम्यक ब्राह्मण के आश्रम में पहुँचे, जहाँ धर्म-कथा हो रही थी। तथागत ने सम्बोधित किया, "तुम्हारे बीच कौन-सी गाथा चल रही थी?" उन लोगों ने बताया, "भगवान की ही कथा हमारे बीच में उठी थी, इतने में भगवान पहुँच गये।'

साधुवाद देते हुए शास्ता ने कहा, "श्रद्धापूर्वक घर से प्रव्रजित तुम कुल-पुत्रों के लिए यही शोभनीय है। भिक्षुओ! तुम्हारे लिए दो ही कर्तव्य हैं- (१) भगवान का चिन्तन, (२) आर्यत्व के गुणों का मनन अर्थात् उन गुणों का चिन्तन जिन पर चलकर जातिधर्मा, व्याधिधर्मा, शोकधर्मा, संक्लेशधर्मा और मरणधर्मा पुरुष अजात, व्याधिरहित, अशोक, असंक्लिष्ट एवं अमृत बन जाता है। भिक्षुओ! वही आर्य है। जो पूर्णत्व प्राप्त कर चुका है, वह आर्य है।"

अवतार

प्रश्न– महाराजजी! "विप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।" सन्त तो विरले होते हैं। सामान्य मनुष्यों में अवतार केवल ब्राह्मण के लिए होता है। क्या और किसी की पुकार भगवान नहीं सुनते?

उत्तर– ठीक कहते हो! सुनो, हिन्दू धर्मशास्त्रों में चौबीस अवतार बताये गये हैं। मुसलमानों में भी चौबीस ही नबी और जैन विचारधारा में चौबीस ही तीर्थंकर हैं। न तेईस और न पचीस। विलक्षण समानता तो यहं है कि लगभग सब-के-सब अवतार महात्मा ही हैं जिन्होंने हमारी-आपकी तरह जन्म लिया। कोई परिस्थितियों से प्रेरित हुआ तो कोई पूर्व पुण्य-पुरुषार्थ से। वे सब उस तत्त्व की तलाश में निकल पड़े, चिन्तन किया, चिन्मय अविनाशी की स्थिति प्राप्त की और अवतार (नबी) कहलाये।

सनातनी मनीषा में अवतार के बारे में प्रायः यह भावना है कि अवतार कोई चमत्कार है जो भक्तों की आर्त पुकार पर अचानक कहीं प्रकट होगा, खलों का विनाश और हम सज्जन लोगों की रक्षा करेगा; किन्तु मूल शास्त्रों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। हिन्दू-शास्त्रों के चौबीस अवतारों में अठारह महात्मा निकले और कच्छप, मत्स्य, शूकर, नृसिंह, हंस इत्यादि पशु-पक्षी अवतार भी रूपक हैं जिनमें प्रभु के अवतरण की एक-जैसी विधि-विशेष का चित्रण मात्र है। रहे भगवान राम और श्रीकृष्ण, तो उनमें भगवान श्रीकृष्ण के ही शब्दों में वे योगेश्वर हैं।

श्रीरामचरितमानस की कुछेक पंक्तियों से लगता है कि अवतार मनुष्यों में केवल ब्राह्मण के लिए होता है। अवतार पर सीधा प्रकाश डालते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

(मानस, १/१२०/६-८)

विप्र, गाय, सुर और धरती--ये जब कष्ट पाते हैं, तब-तब विविध शरीरों में प्रभु प्रकट होते हैं। प्रथम धरती को लें। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक की धरती! भगवान के आविर्भाव से जो दुःख-सुख मिलेगा इसे तो वही जाने। देवता का दुःख-सुख भी वही जानें। रही पशु-श्रेणी की गाय, तो हम गाय तो हैं नहीं कि हमें भी भगवान का कुछ अंश मिलता। मनुष्य में यदि किसी के लिए अवतार होता है तो केवल वर्ग-विशेष ब्राह्मण

के लिए होता है। **'सीदहिं विप्र'**- जब विप्र कष्ट पाता है तब निवारण के लिए होता है, अन्य किसी के लिए नहीं।

विश्व के लगभग पौने चार सौ देशों में से एक देश भारत! विश्व की असंख्य जातियाँ। उनमें भी प्रचलित चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से केवल ब्राह्मण वर्ण के लिए भगवान प्रकट होते हैं। तब तो यह भगवान एक कबीले का हो गया, विश्वव्यापी कैसे? अवतार लेकर भगवान करते क्या हैं?- **'असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।'** *(मानस, १/१२१)* असुरों को मारते हैं। जो विप्र और धेनु को सताते हैं, वे ही असुर हैं। विप्र तो विप्र को सतायेगा नहीं। जब भी कोई सतायेगा तो विजातीय ही। भगवान उन्हें मारने के लिए ही आते हैं, तो भला ऐसे भगवान को कोई क्यों भजेगा? जिसकी वह रक्षा करता है वे भजें! शेष दुनिया वाले यदि भज ही लेंगे तो वह उठकर गर्दन ही तो काटेगा। ऐसे सोते शेर को कौन जगाये? अन्त में कहते हैं, **'राखहिं निज श्रुति सेतु'**- अपने वैदिक मर्यादा की रक्षा करते हैं। वास्तव में यही वेदोक्त तरने का तरीका है।

पूरी रामचरित मानस में **'निज इच्छा प्रभु अवतरइ'**, **'सुर महि गो द्विज लागि।'** और आगे चलकर भगवान केवल **'गो द्विज हितकारी जय असुरारी'**- मात्र गो और द्विज के हितैषी रह जाते हैं। मनुष्य में भगवान केवल ब्राह्मण वर्ण की पुकार सुनते हैं जो केवल भारत में पाया जाता है। ऐसे भगवान से विश्व के अन्य मानवों को क्या लेना-देना? अन्य वर्ण और मजहब उसके लिए क्यों आँसू बहायें? फिर भारत विश्वगुरु कैसा? अतः विचारणीय है कि वह द्विज है कौन, जिसके लिए भगवान अवतार लेते हैं?

वास्तव में शास्त्रों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि भगवान 'गो द्विज हितकारी' हैं; किन्तु जिस विप्र के लिए वे अवतरित होते हैं वह संसार में प्रचलित कोई जाति नहीं अपितु एक स्थिति है, जैसा कि मानस की ही पंक्तियों में अभी आपने सुना, यत्र-तत्र सर्वत्र है। राजर्षि जनक जैसे कुलीन घराने में सम्बन्ध तथा विश्वविश्रुत सीता-जैसी वधू की प्राप्ति से महाराज दशरथ की प्रसन्नता का पारावार न था। उन्होंने तुरन्त गुरु वशिष्ठ से निवेदन किया, **'अब सब विप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाई।।'** *(मानस, १/३२६/७)* विप्रों को बुलाइये, उन्हें गाय दान दें। गुरुदेव ने राजा की सराहना की और मुनियों के समूह के लिए बुलावा भेज दिया- **पुनि पठए मुनि बृंद बोलाई**। आया कौन? **'बामदेउ अरु देवरिषि, बालमीकि जाबालि। आए मुनिवर निकर तब कौसिकादि तपसालि।'** *(मानस, १/३३०)* एक तो वामदेव (यथा नामो तथा गुणः), देवर्षि नारद (दासी पुत्र), वाल्मीकि (कोल-किरात), कौशिक (विश्वरथ नामक नरेश) इत्यादि।

राजा ने चार लाख गायें मँगायी, उन्हें सजाया और **'मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही।'** प्रसन्नता के साथ महिदेवों को दान दिया।

उल्लेखनीय है कि राजा ने अनुरोध किया था, "विप्रों को बुलायें", मुनियों को बुलावा चला गया। मुनि भी आये तो कोई दासी पुत्र, कोई क्षत्रिय तो कोई कोल-किरात, विविध वंशों के जन्मे और जब दान दिया तो महिदेव कहकर सम्बोधित किया। अस्तु मुनि, विप्र, महिदेव तथा ब्राह्मण इत्यादि मानस के अनुसार पर्यायवाची हैं। ब्रह्मनिष्ठता की क्रमोन्नत अवस्थाएँ हैं। इसी की पुष्टि आर्षग्रन्थों में यत्र-तत्र सर्वत्र है। उदाहरण के लिए महाराज अत्रि की वाणी देखें, गीता देखें- सबमें आप यही पायेंगे। महर्षि अत्रि कहते हैं-

जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते।
वेदाध्यायी भवेत् विप्र ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।

अर्थात् जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है, अल्पज्ञ है। संस्कार से (सः अंश आकार) सः माने वह परमात्मा- उस परमात्मा का आंशिक संचार, आकार जब प्राप्त होने लगता है, तब वही द्विज है, दूसरा जन्म पाया है जो गर्भवास के यातनाग्रस्त जन्म से भिन्न अजर, अमर, निर्दोष आत्मस्थिति है, शाश्वत सत्य का प्रवेश है। साधना जब और सूक्ष्म हुई तो **'वेदाध्यायी भवेत् विप्र'**- जो तत्त्व विदित नहीं था वही परमात्मा अपनी अनुभूति देने लगता है। उस अनुभूति का अध्ययन करनेवाला, उन निर्देशों पर चलनेवाला ही वास्तविक वेदाध्यायी है, विप्र है। यदि वेद नामक ग्रन्थ पढ़ने से कोई विप्र बनता तो आज अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय अध्येता विप्र हो जाते क्योंकि पहले सबको पढ़ने का अधिकार नहीं था, आज है; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। वस्तुतः जो भली प्रकार ब्रह्म के परायण है, वही विप्र है। साधना और सूक्ष्म हुई, तो **'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'**- जहाँ से वह ब्रह्म अनुभूति देता है, उस मूल का स्पर्श पानेवाला ब्राह्मण है। ब्राह्मण एक स्थिति-विशेष है।

भगवान वास्तव में गो-द्विज हितकारी हैं क्योंकि जिसने भी उधर सिर झुकाया, समर्पण किया, उसका गो-संयम कर आत्मिक जागृति को सुरक्षित रखते हैं, सहायता करते हैं; इसलिए हितकारी हैं और जो उधर झुकाव नहीं लेता, उसके लिए भगवान की वह महिमा नहीं है जो अवतारजन्य है। **'कृपासिंधु जन हित तन धरही।'** *(मानस, १/१२१/१)*, **'सो केवल भगतन हित लागी।'** (मानस,१/१२/५)- वह केवल भक्तों के हितकारी हैं।

वास्तव में ब्राह्मण चिन्तन-पथ की एक योग्यता है। जो शाश्वत ब्रह्म के लिए विकल है, वही विप्र है। आइये देखें वेद, उपनिषद् और शास्त्रों के सारांश गीता में अवतार के

सम्बन्ध में क्या कहा गया है? अर्जुन ने पूछा- भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म तो बहुत पुराना है। आपने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा, यह मैं कैसे मान लूँ? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया।। *(गीता, ४/६)*

अर्जुन! मैं अजन्मा, अव्यक्तात्मा तथा सभी भूत-प्राणियों के स्वर में संचारित (ईश्वर) होते हुए भी अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को **'आत्ममायया'**- आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा स्वाधीन करके प्रकट होता हूँ। आत्ममाया, योगमाया पर्याय हैं। आत्ममाया वह है जो आत्मा तक की स्थिति तय करा दे। योगमाया वह है जो परमात्मा से मिलन करा दे, इसी को मानस में राममाया या विद्यामाया कहा गया, जो हरिप्रेरित होती है किन्तु प्रकृति का ही एक पहलू है। इस आत्मिक माया द्वारा तीनों गुणों के संयत होते ही भगवान प्रकट हो जाते हैं। आगे कहते हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। *(गीता, ४/७)*

'धर्मस्य ग्लानिः'- धर्म एकमात्र परमात्मा है। धर्म शाश्वत है, धर्म सनातन है और इधर **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- ब्रह्म सनातन है। ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा एक ही परमपुरुष के पर्यायवाची शब्द हैं। वह सनातन परमपुरुष परमात्मा ही धर्म है। हम कौन हैं? सनातनधर्मी! उस सनातन के पिपासु! तो जब उस धर्म मे लिए हृदय ग्लानि से भर जाता है, अधर्म की वृद्धि देखकर विकल हो जाता है तब मैं अपने रूप को रचता हूँ। जो उसके लिए विकल है वह ब्राह्मण है, उसी के लिए अवतार है।

उस अविनाशी तत्त्व को पाने के लिए विरह किसी में भी हो सकता है, ग्लानि से किसी का भी हृदय भर सकता है, ब्रह्मपरायण कोई भी हो सकता है, बस उसी के लिए प्रकट हो जायेंगे। ऐसी ही ग्लानि महाराज मनु को हुई कि-

होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।।
(मानस, १/१४२)

विषयों से वैराग्य नहीं हो रहा है। बिना भजन के जीवन बीत जाना चाहता है। ग्लानि से हृदय भरा तो तुरन्त भगवान ने सन्देश देना शुरू किया और मनु पा गये।

योगेश्वर कहते हैं कि **'जन्मकर्म च मे दिव्यम्'**- मेरा वह जन्म और जन्म लेकर करनेवाला कर्म दोनों ही दिव्य हैं। **'एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।'** *(गीता, ४/६)*- इस प्रकार

का मेरा स्वरूप जो देखता है, वह तत्त्वदर्शी है। केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाता है। फिर सबलोग क्यों झुण्ड-के-झुण्ड दौड़ पड़ते हैं कि कहीं अवतार हो तो देख लें?

वस्तुतः उस अवतार की व्यवस्था सबके अन्दर है। अतः हर परिस्थिति में आपको सँभालने के लिए वह सदैव तैयार है चाहे आप कहीं जन्मे हों। जो कोई भी उस ब्रह्म को पाने के लिए भली प्रकार तत्पर है, चिन्तनरत है, जिस किसी ने भी आत्म-संयम के लिए समय दिया है, अवस्था-भेद से उसी को द्विज तथा ब्राह्मण कहते हैं। अतः विप्र के पवित्र स्वरूप को धूमिल करनेवाले अन्ध-बन्धनों को तोड़कर विप्र के उद्गम की खोज करें, चिन्तन करें और विप्रत्व अर्जित करें।

।।ॐ।।

भगवान की प्राप्तिहेतु सन्तसंग अनिवार्य

पूज्य महाराजजी कहा करते थे, "हो! हम भगवान के दूत हैं। हमसे मिले बिना कोई भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता।"

असि हरि भगति सुगम सुखदाई। *(मानस, ७/११८/१०)*
सो बिनु सन्त न काहूँ पाई।। *(मानस, ७/११६/१८)*

श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तुम किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण जाओ और उस ज्ञान को जानो, जिसे जान लेने के पश्चात् कुछ भी जानना और पाना शेष नहीं रह जाता। उनसे जान लेने के पश्चात् फिर कभी जीवन में सन्देह नहीं होगा। *(श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३४)*

साधक का आचरण

प्रश्न– महाराजजी! साधक का आचरण कैसा होना चाहिए?

उत्तर– देखिए, साधक को इतना ही करना चाहिए जितना कुछ सुतीक्ष्ण ने किया। वे महर्षि अगस्त्य के प्रिय शिष्य थे। जब सुना कि वनवास में पर्यटन करते हुए भगवान इसी जंगल में कहीं आये हैं तहाँ प्रार्थना करने लगे–

हे बिधि दीनबन्धु रघुराया।
मोसे सठ पर करिहहिं दाया।। *(मानस, ३/६/४)*

हे विधाता! दीनों पर दया करनेवाले प्रभु! क्या मेरे जैसे शठ पर भी दया करेंगे? मेरे जैसे मूर्ख पर भी दया करेंगे? क्या वे मूर्ख थे? कुछ ही घंटे पश्चात् तो भगवान मिल गये। वे सोचते हैं–

मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं।।
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।
(मानस, ३/६/६-७)

मेरे हृदय में दृढ़ भरोसा नहीं है। न भक्ति है, न वैराग्य है और न मन में ज्ञान ही है। मुझमें न तो सत्संग है, न योग है, न जप है, न यज्ञ ही है और न तो चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग ही है। क्या वस्तुतः उनमें इन गुणों का अभाव था? कदापि नहीं, वे इन सभी गुणों से सम्पन्न थे, **'मन क्रम बचन राम पद सेवक'** *(मानस, ३/६/२)* थे; स्वप्न में भी इष्ट के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भरोसा नहीं करते थे, अनन्य श्रद्धा थी उनकी! किन्तु उनके उद्गारों में कितना दैन्य है, कितनी विनम्रता है।

आजकल के महात्मा लोगों को घर छोड़े जहाँ चार-छः वर्ष हुआ, वेश तो मिल ही जाता है, फिर भी वे ऐड़ने लगते हैं। पाँच-सात साल में ही समझते हैं कि हम सन्त हैं। कुछ भी उनके सम्मान के विरुद्ध हुआ कि वे बौखला जाते हैं। जो वास्तव में सन्त होते हैं, उनकी ऐसी दशा नहीं होती। वे विरही होते हैं। उनको कोई सन्त कहे, रजपूत कहे, अवधूत कहे, अथवा जोलाहा ही क्यों न कहे, उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका चित्त अपने इष्ट-सम्बन्धी तथ्यों के अतिरिक्त कुछ ग्रहण ही नहीं करता। वास्तव में अनुरागी के लिए ही इस पथ का विधान है।

साधक का आचरण भरत-जैसा होना चहिए। राम वनवास में गये तो भरत विकल की तरह उनका पीछा करते चित्रकूट पहुँच गये। राम नहीं लौटे तो खड़ाऊँ प्राप्त हुई। चरण-पादुका मस्तक पर रखकर भरत अवध आये। राजपाट देखना तो दूर की बात

थी, नन्दिग्राम में एक कन्दरा बनवाई और उसके अन्तराल में बैठ गये। उस खड़ाऊँ का ध्यान करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से रात-दिन बिताने लगे।

हनुमान संजीवनी बूटी ला रहे थे, उसी रास्ते से निकले, तब भी भरत विकल की तरह उन्हें दिखाई पड़े। हनुमान रास्ते भर प्रभुचरणों में उनके अपार अनुराग की सराहना करते रहे। इतना ही नहीं, अपितु चौदह वर्ष पश्चात् प्रभु-आगमन की सूचना देने हनुमान आये तो उसी दशा में भरत को पाया। राम ने कहा था, "जाओ, अयोध्या में भरत को सूचना दे दो कि हम आ रहे हैं, अन्यथा कहीं वह प्राण न त्याग दें।" पूज्य महाराजजी से लोग जब पूछते कि, महाराजजी! क्या भगवान मिलते हैं? तब महाराजजी कहते थे, "हाँ हो काहे न मिलिहैं? यदि अनुरागी को भगवान न मिलिहैं त ऊ मरि न जाई। ऊ प्राण दे देई! मोके मिली के तो स्थिति दिये हैं।"

साधक का विरह इतना ही तीव्र होना चाहिए। हनुमान ने भरत की दशा देखी-

बैठे देख कुशासन, जटा मुकुट कृश गात।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात।। *(मानस, ७/१ ख)*

चौदह वर्ष पूर्व भरत की जो दशा थी उससे भी प्रेमार्द्र दशा में हनुमानजी ने उन्हें देखा। कुश के आसन पर बैठे थे। जटा का मुकुट, गात कृश है। **'राम राम रघुपति'** यही जप चल रहा है। हृदय में स्वरूप है, आँखों में अश्रुपात।

ऐसा कुछ देखकर हनुमानजी बहुत हर्षित हुए, रोमाञ्च हो आया, अश्रुपात होने लगा; मन में बहुत सुख माना। अनुरागी भक्त अपने से भी अच्छे अनुरागी को देखकर प्रसन्न होता है न कि उसे जलन होती है। हनुमान ने अमृत के समान वचन कहा कि, "जिसके विरह में दिन-रात सोचते रहते हो, जिसके गुण-गणों कि पंक्तियाँ निरन्तर रटते रहते हो, वही राम आ रहे हैं।" इतना सुनते ही भरत के सारे दुःख दूर हो गये, प्यासा मानो अमृत पा गया। भरत बोले, "यह ऐसा सन्देश है जिसकी समता का संसार में कुछ है ही नहीं।" इष्ट की उपलब्धि ही साधक का सर्वस्व है। वह कभी नहीं भूलता कि इसी के लिए तो वह साधक बना है। अतः पूर्तिपर्यन्त साधक के विरह-वैराग्य-विकलता में न्यूनता तथा शिथिलता नहीं आनी चाहिए। भरत और सुतीक्ष्ण के चरित्र से अपने को जोड़ना चाहिए। उनसे प्रेरणा लेकर अपने को उसी आचरण में ढालना चाहिए। हवा भर भी इष्ट से फासला है, तब तक अपने को साधक ही मानना चाहिए। अनुनय-विनय एवं विकलता में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होना चाहिए। इष्ट से सूत भर भी अन्तर है और साधक उस कमी को पूरा करने के प्रयत्न में ढील देता है, तो माया कामयाब हो सकती है। इस जरा-सी दरार के लिए जड़भरत को तीन जन्म लेना पड़ा। रञ्चमात्र ही सही, दूरी

तो दूरी ही है। बहुत दूर से दौड़कर आनेवाला यदि हताश होकर गंगा से दो हाथ दूर ही बैठ जाय, तो गंगाजल का उसके लिए क्या उपयोग? दो हाथ की दूरी से ही तो वह प्यासा मर रहा है। वह दूरी ही उसके लिए योजन है, कणमात्र का अवरोध ही पहाड़ है। परन्तु साधकों को ऐसा समझकर हताश नहीं होना चाहिए कि भगवत्-पथ में विघ्न-ही-विघ्न हैं, कौन इतना झंझट पाले? वस्तुतः भक्तिपथ में कठिनाई कुछ भी नहीं है; पार तो निश्चित है। हाँ, उत्तम साधक को विरह-वैराग्य में न्यूनता नहीं लानी चाहिए।

'सच्चा लिंग फकीर का घूमे बजार बजार।'- सच्चे साधू के लिए सर्वत्र मंगल है। दिखावटी साधु नहीं बनना चाहिए। भगवान ही कुछ बना दें तो बात अलग है। साधक के सुरत की डोरी न टूटने पाये तथा दम्भ न जमने पाये तो सब ठीक हो जाता है।"- अपने शिष्य को ऐसा उपदेश देते हुए एक विचरणशील महात्मा ने कहा--"बेटा! अपने से कुछ मत बनना।" शिष्य ने आज्ञा शिरोधार्य की। कुछ दूर चलने के पश्चात् सड़क के पार्श्व में सुरम्य उद्यान दिखाई पड़ा। शिष्य के आग्रह पर महात्मा उस उद्यान में गये, उपवन के जनशून्य भवन में पड़े एक तख्त पर अपना आसन लगाया। शिष्य भी पार्श्ववर्ती कक्ष में पड़ा रहा।

उपवन किसी राजा का था, यदा-कदा वहाँ विश्राम करने आ जाता था। संयोग से राजा भी उसी समय आया, जिस समय उसके कक्ष में गुरु-शिष्य विश्राम कर रहे थे। सिपाहियों ने लपककर शिष्य को डाँटा, "कौन हो? जानते नहीं कि यह महाराजाधिराज का विश्रामालय है?" शिष्य ने कहा, "मैं साधू हूँ।" सिपाही ने कसकर एक झापड़ लगाया और बाहर की ओर झोंक दिया। तब तक राजा भी समीप आ चुके थे। सिपाही ने दौड़कर उनका कक्ष खोला तो महात्मा पर बरस पड़ा, "कौन हो? महाराज के तख्त पर लेटने का दुस्साहस तुमने कैसे कर लिया?" महात्मा चुपचाप उठे और बैठ गये। अंगरक्षक ने अपना प्रश्न दुहराया, "कौन हो? यहाँ कैसे आ गये?" तब तक राजा ने ही कहा, "लगता है कोई महात्मा हैं, तभी तो इतने शान्त हैं। इन्हें सादर दूसरे कमरे में ले जाओ।" किन्तु विचरण-प्रिय महात्मा नहीं रुके। सड़क पर मिलते ही शिष्य ने कहा, "महाराज! हमको तो बड़ी मार पड़ी।" महात्मा ने कहा, "कुछ बने होगे।" शिष्य ने कहा, "महाराज! उन्होंने पूछा था कि कौन हो? मैंने कह दिया- साधू हूँ।" महात्मा ने कहा, "साधू बन गये न! इसलिए मारे गये।" साधू बनने की वस्तु नहीं बल्कि साधनात्मक क्रिया पकड़कर जब क्रमशः उत्थान करते-करते योगारूढ़ता की स्थिति आ जाये तो मन के निरोधकाल में साध्य वस्तु स्वतः प्रवेश पा जायेगी, साधक को उठा लेगी; साधू बना देगी। जो परमात्मा को साध लेता है, वही साधू है। ढोंग नहीं करना चाहिए।

साधना की अवधि में भयंकर विघ्न आ सकते हैं लेकिन साधक को चाहिए कि अपनी टेक पर अडिग रहे। प्रण का सच्चा उत्साही ही इस पर चल पाता है। प्रण पर अडिग रहकर साधनारत रहने से विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है, जैसा कि अर्जुन या महर्षि काग के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। अर्जुन ने उर्वशी को मातृवत् ही देखा, भले ही उसे एक वर्ष के लिए नपुंसक बनना पड़ा। वह शाप भी अज्ञातवास की अवधि में सहायक सिद्ध हुआ, अर्जुन के लिए वही वरदान हो गया। कागभुशुण्डि की दृढ़ता के लिए मिलनेवाले शाप के पीछे वरदानों का ताँता लग गया। अतः साधक को अपने धर्म पर प्राणपण से स्थिर रहना चाहिए। इस क्षेत्र में महर्षि दत्तात्रेय से साधक को प्रेरणा लेना चाहिए। दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति में भी एकाध गुण अवश्य होता है। साधक की दृष्टि केवल उसी गुण पर होनी चाहिए।

महात्मा दत्तात्रेय विचरण कर रहे थे। कुत्ता दिखाई पड़ा। किसी ने डण्डा उठाया तो भाग खड़ा हुआ, पुचकारा तो पास चला आया; टुकड़ा फेंका, ले लिया अन्यथा बैठा रहा। दत्तात्रेय ने विचार किया कि यह तो गुरुओं का भी गुरु है। इससे सद्गुरुओं की एक शिक्षा मिली कि अवधूत को सदैव मान-सम्मान से रहित और सन्तोषी होना चाहिए। वैसे कुत्ते में दुर्गुण भरे पड़े हैं किन्तु दत्तात्रेय का उससे क्या प्रयोजन? अनन्त दुर्गुणों में भी एक गुण दिखाई पड़ा। उन्होंने उसी पर विचार केन्द्रित रखा।

दत्तात्रेय आगे बढ़े। एक अजगर दिखाई पड़ा। इतना मोटा कि सरक भी नहीं सकता था। दिनभर में एक फुट भी नहीं चल पाता था। महात्मा को कुतूहल हुआ कि यह जीता कैसे है? खाता क्या है? अतः वहीं आसन लगाकर बैठ गये। देखा, प्रतिदिन कोई-न-कोई खग-मृग ठीक उसके मुख के सामने पहुँच ही जाता था, जिसे पकड़कर उदरस्थ कर लेता था। अजगर की हिंसक वृत्ति से दत्तात्रेय को कुछ लेना-देना नहीं था, उसमें भी एक गुण दत्तात्रेय को दिखाई पड़ा कि अवधूत को पेट के लिए द्वार-द्वार नहीं भटकना चाहिए। अजगर की प्रशंसा करते हुए दत्तात्रेय चल पड़े कि तुममें भी गुरुओं का एक गुण देखने को मिला है। वह अजगर दत्तात्रेय का गुरु नहीं था, गुरुओं की विद्या तो कुछ और ही होती है; फिर भी सद्गुरु की रहनी का एक गुण अजगर में भी उन्हें दिखाई पड़ा। समस्त भूत-प्राणियों की अच्छाइयों में उन्होंने अपने गुरु अथवा इष्ट को ही देखने का प्रयास किया।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।। *(मानस, ४/१३/६)*

एक-एक बूँद करके तालाब भर जाता है। ठीक उसी प्रकार अधिकारी साधक एक-एक करके गुणों का संचय करता है। दूसरों का छिद्रान्वेषण करने से साधक भी उन दुर्गुणों से आक्रान्त होता है। अतः साधक को सदैव सजग रहना चाहिए। किसी महात्मा अथवा सांसारिक जीव की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। परनिन्दा साधक के पतन का कारण बन जाती है- **'परनिन्दा सम अघ न गरीसा।'**

साधक को लंगोटी का सच्चा होना चाहिए। जो व्यक्ति दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, जिसे एकान्त अच्छा नहीं लगता, जागतिक वस्तुओं के त्याग की भावना जिसके लिए असम्भव है, उसे अक्षयपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन वस्तुओं की अधिकता में मूढ़ को अनुराग होता है उन्हीं की प्राप्ति में प्राज्ञपुरुष को वैराग्य होता है। विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरु की कृपा के बिना सहजावस्था की प्राप्ति दुर्लभ है। अतः बन्धुओ! अनुभवी सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करें। मन-क्रम-वचन से उनकी शरणागति का चिरन्तन विधान है। उन महापुरुषों से अन्तःप्रेरणा के स्रोत मिलने लगे, साधक की आत्मा में जागृत होकर वे महापुरुष हृदय में निर्देश देने लगें, तब समझना चाहिए कि साधना का अन्तर्प्रवेश हुआ। वह अन्तर्प्रवेश निवृत्ति का निश्चित स्रोत है। उसे जानने के लिए गुरु के पास जाना ही होगा, **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'** *(मुण्डक०, १/२/१२)*- ऐसा उपनिषदों का निर्देश है। उन महापुरुषों की प्राप्ति में आपका पुण्य माध्यम है। सन्त एवं सद्गुरु जिस दृष्टि से पहचान में आते हैं, वह दृष्टि ही पुण्यमयी है।

।। ॐ ।।

गीता पर उपदेश देते हुए परमार्थ पथिकों के बीच श्री परमहंसजी

महाभारत का प्राण गीता और उसका क्षेत्र

महाभारत का युद्ध अत्यन्त मार्मिक एवं जनसमूह के लिए एक आदर्श है; किन्तु उसका रूप ही दूसरा है। इस संसार में मानव समय-समय पर विशाल समूहों में विभक्त होकर परस्पर लड़ता आया है। उदाहरण के लिए देवासुर-संग्राम आदि। इस संसार में मानव ने मायिक स्तर पर जब-जब कुछ आविष्कार किया, तब-तब परस्पर दुनियावी स्थितिवाले युद्ध के परिणामस्वरूप अपना सर्वस्व नाश कर दिया। उस सर्वनाश के अतिरिक्त जो अल्पसंख्यक बचे, उसे शान्ति कह लिया जाय, चाहे विवशता। अस्त्र-शस्त्र के प्राप्तिकाल में सन्तोष तो अवश्य होता है; किन्तु वे जब भी कार्यरूप में आते हैं तो मानव का कल्याण नहीं बल्कि सर्वनाश ही होता है।

इसी प्रकार कुछ विशेष आविष्कारों के आधार पर महाभारत के भयंकर युद्ध का प्रणिपात हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह ऐतिहासिक युद्ध है जिससे हम जीवन में प्रेरणा लेते हैं; किन्तु आज हम लोगों के समक्ष उस महाभारत का चित्रण एक पुस्तक के रूप में है, जिसकी रचना महर्षि व्यास के द्वारा हुई है। महापुरुषों की रचना व्यवस्थापूर्वक जीने-खाने तक ही सीमित न रहकर बल्कि इस जीवात्मा के पूर्ण कल्याण के लिए होती है। पूर्ण कल्याण उसे कहते हैं, जिसे प्राप्त कर मानव कभी ईश्वर से विलग नहीं होता। भरत, महाबीर, ऋषभ एवं बुद्ध आदि एक अच्छे सम्राट थे, जिनके पास जीविकोपार्जन सामग्री की कमी नहीं थी। ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनके सामने भी जीवन-सम्बन्धी भौतिक व्यवस्थाओं की समस्या नहीं थी; किन्तु एक अलक्षित अलौकिक वस्तु की कमी के कारण उन्हें साम्राज्य त्यागकर फकीर होना पड़ा। व्यावहारिक व्यवस्थावाले लाखों होंगे, तो परमार्थ चिन्तनवाला कोई एक। व्यावहारिक व्यवस्था का संचार उन पुरुषों में तो पाया जाता है जिनकी संख्या एक के मुकाबिले लाख है; किन्तु जिन परमार्थी पुरुषों की संख्या लाखों में एक है, वे कहीं से भी उपदेश प्रारम्भ कर मानव की सांसारिक प्रवृत्तियों को समेटते हुए क्रमशः परमार्थ-चिन्तन के प्रशस्त पथ पर खड़ा कर देते हैं। कारण कि उन्होंने चलकर देखा है कि अन्यत्र कल्याण सम्भव नहीं है।

अब आप उसी स्तर के महापुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी श्रीमद्भगवद्गीता को जरा विचार से देखें। कर्म की आवश्यकता पर बल देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि,

हे अर्जुन! काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के मूल द्वार हैं, जिन पर आसुरी सम्पत्ति आधारित है। इन तीनों का त्याग कर देने पर ही वह क्रिया प्रारम्भ होती है जिसका परिणाम मोक्ष है, परमात्मा है। इस स्थिति में मनुष्य सुख-दुःख से उपराम हो जाता है अर्थात् ऐसे सुख की प्राप्ति होती है, जिसके पीछे दुःख नहीं है। सभी पढ़ते एवं इन शब्दों पर विचार भी करते हैं; किन्तु इन विकारों को छोड़ना नहीं चाहते। बहुत से ऐसे भी हैं जो विकारों से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं एवं विकल हैं; किन्तु इनसे पिण्ड छूटता नहीं। इसलिए महापुरुषों ने इनको दुर्जय शत्रु की संज्ञा दिया है। हे अर्जुन! काम और क्रोध जो रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले हैं, इस पथ में यही मुख्य शत्रु हैं। असंगतारूपी शस्त्र, ज्ञानरूपी तलवार द्वारा इनको काट! ये काममय शत्रु भोगों से कभी भी न सन्तुष्ट होनेवाले एवं ज्ञान व विज्ञान को नष्ट करनेवाले अत्यन्त भयंकर एवं दुर्जय हैं। ये शत्रु ज्ञानियों के निरन्तर बैरी हैं। इसलिए युद्ध के लिए 'उत्तिष्ठ'- खड़ा हो! अब आप ही बताइये, जब शत्रु अन्दर हैं तो बाहर झगड़ा करने से क्या लाभ? खैर यह युद्ध का प्रश्न आगे आयेगा। महापुरुषों के शब्दों में यह क्रिया तभी फल देती है जबकि विकारों का शमन हो जाता है। ऐसी ममत्व ग्रसित अवस्था में कल्याण की व्यवस्था कैसे सम्भव हो सकेगी। उसी का निदान करने के लिए महापुरुषों ने शास्त्रों को ऐसी खूबी के साथ रचा कि दुनियावी स्तर पर खड़ा मानव कल्याण की पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सके। जैसा कि क्रोध का पूरक युद्ध, लोभ का पूरक उपार्जन व मोह का पूरक सम्बन्ध इत्यादि मन के फँसाव के जितने भी साधन हैं, सभी उपयुक्त हैं। आप खूब भोगिये परन्तु इष्ट पर दृष्टि रखते हुए, संयम के साथ। यह संयम मानव के लिए एक विशेष प्रशिक्षण है जिसके द्वारा सांसारिक प्रभाव क्रमशः दुर्बल हो जाते हैं और इष्टोपलब्धि की सही परिधि प्राप्त हो जाती है जहाँ से क्रिया का आरम्भ है। कर्मकाण्डियों द्वारा इसकी धज्जी-धज्जी उड़ा दी गई; किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप इतना ही है कि सुबह-शाम पाँच-दस मिनट अवश्य अपने इष्ट के समक्ष हाजिर होना चाहिए। इष्ट का स्वरूप हृदय में स्मरण कर अति विनीत भाव से अपने आप को समर्पित कर दें और अग्रिम कार्य के लिए निवेदन करें कि भगवन्! मैं दिवस की तरह निरन्तर सांसारिक उलझनों में बहता जा रहा हूँ, आप ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं। इसी प्रकार सोने के पूर्व भी कल्याण-विषयक उनके दर्शन की कामना करनी चाहिए और साथ ही साथ एक नाम, जैसे-राम, ओम्, शिव आदि जो प्रिय हो ले लें, फिर इसी नाम को चलते-फिरते, उठते-बैठते सभी समय में निरन्तर जपने का प्रयास करें। इस नाम-जप के लिए कोई स्थान अपवित्र नहीं होता।

याद रखें, इस प्रकार हमें मन के अन्तराल में यहाँ तक योग्यता प्राप्त करनी है कि हर समय नाम-यजन और समर्पण की भावना बनी रहे। बस आगे भगवान किसी-न-किसी रूप में रास्ता बताने लगते हैं। जहाँ कुछ भी आभास मिला तो समय का क्रम धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और बढ़ते-बढ़ते निर्दोष साधन की अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाह्य क्रियाओं का रूप मिट जाता है। लोभ, मोह, क्रोध आदि से प्रेरित उपार्जन, सम्बन्ध व युद्ध की आवश्यकताएँ पूर्णतया मिट जाती हैं और आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध करानेवाले एवं पुरुष व प्रकृति के संघर्ष का विच्छेद करानेवाले वास्तविक आध्यात्मिक युद्ध का प्रादुर्भाव होता है। वह ईश्वर ही सच्चा सम्बन्धी है। वह परम हितैषी है, जो अपना ही अपरिवर्तनशील स्वरूप है। उसी की कृपा से सांसारिक प्रवृत्तियाँ व जन्म-मरण के बन्धन को काटनेवाले युद्ध का प्रवेश-द्वार मिल जाता है। बस गीता इसी स्तर के युद्ध की प्रवेशिका है। गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो मारकाट अथवा दुनियावी युद्ध का समर्थन करता हो। गीता में महाभारत का विरोध नहीं है किन्तु मानव-उत्थान के इस पवित्र शास्त्र का अन्तरंग व सूक्ष्म भाग है। यह आवागमन के बन्धन को काटनेवाला युद्ध तभी सम्भव है, जब आप चिन्तन-कार्य को समझकर करें। यह चिन्तन में होनेवाला युद्ध है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि दुनिया में जन्म लेनेवाले मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। पहला देवताओं-जैसा, दूसरा असुरों-जैसा। इस अन्तःकरण की दो पुरातन पार्टियाँ हैं, एक दैवी सम्पत्ति और दूसरी आसुरी सम्पत्ति। जब अन्तःकरण में आसुरी सम्पत्ति को दबाकर दैवी सम्पत्ति कार्य करती है तो मनुष्य देवताओं-जैसा हो जाता है और जब दैवी सम्पत्ति को दबाकर आसुरी सम्पत्ति कार्य करती है तो मनुष्य निशाचरों-जैसा हो जाता है। आसुरी सम्पत्ति अधम योनियों की तरफ प्रेरित करती है और दैवी सम्पत्ति परमतत्त्व परमात्मा की ओर। "अर्जुन! तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है; कल्याण को प्राप्त होगा अतः शोक मत कर।"

तत्पश्चात् दोनों सम्पत्तियों के लक्षण गिनाते हुए कहते हैं कि ज्ञान व योग की प्रक्रिया दान, दया, धर्म, अभय व अन्तःकरण की स्वच्छता, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी लगाव का न होना, मन का निरोध, चित्त का सर्वथा रुक जाना आदि दैवी सम्पत्ति हैं, जो यौगिक प्रक्रिया में प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठापर्यन्त आनेवाले स्थल-विशेष हैं। जिसके मूल चौबीस लक्षण बतलाये गये हैं और जिनका विस्तार सम्पूर्ण दैवी प्रवृत्ति है। उनका वास-स्थान मन है। ठीक इसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति मन की ही एक प्रवृत्ति है जो नीच योनियों की तरफ प्रवाहित करती है और मानव को पतन की ओर ले जाती है अर्थात् लक्ष्य से विमुख रखती है। इसमें काम, क्रोध, द्वेष, दम्भ,

पाखण्ड, शत्रुता, अनन्त आशा व व्यर्थ तृष्णा का संचार इत्यादि अधोमुखी प्रवाह ही आसुरी सम्पत्ति है। इनका भी वास-स्थान मन ही है। जब हम तत्त्व की खोज के लिए दैवी सम्पत्ति का संग्रह व पालन प्रारम्भ करते हैं, तब आसुरी सम्पत्ति बाधा के रूप में प्रगट हो जाती है। शृंगी इत्यादि जो करीब की स्थिति में थे, ऐसे बहुत से महात्माओं को बरबस इसी आसुरी सम्पत्ति से रुक जाना पड़ा। बस गीता का प्रतिपादित वास्तविक युद्ध यहीं से खड़ा होता है जिसको महापुरुषों ने विभिन्न नामों से समझा है, किन्तु गीता इन्हीं दो पार्टियों को धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र के नाम से प्रारम्भ कर सजातीय-विजातीय, विद्या-अविद्या, देव-असुर आदि कई नामों से पुष्ट कर लक्ष्य परमात्मा की परम आवश्यकता का निर्देश करती है। उसकी प्राप्ति के बाद गीता के शब्दों में पुनर्जन्म नहीं होता।

।। ॐ ।।

देवता

प्रश्न– महाराजजी! योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहीं बाह्य देवताओं पर कटाक्ष करते हैं तो कहीं देवताओं की उन्नति करने को कहते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर– गीता में देवताओं के दो रूप हैं। एक तो अन्तःकरण की प्रवृत्ति (दैवी सम्पत्ति) है। यह दैवी सम्पत्ति परमदेव परमात्मा के स्वरूप की ओर प्रेरित करनेवाली है। परमदेव का देवत्व यही अर्जित कराती है। यही परमतत्त्व में प्रवेश देती है, देव बनाती है; इसलिए यह इष्ट-प्रसारिणी सम्पत्ति 'दैवी सम्पत्ति' कहलाती है। तीसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में श्रीकृष्ण इसी सम्पत्ति को उन्नत बनाने का निर्देश देते हैं। विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, वास्तविक जानकारी तथा अनुभवी संचार इत्यादि दैवी सम्पत्ति के चौबीस लक्षणों का सविस्तार निरूपण योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में किया है। इन देवताओं के द्वारा परमदेव परमात्मा शनैः-शनैः सुलभ होता है। क्रमशः उत्थान करते-करते जब दैवी सम्पत्ति परिपक्व होती है तो अव्यक्त परमात्मा भी विदित हो जाता है।

दूसरे देवता वे हैं जिनका संसार में प्रचलन है। बहुत पहले की एक गणना के अनुसार उनकी संख्या तैंतीस करोड़ थी और अब तक तो न जाने कितने और हो गये हैं। भूत, भवानी, धात्री, सावित्री, भैरव, ब्रह्म बाबा, डीह, चौरा इत्यादि असंख्य देवता नित्य बनते हैं और कुछ काल में प्रसुप्त हो जाते हैं। इन्हीं की ओर इंगित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि बहुत से लोग मुझे छोड़कर, कामनाओं से आक्रान्त होकर अन्य देवताओं की पूजा करते हैं, वह पूजा अविधिपूर्वक है (गीता, ७/२०, ९/२३)। उनके चिन्तन की विधि गलत है, इसलिए वे फल तो पाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति नहीं कर पाते। वे फल नाशवान् हैं, इसलिए उनसे कल्याण नहीं हो सकता। (गीता, ७/२३)। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा भक्त मुझको ही प्राप्त होता है (गीता, ९/२५)। ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं; परन्तु कौन्तेय! मुझे प्राप्त भक्त का पुनर्जन्म नहीं होता। (गीता, ८/१६)।

वस्तुतः देवताओं का परमदेव परमात्मा से स्वतन्त्र न तो कोई अस्तित्व है और न पृथक्-पृथक् उनकी कोई सत्ता ही है। केनोपनिषद् की कथा है कि उस परमेश्वर की शक्ति के बिना अग्नि एक तिनके को भी जला नहीं सकती, वायु उस तिनके को उड़ा नहीं सकता। इसी रहस्य पर प्रकाश डालते हुए सामवेदीय जाबालदर्शनोपनिषद् के चतुर्थ

खण्ड में भगवान दत्तात्रेय ने साङ्कृति मुनि से कहा, "महामुने! बाह्य तीर्थ से श्रेष्ठ आन्तरिक तीर्थ ही है। शरीर के भीतर रहनेवाला दूषित चित्त बाह्य तीर्थों में गोता लगाने मात्र से शुद्ध नहीं होता, जैसे- मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार धोने पर भी ज्यों-का-त्यों ही रहता है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है। आत्मतीर्थ प्राप्त पुरुष के सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं। मस्तक ही श्री शैल है, ललाट केदार तीर्थ है, नासिका और भौंहों के मध्य काशीपुरी है, दोनों स्तनों के स्थान पर कुरुक्षेत्र है और हृदय कमल में तीर्थराज प्रयाग है। मूलाधार में कमलालय तीर्थ है। जो शरीर के भीतर स्थित इन तीर्थों का परित्याग करके बाहर के तीर्थों में भटकता है, वह हाथ में रखे बहुमूल्य मणि को त्यागकर काँच खोजता फिरता है। भावनामय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ है इसलिए योगी जल से भरे तीर्थों और काष्ठ आदि से निर्मित देव प्रतिमाओं की शरण नहीं लेते। योगी अपने आत्मा में ही शिव का दर्शन करता है, प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदय में भगवान के प्रति भावना जागृत करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गई है; किन्तु मुनिश्रेष्ठ! अज्ञानी मनुष्य के अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए तत्त्वदर्शी महात्माओं का चरणोदक सर्वोत्तम तीर्थ है।"

इस परमपथ की प्रवेशिका में सामान्य एवं सरल मनुष्य के समक्ष सर्वप्रथम देवी-देवता, मन्दिर-मूर्तियाँ, तीर्थ-व्रत ही पड़ते हैं जिनसे संस्कार बनता है, पुण्य बढ़ता है; किन्तु मनुष्य उन देवताओं को परमदेव परमात्मा से पृथक् एवं प्रत्येक देवता को एक दूसरे से भिन्न उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट मान बैठता है; वह ऋग्वेद की इस ऋचा को भूल जाता है कि **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।'**- एक परमेश्वर ही सत्य है, विप्रगण उसे अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं क्योंकि किसी एक नाम से उस विराट् प्रभु की प्रभुता का बोध नहीं होता। सामान्य मानव देवताओं की अनेकता में निहित एकता को परखने का प्रयास नहीं करता, देवता की पृथक् सत्ता को ही गन्तव्य मान लेता है; इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं- उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती। साधना के प्रारम्भ में मुझे भी एक देवता ही मिला; किन्तु तत्त्वस्वरूप महापुरुष (परमहंसजी) के अनुभवी प्रवेश के साथ ही वह शान्त हो गया।

वस्तुतः देवता भी मरणधर्मा हैं। अपने पुण्य-पुरुषार्थ से स्वर्गलोक की प्राप्ति करनेवाले तथाकथित 'अमर' विशाल स्वर्गिक भोगों का उपभोग करने के उपरान्त **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** *(गीता, ९/२१)*- पुण्य क्षीण हो जाने पर उसी मृत्युलोक में गिर जाते हैं। उसी स्थान पर आ जाते हैं जहाँ से साधन प्रारम्भ किया था। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? वह देव-तन ही किस काम का, जिसमें संचित पुण्य ही समाप्त हो जाय?

देवता तक मानव-तन से आशावान् हैं; क्योंकि मुक्त होने के लिए उन्हें भी मानव-तन प्राप्त करना होता है। देव, पशु इत्यादि भोग-योनियाँ हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है; जिसके द्वारा वह उस परमधाम को प्राप्त कर सकता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता।

मरणधर्मा देवता हमारा लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य तो परमदेव परमात्मा ही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य उस स्वरूप से कभी विलग नहीं होता। यही वह पराकाष्ठा है जहाँ पहुँचकर मनुष्य देवताओं का भी देवता बन जाता है। श्रद्धालुओं में देवत्व की जागृति करनेवाला सद्गुरु हो जाता है।

अतः आप सभी परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर दैवी सम्पद् का अर्जन करें, दैवी प्रवृत्तियों को उन्नत बनायें।

।। ॐ ।।

श्रीकृष्ण एक योगी थे

प्रश्न– महाराजजी! कुछ लोग कहते हैं कि रास रचानेवाले श्रीकृष्ण और गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न थे। दोनों एक हो नहीं सकते। कुछ लोग कहते हैं, वे मनुष्य नहीं बल्कि सोलह कला के पूर्ण अवतार थे, साक्षात् भगवान थे। वास्तव में श्रीकृष्ण कौन थे?

उत्तर– श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व विवाद का शीर्षक बना हुआ है। यादव लोग उन्हें अपनी बिरादरी का मानते हैं। नृत्य-संगीत विशारद उन्हें अपना प्रणेता कहते हैं। अंग्रेज उन्हें कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में देखते हैं, तो भारत की अधिकांश जनता उन्हें भगवान के रूप में पूजती है अतः आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि श्रीकृष्ण कौन थे?

वस्तुतः श्रीकृष्ण एक योगी थे। योग ही वह क्रिया है जिस पर चलकर साधक परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। **'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैव भवति'**, 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'– भगवान को जानते ही योगी भी भगवान हो जाता है। उसका सेवक एवं जीव-भाव तिरोहित हो जाता है और स्वामी ही सदा-सदा के लिए शेष बचता है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहम् ब्रह्मास्मि' इत्यादि ऋचाओं में इसी रहस्य की अभिव्यक्ति हुई है।

१– गीता के सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि अनेक जन्मों के पश्चात् अन्त के जन्म में तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी मेरा साक्षात् स्वरूप है--

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। *(७/१८)*

ज्ञानी तो मेरा साक्षात् स्वरूप ही है, भगवन्मय है। क्योंकि वह मेरे में ही अच्छी प्रकार स्थित है। ऐसे ज्ञानी भक्तों और श्रीकृष्ण की स्थिति में कोई अन्तर (श्रीकृष्ण के शब्दों में) नहीं है। कहना न होगा, श्रीकृष्ण एक योगी ही थे, महात्मा ही थे और तत्त्वज्ञ महात्मा ही भगवान होता है। भक्ति के द्वारा ही कोई भी मनुष्य भगवान हो सकता है।

२– महात्मा श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में यत्र-तत्र सर्वत्र अपना परिचय दिया है। टीकाओं में न जाकर योगेश्वर श्रीकृष्ण की मूलवाणी पर दृष्टिपात करें तो श्रीकृष्ण के स्वरूप को लेकर भ्रान्ति नहीं होगी। गीता के तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण बताये और फिर ऐसे महात्माओं के समकक्ष अपने को भी घोषित किया। वे कहते हैं कि जो पुरुष मेरे द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म को नहीं करता

(उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण केवल आराधना को ही कर्म मानते हैं- **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।** *(गीता, ३/९)* वह पापायु पुरुष व्यर्थ जीता है किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, तृप्त तथा सन्तुष्ट है, उसके लिए कर्मों की अर्थात् आराधना की आवश्यकता नहीं है। उस पुरुष द्वारा इन कर्मों को किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से हानि ही है। इस स्थिति को बिना कर्म किये कोई नहीं पाता। जनक इत्यादि भी इसी कर्म (आराधना) को करके परमसिद्धि को प्राप्त हुए। ऐसे पुरुष केवल लोकशिक्षण अथवा लोक-कल्याण के निमित्त ही स्वयं कर्म में बरतते हैं।

इतना कहने के पश्चात् श्रीकृष्ण ऐसे महात्माओं से अपनी तुलना करते हैं-कौन्तेय! मुझे भी प्राप्त होने योग्य किंचित् मात्र वस्तु अब अप्राप्य नहीं है अर्थात् मैं भी आत्मतृप्त हूँ। महात्माओं की ही तरह मुझे भी अब कर्म करने की आवश्यकता नहीं है फिर भी पीछेवालों के हित की इच्छा से मैं भली प्रकार कर्म में बरतता हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने महापुरुषों से अपनी तुलना करते हुए संकेत दिया कि मैं भी एक योगी हूँ।

३- दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह आत्मा अपरिवर्तनशील, न सूखनेवाली, न जलने-गलनेवाली, नित्य, व्यापक, अचल और सनातन है। इसी आत्मा को साक्षात् जानना ही सनातन-धर्म है। किन्तु ऐसी आत्मा सबमें है तो खोजा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। साधारण लोगों को आत्मा के यह गुण दिखाई नहीं पड़ते। प्रायः शोक, सन्ताप और मृत्यु का कारण माया ही दिखाई पड़ती है। किन्तु श्रीकृष्ण आत्मा को इन विभूतियों के साथ जानते हैं अतः वे तत्त्वदर्शी महापुरुष हैं, योगी हैं।

४- अध्याय चार में कर्म एवं उसके परिणामस्वरूप ज्ञान की प्रक्रिया सीखने के लिए निर्देश दिया- अर्जुन! तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाओ। उन्हें दण्ड-प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, वे तुममें ज्ञान और साधन जागृत करेंगे। वस्तुतः अनुरागी ही अर्जुन है। श्रीकृष्ण ने भविष्य में आनेवाली पीढ़ी, योग-परम्परा एवं होनेवाले साधकों का ध्यान अपने शास्त्र में रखा। वे जानते थे कि आज तो यह अनुरागी मेरी शरण में है किन्तु हजारों वर्ष पश्चात् भविष्य में जो अनुरागी होंगे, वे किसकी शरण लेंगे? अतः अनुरागियों को उन्होंने तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाने की सलाह दी। पहले तो अर्जुन को तत्त्वदर्शियों के पास जाने को कहा। जब स्वयं भगवान ही सामने खड़े थे तो तत्त्वदर्शियों की शरण में जाने को क्यों कहा? क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं एक योगी थे। अठारहवें अध्याय में सबके हृदय में ईश्वर का निवास बताते हुए उस ईश्वर की शरण में जाने को कहा और अन्त में **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'** *(गीता, १८/६५)* कहकर

अपने शरण में आने को कहकर स्पष्ट कर दिया कि तत्त्वदर्शी महात्मा और श्रीकृष्ण का स्तर एक ही है।

५- अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जो तत्त्व से जानता है वह मुझे ही प्राप्त होता है और ऐसे बहुत से पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। **'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।'** *(गीता, ४/१०)*- बहुत से तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीकृष्ण के समकक्ष स्थिति के हैं। इसे और स्पष्ट कहा जाय तो कहना होगा- श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वदर्शी महात्मा ही थे।

६- चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं, **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँट दिया? श्रीकृष्ण कहते हैं, नहीं, **'गुणकर्म विभागशः'** *(गीता, ४/१३)*- गुणों के माध्यम से कर्म को चार श्रेणियों में बाँटा। योगेश्वर श्रीकृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं जिसके द्वारा परमतत्त्व परमात्मा तक की दूरी तय होती है। श्रीकृष्ण ने इसी चिन्तन-क्रम को गुणों के आधार पर चार सोपानों में बाँटा और कहा कि इनके कर्ता मुझ अव्यक्त स्वरूप को अकर्ता ही जान। प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि आप करते हैं फिर भी अकर्ता कैसे बने रहते हैं? कर्मों से आप लिपायमान क्यों नहीं होते? श्रीकृष्ण समाधान करते हैं कि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा भी नहीं है। कर्मों अर्थात् आराधना का फल है शाश्वत परमात्मा में विलय। परमात्मा अलग होता तो कदाचित् स्पृहा भी होती; किन्तु वह परमात्मा भी मुझसे विलग नहीं है अतः कर्मों में मेरी स्पृहा भी नहीं है। जिस भोजन को आप करते हैं उससे भी श्रेष्ठ भोजन देखकर खाने की इच्छा अवश्य होगी; किन्तु परमात्मा से श्रेष्ठ, जिससे आगे कोई सत्ता है ही नहीं, वह हमें प्राप्त है तो हम ढूँढ़े किसे? इसलिए मेरी स्पृहा नहीं है।

इतना ही नहीं, उपर्युक्त योग्यता के साथ जो भी मुझे जानता है उसे भी कर्म नहीं बाँधते। **'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।'** *(गीता, ४/१५)*- पहले के मुमुक्षु पुरुषों ने इसी आशा से कर्म का आचरण किया। अर्जुन! तू भी इसी प्रकार कर तो कर्मों से नहीं बँधेगा। जैसे श्रीकृष्ण वैसा ही अर्जुन या कोई भी साधक बन सकता है। अतः श्रीकृष्ण भी एक योगी ही थे।

७- अध्याय नौ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं उस परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु मेरी स्थिति को न जाननेवाले मूढ़लोग मुझे तुच्छ कहते हैं, 'न कुछ' कहकर पुकारते हैं, किन्तु दैवी सम्पद् से युक्त विवेकीजन मुझे श्रद्धा से जपते हैं। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'** *(गीता, ९/२६)* जो कुछ भी वे अर्पित करते हैं उसे मैं ग्रहण करता हूँ और उनका परमकल्याण करता हूँ।

महापुरुष और क्या होते हैं? वे भी साधारण मनुष्य के स्तर से शनैः-शनैः उत्थान करते-करते परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित होते हैं। आसुरी सम्पद्वाले उन्हें तुच्छ कहकर सम्बोधित करते हैं; किन्तु दैवी सम्पद्वाले अनन्य श्रद्धा से उन्हें अपने आपको समर्पित करते हैं।

८- तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है, जिसमें भले-बुरे संस्कारों के बीज जन्मान्तरों तक फल देनेवाले हैं। शरीर के तीन भाग हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन्हें और इनके साथ परमपुरुष को साक्षात्कार के साथ जो जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है- ऐसा उन मनीषियों ने कहा है जो क्षेत्र के तत्त्वज्ञ हैं। अर्जुन! तू भी मेरे को क्षेत्रज्ञ जान। यहाँ श्रीकृष्ण पहले तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाजन करते हैं, फिर उनकी जानकारीवाले महात्माओं को क्षेत्रज्ञ बताकर स्वयं को भी क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रकट करते हैं। अतः सिद्ध है कि श्रीकृष्ण भी एक योगी थे, महात्मा थे।

९- अठारहवें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए पूछा- महाबाहो! संन्यास और त्याग के तत्त्व को मैं पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले-अर्जुन! बहुत से पण्डित काम्य कर्मों के त्याग को ही संन्यास कहते हैं (कर्म का तात्पर्य आराधना है) अर्थात् जिस आराधना के पीछे लौकिक आशाएँ छिपी हों, उन कामनाओं के त्याग को ही संन्यास कहते हैं। अनेक विचार-कुशल पुरुष कर्म-फल के त्याग को ही त्याग कहते हैं। कई मनीषियों का विचार है कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं अतएव त्याज्य हैं, तथा दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म किसी भी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। हे अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को भी सुन! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। यज्ञ, दान और तप तीनों विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करनेवाले हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण ने धर्म एवं साधना के नाम पर प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा की और अपना मत भी प्रतिपादित किया। प्रचलित सभी विचारधारायें दोषपूर्ण नहीं थीं, उनमें से एक धारा यथार्थ भी थी कि बहुत से मनीषियों का कहना है कि यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। उन्हीं मनीषियों के निर्णय को पुष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने भी अपना निश्चय सुनाया कि यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म किसी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। अर्थात् जैसे वे मनीषी वैसे ही योगेश्वर श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण उन्हीं के निर्णय को स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है, श्रीकृष्ण उन्हीं में से एक हैं, योगी हैं।

१०- गीता के समापन पर एकाग्रचित्त संजय ने भी श्रीकृष्ण का परिचय योगेश्वर कहकर दिया-

> **यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**
> **तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।** *(गीता, १८/७८)*

योगेश्वर उसे कहते हैं, जो योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिसमें क्षमता हो, योग पर जिसका स्वामित्व हो। यही पूर्णता तथा पूर्णयोगी के लक्षण हैं। स्पष्ट है, श्रीकृष्ण भी उनमें से एक हैं, एक योगी हैं।

वस्तुतः मानव-मन की एक बड़ी कमजोरी है कि वह अच्छाइयों पर चलने से कतराता है, तरह-तरह के बहाने ढूँढ़ लेता है। श्रीकृष्ण के सद्गुणों को अपने में ढालने की अपेक्षा यह कहकर सन्तोष करना चाहता है कि श्रीकृष्ण तो अपौरुषेय थे, अलौकिक थे। जिन कार्यों को उन्होंने किया, मैं कैसे कर सकता हूँ? वे पुरुष नहीं भगवान थे, अवतार थे। मनुष्य भगवान को जानता नहीं बल्कि मान लेता है, जबकि श्रीकृष्ण आपका आह्वान करते हैं, प्रोत्साहित करते हैं कि बहुत से साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। आप भी उन्हीं रास्तों का अनुसरण करें और कल्याण के भागी बनें।

प्रश्न- महाराजजी! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रकरण को और अधिक स्पष्ट किया जाय।

उत्तर- देखिये, अध्याय तेरह में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्याख्या करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

> **इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**
> **एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।** *(गीता, १३/१)*

अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। इसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज संस्कार-रूप में उगता है और जन्मान्तरों तक फल देता है। इसको जो साक्षात् जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं; ऐसा उसके स्वरूप को जाननेवाले महर्षियों ने कहा है। हे अर्जुन! मुझको भी सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ ही जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन और तत्त्वतः उनकी जानकारी का नाम ही ज्ञान है।

यहाँ श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि कुछ भी रट लेने का नाम ज्ञान नहीं है बल्कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों का निरोध और निरोध के साथ ही उस परमपुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम ही ज्ञान है। पञ्चमहाभूतों (क्षिति, जल, गगन, पावक, समीर) से निर्मित स्थूल शरीर एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से सृजित सूक्ष्म शरीर तथा चेतना से निर्मित कारण शरीर यह सब क्षेत्र है। ये जब तक रहेंगे तब तक शरीर किसी-न-किसी

रूप में विद्यमान रहेगा। इस क्षेत्र का पार पाकर उस शाश्वत पुरुष, परमतत्त्व की अनुभूति और उसमें स्थिति का नाम ज्ञान है। प्रकृति और पुरुष के विभाजन की जानकारी ही ज्ञान है।

श्रीकृष्ण के ही शब्दों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की यह परिभाषा उन महापुरुषों ने दी जो इसके जानकार थे। जो भी इसे जानता है, क्षेत्रज्ञ है। वे महापुरुष क्षेत्रज्ञ थे और "अर्जुन! मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।" अर्थात् श्रीकृष्ण भी एक महात्मा थे, योगी थे। जो क्षेत्र में फँसता नहीं बल्कि उसका संचालक है।

प्रश्न– महाराजजी! हर व्यक्ति अलग-अलग क्षेत्रज्ञ बनता है अथवा क्षेत्रज्ञ बनने पर सम्पूर्ण जीवों के शरीर को जान लेता है?

उत्तर– क्षेत्रज्ञ अलग-अलग नहीं होते। विकारों सहित प्रकृति और पुरुषत्व की साक्षात् अनुभूति जो भी कर लेता है, वह क्षेत्रज्ञ बन जाता है। ऐसा महापुरुष परमात्मा में स्थित है जो सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र है, मूल है, उद्गम-स्थल है। इसलिए कोई आत्मा कहीं से चिन्तन करती है, ऊपर उठती है तो तत्क्षण वह क्षेत्रज्ञ उसको संचार प्रदान करेगा, दिशा-निर्देशन करेगा। वह एक साथ सहस्रों को जानता, उनके मनोगत भावों के अनुसार उन्हें निर्देशित करता है। एक साथ उनके भावों को तौलता है। फल के साथ उनका उत्थान करते हुए अपने क्षेत्रज्ञ रूप में स्थितिपर्यन्त उन्हें चलाता है। यही उस क्षेत्रज्ञ की सर्वज्ञता है। हजारों लोग याद करें अथवा अनन्त, क्षेत्रज्ञ एक साथ सबमें संचारित हो जायेगा। उसे कुछ करना नहीं पड़ता; क्योंकि वह सबके मूल केन्द्र में स्थित है। महापुरुषों की यह विशेषता है कि जिस साधक ने उन्हें हृदय से पकड़ा, तत्क्षण उसकी आत्मा से जागृत होकर, अभिन्न होकर उसका पथ-संचालन करने लगते हैं और क्रमशः प्रकृति के द्वन्द्वों से निकालते हुए शनैः-शनैः उत्थान कराते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन तथा तत्त्व की अनुभूति साधक को भी करा देते हैं। फिर तो साधक भी क्षेत्रज्ञ हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ– ऐसा नहीं है; अपितु जो भी जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। मैं क्षेत्रज्ञ हूँ तो आप भी बन सकते हैं। मानव अथवा जड़-चराचर ही अष्टधा मूल प्रकृति, पञ्चमहाभूत– मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और चेतना का विकार है। क्षेत्रज्ञ इन सभी को जानता है, उसका सञ्चालक भी है।

प्रश्न– महाराजजी! जड़ में चेतन की अनुभूति कैसे होगी?

उत्तर– जड़ हमारी दृष्टि में जड़ है किन्तु स्वयं में चेतन है। पत्थर आपकी दृष्टि में जड़ है किन्तु स्वयं में चेतना से ओतप्रोत है। अब तो आपका विज्ञान भी स्वीकार करता है। वस्तुतः सबके मूल ब्रह्म में स्थित महापुरुष जहाँ भी दृष्टि डालता है

'ईशावास्यमिदं सर्वम्' ही दिखाई देता है। **'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।।'** *(मानस, २/१३०/७)*- उसकी दृष्टि में न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रहता है और न नरक नरक के रूप में। जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, उसी परमतत्त्व परमात्मा का प्रसार ही दृष्टिगोचर होता है। यही क्षेत्रज्ञ की स्थिति है। गीता में भी इस स्थिति का चित्रण है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। *(गीता, ५/१८)*

जो विप्र हैं अर्थात् परब्रह्म से आप्लावित हैं, उनकी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल; कुत्ता, हाथी और गाय सब में समान दृष्टि रहती है। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है न कुत्ता अधर्म है। न विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कोई श्रेष्ठता रखता है, न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। शरीर, चमड़े, रंग और मस्तिष्क पर महापुरुष दृष्टि ही नहीं डालते हैं। उनकी दृष्टि सीधे उनकी आत्मा पर पड़ती है जो उसके अन्दर भी संचारित है।

प्रश्न- किन्तु महाराजजी! कुतिया चाहे अपने बारहों स्तनों से दूध दे और गाय चाहे दूध न भी दे फिर गाय तो गाय और कुतिया तो कुतिया ही रहेगी। दोनों समान कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- देखिये, वाल्मीकि पहले चाण्डाल थे, लोग ऐसा ही उन्हें कहते हैं। किन्तु महापुरुषों ने उन्हें चाण्डाल और डाकू के रूप में नहीं देखा। उन्हें तुरन्त दिशा दी और **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना'**- ब्रह्मर्षि के रूप में परिणत हो गये। इस प्रकार उन महापुरुषों की दृष्टि आत्मा पर ही रहती है और जब भी आत्मा उनकी ओर झुकाव लेगी वे तुरन्त उसे पकड़कर स्थूल-सूक्ष्म-कारण पर्यन्त शरीरों में निराई प्रारम्भ कर देते हैं। शनैः-शनैः उसकी आत्मा से अभिन्न होकर रथी बन जाते हैं; फिर तो **'जाके रथ पर केसो। ता कहँ कौन अँदेसो।।'** उत्थान करते-करते उस शाश्वत तक की दूरी तय करा देते हैं। वह साधक भी क्षेत्रज्ञ बन जाता है। श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ थे, योगी थे।

तुम अपने अन्तराल में उस अधिकार का अर्जन करो तथा ऐसे महापुरुषों की मन, वचन, कर्म से शरण ग्रहण करो, तुम भी प्रेरणा-स्रोत उसी शाश्वत स्वरूप को क्रमशः पाओगे; और यह गदही तथा गाय तो भिन्न श्रेणी के जीव हैं। किन्तु शूद्र, जिन पर शूद्रत्व लादा गया तथा ब्राह्मण, ईसाई सभी एक ही मानव हैं। यह उदाहरण ही तुम लोगों ने गलत उठाया है।

।। ॐ ।।

यज्ञ?

प्रश्न- महाराजजी! श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि ''यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः''- यज्ञ के सिवाय जो कुछ किया जाता है वह इसी लोक का एक बन्धन है। कृपया बतावें कि यज्ञ क्या है? कैसे किया जाता है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में भगवान् मिलते हैं लेकिन संसार में इतना हवन-यज्ञ होता है फिर भी भगवान् किसी को मिलते दिखाई नहीं देते। कृपया यज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट किया जाय।

उत्तर- आपकी शंका स्वाभाविक है। गीता के तीसरे अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। *(गीता, ३/६)*

अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। कर्म वह है जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। इस यज्ञ के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, जिसमें सारा जगत् दिन-रात व्यस्त है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** *(गीता, ४/१६)*- अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला होता है, वह बाँधता नहीं। **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।'** इसलिए कौन्तेय! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए, संग-दोष से अलग रहकर, भली प्रकार कर्म का आचरण कर। इस प्रकार यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह प्रक्रिया-विशेष ही कर्म है, जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। सिद्ध है यज्ञ कोई निर्धारित दिशा है। अतः आपका प्रश्न स्वाभाविक है कि वह यज्ञ है क्या?

श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न का गीता में सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने केवल इतना ही नहीं बताया कि यज्ञ क्या है बल्कि प्रकरण की महत्ता समझाते हुए यह भी बताया कि यज्ञ आया कहाँ से और हमें देता क्या है?

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। *(गीता, ३/१०)*

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ। यहाँ बुद्धि ही ब्रह्मा है-**'अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।।'** *(मानस, ६/१५)* बुद्धि चार प्रकार की कही गयी है- ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविदुर्यान और ब्रह्मविद्वरिष्ठ।

'ब्रह्मविद्' वह बुद्धि है जो ब्रह्मविद्या से ओत-प्रोत हो किन्तु यह केवल रटी-रटायी विद्या मात्र है, क्योंकि इस स्तर की बुद्धिवाला उस पर पूर्णतः चल नहीं पाता। ब्रह्मविद्वर

वह है जिसे ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठता प्राप्त हो। क्रियात्मक जानकारी होने पर साधन क्रमशः इतना उन्नत हो जाय कि वह स्वयं तो ब्रह्म का ज्ञाता हो ही, दूसरों को भी उस मार्ग पर चला देने की क्षमता रखे, उस बुद्धि को ब्रह्मविदुर्यान कहते हैं। ब्रह्मविद्वरिष्ठ ब्रह्मज्ञाता की वह स्थिति है जिसमें इष्ट समाहित हो। ऐसी बुद्धि मात्र यंत्र होती है और उसके माध्यम से आराध्य ही अपनी वाणी प्रसारित किया करता है। ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का संकलन वेद है। वेदों को अपौरुषेय इसीलिए कहा जाता है, यद्यपि वह सौ-दो सौ महर्षियों की वाणी का संकलन है; बोलनेवाले सौ-सवा सौ महात्मा ही हैं। फिर भी उसमें महात्माओं का कुछ भी नहीं है बल्कि वह अव्यक्त परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। ऐसे ही महापुरुषों ने कल्प के आदि में प्रजा को यज्ञ से संयुक्त किया।

कल्प के आदि का आशय भजन के आरम्भ से है। भवरोगों से त्रस्त मरणधर्मा जीवात्मा का कल्प भजन से ही है। इसी के द्वारा वह पूर्ण नीरोग होता है, उसका कायाकल्प हो जाता है। भजन की दो अवस्थाएँ हैं- आरम्भ एवं पराकाष्ठा। कल्प का आदि भजन की आरम्भिक स्थिति है; जबकि पराकाष्ठा वह स्थिति है जहाँ आत्मा शाश्वत ब्रह्म का दिग्दर्शन पाकर पूर्ण नीरोग, अचल स्थिर हो जाती है, पुनः योनियों में प्रवेश नहीं करती, जिसे श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा ने अर्थात् जिसकी बुद्धि मात्र यन्त्र है, ऐसे स्थितप्रज्ञ महापुरुष ने कल्प के आदि में अर्थात् भजन के प्रारम्भ में प्रजा को यज्ञ से संयुक्त किया अर्थात् साधक के अन्तःकरण में यज्ञ का बीज वपन किया और कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुमलोग वृद्धि को प्राप्त होओ।

यज्ञ से कौन-सी उन्नति होगी? दो पुत्र हैं तो क्या चार हो जायेंगे? एक मकान है तो क्या दो हो जायेंगे? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, यह यज्ञ **'इष्टकामधुक्'**- इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्तिवाला होगा। इष्ट वह है जिससे कभी अनिष्ट नहीं होता। ऐसा तो एकमात्र परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कभी पतन नहीं होता। देवता तक **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** *(गीता, ९/२१)*- पुण्य क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में उसी स्थान पर लौटकर आ जाते हैं, जहाँ से चलना प्रारम्भ किया था। इससे बड़ा अनिष्ट क्या होगा? अतएव एकमात्र परमात्मा ही परमकल्याणकारी है। वही हमारा इष्ट हो सकता है और यज्ञ इसी इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्ति करनेवाला है।

जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यज्ञ से किस प्रकार इष्ट की उपलब्धि होगी? क्या इष्ट अकस्मात् कल्याण कर देगा? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, बल्कि-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। *(गीता, ३/११)*

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् काम, क्रोध, मद, लोभ, माया की चपेट में तो जीव पहले से है ही। अतः इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो; हृदय में दैवी सम्पद् को बलवती बनाओ। विवेक, वैराग्य, मन का शमन, इन्द्रियों का दमन इत्यादि दैवी सम्पद् हैं जिसका विस्तरशः उल्लेख सोलहवें अध्याय में है। यह सम्पत्ति आंशिक रूप से है तो सब में, किन्तु दुर्बल है; उसी को बलवान भर करना है। यही आपका अपना बल है। उसी की उन्नति में आपकी उन्नति निहित है। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी, मन अन्तराल में सिमटता जायेगा, ध्यान में बल मिलता जायेगा। इस प्रकार परस्पर उत्थान करते-करते परमश्रेय परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है जो दैवी सम्पद् को उत्तरोत्तर उन्नत करनेवाला है, परमकल्याण करनेवाला है।

दैवी सम्पद् को विकसित किये बिना अर्थात् साधन किये बिना यदि कोई अपने कल्याण को सिद्ध मान लेता है, श्रीकृष्ण उसकी निन्दा करते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।। *(गीता, ३/१२)*

यज्ञ द्वारा संवर्द्धित देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे और 'तैर्दत्तान्'-वे दाता हैं। जो बिना उनके दिये ही अपने को पूर्ण मान लेता है, श्रीकृष्ण के शब्दों में वह चोर है।

प्रश्न- महाराजजी! "इष्टान्भोगान्" का अर्थ क्या इच्छित भोग नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, क्योंकि सांसारिक इच्छाएँ धन, स्त्री, पुत्रादि की हो सकती हैं किन्तु इनसे परम कल्याण सम्भव नहीं है लेकिन यज्ञ तो ऐसी वस्तु है जिससे **'श्रेयः परमवाप्स्यथ'**- परमकल्याण होता है। अतः इष्ट-सम्बन्धी भोग, ध्यान की मस्ती, ईश्वरीय वातावरण की उपलब्धि से सम्बन्धित है। इस प्रकार देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे (चिन्तन-क्रम यज्ञ-क्रिया है) और वही एकमात्र दाता हैं। अर्थात् बिना किये कोई नहीं पाता। इन दैवी प्रवृत्तियों का सम्वर्द्धन किये बिना ही जो उस अव्यक्त सत्ता की स्थिति का उपभोग करता है, बिना चले ही जो मंजिल पर पहुँच जाने का दम्भ भरता है, वह निश्चय ही चोर है, मुँह छिपानेवाला है। अतः यज्ञ करना नितान्त आवश्यक है। यज्ञ से मिलेगा क्या?

यज्ञ से होनेवाली उपलब्धि के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। *(गीता, ३/१३)*

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न अर्थात् यज्ञ की पूर्तिकाल में शेष ब्रह्मानन्द को पाकर यह आत्मा सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाती है। उस ब्रह्मानन्द का पान करनेवाले सन्त सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं; किन्तु जो पापी केवल शरीर-पोषण मात्र के लिए परिश्रम करते हैं वे और अधिक पाप का ही संग्रह करते हैं। वे यज्ञ तो करते हैं किन्तु बदले में शरीर और तत्सम्बन्धित सुख-सुविधाओं की आशा रखते हैं, जबकि देवताओं तक का शरीर पुनरावर्तनशील है। अतः यज्ञ निष्काम भाव से ही करना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मा ने यज्ञ से संयुक्त प्रजा को बनाया, तो अन्ततः वे सम्पूर्ण भूत यज्ञ से संयुक्त क्यों हो गये? कौन-सा प्रलोभन उन्हें दिखायी पड़ा? श्रीकृष्ण कहते हैं-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। *(गीता, ३/१४)*

भूत प्राणी अन्नाद् अर्थात् अन्न को खानेवाले होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में अन्नाद् शब्द का प्रयोग 'अन्न का उपभोग करनेवाले' के लिए किया गया है। भूतों की उत्पत्ति संकल्प से होती है। इसी अन्न को उद्देश्य बनाकर अर्थात् ब्रह्म को उद्देश्य बनाकर सभी भूत (संकल्प) यज्ञ से संयुक्त हुए। अन्न ब्रह्म है- **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।** ***(तैत्ति०/भृगु० द्वितीय अनुवाक्)*** वही तो आत्मिक आहार है जिसे पाकर आत्मा तृप्त हो जाती है, कभी अतृप्त नहीं होती। उसी ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर समस्त संकल्प यज्ञ से संयुक्त हुए।

संकल्पों की उत्पत्ति तो ब्रह्म के लिए हुई, अन्न के लिए हुई; किन्तु उस अन्न की उत्पत्ति कैसे होती है? श्रीकृष्ण कहते हैं- वृष्टि से। पूर्वजन्म में कुछ करते बन गया अथवा इस जन्म में किसी महापुरुष की कृपावृष्टि हो, जबकि वह हमारा ही पूर्व का किया हुआ यज्ञ-संचार है जो अब मिलता है, तभी ब्रह्मानन्द का आस्वादन सम्भव है। यह कृपावृष्टि कैसे होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं यज्ञ से। या तो किसी महापुरुष के कृपा-प्रसाद से हो अथवा **'अनेक जन्मसंसिद्धः'** *(गीता, ६/४५)*- पूर्वजन्म से वह पार लगा हो। वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों आप क्रिया करते जायेंगे, यज्ञ उन्नत होता जायेगा।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। *(गीता, ३/१५)*

कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान! जिन महापुरुषों को यह तत्त्व विदित है, बुद्धि मात्र यंत्र है, उन्हीं की वाणी वेद है। ऐसे महापुरुषों की वाणी से इस कर्म की रचना हुई, तो क्या महापुरुषों ने अपनी बुद्धि से रचना की? श्रीकृष्ण कहते हैं--नहीं, ऐसे महापुरुषों

के माध्यम से स्वयं ब्रह्म ही अपनी वाणी प्रसारित करता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। इसीलिए वेद अपौरुषेय हैं। यद्यपि वेद सैकड़ों महापुरुषों की वाणियों का संकलन है, जो ब्रह्म में भली प्रकार स्थित थे फिर भी वह किसी पुरुष की वाणी नहीं है बल्कि महापुरुषों के मूल में जो अव्यक्त है उसके श्रीमुख की वाणी है। श्रुति है- **'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।', 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** स्वरूप में स्थित होने के पश्चात् महापुरुष के मुख से जो भी निकलता है वह सब वेद है; क्योंकि उनकी बुद्धि मात्र यंत्र है, शरीर रहने का एक मकान मात्र है। अव्यक्त ब्रह्म ही उनमें व्यक्त होता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। इसीलिए वह सर्वव्यापी अक्षर परमात्मा सदैव यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। *(गीता, ३/१६)*

श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं कि, हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए साधन-चक्र के अनुसार नहीं बरतते, वे इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीते हैं। किस साधन-चक्र को? जिस पर श्रीकृष्ण ने अभी प्रकाश डाला कि क्रमशः देवताओं की उन्नति करो, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाओ। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् का संग्रह होगा, इष्ट की ओर चित्त केन्द्रित होता जायेगा, वही तुम्हारी प्रगति है। परस्पर उन्नति करके परमकल्याण को प्राप्त कर लो। वही एकमात्र दाता हैं। उनके दिये बिना अपने को पूर्ण मान लेनेवाला पुरुष चोर है, मुँह छिपानेवाला है। वे अघायु इन्द्रियाराम के लिए हैं। देवता भी तो मरणधर्मा हैं। उनका शरीर भी मिल जाय तो क्या? उतने से भी परमकल्याण सम्भव नहीं है। यज्ञ से शेष बचनेवाला ब्रह्मानन्द ही इस आत्मा का अशन है। उसका पान करनेवाले सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और जो शरीर के लिए ही पचते हैं, वे पाप ही भोगते हैं। इसी ब्रह्मानन्दरूपी अन्न को उद्देश्य बनाकर प्राणी यज्ञ से संयुक्त हुए। अन्न अर्थात् ब्रह्म की उत्पत्ति कृपावृष्टि से होती है। पूर्वजन्म के यज्ञाचरण अथवा यज्ञस्वरूप महापुरुषों के द्वारा यह वृष्टि होती है। वेद अविनाशी से उत्पन्न होता है; इससे सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। यदि आपको परमात्मा की चाह है तो यज्ञ का आचरण करें। इस साधन-चक्र के अनुसार क्रमशः परस्पर उत्थान करते-करते जो परमकल्याण तक नहीं पहुँच जाते, श्रीकृष्ण के शब्दों में, इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले ऐसे पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीवित रहते हैं। सिद्ध है कि इस चिन्तन-पथ में इन्द्रियों के आराम का कोई विधान नहीं है। मन और इन्द्रियों के दमन के साथ ही भोगों से विरत रहकर ही इस यज्ञ का किया जाना सम्भव है।

श्रीकृष्ण की मान्यता है कि यज्ञ को किये बिना उस परमतत्त्व को न कोई पाया है और न कोई पा सकेगा। पूर्व में होनेवाले जनक इत्यादि महर्षिगण इसी कर्म को करके परमनैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त हुए; किन्तु जो महापुरुष आत्मा में ही तृप्त एवं स्थित हैं, उनके लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और छोड़ने से कोई हानि ही है। इसी को और स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं--

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। (गीता, ४/२३)

आसक्ति एवं संग-दोष के प्रभाव से सर्वथा रहित तथा साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी में स्थित चित्त, यज्ञ के लिए भली प्रकार आचरण करनेवाले मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्टप्राय रहते हैं। यज्ञ का आचरण ही तो कर्म है। कर्म करते हुए भी वह महापुरुष लिपायमान नहीं होता। क्यों! जब वह कर्ता है तो कर्म उसे बाँधते क्यों नहीं? श्रीकृष्ण कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। *(गीता, ४/२४)*

ऐसे महापुरुषों द्वारा जो समर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही कर्ता है और जो हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है। उसके द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म है; क्योंकि कर्म के द्वारा वह ब्रह्म में समाधिस्थ हो चुका है। उसके लिए तो **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'**- सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। सारांशतः ऐसा महापुरुष वस्तुतः कुछ करता नहीं बल्कि पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए अभिनय मात्र करता है। यज्ञ से न तो उस पर शुभ संस्कार पड़ता है और न अशुभ ही।

यज्ञ-विधि

यह तो प्राप्तिवाले पुरुष के आचरण हैं; किन्तु यज्ञ-विधि क्या है? हम आरम्भ कहाँ से करें? इस पर देखें श्रीकृष्ण के ही शब्दों में-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। *(गीता, ४/२५)*

मुक्तपुरुष के लिए यज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है; किन्तु दूसरे योगी, जिन्हें अभी उपलब्धि नहीं हुई है, देवयज्ञ को अच्छी प्रकार उपासते हैं, दैवी सम्पत्ति को अच्छी प्रकार बलवती बनाते हैं। वैराग्य, शम, दम इत्यादि गुण जिसमें परमदेव का देवत्व निहित है, उसको अर्जित करते हैं। परात्पर ब्रह्म अग्नि है ही, उसी में प्रवेश पाने के लिए यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करते हैं।

यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करना क्या है? अर्जुन ने जब प्रश्न किया कि भगवन्! कर्म क्या है? अध्यात्म क्या है? अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ क्या हैं और इस शरीर में वह अधियज्ञ किस प्रकार है? तब श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! मैं ही इस शरीर में अधियज्ञ हूँ, यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ। जो महापुरुष यज्ञ को पूर्ण कर लेता है और यज्ञ से प्राप्तव्य उस ब्रह्म के अनुरूप स्थितिवाला है वह अधियज्ञ कहलाता है।-*(अध्याय ८/१-४)* **'भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।'** *(गीता, ५/२६)*- अर्जुन! यज्ञ और तपों का भोक्ता भी मुझे ही जान! अतः महापुरुष ही यज्ञ के अधिष्ठाता हैं। ऐसे यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष को उद्देश्य बनाकर जो यजन करते हैं, मानसिक प्रवृत्तियों का हवन करते हैं, वे यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। *(गीता, ४/२६)*

अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सम्पूर्ण इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, रसना इत्यादि) को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेटकर संयमित करते हैं। यहाँ अग्नि नहीं जलती बल्कि जैसे अग्नि में डालने से भली-बुरी सभी वस्तुएँ भस्मसात् हो जाती हैं ठीक इसी प्रकार संयम एक ऐसी अग्नि है जिसमें इन्द्रियों का बहिर्मुखी प्रवाह सर्वथा शान्त हो जाता है। इसलिए संयम को अग्नि की संज्ञा दी गयी।

बहुत से योगी शब्दादिक विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं। शब्द इत्यादि का तात्पर्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से है। उदाहरणार्थ, साधक शान्तचित्त होकर चिन्तन में अग्रसर है, मन के अन्तराल में विजातीय संकल्प नहीं हैं; ठीक तभी दूसरों द्वारा उच्चरित कोई शब्द बलात् सुनाई पड़ता है। साधक ऐसे शब्द किंचित् भी सुनना नहीं चाहता फिर भी दुनिया में रहकर मनन करना है तो सुनाई पड़ना स्वाभाविक है, किसी दृश्य का दिखायी पड़ना स्वाभाविक है। तब साधक उसके द्वारा आनेवाले विषयों को **'इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'**- इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देता है अर्थात् इन्द्रियों के अन्तराल में विषयजनित आशय को बदल देता है। साधक विषय को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करता अन्यथा वह पतित हो जाय। वह तो संकल्प-दृष्टि पैदा होते ही विकारोत्पादक भावना को ही बदल देता है।

इस प्रकार की एक घटना हमारे जीवन में भी घटित हुई। अष्टग्रही योग की चर्चा थी। हम गाजीपुर में थे। उस वर्ष विवाह की केवल तीन ही लग्न थी। शहर का मामला! हजारों लाउडस्पीकर एक साथ बज उठे। "समधिन चली बजार, चार यार संगे चले।" "अकेली डर लागे रात मोरी अम्मा" इत्यादि गीत वातावरण में तैरने लगे। एकाध दिन तो एक भी शब्द हमारे कान में नहीं पड़ा क्योंकि चित्त उधर था ही नहीं; किन्तु शब्दों

के बार-बार टकराने से कुछ सुनाई पड़ने लगा। तीसरे दिन एक लाउडस्पीकर उस दीवाल से सटकर बजने लगा, जहाँ हम रहते थे। एक-एक शब्द विषय-उद्दीप्त करनेवाला था। एक-एक शब्द गोली की तरह प्रभाव डाल रहा था। हमने सोचा कि यहाँ रहेंगे तो पतित हो जायेंगे। तुरन्त वहाँ से भाग खड़े हुए और शहर से दो-एक मील बाहर निकल गये; किन्तु जिससे भय लगता है, यह मन उसे ही शीघ्र पकड़ता है। क्षीण स्वर में भी संगीत सुनाई पड़ने पर मन तुरन्त ही उस गीत को पहचान लेता था। अब तो बड़ी घबड़ाहट हुई। चार-पाँच मील तक चारों ओर वे शब्द गूँज रहे थे।

हमने महाराजजी का स्मरण किया, प्रार्थना की और तुरन्त ही एक दिशा मिल गई कि 'कबीर' का भजन सुनाते समय महाराजजी भी तो प्रायः ऐसा ही कहते थे--

साईं के संग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न मानी, गयो जोबन सपने की नाईं।।

इत्यादि कबीर के भजन भी तो ठीक इससे मिलते-जुलते हैं। क्यों न इसी दृष्टि से इन गानों का भी आशय लगाया जाय। बस, हम लौट आए। लिप्सावाले वे गाने साधन-क्षेत्र में भी इतने उपयोगी लगे कि कई बरस तक हम उन भजनों को गाते रहे, समाज में सुनाते भी थे। जब-जब मन न लगे, उन गीतों को हम गा लें तो विरह-वैराग्य एवं अश्रुपात सब कुछ हो जाय। जैसे- **'समधिन चली बाजार, चार यार संगे चले।'** चिन्तन करते-करते साधना समाधि के स्तर पर पहुँच गई, केवल परमात्मा में विलय शेष है, ऐसी अवस्था में यदि हम चिन्तन छोड़कर **'माया गढ़ खूब बजार'**- इस मायिक बाजार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो **'चार यार संगे लगे'**- काम, क्रोध, लोभ और मोह ये चारों यार अन्तःकरण में पनपने लगते हैं अर्थात् एक इंच भी इष्ट अलग है और हम उससे अलग हैं तब तक खतरा है। इस प्रकार शब्दों के माध्यम से जो विषय आये, उनके आशय को बदला। ऐसा ही अवसर अर्जुन के समक्ष देवसभा में उस समय उपस्थित हुआ जब वे उर्वशी को टकटकी लगाकर देख रहे थे। देवताओं के पूछने पर उन्होंने बताया कि मैं देख रहा था कि माता कुन्ती स्वर्गलोक में कैसे आ गईं? बहुत दिनों से माँ को नहीं देखा था, इसीलिए उत्कण्ठापूर्वक देखता ही रह गया। उर्वशी बौखलाकर अर्जुन के पीछे ही पड़ गई किन्तु अर्जुन अडिग रहे। उर्वशी ने शाप भी दिया किन्तु सत्य पर आरूढ़ रहनेवाले का अहित कैसे होता? अज्ञातवास में वह शाप भी आशीर्वाद के रूप में बदल गया, सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार रूप दिखाई तो पड़ा किन्तु श्रीकृष्ण के शिष्य अर्जुन ने उसका आशय बदल लिया, मातृरूप देखा। इस प्रकार बहुत से योगी शब्द, रूप, स्पर्श इत्यादि के माध्यम से आनेवाले विषयों को **'इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'**-

इन्द्रियाग्नि में हवन कर देते हैं, उसके आशय को बदल देते हैं; जो वैराग्य एवं परमकल्याण में सहायक होता है। यह इन्द्रियाग्नि वासना का निरोध करती है।

सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राण कर्माणि चापरे।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। *(गीता, ४/२७)*

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को और प्राण के व्यापार को अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कार्यकलापों को भलीभाँति निरोध करके साक्षात् अनुभूति द्वारा प्रकाशित आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में हवन कर देते हैं, परमात्मा में स्थितिरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। यह पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए योगी का यज्ञ है।

प्रश्न– महाराजजी! उपर्युक्त श्लोकों में 'अपरे', 'अन्ये' शब्द आया है। ऐसा तो नहीं कि ये कई प्रकार के योगी हों या यज्ञ हों। देवयज्ञ करनेवाले एक प्रकार के, इन्द्रिय-संयम करनेवाले दूसरे और विषयों के आशय बदलनेवाले तीसरे योगी हों?

उत्तर– नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। 'अन्ये' या 'अपरे' शब्द महापुरुषों से साधकों की पृथकता का बोधक है। सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। पहले प्रारम्भ की अवस्था है, तत्पश्चात् मध्य की अवस्था और अन्त में पराकाष्ठा की अवस्था का चित्रण उक्त सत्ताइसवें श्लोक में किया गया है। प्रारम्भिक स्तर से पुनः प्रारम्भ हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रता।। *(गीता, ४/२८)*

बहुत से योगी **'द्रव्ययज्ञा'**– ईश्वरार्पण बुद्धि से द्रव्य लगानेवाले होते हैं। सत्पुरुष, सद्गुरुओं की सेवा, तीर्थों में धन लगाना तथा भौतिक वस्तुओं से हवन इत्यादि इसी में आ जाते हैं। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।'** *(गीता, ९/२६)* वे द्रव्य ही तो लगा रहे हैं, महापुरुष की सेवा ही तो कर रहे हैं। यह भी एक यज्ञ है किन्तु आगे कहते हैं– यह यज्ञ सबसे अल्प है, चाहे करोड़ का ही क्यों न हो। बहुत से योगी तप-यज्ञ करते हैं। जिस इष्ट का चिन्तन करते हैं उसी के लिए इन्द्रियों को नियुक्त करने का नाम 'तप' है। इन्द्रियाँ सदैव आराम चाहती हैं, उन्हें वासनाओं से समेटकर चिन्तन-पथ पर तपाना ही 'तप-यज्ञ' है। इन्द्रियों का निरोध ही तप-यज्ञ है। इसमें शीत-वात सहन करना तथा शारीरिक चेष्टाओं का शमन करना होता है।

दूसरे साधक 'योगयज्ञ' का भलीभाँति पालन करते हैं। 'योग' मेल को कहते हैं। दो वस्तुओं के मिलन का नाम योग है। लोटा-थाली से मिल गया, हाथ दीवाल को छू गया तो क्या हो गया योग? नहीं, यह तो सभी 'मैटर' क्षेत्र की वस्तुएँ हैं, पदार्थ मात्र

हैं, दो कहाँ हैं? प्रकृति में स्थित जीवात्मा, प्रकृति से परे परमात्मा से मेल करे, उसी दिग्दर्शन और प्रवेश का नाम 'योग' है। योग के साथ ही जीवात्मा एवं अंश की संज्ञा मिट जाती है। शाश्वत पुरुष 'अव्यक्त' मात्र शेष रहता है। प्रकृति परमपुरुष के अंक में विलीन हो जाती है, 'पुरुष' ही शेष बचता है। अनेक साधक इस मिलन के लिए परिश्रम करते हैं। जिसमें योग के सभी अंग आ जाते हैं। गीता के प्रत्येक अध्याय में श्रीकृष्ण ने इसके साधन पर प्रकाश डाला, जैसे- एकान्त-देश का सेवन, स्थिर आसन, संग-दोष से अलगाव, इन्द्रियों का दमन तथा ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति छिटपुट दिया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी स्वतंत्र रूप से 'अष्टांग योग' पर प्रकाश डाला है। वस्तुतः योग के उक्त नियम साधना की आधारशिला हैं जिनके ऊपर चिन्तन एवं नाम-जपरूपी मुख्य भवन का निर्माण होता है।

दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष 'स्वाध्याय' अर्थात् स्वयं के अध्ययन के लिए ज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं। ये ज्ञानयोगी स्वयं पर निर्भर होकर कर्म करते हैं। ज्ञानयोगी क्या हैं? ज्ञानयोगी भी वही कर्म करते हैं जिससे इस यज्ञ की पूर्ति होती है, पराकाष्ठा मिलती है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। *(गीता, ४/२६)*

बहुत से योगी अपान वायु में प्राणवायु का हवन करते हैं और अन्य प्राणवायु में अपान वायु का हवन करते हैं। 'प्राण' वह है जिसे हम ग्रहण करते हैं, 'अपान' त्याज्य है। श्रीकृष्ण ने यहाँ प्राण के माध्यम से चिन्तन के विधान पर प्रकाश डाला है। कुछ योगी साँस लेते समय 'ओम्, ओम्' जपते हैं, श्वास लेते समय अन्य कोई संकल्प नहीं उठने देते तो दूसरी ओर अनेक योगी श्वास को बाहर त्यागते समय ओम् का जप करते हैं। और जब साधना इतनी सूक्ष्म हो जाय कि न बाहर से किसी संकल्प को ग्रहण करें और न भीतर से संकल्प उठने दें तहाँ 'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।'- प्राण और अपान की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते हैं। प्राणों का याम अर्थात् सर्वथा रुक जाना सम्भव हो जाता है। यही मन की निरोधावस्था है। यही यज्ञ का परिणाम और उसकी पूर्णता का स्थल है। अब पाना ही शेष है।

प्रश्न खड़ा होता है कि साधक यज्ञ करते ही रहेंगे या कभी उनका यज्ञ पूर्ण भी होगा? यज्ञ की पूर्ति में मिलेगा क्या? श्रीकृष्ण बताते हैं कि जब प्राण और अपान की गति रुक जाय, प्राणों का याम हो जाय, न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश करें और न साधक के भीतर ही संकल्प उठे, चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाय--यही यज्ञ का

पूर्तिकाल है। मन के निरोध के साथ ही जगत् का प्रसार, प्रकृति का आदान-प्रदान, उसका प्रवाह शान्त हो जाता है। फिर तो यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। *(गीता, ४/३१)*

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ के परिणामस्वरूप ज्ञानामृत को भोगनेवाला योगी **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- सनातन शाश्वत परमात्मा में प्रवेश करता है। यही शाश्वत ब्रह्म यज्ञ का परिणाम है, जहाँ जाकर यज्ञ भी शान्त हो जाता है। आगे कोई सत्ता ही नहीं है तो किसे ढूँढ़ा जाय। आत्मा, जो अजर-अमर तथा अमृतस्वरूप है, विदित हो जाता है। उस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। जब इष्ट का साक्षात्कार ही हो गया तो साक्षात्कार के साथ ही उस अमृतत्व का पान करनेवाला योगी सनातन शाश्वत परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

किन्तु मान लीजिए, हम यज्ञ ही न करें, कौन इतना बड़ा झंझट पाले। पार न लगे तब? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष के लिए पुनः यह मनुष्य लोक भी नहीं है फिर परलोक कैसे होगा? उसे मानव-योनि भी नहीं मिलेगी, परलोक प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। अतः इस यज्ञ को करने का अधिकार मनुष्य-शरीर को है। मानवमात्र को है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। *(गीता, ४/३२)*

छोटी-मोटी विधियों में विभक्त ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ **'वितता ब्रह्मणो मुखे'**-वेदज्ञ पुरुषों की वाणी में कहे गये हैं, इन सभी यज्ञों को तू **'कर्मजान्विद्धि'**- कर्म से उत्पन्न हुआ जान, मन तथा इन्द्रियों की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान। इसमें कोई भौतिक वस्तु नहीं लगती। अब यदि इन्द्रियों का संयम, प्राण में अपान का और अपान में प्राण का हवन या प्राणायाम परायण होना फरसा चलाने से होता हो, कपड़ा बेचने से होता हो, तेल बेचने से होता हो तो करिये! नेतागिरि से होता हो तो करिये! लेकिन नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं- कर्म को मनसहित इन्द्रियों की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान। इसमें भौतिक द्रव्यों का कोई उपयोग नहीं है। तो क्या भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ व्यर्थ हैं? कहीं लाख-दस लाख रुपये लगाकर हवन हो रहा है, क्या यह यज्ञ नहीं है? श्रीकृष्ण ऐसे किसी कृत्य को यज्ञ की संज्ञा नहीं देते। समाज के सामूहिक कल्याण के लिए प्रार्थना-स्थल, मन्दिर इत्यादि का निर्माण, असहायों की सहायता, दान इत्यादि सर्वोपरि यज्ञ हैं। सन्तों, सत्पुरुषों, तत्त्वस्थित महापुरुषों की सेवा में श्रद्धानुसार वस्तुओं का अर्पण द्रव्ययज्ञ है। 'पत्रं पुष्पं

फलं तोयम्'– जो कुछ भी भाव से पत्र, पुष्प, फल इत्यादि समर्पित करता है उसे मैं सेवन करता हूँ, यज्ञ है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। *(गीता, ४/३३)*

अर्जुन! सांसारिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेयस्कर है; क्योंकि उसका परिणाम प्रत्यक्ष दर्शन है। यज्ञ के पूर्तिकाल में जो अमृत-तत्त्व शेष बचता है, उसी का दिग्दर्शन और उसमें प्रवेश का नाम ही ज्ञान है। हे पार्थ! यावन्मात्र कर्म ज्ञान में ही शेष होते हैं। इस ज्ञान के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

सारांशतः भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ एक निर्धारित क्रिया है। जो लोग शास्त्रविधि से नियत अर्थात् गीता में नियत विधि को त्यागकर नाममात्र के यज्ञों से दम्भपूर्वक यजन करते हैं, यज्ञ है नहीं किन्तु नाम दे दिया कि यही यज्ञ है, ऐसे लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। ऐसे क्रूरकर्मी, पापाचारी नराधमों को मैं बारम्बार घोर नरक अर्थात् निम्न योनियों में गिराता हूँ। अतः गीता की विधि को त्यागकर अन्य किसी विधि से यज्ञ के नाम पर कोई कुछ भी करता है तो भगवान को खुश करने के स्थान पर अधम योनियों का अपने लिए आरक्षण ही करता है। *(गीता, १६/१५-२०)*

प्रश्न– सरकार! श्रीकृष्ण ने यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है?

उत्तर– बताया तो! चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। श्वास का प्रश्वास में हवन करना यज्ञ है। यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष का ध्यान करना यज्ञ है। इन्द्रियों का दमन यज्ञ है। मन का शमन यज्ञ है। एकाग्रता यज्ञ है। दैवी सम्पद् बलवती बनाना यज्ञ है। शब्द, रूप इत्यादि विषयों के आशय को बदलकर साधन पर निरन्तर दृष्टि रखना यज्ञ है। चित्त की प्रवृत्ति को चलायमान न होने देना यज्ञ है। इस यज्ञ में आग नहीं जलती; किन्तु जिस प्रकार अग्नि में डाली हुई वस्तु भस्मसात् हो जाती है, ठीक उसी प्रकार संयम, प्राण-अपान का निरोध ऐसा यज्ञ है कि प्रवृत्तियों सहित मन उसमें विलय होकर उपराम हो जाता है और मन में स्थित चराचर जगत् की हवन-सामग्री दग्ध हो जाती है। अमृत-तत्त्व प्रगट हो जाता है। जिसका आस्वादन करनेवाला योगी अमृतस्वरूप सनातन ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है– **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)* सभी यज्ञ कर्म से, मन-इन्द्रिय की क्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं। जगत् में भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ अल्प फलवाले हैं किन्तु हैं आवश्यक; क्योंकि पुण्य और पुरुषार्थ का आरम्भ उन्हीं से होता है।

किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष की शरण में जाने से, उनकी टूटी-फूटी सेवा करने से, उनकी बताई हुई क्रिया को कार्यरूप देने से योग-साधना का क्रम हृदय में जागृत हो जाता है। इसलिए यज्ञ-प्रकरण के समापन पर श्रीकृष्ण किसी तत्त्वस्थित महापुरुष की शरण में जाने का निर्देश देते हैं--

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। *(गीता, ४/३४)*

अर्जुन! उस यज्ञ को जानने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाओ। उन्हें भली प्रकार दण्ड-प्रणाम करो। उनकी सेवा करो और निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न करके उस ज्ञान को जानो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। यह क्रियात्मक पथ है। केवल किताब पढ़कर नहीं, बल्कि करने से ही आता है। तत्त्वस्थित महापुरुषों के माध्यम से ही आत्मा जागृत हो जाती है। वही आत्मा से रथी होकर उसको संचालित करते हुए इन यज्ञों से अवगत कराते हैं।

प्रश्न- महाराजजी! मुक्त पुरुषों के लिए यज्ञ की आवश्यकता नहीं रह जाती तब वे किसी को यज्ञ का उपदेश क्यों करेंगे?

उत्तर- नहीं, वे करेंगे! लोक-शिक्षण उनका कर्त्तव्य है। यदि वे मार्गदर्शन न करें तो लोक ही भ्रष्ट हो जाय और वे वर्णसंकर के कर्ता होंगे। इसके अतिरिक्त अठारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा करते हुए अपने निश्चय को व्यक्त करते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म कदापि त्यागने योग्य नहीं हैं। यह विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करनेवाले हैं, महापुरुषों के लिए भी उपादेय है- परहित के लिए। अतः यज्ञ की क्रियात्मक जानकारी के लिए तत्त्वज्ञ महापुरुषों की शरण, उनकी सेवा, उनका सान्निध्य, सत्संग, दर्शन, स्पर्श नितान्त आवश्यक है।

।। ॐ ।।

कर्म

प्रश्न– महाराजजी! श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर कर्म करने पर बहुत बल दिया है। वह कर्म क्या है?

उत्तर– देखिये, प्रत्येक महापुरुष की दृष्टि में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है--

करम एक आराधना, जेहि विधि रीझै राम।
सो करता करनी करै, पल पल पलटत नाम।।

एकमात्र आराधना ही कर्म है। वह प्रक्रिया ही कर्म है जिससे राम रीझ जायँ, अनुकूल हो जायँ। वही उस कर्म-विशेष का कर्ता है जो क्षण-क्षण पर नाम को पलटता तथा उसका स्मरण करता रहता है। आदि शंकराचार्य की मान्यता है, **'क्वा कर्म यत्प्रीति करं मुरारे।'**– कर्म क्या है? जिससे भगवान के चरण-कमलों में अटूट प्रीति का संचार हो जाय। गोस्वामी तुलसीदासजी के अनुसार--

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। *(मानस, २/२९०/१)*

उस सुख, कर्म, धर्म में आग लग जाय, जहाँ भगवान राम के चरण-कमलों में स्नेह न हो। तात्पर्य यह है कि एकमात्र भगवान के चरण-कमलों में स्नेह, उनकी प्राप्ति करानेवाली प्रक्रिया ही कर्म है। ठीक इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ है- आराधना।

युद्धस्थल में स्वजन समुदाय को देखकर अर्जुन अधीर हो उठा। अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में अर्जुन को केवल अपना परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पड़ा। क्या सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे? वास्तव में अनुरागी ही अर्जुन है। प्रत्येक अनुरागी के समक्ष यही समस्या होती है। चिन्तन-पथ में प्रवृत्त होते समय पहले तो बड़ा भाव रहता है किन्तु जब लौकिक सम्बन्धों को त्यागने का स्तर आता है, तहाँ वह अधीर हो उठता है। उस समय परिवार का मोह, ननिहाल का मोह, साथियों का मोह और गुरुजनों का मोह उसे घेर लेता है। जब अनुरागी घर से अलग हो ही गया तो उसके लिए घरवाले मर गये और घरवालों के लिए साधक। उस समय प्रबल मोह से साधक विचलित होने लगता है। अर्जुन ने भी अपने परिवार को मौत के मुहाने पर देखा तो बोला-मैं युद्ध नहीं करूँगा। अपने ही परिवार को मारकर मैं सुखी कैसे होऊँगा? इस प्रकार तो कुलधर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत धर्म है, सनातन है, पुरातन है। इस प्रकार के युद्ध से पिण्ड-परम्परा लुप्त हो जाएगी, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी; वर्णसंकर पैदा होंगे। वह वर्णसंकर कुल एवं कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए उद्यत हुए

हैं। इस प्रकार अपने को ही नहीं अपितु श्रीकृष्ण को भी लांक्षित किया कि आप भी पाप करने जा रहे हैं। अन्त में ऐसा स्पष्ट कहकर कि, "गोविन्द! मैं कदापि युद्ध नहीं करूँगा।" रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

अर्जुन यदि न लड़े तो युद्ध का प्रश्न ही खड़ा न हो, क्योंकि उसके ऊपर ही सारा महाभारत आधारित है। पाण्डव-पक्ष में अर्जुन के अतिरिक्त कोई दुर्धर्ष योद्धा नहीं, जिस पर युधिष्ठिर निर्भर हो सके, **'पल लागत अर्जुन हतैं छुए न दूजो बान।।'** वही तो एक विशिष्ट योद्धा था। उस अधीर अर्जुन को एकमात्र कर्म की शिक्षा देकर श्रीकृष्ण ने उस कर्म को दृढ़ाया ही नहीं बल्कि उस पर अर्जुन को चला भी दिया। अतः विचारणीय है कि वह कर्म है क्या? अर्जुन ने पहले ही कह दिया था कि पृथ्वी एवं स्वर्ग के धनधान्य-सम्पन्न साम्राज्य का अकण्टक स्वामी बनने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखा देनेवाले शोक को मिटा सके। अतः यदि इतना ही मिलनेवाला है तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। हाँ, यदि इससे भी आगे कोई सत्य हो तो उसे आप मेरे प्रति कहिए। तब भगवान श्रीकृष्ण ने उस सत्य पर प्रकाश डाला कि आत्मा ही सत्य है, आत्मा परमसत्य है। वही शाश्वत एवं सनातन है। वही अजर-अमर एवं सर्वव्याप्त है; किन्तु अजर-अमर तो कोई सत्ता दिखायी नहीं देती। आये दिन शोक, मोह, सन्ताप ही दिखाई देता है। फिर जो आत्मा सबमें व्याप्त है तो ढूँढ़ा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! आत्मा को इस रूप में केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा, सबने नहीं। यह आत्मा अचिन्त्य है- जब तक चित्त और चित्त की लहर है, यह विदित नहीं होता। कोई विरला महापुरुष ही इसे जानता है। विरला ही इसे आश्चर्य की तरह सुनता है। सब न सुनते हैं, न जानते हैं; क्योंकि क्रिया ही नहीं जानते। इसलिए अर्जुन! तू इसकी प्राप्ति के लिए युद्ध कर। क्षत्रिय के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न- महाराजजी! अर्जुन यदि क्षत्रिय श्रेणी का साधक था तो उसे परिवार का मोह नहीं होना चाहिए था?

उत्तर- देखिए, शास्त्र की रचना पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए ही होती है। जो सामने है, वह तो पार हो ही जाता है। लिखने की क्या आवश्यकता थी? गीता के समापन पर श्रीकृष्ण इसके प्रचार-प्रसार का निर्देश भी देते हैं। वस्तुतः अर्जुन को निमित्त बनाकर वे सभी साधकों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन आज क्षत्रिय बना, कभी तो उसकी साधना का भी आरम्भ था। आरम्भिक अवस्था में अनुरागी के समक्ष परिवार की समस्या आती है। स्वजनों का त्याग महान् कष्टदायी होता है अतः वहीं से गीता का प्रारम्भ श्रीकृष्ण करते हैं।

श्रीकृष्ण ने समझाया कि, पार्थ! यह युद्ध क्षत्रिय के लिए खुला हुआ स्वर्ग-द्वार है। इससे बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई धर्म नहीं है। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो वैरी तुझे भय के कारण रण से उपराम हुआ समझेंगे। जिनसे तूने सम्मान पाया है उसकी दृष्टि से भी गिर जायेगा। हारेगा तो स्वर्ग पायेगा और जीतेगा तो **'भोक्ष्यसे महीम्'**- महामहीम् स्थिति को प्राप्त होगा।

प्रश्न- किन्तु महाराजजी! 'महीम्' का अर्थ तो पृथ्वी होता है?

उत्तर- ठीक है, पृथ्वी को भी मही कहते हैं। वह सबका उदर-पोषण करती है, उसकी बड़ी महिमा है इसलिए उसका एक नाम मही भी है; किन्तु सबसे महान् महिमा तो उस महान् महिमामय की है जहाँ से महिमा का प्रसार होता है। **'महिम्नः पारान्ते'**- जिसकी महिमा अपार है, श्रीकृष्ण उसी महीम् स्थिति का प्रलोभन देते हैं। अर्जुन पहले ही त्रैलोक्य का राज्य ठुकरा चुका है। वह उससे भी आगे कोई सत्य पाना चाहता है अतः केवल पृथ्वी के भोगों का प्रलोभन श्रीकृष्ण क्यों देते और अर्जुन क्यों इतने के ही लिए तैयार हो जाता? सिद्ध है कि यह कोई ऐसा युद्ध है जो महामहीम् स्थिति को दिलाता है।

अतः जीतोगे तो सर्वस्व मिलेगा और हारोगे तो देवत्व को प्राप्त करोगे। जीवन भर दैवी सम्पत्ति का ही अर्जन किया है, उसी देवत्व को प्राप्त होगे। इस दृष्टि से हानि और लाभ, सिद्धि और असिद्धि दोनों को समान समझकर युद्ध कर!

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि 'युद्ध कर'। अपना हानि-लाभ देखते हुए युद्ध करना ही 'ज्ञानयोग' है।

प्रश्न - किन्तु महाराजजी! कई टीकाकारों ने लिखा है कि "मै ज्ञानी हूँ, मै पूर्ण हूँ, आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरतती हैं।"- ऐसा चिन्तन करना ज्ञानयोग है।

उत्तर- ऐसा कैसे होगा? कल घर छोड़ा और आज पूर्ण हो गये? हृदय में तो काम छाया है, क्रोध छाया है; देखने से सच्चिदानन्दघन दिखाई देगा? टीकाकार कुछ भी लिखें, श्रीकृष्ण ऐसा नहीं कहते। श्रीकृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर, अमर, अविकारी, अचल एवं सनातन बताया वहाँ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहाँ तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अन्यत्र वे कहते हैं कि, "अर्जुन! जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गयी हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है; अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अर्जुन! मनुष्य को चाहिए कि अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे

अधोगति में न पहुँचावे।" कौन कहता है कि आत्मा अजर, अमर और शाश्वत है? यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा अधोगति में जाती है। आत्मा का उद्धार होता है। ज्ञानयोगियों ने यह तो रट लिया कि मैं पूर्ण हूँ, यह क्यों नहीं याद किया कि आत्मा अधोगति में जाती है? वस्तुतः मनसहित इन्द्रियों के जीतने पर ही आत्मा का दिग्दर्शन सम्भव है। उसके लिए कर्म तो करना ही पड़ेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना ज्ञानयोग नहीं है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। *(गीता, २/३९)*

अर्जुन! अब तक यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी, इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्म-बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। दोनों में क्रिया एक ही है, केवल कार्य-प्रणाली का अन्तर है, बुद्धि का अन्तर है। ज्ञानयोग में अपना हानि-लाभ स्वयं देखते हुए युद्ध किया जाता है जबकि निष्काम कर्मयोग में साधक इष्ट पर निर्भर होकर युद्ध करता है। उसके हानि-लाभ का विचार इष्ट करते हैं। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। इसका थोड़ा-सा भी साधन करते बन गया, यह क्रिया आरम्भ भर हो जाय फिर माया के पास ऐसा कोई यंत्र नही है जो उसे नष्ट कर दे। माया केवल आवरण डाल सकती है, देर कर सकती है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। कागभुशुण्डि को दस हजार जन्म लगे। श्रीकृष्ण दस जन्म से योगी थे। महाराजजी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि सात जन्म से साधु थे। अतः इस निष्काम कर्मयोग का रंचमात्र आचरण भी जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार करके ही छोड़ता है। **'अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'** *(गीता, ६/४५)* शिथिल प्रयत्नवाला साधक भी अनेक जन्मों के हेर-फेर से उसी स्थान पर पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति या परमधाम है। यह साधन सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है, फिर आगेवाली सीढ़ी तो भगवान स्वतः पकड़ायेंगे कि अब त्याग करो। उस समय त्याग करने की क्षमता भी रहेगी। आज हम जिसे छोड़ना नहीं चाहते, उस समय इसी को छूना भी नहीं चाहेंगे। इस निष्काम कर्मयोग में सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि ऋद्धियों-सिद्धियों या स्वर्ग तक ही पहुँचाकर छोड़ दे। इसका स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के भय से छुटकारा दिलाकर ही शान्त होता है।

कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्मयोग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। क्रिया एक है, दिशा एक है। तब जो लोग बहुत-सी क्रियायें बताते हैं क्या वे भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं- वे भजन नहीं करते। अज्ञानियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है,

इसलिए भजन की ओट में बहुत-सी क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। ऐसे लोगों की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ऐसे लोग स्वर्ग को ही परमश्रेष्ठ माननेवाले होते हैं और दिखावटी शोभायुक्त वाणी से वेद के उन्हीं बातों में अनुरक्त रहते हैं जिससे भोगैश्वर्य की वृद्धि हो। सिद्ध है कि कर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकाण्ड कर्म नहीं है। फलासक्ति से किया जानेवाला कर्म, कर्म नहीं है।

अर्जुन! तू फल की वासनावाला मत हो। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। इसके साथ ही कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर करने के लिए तत्पर हो जा। इसमें बुद्धि को इष्ट के अधीन रखना होता है, इसलिए निष्काम कर्मयोग को बुद्धियोग भी कहते हैं। इसमें कामनाओं का सर्वथा अभाव है, इसलिए यह निष्काम कर्मयोग कहलाता है। क्रमशः उत्थान करते-करते यह इष्ट के साथ समत्व की स्थिति दिला देता है, इसलिए समत्व योग कहलाता है। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में इन्द्रिय सहित मन के निरोध का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि विषयों में विचरती हुई जिस भी इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह अकेली इन्द्रिय ही इस अयुक्त मन का अपहरण कर कहीं ले जाकर उसी प्रकार पटक देती है जैसे वायु नाव का हरण कर लेती है। इसलिए महाबाहो! इन्द्रियों को विषयों से सब प्रकार से समेटकर कर्म का आचरण कर।

अर्जुन को कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग में सरलता दिखाई पड़ी। ज्ञानमार्ग में अनुरागी हानि-लाभ का स्वयं विचार कर निर्णय लेता है। साधना पूरी हो जाय तो महामहिम स्थिति मिलती है और इसके पूर्व शरीर का समय समाप्त होने पर देवत्व मिलता है जबकि निष्काम कर्मयोग में कर्म करने का ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। यह तो निश्चित है कि कभी-न-कभी हम बन्धन से छूट जायेंगे; किन्तु कब, कितना छूटेंगे?- अभी से कोई निर्णय नहीं। केवल कर्म कर! ऐसा समझ कि फल है ही नहीं। मिलना-जुलना कुछ नहीं और करने में अश्रद्धा भी न हो। कौन अकारण खाक छानता फिरे? हाँ, अन्त में कभी कल्याण हो जायेगा। इससे अच्छा तो ज्ञानयोग है जिसमें साधक अपनी गति-प्रगति को देखते हुए चलता है। इसलिए तीसरे अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। *(गीता, ३/१)*

"भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? (कर्मों में अर्जुन को भयंकरता दिखाई देती है।) मिले हुए से वाक्यों से आप मेरी बुद्धि को मोहित क्यों करते हैं? कृपया निश्चित

करके उस एक मार्ग को कहिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।'' अर्जुन परमकल्याण का इच्छुक था।

भगवान कहते हैं- अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठा पहले मेरे द्वारा कही गयी है। पहले का तात्पर्य सतयुग या त्रेता नहीं बल्कि अभी-अभी अध्याय दो में कह आये हैं। इसी को सुनकर तो अर्जुन का प्रश्न खड़ा हुआ। अर्जुन! मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठा कही गयी--ज्ञानियों को ज्ञानयोग से और योगियों को निष्काम कर्मयोग से; किन्तु किसी भी मार्ग में कर्मों को छोड़ने का विधान नहीं है। कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। ऐसा नहीं है कि कर्मों को न करके कोई नैष्कर्म्य की परमसिद्धि को प्राप्त कर ले। निष्कर्म का आशय अकर्मण्य नहीं होता। हम कुछ न करें तो हो गये निष्कर्मी? कोई ऐसा बचाव न ढूँढ़ लें इसलिए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि अर्जुन! कर्मों को न करने से न तो कोई नैष्कर्म्य को प्राप्त होता है और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से न तो कोई संन्यास की परमसिद्धि पाता है। बहुत से लोग कहते हैं- हम तो ज्ञानी हैं, अग्नि नहीं छूते, हमारे लिए भजन का कोई विधान नहीं है। आगे कोई परमात्मा नहीं है तो किसको भजें?, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि...। प्राप्ति के पश्चात् ठीक ऐसा ही है लेकिन किये बिना कोई पाता नहीं। श्रीकृष्ण इस पर बल देते हैं कि क्रिया का त्याग करके न तो कोई निष्कर्मी बनता है और न संन्यास की परमसिद्धि को ही पाता है। अब आपको ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा; क्योकि कोई पुरुष क्षणमात्र कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

प्रश्न- महाराजजी! अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। सम्पूर्ण कर्मों की ज्ञान पराकाष्ठा है। ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म विलय हो जाते हैं। ऐसे पुरुष द्वारा कर्म होते ही नहीं और यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानयोग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही होगा। ऐसा विरोधाभास क्यों?

उत्तर- श्रीकृष्ण कहते हैं, **'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।'** *(गीता, ३/५)*- प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश जीव हर हालत में क्रिया में बरतता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का मस्तिष्क पर दबाव है, तब तक किसी-न-किसी रूप में कर्म तो करना ही होगा। प्रकृति के आश्रित हुआ पुरुष कर्म किये बिना नहीं रह सकता; किन्तु जिस समय **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'** *(गीता, ४/१९)*- ज्ञान में कर्म विलय हो जाता है उस समय प्रकृति का विलय हो जाता है, इसलिए उस पुरुष द्वारा कर्म नहीं होता।

अतः जब तक पुरुष प्रकृति से पार नहीं हो जाता, कर्म करना ही पड़ता है। फिर भी जो पुरुष हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं और कहते हैं- मैं ज्ञानी हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं परमतत्त्व में स्थित हूँ, श्रीकृष्ण कहते हैं- वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं। अर्जुन तू नियत कर्म को कर!

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। *(गीता, ३/८)*

सिद्ध है कि कर्म बहुत से हैं, उनमें से कोई कर्म निर्धारित किया गया है। सोलहवें अध्याय के अन्त में कहते हैं- जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से बरतता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परमगति तथा सुख को ही प्राप्त होता है। इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्र द्वारा नियत कर्म को कर। किस शास्त्र द्वारा नियत? अन्य शास्त्रों से यहाँ तात्पर्य नहीं; गीता शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्म कर! **'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।'** ***(महाभारत, भीष्मपर्व, ४३/१)*** कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेयतर है क्योंकि करने से कुछ दूरी तय तो होगी। कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न- महाराजजी! शरीर-यात्रा का क्या अर्थ है? क्या शरीर-निर्वाह नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, आप शरीर तो हैं नहीं! यह जीवात्मा युग-युगान्तरों से शरीरों की यात्रा करता आया है। कीट-पतंग, देव-दानव-मानव इत्यादि योनियों को यह जीवात्मा बदलता रहता है। यह यात्रा तभी पूरी होती है जब यह शाश्वत ब्रह्म में समाहित हो जाय। यदि एक जन्म भी लेना पड़ा तो यात्रा अभी जारी है।

सिद्ध है कि कर्म ऐसी वस्तु है जो आत्मा की शरीर-यात्रा पूर्ण कराती है। यह आत्मा को वह अचल स्थिति दिलाती है, जिसके पश्चात् शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नियत कर्म है क्या? श्रीकृष्ण उस नियत कर्म पर प्रकाश डालते हैं--

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। *(गीता, ३/९)*

यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूरा होता है। **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'**- इस यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** ***(गीता, ४/१६)***-

संसार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला है। कर्म तो शरीर-यात्रा पूर्ण करानेवाला है। इसीलिए अर्जुन! उसी यज्ञ की पूर्ति के लिए संगदोष से अलग रहकर कर्म का आचरण कर। कर्म एक ऐसी विधा है जिसका आचरण संग-दोष के रहते असम्भव है। इसलिए संग-दोष से अलग रहकर यज्ञ की पूर्ति के लिए भली प्रकार आचरण कर। अब एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है कि यज्ञ है क्या, जिसकी प्रक्रिया ही कर्म है? कर्म वही है जिससे यज्ञ सम्पन्न होता है, तो वह यज्ञ कौन-सा है, क्या है? उस यज्ञ में क्या करना पड़ेगा? यज्ञ की उत्पत्ति एवं विशेषताओं का सविस्तार निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं- इस यज्ञ से देवत्व की वृद्धि करो। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी त्यों-त्यों तुम्हारी प्रगति होगी। इस प्रकार परस्पर क्रमशः उत्थान करते-करते परमकल्याण को प्राप्त हो जाओ। यह यज्ञ ऐसा है कि जो परमकल्याण के नीचे की बात नहीं करता। अध्याय चार में श्रीकृष्ण बताते हैं कि बहुत से लोग देवयज्ञ करते हैं, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाते हैं। विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, ध्यान, समाधि, चिन्तन की प्रवृति- यही सब दैवी सम्पत्ति है (सोलहवें अध्याय में जिसका विशद विवेचन है)। इसी को भली प्रकार स्थायित्व देने के लिए साधन करते हैं। दूसरे योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। बहुत से साधक शब्दादि विषयों को इन्द्रियों में हवन कर देते हैं अर्थात् विषयों के प्रति अपना भाव बदल लेते हैं। बहुत से योगी योग-यज्ञ अर्थात् निष्काम कर्मयोग द्वारा इसी यज्ञ को करते हैं, तो अनेक स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ द्वारा स्वयं को सामने रखकर अपनी भलाई-बुराई, हानि-लाभ का स्वयं निर्णय करके इस यज्ञ का आचरण करते हैं। ज्ञानयोगी स्वयं पर आश्रित रहता है, जब कि निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर उसी क्रिया को करता है। यज्ञ एक ही है; कर्त्ता दो शैलियों के हैं। बहुत से योगी प्राण को अपान में और अनेक अपान में प्राण को हवन करते हैं अर्थात् श्वास-प्रश्वास का चिन्तन करते हैं। बहुत से योगी प्राण-अपान की गति रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। प्राणों की गति का याम हो जाता है, सर्वथा निरोध की अवस्था आ जाती है। न भीतर से संकल्प उठते हैं न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। इस यज्ञ की प्रक्रिया में चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। जगत् है तो लम्बा-चौड़ा किन्तु मनुष्य के लिए उतना ही है जितना मन पर अंकित है। मन के निरोध के साथ ही जगत् पर विजय है। श्रीकृष्ण कहते हैं, **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'**- उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन की स्थिति और संसार जीतने से क्या सम्बन्ध? तो **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।'** *(गीता, ५/१९)* ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर

मन भी समत्व की स्थिति वाला हो गया इसलिए ब्रह्म में स्थित हो जाता है। उस रहनी में संसार होता ही नहीं। इस प्रकार जब प्राण-अपान की गति का निरोध हो गया, संकल्प शान्त हो गये, सिद्ध है वह मन की निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है, **'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)* यज्ञ के परिणामस्वरूप उत्पन्न ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। इस यज्ञ की पूर्तिकाल में मन का सर्वथा निरोध और निरोध के साथ ही वह परमात्मा जो है, जिन विभूतियों और जिन गुणधर्मों वाला है; विदित हो जाता है। साक्षात्कार का ही नाम ज्ञान है। उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन, शाश्वत ब्रह्म में प्रविष्ट एवं स्थित हो जाता है। अर्जुन! यह सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रियों की क्रिया द्वारा सिद्ध होनेवाले हैं। तो क्या उनमें चावल, तिल, घी नहीं लगता? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं! भौतिक वस्तुओं से सिद्ध होनेवाला यज्ञ अत्यन्त अल्प है। है वह भी यज्ञ, उपादेय भी है क्योंकि प्रारम्भ वहीं से होता है; किन्तु इन यज्ञों की तुलना में अत्यन्त अल्प है। जिन यज्ञों पर श्रीकृष्ण ने बल दिया, वे सभी उन्हीं के शब्दों में मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं। *(गीता, ४/३२)*

यह श्वास-प्रश्वास का हवन यदि फरसा चलाने से होता तो कीजिए। प्राण-अपान की गति का निरोध कपड़ा बेचने से होता है तो कीजिए। नौकरी या नेतागिरी से होता हो तो कीजिए। सिद्ध है कि दुनिया में जो कुछ किया-कराया जाता है, जिसमें लोग दिन-रात व्यस्त रहते हैं; कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का एक बन्धन है। यज्ञ की क्रिया ही कर्म है अर्थात् कर्म का तात्पर्य आराधना है। इस आराधना में बहुत से योगी देवयज्ञ करते हैं। अनेक ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ करते हैं तो कोई प्राण का अपान में और अपान का प्राण में हवन करते हैं। लगता है यह अनेक प्रकार के योगी हों; किन्तु नहीं, यह सभी एक ही साधना की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक साधक को इन सभी भूमिकाओं से गुजरना पड़ता है। प्रारम्भ में प्रत्येक साधक दैवी सम्पद् को बलवती बनाता है। शनैः-शनैः वह संयमाग्नि पर पहुँचता है, तत्पश्चात् शब्दादि संग-दोषों से बचने की युक्ति में प्रवेश पाता है। क्रमशः श्वास-प्रश्वास में प्रवेश हो जाता है और श्वास-प्रश्वास का निरोध होते ही मन के लय की स्थिति में यज्ञ के परिणाम पर पहुँचता है। यह सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार जो भी जानते हैं, यज्ञ के भेद के जानकार हैं। ये सभी यज्ञ मन और इन्द्रियों की अन्तःक्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं, भौतिक द्रव्यों का उपयोग नहीं है। इस प्रकार श्रीकृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है? इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी भ्रमित रहते हैं। इसलिए कर्म के उस तत्त्व को मैं तेरे लिए कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से सर्वथा छूट जायेगा-*(गीता, ४/१६)*। कर्म ऐसी प्रक्रिया है जो संसार-बन्धन से छुड़ाती है। कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों के स्वरूप को जानना चाहिए। कर्म की गति गहन है। कर्म में अकर्म देखना चाहिए अर्थात् आराधना तो करें किन्तु यह न सोचें कि मैं आराधना करता हूँ। करानेवाली सत्ता तो कोई और है। बैल हल नहीं जोतते यद्यपि हल का सम्पूर्ण भार बैलों के कन्धे पर रहता है। हल तो वह हलवाहा जोतता है जो बैलों के पीछे रहकर दिशा-निर्देशन करता रहता है, अन्यथा बैल क्या जानें कि किधर जोतना है। इसी प्रकार सम्पूर्ण साधना साधक को ही करनी पड़ती है लेकिन उसके द्वारा जो पार लग जाता है, वह उसी प्रेरक की देन है, संचालक की देन है। भजन तो स्वयं हरि करते हैं। साधक तो मात्र यंत्र है। वह जिधर संकेत करें, उधर लुढ़कता भर रहे, यही भजन है। इस प्रकार कर्म में अकर्म देखने की क्षमता आ गयी उसी को कर्म जानें। कर्म में अकर्म देखें और अकर्म को (इष्ट के आदेशों को ही) कर्म जानें। इस प्रकार जो करता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है। केवल इष्ट के आदेशों पर चलनेवाला व्यक्ति ही सम्पूर्ण कर्म को करता है, जिससे किंचित् मात्र भी भूल होने की सम्भावना नहीं रहती। कर्म एवं अकर्म से उन्नत विकर्म की स्थिति है। विकर्म अर्थात् विशेष कर्म, अर्थात् जो प्राप्तिवाले महापुरुषों द्वारा लोकहितार्थ होता है। 'वि' उपसर्ग यहाँ पर विशिष्टता का द्योतक है, जैसे-जितेन्द्रिय में 'वि' उपसर्ग लगाने से विजितेन्द्रिय शब्द सृजित होता है, जिसका अर्थ है- विशेष रूप से जीती हुई इन्द्रियाँ। इस प्रकार विकर्म अर्थात् विशेष कर्म। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों द्वारा किया गया विशिष्ट कर्म ही विकर्म है।

प्रश्न उठता है कि साधक सदैव कर्म करता रहेगा या कभी छुटकारा भी मिलेगा? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१६)*

सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमशः उत्थान होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गयी, जहाँ काम और संकल्प नहीं हैं। काम और संकल्पों का निरोध होना मन की विजेतावस्था है। मन का प्रसार ही तो जगत् था। जब मन का निरोध हो गया तो वह अव्यक्त, शाश्वत, परमतत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**-उस जानकारी के साथ ही कर्म सदा

के लिए जल जाते हैं। ऐसी स्थितिवालों को बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित एवं ज्ञाता कहकर सम्बोधित किया है। सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन को कामनाओं और संकल्पों से ऊपर उठा देती है। सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति में कामनायें बढ़ती जाती हैं। अतः वास्तविक कर्म आराधना ही है जिसमें साक्षात् जानकारी के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रहता। इसलिए कामनाएँ भी नहीं रह जातीं।

अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण कहते हैं-अर्जुन! संसार में मनुष्य दो प्रकार का होता है- एक देवताओं-जैसा; दूसरा असुरों-जैसा। किस प्रकार? श्रीकृष्ण कहते हैं- अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति एवं नीच योनियों में फेंकने के लिए है, जबकि दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए है। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, सरलता, सही जानकारी, धारावाही चिन्तन, ध्यान, समाधि इस प्रकार दैवी सम्पद् के चौबीस लक्षण गिनाये जो सब-के-सब प्राप्ति के लिए समीपवाले महापुरुषों में सम्भव हैं; आंशिक रूप से हममें आप में भी हो सकते हैं। अर्जुन! तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है। शोक मत कर! तू मुझमें निवास करेगा। तदनन्तर, श्रीकृष्ण आसुरी सम्पद् का सविस्तार वर्णन करते हैं। काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर इत्यादि आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष सोचता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य में इतनी और होगी। मैं ही ईश्वर एवं ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। ईश्वर नाम की और कोई सत्ता नहीं है। स्त्री-पुरुष के संयोग से जो कुछ उत्पन्न है यही सत्य है। मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान करूँगा। मेरे द्वारा वह शत्रु मारा गया, भविष्य में मैं उसे मारूँगा।- अर्जुन! ऐसा सोचनेवाला दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाला है। वे शत्रुओं को नहीं मारते बल्कि मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं। अर्जुन! ऐसे मनुष्यों को मैं नीच योनियों में ही बार-बार गिराता हूँ। वे मेरे को प्राप्त न होकर, जो उन्हें प्राप्त है, उससे भी नीच योनि को प्राप्त होते हैं। तो क्या अर्जुन ने युद्ध किया? यदि वह प्रण करके किसी को मारता, सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहता तो श्रीकृष्ण में निवास कभी नहीं करता। कर्म तो संसार-बन्धन से छुड़ाता है, नीच योनियों में नहीं गिराता।

दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर गठित होती है; किन्तु आसुरी सम्पत्ति का आधार क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ ही नरक के तीन द्वार हैं। इन्हीं पर आसुरी सम्पत्ति टिकी है। इन तीनों के त्याग देने पर ही कर्म का आरम्भ होता है जिससे परमगति, परमकल्याण की प्राप्ति होती है। *(गीता, १६/२२)* कर्म वह प्रक्रिया है, काम-क्रोध-लोभ त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है।

प्रश्न- महाराजजी! जब काम, क्रोध, लोभ को त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है तब तो साधारण मनुष्यों के लिए कर्म का विधान नहीं होना चाहिए; क्योंकि आरम्भ में वे हमसे छूटते नहीं, केवल मान लेने से त्याग तो नहीं हो जाता?

उत्तर- हाँ! प्रारम्भ में छूटते तो नहीं किन्तु यही तो युद्ध है। इसी के लिए तो साधन किया जाता है। संसार इसी में अनुरक्त है और आप उसी को छोड़ना चाहते हैं, यही क्या कम है? ज्यों-ज्यों ये विकार अन्दर से घटते जायेंगे, त्यों-त्यों कर्म में प्रवेश मिलता जायेगा। विचारणीय तो यह है कि दुनिया में जो कुछ किया जाता है, जगत् जिसमें मोहित है, रात-दिन व्यस्त है, क्या कर्म है? उसमें जो जितनी सफलता पाता है काम, क्रोध और लोभ उसके भीतर उतने ही सजे-सजाये मिलते हैं, अधिक मात्रा में मिलते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन तीनों के त्याग देने पर ही उस कर्म का आरम्भ होता है। स्पष्ट है कि सांसारिक क्रिया-कलाप कर्म नहीं हैं। श्रीकृष्ण जिसे कर्म मानते हैं एकमात्र आराधना ही है। त्याग के बिना उसका आरम्भ ही नहीं होता।

प्रश्न- महाराजजी! घर त्याग देने से क्या कर्म आरम्भ हो जाता है? क्या काम, क्रोध, लोभ छूट जाते हैं?

उत्तर- छूटते तो नहीं; किन्तु प्रबल विरह-वैराग्य होने पर भगवान के लिए गृहत्याग से इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करनेवाली प्रवृत्ति तो शान्त होती ही है। प्रत्येक विषय की दो सीमायें होती हैं- एक तो निम्नतम सीमा, जहाँ से आप उसमें प्रवेश करते हैं और दूसरी अधिकतम सीमा होती है, जिसे पराकाष्ठा कहते हैं। उदाहरण के लिए, भक्ति की निम्नतम सीमा वह है, जहाँ से समर्पण के साथ आप भजन आरम्भ करते हैं, किन्तु अधिकतम सीमा तो वह है जहाँ **'भग इति सः भक्ति।'** प्रकृति की इति है। प्रकृति से परे पुरुषत्व में स्थिति दिला देनेवाली अवस्था भक्ति की चरम सीमा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की दो सीमाएँ होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करना बन्द करके कर्म अर्थात् आराधना में प्रवृत्त होना, काम-क्रोध-लोभ के त्याग की प्रवेशिका है और ज्यों-ज्यों मन निरुद्ध होता जायेगा, त्यों-त्यों विकारों का भी निरोध होता जायेगा और अन्ततः वे सर्वथा मिट जायेंगे। कर्म में आपको प्रवेश मिल जायेगा। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है जिसमें काम, क्रोध और लोभ के त्यागने पर ही प्रवेश मिलता है।

सातवें अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! जो मेरी शरण होकर जन्म और मरण से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। तब अर्जुन ने प्रश्न किया, "भगवन्! वह ब्रह्म क्या है? सम्पूर्ण

अध्यात्म क्या है? कर्म कब सम्पूर्ण होता है?" इत्यादि सात प्रश्न अर्जुन ने किये। भगवान श्रीकृष्ण ने एक ही उत्तर दिया-

> **अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**
> **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।** *(गीता, ८/३)*

अक्षर- जिसका कभी नाश नहीं होता, वही परब्रह्म है। जिसे प्राप्त कर लेने पर भक्त का कभी क्षय नहीं होता। लोभ के भाव, पुत्र के भाव इत्यादि संसार के भाव सिमटकर 'स्व' में स्थिर हों, यही अध्यात्म की पराकाष्ठा है। 'अधि आत्म' अर्थात् आत्मा का आधिपत्य। जीवों पर माया का आधिपत्य है, उससे छूटकर आत्मा का आधिपत्य, आत्मा की स्थिति आ जाय इसी का नाम अध्यात्म है। **'स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते।'**- स्वरूप में स्थिर भाव ही अध्यात्म है। **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।'**- भूतों के वे भाव जिनसे कुछ न कुछ संरचना होती है, उन पर विसर्ग लग जाना, सर्वथा निरोध ा हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। भूत प्राणियों को कहते हैं। इन प्राणियों की उत्पत्ति संकल्प पर आधारित है- **'मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये।'** ***(विनय पत्रिका, १२४/४)*** अतः भूत का तात्पर्य संकल्प है। संकल्पों में उत्पन्न वे भाव, जिनके द्वारा शुभ अथवा अशुभ कुछ न कुछ संरचना होती रहती है, जो संसार है, उनका विसर्ग- सर्वथा निरोध हो जाना, विराम- रोक लग जाना ही कर्म की संज्ञा है, पूर्णता है। इसके उपरान्त कर्म करने की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। कर्म वह वस्तु है जो संकल्पों पर विसर्ग लगा देता है। दूसरे शब्दों में, कर्म का तात्पर्य आराधना ही है।

इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में सम्पूर्ण गीता में कर्म पर भरपूर प्रकाश डाला गया है और सब मिलाकर उसका शुद्ध अर्थ है- 'आराधना', जो शाश्वत तत्त्व परमात्मा की उपलब्धि कराती है। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। निर्धारित कर्म को ही कर, नहीं तो शरीर-यात्रा सिद्ध नहीं होगी। कर्म करके तू संसार-बन्धन से छूट जायेगा। यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है, इसी लोक का एक बन्धन है। यह श्वास-प्रश्वास का चिन्तन है। इन्द्रियों का संयम यज्ञ है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो काम और संकल्पों से ऊपर उठा देता है। काम-क्रोध-लोभ त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है। भूतों के वे भाव, जिनसे कुछ-न-कुछ संरचना होती है उनका निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है, इसमें दो राय नहीं है। जिससे वे आराध्य देव सन्तुष्ट होते हैं, उस प्रक्रिया-विशेष का नाम कर्म है।

गीता पर सैकड़ों टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें पचासों टीकाएँ तो अकेले संस्कृत में ही हैं। पचीसों मत, जिनकी आधारशिला गीता है, एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक बात ही कही होगी, फिर इतना वैभिन्न्य क्यों? राजनीतिज्ञ के हाथ में गीता पड़ी, तो बोले- देशभक्ति ही कर्म है। व्यवसायी कहते हैं- गीता में लिखा है, **'व्यवसायात्मिका बुद्धि'** *(गीता, २/४१)*- व्यवसाय ही कर्म है। कपड़ा बेचो, कुछ धरम-करम कर लो, सवेरे शंकरजी पर जल चढ़ा दो, हो गया कर्म। नौकरीवाले कहते हैं- हम तो अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, पूरी ड्यूटी देते हैं, यही निष्काम कर्म है। एक नायब तहसीलदार साहब कहते थे- बड़े साहब जो भी कहते हैं, उसी के अनुसार मैं कर्म करता हूँ। गीता मैंने अपने जीवन में ढाल ली। हमारी कोई कामना नहीं है। हम निष्काम कर्मयोगी हैं। वाह रे योगी! अतः आप किसी भी टीका पर न जायँ। योगेश्वर की मूल वाणी ग्रहण करें तो कोई सन्देह नहीं होगा।

प्रत्यक्ष दर्शनवाले अनेक महापुरुष पढ़े-लिखे नहीं थे। रामकृष्ण परमहंस पढ़े-लिखे नहीं थे। हमारे महाराज भी एकदम नहीं पढ़े थे। राम लिखना भी उन्हें ठीक से नहीं आता था। देखरेख करके येन-केन प्रकारेण राम की लकीर खींच लेते थे। जड़भरत पढ़े-लिखे नहीं थे। कागभुशुण्डि पढ़े-लिखे नहीं थे, **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।'**- पिता हताश हो गये परन्तु वे नहीं पढ़े। ठीक इसी प्रकार बहुत से महापुरुष ऐसे मिलेंगे जो पार्थिव शिक्षा-दीक्षा में शून्य थे लेकिन अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। कागभुशुण्डि आश्रम में भगवान शंकर भी जाया करते थे। अतः यदि आप पढ़े-लिखे हैं तो ठीक है अन्यथा कोई क्षति भी नहीं है। क्योंकि इष्ट से समत्व दिलानेवाली क्रिया जिसका नाम कर्म अथवा आराधना है, विरह-वैराग्य से सीखने में आती है। लौकिक शिक्षा बुद्धि का प्रसार करती है, जबकि इष्ट-सम्बन्धी कर्म के लिए बुद्धि-मन का निरोध होना आवश्यक है। अतः किसी अनुभवी पुरुष की शरण में रहकर साधना करनी चाहिए। कहने में कुछ और आता है, लिखने में कुछ और आता है; किन्तु क्रियात्मक आचरण से उन महापुरुषों द्वारा, आत्मा की अन्तस्प्रेरणा से साधन-क्रम जागृत हो जाता है, वह और विलक्षण है। आरम्भ हो जाने के पश्चात् फिर वह कभी भी पिण्ड नहीं छोड़ता, कभी नष्ट नहीं होता, ध्रुव-कल्याण करता है। योग में आरम्भ का भी नाश नहीं है। थोड़ी भी साधना करें, आरम्भ तो करें।

॥ ॐ ॥

गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था

प्रश्न – महाराजजी! गीता में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप क्या है?

उत्तर– गीता में जैसी वर्ण-व्यवस्था पायी गयी है उसे समझने के लिए गीतोक्त कर्म को समझ लेना आवश्यक है। गीता के अनुसार, आराधना ही कर्म है। यज्ञ और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। आराध्य को प्राप्त करा देनेवाला रास्ता ही यज्ञ है, जिसमें चिद्विलास जगत् ही हवन-सामग्री है। इस यज्ञ की अन्तिम आहुति में संचित और प्रारब्ध को, वृत्तियों सहित चित्त के अस्तित्व को प्रकृति के प्रवाह रूप तीन गुणों को समाहित कर बुद्धि भी यज्ञरूप हो जाती है। तत्क्षण यज्ञ के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाला परमात्मा असम्भव से सम्भव हो जाता है।

यज्ञ को क्रियारूप में लाना कर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों में, यज्ञ के आचरण को कर्म कहते हैं--

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। *(गीता, ३/९)*

वस्तुतः यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है, जिसमें सारा संसार मरता-जीता और मोहित रहता है, कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का बन्धन है, जीवों के बन्धन का कारण है। गीता जिसे कर्म कहती है वह तो अमरत्व की उपलब्धि करानेवाला है। गीता में यत्र-तत्र सर्वत्र कर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है; क्योंकि यही कर्म पूर्ण कल्याण करनेवाला है। परमपद और परमधाम इसी कर्म की पूर्ति में है। गीतोक्त कर्म आराधना अथवा भजन का पर्याय मात्र है। सुगमता की दृष्टि से इसी कर्म को चार क्रमिक सोपानों में विभाजित किया गया, जिसे श्रीकृष्ण ने वर्ण के नाम से पुकारा। 'वर्ण' नामकरण में बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रूप, रंग, आकृति होता है। अध्ययनकर्ता जिस श्रेणी का होता है उसका हाव-भाव, उसकी आकृति उसी स्तर के अनुरूप होती है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक कक्षा का छात्र सैकड़ों उलझनों की अनुभूति में डूबता-उतराता रहता है। यह मानसिक उथल-पुथल उसे एक प्रकार की आकृति प्रदान करती है। इसके विपरीत 'डाक्टरेट' इत्यादि उपाधियों से अलंकृत, पारंगत विद्वान् अपने को पूर्ण अधिकार में देखेगा। उसके विचारों का वेग कुछ और ही होगा। अपने विषय पर उसका स्वामीभाव रहेगा। प्राथमिक छात्र की अपेक्षा उसकी उमंग कुछ और होगी, वर्ण या चेहरे की रंगत में आकाश-पाताल का अन्तर होगा। उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट योनियों की प्रगति भी मानसिक स्तर से निर्धारित होती है।

मृत्यु के समय मन उच्च विचारों से ओतप्रोत रहने से उच्चयोनियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार संकीर्ण विचारों से क्षुद्र योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः मनःस्थिति ही आकृति का निर्धारक है। और स्पष्ट कहा जाय तो मन की स्थिति ही आकृति है।

श्रीकृष्ण ने गुणों के भेद से कर्मों को चार वर्णों में विभक्त किया। दैनिक जीवन में देखा जाता है कि मनुष्य भजन करने बैठता है लेकिन मन नहीं लगता। विचारों का ज्वार आ जाता है। जो बात याद नहीं थी, भजन के ही समय याद आती है। भजन में बाधक कौन बनता है? इसमें मौलिक अवरोध कहाँ से है? चिन्तन से ज्ञात होता है कि तीनों गुण ही इस कर्म (भजन) में रुकावट हैं। इन तीनों गुणों के माध्यम से ही कर्म (आराधना) का उत्थान और पतन होता है। गुणों से कर्म को देखा और मापा जाता है। गुण ही वर्ण परिवर्तन की जाँच का पैमाना है। मन की केन्द्रित अथवा विच्छिन्न अवस्था गुणों के कारण ही होती है। परन्तु कर्म (भजन) एक ऐसा यंत्र है जो गुणों के सम्पूर्ण कार्य को उठाता-गिराता है और गुण को जड़ से उखाड़ भी देता है। कर्म के प्रभाव से गुण प्रभावित होते हैं।

श्रीकृष्ण का कथन है कि **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चार वर्णों की रचना मैंने की है। मनुष्य को नहीं बल्कि कर्म को चार भागों मे बाँटा है। किस आधार पर? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'गुणकर्म विभागशः।'** *(गीता, ४/१३)*- गुणों के उतार-चढ़ाव से कर्म को वर्णों (श्रेणियों) में बाँटा गया है। अतः मनुष्य ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है बल्कि भजन ही ब्राह्मण है, भजन ही क्षत्रिय है, भजन ही वैश्य है और शूद्र भी है। यह विभाजन गुणों पर आधारित है। तीनों गुण अलग-अलग प्रभाववाले हैं। मन इनके रहने का स्थान है। गुण तीन हैं, किन्तु वर्ण चार हैं; क्योंकि एक गुण जितनी मात्रा में हटता है दूसरा गुण उतनी ही मात्रा में उसका स्थान ग्रहण करता है। तीनों गुणों में से प्रत्येक का स्वभाव है कि बढ़ने पर वह शेष दो गुणों को दबा देता है। अतः समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है। व्यवहार में, जिस व्यक्ति में केवल सात्त्विक गुण हैं उसे ब्राह्मण, आधा सात्त्विक और आधा राजसी गुणवाले को क्षत्रिय, आधा राजसी और आधा तामसी को वैश्य तथा मात्र तामसी गुणवाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण- जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है, उसका मन स्वभावतः शान्त होगा। अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाह्यान्तर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अन्तःकरण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिनमें राजसी एवं तामसी गुण कार्यरत नहीं हैं उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्य ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म-लक्षण स्वाभाविक

रहेंगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए यही करना विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय– जिसके अन्तःकरण में तामसी गुणों का पूर्णतः अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्त्विक गुण पूरा नहीं मिला ऐसा; अति उत्तम तो नहीं, उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शूरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता है। आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने में कभी पलायन नहीं करता। उसमें ईश्वर-भाव अर्थात् स्वामीभाव बना रहता है क्योंकि भजन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ़ विश्वास रहता है। आत्म-प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्रीत्व के लक्षण हैं। राजसी और सात्त्विक गुण का आधा-आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तब यह लक्षण स्वतः बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के बिना बलात् कोई क्षत्रिय नहीं बन सकता क्योंकि इन लक्षणों की जड़ तो स्वभाव है, जो गुणों से निर्धारित होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण **'क्षात्रकर्म स्वभावजम्'** *(गीता, १८/४३)* कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ हैं, आदत का अंग बन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य– जिसके अन्तःकरण में आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह वैश्य है। ऐसे व्यक्ति के भजन-पथ से आधा तमस् हट चुका है, अर्धरजस् से पथ आलोकित है। अतः कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ऐसे साधक के लिए स्वाभाविक कर्म हैं। **'राम नाम धन खेती'**– आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसी का उपार्जन करना ही खेती है। 'गो' इन्द्रियों को कहते हैं। अतः गो-रक्षा का तात्पर्य इन्द्रियों की रक्षा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषयों में इन्द्रियों का विचरना ही उनका नष्ट होना है। ज्ञान-विज्ञान, विवेक-वैराग्य से उनकी रक्षा होती है। आत्मिक सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होने पाता। आत्मिक सम्पत्ति को विषयों में न खोकर उनका संग्रह करना ही धन कमाना है। माया इस संग्रह में बाधक है। वह इस आत्मिक सम्पत्ति को क्षीण करती रहती है। घाटा दिलाती रहती है। इसलिये भजन भी एक प्रकार का व्यवसाय है, जिससे आत्मिक सम्पत्ति का संवर्द्धन करना वैश्य का स्वभाव माना गया है। आत्मिक सम्पत्ति को अपने में ढालना ही पूँजी का संग्रह है। यही सत्य व्यापार है जो निज धन की प्राप्ति करानेवाला है। ऐसे पुरुष का मन साधना में लगने लगता है।

शूद्र– भजन की सबसे क्षुद्र सोपान शूद्र है। जो उन व्यक्तियों में पाया जाता है जिनके अन्तःकरण में तामसी गुण कार्यरत रहते हैं, राजसी गुण की क्षीण रेखा ही रहती है। व्यक्ति के मन में प्रमाद और आलस्य विशेष होगा। प्रयत्न करने पर भी उसका मन स्थिर

नहीं रह सकेगा। सत्य वस्तु को समझने की क्षमता भी उसमें नहीं होगी। उसका मन तमस् से पूर्णतः आच्छादित होने के कारण अपने लक्ष्य को नहीं देख पाता। आराधना में मन लगता ही नहीं। कर्म के क्षेत्र में उसका स्थान तुच्छ होता है । अतः शूद्र स्वभाववाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने निजी उत्थान के लिए महापुरुषों की सेवा करे- **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'** *(गीता, १८/४४)*

जो महापुरुष अपने से बहुत ऊपर उठ चुके हैं, उनको पकड़ें। उनकी शरण होकर तन-मन-वचन से सेवा करने का विधान है। सेवा-धर्म परम गहन है। सेवक किसी भी सेवा को तुच्छ नहीं समझता। वह कभी यह तर्क नहीं करता कि बिस्तर-झाड़ू क्यों लगाऊँ या टट्टी क्यों साफ करूँ? वस्तुतः जो महापुरुष पवित्र हो चुके हैं, उनके सान्निध्य से ही शूद्र स्तर के साधक का मल दूर हो सकेगा। इसी सेवा में ही उसे आगेवाली श्रेणी प्राप्त हो सकेगी, वह वैश्य-गुणधर्म को पकड़ सकेगा। उसमें जो योग्यता नहीं थी, वह भी आ जायेगी।

इस प्रकार गुणों के उतार-चढाव से कर्म के चार विभाजन किये गये। जिसे ब्रह्म का निकटवर्ती अनुभव है, प्रवेश करना ही शेष है, जिसके पश्चात् कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती, ऐसे सत्त्वगुण से संचालित, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि की अवस्था जिसमें स्वभाव से है वह ब्राह्मण है। 'क्ष' काटने को तथा 'त्री' तीन को कहते हैं। तीनों गुणों को काटने की जिसमें क्षमता है वह क्षत्रिय है। भजन के विघ्नों का सामना करने में शूरवीरता, आत्मतेज, स्वामीभाव इत्यादि कर्म उसमें स्वभाव से ही होते हैं, जो ब्राह्मणत्व प्राप्ति के कारण हैं। भजन में मन का कुछ-कुछ लगना, सद्गुणों का एक-एक करके हृदय में लाना, इन्द्रियों की विषयोन्मुखी प्रवाह को रोकना वैश्य का सहज कर्म है जो क्षत्रियत्व की ओर ले जानेवाला है। इस प्रकार जिस साधक से कुछ भी पार न लगता हो, निद्रा-प्रमाद और आलस्य की अधिकता से भजन न बन पड़ता हो, ऐसे शूद्र स्थिति वाले के लिए कर्म (भजन) का प्रथम चरण सेवा है। उस सेवा के प्रभाव से वह वैश्यत्व की ओर अग्रसर हो सकेगा।

चराचर जगत् ही तीनों गुणों का विकार है। देवता, मनुष्य, राक्षस सभी इन तीन गुणों के अन्तर्गत ही आते हैं (गीता, १८/४०)। इससे सिद्ध है कि देश-विदेश के सभी लोग भजन-प्रवेश के साथ इन वर्णों के अन्तर्गत हैं। वे लोग भ्रम में हैं जो कहते हैं कि वर्ण केवल हिन्दुस्तान में है। वस्तुतः हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी अथवा विश्व का कोई भी प्राणी जब परमात्म-स्वरूप की ओर बढ़ेगा, तब गीता के अनुसार चार वर्णों में से उसे गुणों के अनुरूप किसी-न-किसी वर्ण में आना ही पड़ेगा। चाहे आप हिन्दू ही क्यों न हों, भजन में प्रवेश शूद्र स्तर से ही होगा।

भगवत्-पथ (कर्म) में वेषधारी ठग बहुत से हैं। योग्यता में तो वे शूद्र हैं, तमोगुण के बाहुल्य से उनका मन तो हवा से बातें करता है; किन्तु स्वांग ऐसा भरते हैं जैसे तपोधन हों। ऐसे वंचक कर्म के क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर पाते। श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्वभाव से प्राप्त स्थिति को छोड़कर जो ऊँची श्रेणी की नकल करता है वह वस्तुतः अपनी हानि ही करता है--

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' *(गीता, ३/३५)*

क्रमशः चलकर तो बड़ी से बड़ी योग्यता प्राप्त की जा सकती है किन्तु प्राथमिक कक्षा का छात्र यदि उच्चकक्षा में बैठ जाय तो उच्चकक्षा का ज्ञान तो दूर रहा, प्राथमिक कक्षा की योग्यता से भी वह वंचित रह जाता है। लौकिक दृष्टान्त से इस प्रकार भी समझा जा सकता है- शूद्र, जिसे अभी 'प्राइमरी' में भी पढ़ना शेष है, यदि मैट्रिक या इण्टर की कक्षाओं में बैठने लगे तो उसे प्राइमरी का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार वैश्य, जिसे मिडिल या मैट्रिक तक पढ़ने का अधिकार है, बी.ए. की कक्षाओं में बैठे तो उसे मैट्रिक की योग्यता भी नहीं मिलती। इसी प्रकार बी.ए. की कक्षाओं में पढ़ने का अधिकारी क्षत्रिय, एम.ए. अथवा शोध की कक्षाओं में बैठे तो वह बी.ए. की भी योग्यता से शून्य हो चलेगा। यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। वस्तुतः एक के पश्चात् एक कक्षा को पार करने पर ही जिस प्रकार पारंगत विद्वान् बना जाता है उसी प्रकार एक के पश्चात् दूसरे वर्ण को पार करने पर ही निज लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

गीता का अकाट्य निर्णय है कि स्वभाव से प्राप्त अपने कर्म (भजन) द्वारा परमेश्वर की अर्चना करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने धर्म का आचरण करते हुए अर्थात् गुण के अनुरूप कर्म करते हुए मरना भी कल्याणकर है जबकि दूसरों का धर्म भयावह है। दूसरों की नकल करनेवाला समूल विनष्ट हो जाता है। नकल करने के प्रयास में उसकी अर्जित क्षमता भी समाप्त हो जाती है। अतः गीता के अनुसार, **'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।'** *(गीता, १८/४१)*- स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार कर्म विभक्त किया गया है। स्पष्ट है कि विभाजन कर्मों का हुआ है, मनुष्यं का नहीं। अतः ज़िन लोगों का विचार है कि मनुष्यों का वर्ण जन्म से निर्धारित हो जाता है अथवा जिस वर्ण का बनना था बन गये, अब तो जीवन भर उसी वर्ण में रहकर भगवान की वाणी का पालन करना है, ऐसा सोचनेवाले भ्रान्ति में हैं। ऐसा प्रचार करनेवाले श्रीकृष्ण के उपदेशों से वस्तुतः दूर खड़े हुए हैं। श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**- कर्म को बाँटा गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने तो कृपा करके आराधना-पथ को चार सोपानों में विभक्त किया, जिससे कमजोर से कमजोर मनवाला

मानव भी क्रमशः चलकर भगवान तक पहुँच सकता है। वहाँ तक पहुँचानेवाली क्रिया के विभिन्न सोपानों को पार करके आत्मा राक्षस से देवता और देवता से भी आगे प्रभु से मिलकर स्वयं प्रभुस्वरूप बन जाती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अनेक जन्मों से चलकर साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह कर्म (आराधना) उच्च से उच्च योनियों में जन्म देता है, स्वरूप बनाता है। इसलिए इसका 'वर्ण' नामकरण यथार्थ एवं सार्थक है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने अतिशय प्रिय भक्त अर्जुन को आराधना-पथ के विभिन्न वर्णों को पार करने का परम गुह्यतम किन्तु सबसे सुगम उपाय गीता के उपसंहार के समय बताया है। उन्होंने कहा कि कर्म करनेवाला स्वयं इस चक्कर में न पड़े कि मैं किस वर्ण का हूँ। वह अपनी परीक्षण में समय को व्यर्थ न गँवाये। इसीलिए अर्जुन! तू किसी वर्ण-धर्म का विचार न करके मेरी शरण में हो जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर, परमात्मा, परमतत्त्व, परमपुरुष, सद्गुरु साधन-काल में एक दूसरे के पर्याय के रूप में कार्य करते हैं। साधक को अपने वर्ण की चिन्ता छोड़कर उनकी शरण में ही जाना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं, '**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।**' *(गीता, १८/५७)*- चित्त से सभी कर्मों को मुझपर छोड़कर मेरे परायण हो जा। ऐसा करने से वर्ण मिटेंगे नहीं बल्कि शरण में होने पर वर्णों से पार करने की जिम्मेदारी भगवान पर हो जाती है। वर्णों को तो पार करना ही होगा किन्तु स्वामी पर जिम्मेदारी सौंपकर सेवक निश्चिन्त हो जाता है। जब वर्ण भगवान द्वारा सृजित हैं तो उनके अनुरूप साधक में गुणों का समावेश कराना भगवान या सद्गुरु के लिए नितान्त सरल है। इसीलिए श्रीकृष्ण स्पष्ट कह देते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। *(गीता, १८/६२)*

अर्जुन! तू सब प्रकार से उन्हीं परमेश्वर की शरण में जा। उन्हीं की कृपा से ही तू परमशान्ति एवं शाश्वत स्थान को प्राप्त कर सकेगा। किसी महापुरुष की शरण में रहकर वर्णों को पार करना सुगम है।

गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था के इस विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं-

१- भगवत्प्राप्ति के उपायों का नाम यज्ञ है और उस यथार्थ क्रिया का नाम कर्म है। यज्ञ जिस प्रकार किया जाता है वह कर्म है।

'कर्माणि प्रविभक्तानि'- कर्म को चार वर्णों में बाँटा गया है, न कि मनुष्यों को। गीतोक्त कर्म का अर्थ आराधना है। इसी आराधना के चार सोपान हैं। एक बार जागृत हो जाने पर यह कर्म तभी पीछा छोड़ता है जब इन चारों वर्णों से गुजर जाय।

२- जो भगवत्पथ पर नहीं चलता, वह किसी भी वर्ण का नहीं है। वह न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न तो वैश्य है न शूद्र। वर्ण उसके लिए है जो कर्म करता है, आराधना करता है। परमात्मा की प्राप्ति के अतिरिक्त सांसारिक कार्यों में संलग्न लोग न तो किसी वर्ण की क्रिया करते हैं और न तो गीतोक्त किसी वर्ण के अन्तर्गत आते हैं। यदि आस्तिक हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं। जो इच्छा करता है वही तो पाता है, जो नहीं करता वह कभी नहीं पाता, मात्र हताशा हाथ लगती है।

३- गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है, जबकि हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था भौतिक शरीर का सामाजिक विभाजन मात्र है। समाज में प्रचलित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण शरीर के हैं। इनकी उतनी ही सीमा है। इन वर्णों से शरीर का निर्वाह होता है और जीवनयापन की दृष्टि से यह विभाजन अपने स्थान पर उचित ही है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों में परिवर्तन होने से वर्ण-व्यवस्था में उलट-फेर होता रहा। प्रारम्भ में जातियों एवं वर्ण श्रेणियों की कोई रूपरेखा नहीं थी। कालान्तर में समाज सुर और असुर इन दो वर्णों में बँट गया। फिर तो गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, वानर इत्यादि वर्ग बने और मिटे। जीविका के साधनों की उत्कृष्टता अथवा निष्कृटता के आधार पर समाज अनन्त चक्रों में विभाजित होता गया और भविष्य में भी होता रहेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा जो भी नाम दिया जाय, उदर-पोषण को लेकर समाज में वर्ग बनते ही रहेंगे; किन्तु वास्तविक कल्याण के लिए गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था ही यथार्थ है। मोह से पराधीन होकर मनुष्य स्वयं अपने को नष्ट करता है। वस्तुतः न तो कोई मुसलमान घातक है, न कोई अन्य धर्मावलम्बी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हो सकता है। कर्म ही व्यक्ति का उन्नायक है और उससे रहित होकर मनुष्य स्वयं ही अपने को नष्ट करता है, गीता का यह दृढ़ निश्चय है।

४- तीनों गुणों के द्वारा कर्म (भजन) को चार वर्णों में बाँटा गया और इन तीनों गुणों के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण संसार है। इससे भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि सारा संसार चार वर्णों के अन्तर्गत है। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अठारहवें अध्याय में वर्ण विभाग का वर्णन यहीं से प्रारम्भ किया कि देवलोक, मृत्युलोक यावन्मात्र सर्वजगत् तीनों गुणों से उत्पन्न होकर उन्हीं से कार्य करते हैं। गुण ही ऊँचे-नीचे स्वभाव का कारण है और उसी स्वभाव से वर्ण बनते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार वर्णधर्म से बाहर नहीं है। इस बात पर पुनः बल देना समीचीन होगा कि संसार का अर्थ केवल भारत ही नहीं होता।

५- तीनों गुणों से स्वभाव बनता है, स्वभाव से ही वर्ण की योग्यता निर्धारित होती है। छोटे गुण से क्षुद्र स्वभाव बनता है जबकि बड़े गुण से ब्राह्मणत्व जैसा बड़ा स्वभाव बन जाता है। गीता के ही अनुसार किसी भी गुण को बढ़ाया जा सकता है। अध्याय चौदह के दसवें श्लोक के अनुसार कोई भी गुण शेष दो गुणों को दबाकर बढ़ाया जा सकता है, बढ़ता-घटता है। इस प्रकार यदि गुणों में परिवर्तन सम्भव है तो शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण होना नितान्त सम्भव है। इसी का अनुसरण करके आज भी आप जगद्गुरु हैं।

६- अत्यन्त चंचल मनवाले व्यक्ति भी साधना के सही दौर में पड़ने पर संकल्परहित समाधि की क्षमता वाले देखे गये। वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि महापुरुषों के प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य उद्भासित होता है कि स्वभाव में परिवर्तन सम्भव है। उनके जीवन के पूवार्ध और उत्तरार्ध के स्वभाव में पूरब और पश्चिम का अन्तर पाया जाता है। काम-क्रोध, लोभ से चंचल उनका मन समाधि की क्षमतावाला तथा सरलता से युक्त पाया गया, जो ब्राह्मण के लक्षण हैं। इस प्रकार यदि स्वभाव में परिवर्तन सम्भव है तो वर्णों के परिवर्तन में भी संदेह नहीं है।

७- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वर्ण-परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा कि अर्जुन! वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते हैं अथवा तीनों गुणों तक ही सीमित हैं, इसलिए तू वेदों के बन्धन से ऊपर उठ। साथ ही श्रीकृष्ण ने ऊपर उठने का तरीका भी बताया कि निर्द्वन्द्व, एकरस, सत्त्व में स्थित हो और योगक्षेम की चिन्ता न कर आत्मपरायण बन! श्रीकृष्ण के शब्दों में-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। *(गीता, २/४५)*

यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि क्या कोई वेदों से ऊपर उठा? (वेदों से, गुणों से ऊपर उठना एक ही वस्तु है) और यदि कोई कभी उठा तो उसकी क्या गति हुई? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार बड़े जलाशय के प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रह जाता है, ठीक उतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से रहता है। सारांशतः वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते हैं, इसलिये वेदों से ऊपर उठ। ऊपर उठने पर जो स्थिति आती है उसका नाम ब्राह्मण है। यहाँ ब्रह्म प्रत्यक्ष है। अर्थात् तू ऊपर उठ और ब्राह्मण बन--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(गीता, २/४६)*

कर्म की गति वस्तुतः गूढ़ है। क्या कर्म है? क्या अकर्म है?- बड़े-बड़े विद्वान् भी इसी स्थल पर संशययुक्त हैं। वस्तुतः कर्म का तात्पर्य आराधना है। और अकर्म का आशय मात्र इतनी मान्यता है कि करानेवाला कोई और है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ- ऐसा समझकर कर्म में तल्लीन हो जाना ही मोक्षप्रद है। इसी का नाम निष्काम कर्म है। कर्म की अन्तिम स्थिति ब्राह्मण श्रेणी की कही जाती है।

८ - कोई ब्राह्मण कब बनता है? इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१६)*

जब सम्पूर्णता से प्रारम्भ किया हुआ कर्म (जिसमें कहीं कमी न हो) क्रमशः उस श्रेणी पर पहुँच जाय जहाँ काम और संकल्प का सर्वथा अभाव है (सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन की संकल्पों से उपराम करता है), तहाँ ज्ञान-अग्नि में कर्म जल जाते हैं और कर्म के जलते ही वह प्राणी महर्षियों द्वारा बोधस्वरूप ब्राह्मण कहा जाता है। इससे सिद्ध है कि कोई भी पुरुष ब्राह्मण अथवा पण्डित बन सकता है। कोरी, चमार, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमान, यहूदी सभी कर्म को समझ, उस पर चलकर ब्राह्मण बन सकते हैं।

६- यथार्थ तो यह है कि ब्राह्मण बनना ही हमारा लक्ष्य नहीं है। यह वर्ण भी दोषों का घर है। अन्य वर्णों की अपेक्षा यह वर्ण सुलझा हुआ अवश्य है किन्तु सुलझे कर्म का कर्ता भी मुक्त नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण वर्ण प्राप्त कर लेने पर भी हार्दिक प्रसन्नता कैसे होगी जबकि संसार पीछे लगा है। जहाँ तक वर्ण और कर्म है, संसार का अस्तित्व भी साथ ही है। इसलिए वर्णों से कोई आशा नहीं करनी चाहिए। वर्ण छोटा मिला हो अथवा बड़ा, वह हमारा लक्ष्य नहीं है। हाँ, लक्ष्य तक पहुँचने में वह सहयोग अवश्य देता है। उन्हें पार किये बिना लक्ष्य तक पहुँचा भी तो नहीं जा सकता। इसलिए इन वर्णधर्मों का पालन आवश्यक है। प्रत्येक वर्ण के निर्धारित लक्षणों को जो अपने में अच्छी तरह ढाल लेता है, वह आगे के वर्ण में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है। क्रमशः चौथे वर्ण के धर्म की जिस क्षण पूर्ति होती है उसी क्षण परमप्रभु अपने दीन सेवक को अपना बना लेते हैं। अपने में स्थिति प्रदान कर देते हैं।

१०- परमप्रभु परमात्मा में स्थिति प्राप्त करना ही जीव का चरम लक्ष्य है। यह वह स्थल है जहाँ वर्ण नहीं रह जाता, कर्म नहीं रह जाता, धर्म-अधर्म कुछ भी तो नहीं शेष बचता। श्री शंकराचार्यजी इसी स्तर से बोल उठते हैं- **'न ब्राह्मणः न क्षत्रियो न वैश्यो**

न शूद्रः चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।' जीवात्मा एवं परमात्मा का द्वैत इसी बिन्दु पर सदा-सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। इसी अद्वैत स्थिति का संकेत गोस्वामीजी भी **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'** कहकर करते हैं। यही नानक का 'वाहे गुरु' और कबीर का 'प्रत्यक्ष स्वरूप' है। जिसके अखण्ड-अभेद स्वरूप में वर्णभेद का कोई स्थान नहीं है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं--अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। अनेक जन्मों के अन्त में पूर्णत्व पानेवाला ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, मुझमें और उस ज्ञानी में किंचित् अन्तर नहीं है। (गीता, ७/१६)। अब उस भजन का स्वरूप क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं- मेरे पास आओ अर्थात् किसी तत्त्वस्थित महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करो। **'सद्गुरु मारे उलट निहारे, सोवत में उठ जागे।'**

प्रश्न- सरकार! वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण विराट् पुरुष के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से तथा शूद्र पैर से पैदा हुए, जिससे लगता है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती है?

उत्तर- देखिए, सब कुछ गीता में है क्योंकि वेदों का प्राण उपनिषद् है और 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्र' के अनुसार उपनिषदों का भी सार गीता है जो वेदसम्मत ही है। महाभारत में महर्षि व्यास का वचन है-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

अतः गीता स्वयं में पूर्ण है किन्तु आपने जब वेद की किंचित् चर्चा की है तो उस ओर से भी देख लेते हैं; वैसे गीता इससे भिन्न नहीं है, श्रीकृष्ण की वाणी है।

प्रश्न है कि ब्रह्म कब पैदा होता है? जब ब्रह्म कण-कण में व्याप्त है तो उसके पाँव कहाँ होंगे और शीर्ष स्थान कहाँ जायेगा?

वस्तुतः वेद, उपनिषद् इत्यादि योगदर्शन हैं, जैसा गीता में भी पाया जाता है। यह परमतत्त्व परमात्मा में विलय करनेवाला दर्शन है। उस व्यापक चेतन का प्रकटीकरण समाज में विवाद का एक विषय है; किन्तु योगियों के बीच वही सर्वसम्मत तथ्य है।

कठोपनिषद् का वचन है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम्।। *(१/२/२२)*

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होती है, न विशिष्ट बुद्धि से प्राप्त होती है और न बहुत सुनने-सुनाने से प्राप्त होती है। बल्कि हजारों में से वह परमात्मा जिस किसी का चयन कर लेता है वही उसको पाता है। हजारों पथिकों में से जिसका वह वरण कर लेता है वही उस आत्मतत्त्व को पाता है। जिस साधक की मन-क्रम-वचन से की गयी सेवा-प्रार्थना को वह स्वीकार कर लेता है, उसके हृदय से वह परमात्मा रथी बनकर आरूढ़ हो जाता है और क्रमशः बुद्धिरूपी लगाम को पकड़कर सही मार्गदर्शन करते हुए उस परमतत्त्व परमात्मा एवं स्वयं में स्थिति दिलाता है।

बस यही, साधक के हृदय में प्रसारण के साथ ही साधना के प्रथम चरण में वह परमात्मा साधक को शूद्र श्रेणी में प्रवृत्ति प्रदान करता है, उसका वैसा ही स्वभाव बनता है। दूसरे सोपान में वह भरण-पोषण और आत्मतृप्ति वाली वस्तुओं का संग्रह करता है। तीसरी अवस्था में वह विराट् प्रकृति से संघर्ष झेलने की क्षमता देता है। शीर्षस्थान अर्थात् चौथे स्थान पर ब्रह्म अपनी ब्रह्ममयी आत्मा से आर्जव, मन का शमन, सरलता, धारावाही चिन्तन इत्यादि गुणों को प्रस्फुटित कर स्वयं रथी के रूप में आरूढ़ रहते हुए पूर्ण तत्त्व की दिशा में ब्राह्मण की श्रेणी से विभूषित करता है और इस स्थिति से चलाता हुआ क्रमशः अपरिवर्तनशील स्थिति से गुजारते हुए अपने में समाहित कर लेता है। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था भी जीव के परमकल्याण के सपनों का निर्देशन मात्र है; न कि कोई ऐसा पुरुष खड़ा है जिसका सिर आकाश में और पाँव रसातल में चला गया हो। अतः यह क्रियात्मक पथ और उसकी जागृति आज भी पूर्णत्व से आप्लावित महापुरुषों में है और उन महापुरुषों में वह अनुभवगम्य है, जैसा कि विराट् स्वरूपों का विस्तार पाया जाता है। उनकी संगति करें और वे भी कृपा से मिलते हैं- **संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।।** ***(मानस, ७/६८/७)*** मानस का यही निर्णय है क्योंकि मानस भी तो 'नाना पुरान निगमागम' का निचोड़मात्र है।

वस्तुतः इन प्रसंगों में गीता से बाहर ढूँढ़ने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता; क्योंकि योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी सभी अंगों से पूर्ण है और उपनिषदों का सारांश है। आइये, महाभारत का एक ज्वलन्त उदाहरण लें जिसमें वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को जानकर शापवश अजगर के रूप में निवास करनेवाले महाराज नहुष अपने परमधाम को प्राप्त हुए।

पत्नी एवं भाइयों सहित महाराज युधिष्ठिर वनवास कर रहे थे। भीम को शिकार का विशेष शौक था। एक दिन भीम शिकार से नहीं लौटे। धर्मराज युधिष्ठिर को भयंकर अपशकुन होने लगे। वामांग फड़कने लगा। उन नरेश ने महर्षि धौम्य से कहा -"ऋषि

प्रवर! लगता है कि भीम किसी भारी संकट में पड़ गया है। मुझे अपशकुन हो रहा है। चलें, उसका पता लगायें।" महर्षि को साथ लेकर महाराज युधिष्ठिर भीम की शोध में निकल पड़े। भीम द्वारा मारे गये सैकड़ों शेर, हाथी, जंगली भैंसे पड़े थे; पेड़ उखड़े मिल रहे थे। इन्हीं चिन्हों का अनुसरण करते हुए युधिष्ठिर आगे बढ़े और वहाँ पहुँच गये जहाँ भीम अजगर से लिपटा हुआ निश्चेष्ट पड़ा था। युधिष्ठिर ने कहा, "भीम! तुम महान् बलवान हो। सृष्टि में जन्म लेनेवाला कोई भी जीवधारी ऐसा नहीं है जो तुम्हें नियंत्रित कर सके; फिर तुम एक अजगर की लपेट में कैसे आ गये? यह महाभाग अजगर कौन हैं?

भीम ने कहा, "यह हमारे पूर्वज, महान् धर्मात्मा महाराज नहुष हैं। ब्राह्मणों के शाप से यहाँ पड़े हैं। दिन के तीसरे प्रहर में जो भी इनकी अधिकृत भूमि में आ जाता है, वह कितना शक्तिशाली क्यों न हो, सहज ही इनके वश में हो जाता है। इनकी खुराक बन जाता है। यह भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद का बल है।" तब तो युधिष्ठिर ने नहुष से कहा, "राजन्! आप तो महान् धर्मज्ञ थे। आपने बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञ किये, जिसके प्रभाव से इन्द्र-पद पर अभिषिक्त हुए। फिर आपने ब्राह्मणों का अपमान किया। आप से ऐसी भूल कैसे हो गयी? क्या आप विप्रों का महत्त्व नहीं जानते थे?" नहुष ने पूछ ही लिया कि आप ही बताइये कि विप्र का क्या महत्त्व होता है? तब धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा कि इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकान्त सेवन, निरन्तर चिन्तन, अनुभवी उपलब्धियाँ, आर्जव, क्षमा, तपस्या इत्यादि लक्षण जिसमें स्वभाव से हों, वह विप्र है। तब अजगर वेषधारी नहुष बोले कि ये लक्षण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं? युधिष्ठिर ने कहा- तब वह शूद्र भी विप्र है। अजगर पुनः बोला, "इन लक्षणों से हीन विप्र भी तो पाये जाते हैं।" (यही तो नहुष की भ्रान्ति का कारण बना था। तभी उन्होनें महर्षियों से पालकी उठवायी और उन्हें जन्मना कुलीन न जानकर पैर से मारा था।) युधिष्ठिर ने निर्णय दिया कि, "यदि कोई इन लक्षणों से हीन है तो वह स्वभावतः शूद्र है, विप्र नहीं।" इतना सुनते ही महाराज नहुष तत्क्षण अपने स्वरूप में आ गये, भीम को मुक्त किया और युधिष्ठिर को विजय का आशीर्वाद देते हुए स्वर्ग चले गये।

इन्द्र का पद और विलासिता की सामग्री पाकर नहुष मदान्ध होकर शची तक चला। अत्रि, अगस्त्य, पुलह, वशिष्ठ इत्यादि विप्रों से पालकी ढुलवायी; क्योंकि वे जन्मना कुलीन नहीं समझे जाते थे। देर असह्य होने पर शीघ्र चलने के लिये महर्षियों को 'सर्प-सर्प' कहकर प्रेरित किया। दयालु विप्र पहले तो सहते गये किन्तु नहुष ने अगस्त्य को लात मारी, उसी का दुष्परिणाम था कि महर्षि ने कहा कि- "जा, सर्प हो जा।"

नहुष ने जब अपने को पालकी से पतित होकर अधम योनि के लिये पृथ्वी पर आते देखा तो गिड़गिड़ाये। बोले, "हमारा उद्धार कैसे होगा?" महर्षियों ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "भविष्य में परम धर्मज्ञ महाराज युधिष्ठिर तुम्हारे कुल में होंगे, जिनसे विप्र की यथार्थ महिमा सुनने पर तुम्हें इस अधोगति से छुटकारा मिलेगा।" महिमा सुनते ही नहुष अपने परमधाम को चले गये। अतः विप्र के स्वरूप के सम्बन्ध में युधिष्ठिर का यह निर्णय निर्विवाद है, जिसके यथार्थता के प्रत्यक्ष प्रभाव से नहुष की सद्गति तत्क्षण हो गई। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में इससे सच्ची आख्या क्या होगी, जिसके प्रभाव से नहुष को अधोगति से छुटकारा मिल गया।

इस आख्यान से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ प्रत्येक युग में थीं। सतयुग में उत्पन्न नहुष की भ्रान्ति का निराकरण कहीं जाकर द्वापर में हो सका। बीच में धर्म का तत्त्वज्ञ कोई हुआ ही नहीं जो नहुष की भ्रान्ति का निराकरण करता और वह भी विप्रों के आशीर्वाद का फल था। नहीं तो युधिष्ठिर को वह बुद्धि कहाँ से आती? अतः सज्जनो! विप्र को चाहिये कि वे अपने स्वरूप की रक्षा उक्त सद्गुणों के सृजन से करें। अन्य वर्णों, वर्गों, सम्प्रदायों के जो प्रत्याशी देर-सवेर इस अवस्था को पार करते हैं, महान् हैं। इस क्रिया, विधा की उपलब्धि का एक ही माध्यम चिरन्तन सत्य है और रहेगा कि अनुभवी विज्ञानी तत्त्वज्ञ महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करें। उन्हीं हरकतों से पेश आवें जिनसे वे प्रसन्न रहें, जिनकी कृपा से आप सत्य की प्राप्ति कर सकें। श्रीकृष्ण गीता में इंगित करते हैं-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। *(गीता, ४/३४)*

"अर्जुन! तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जा। दण्ड-प्रणाम करके उनकी सेवा कर और निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस ज्ञान को जान।" हृदय में ईश्वर की जागृति तथा अपने मन से बौद्धिक स्तर का कार्य करना दोनों में पूरब और पश्चिम का अन्तर है। बौद्धिक निर्णय नास्तिकता और पतन की ओर अग्रसर कर सकता है। अतः किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा अनिवार्य है। तत्त्वदर्शी महापुरुष ही माध्यम हैं। "जिन खोजा तिन पाइयाँ।"- ऐसे महापुरुष भी पुण्य-पुरुषार्थ से ही मिलते हैं।

प्रश्न- महाराजजी! महापुरुष की प्राप्ति कहीं तो आप कृपा की देन मानते हैं और कहीं पुरुषार्थ की देन मानते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर- देखिये, साधक का भाव ही इधर से कृपा बनकर लौटता है। भाव ही पुण्य कराता है और **'भाववस्य भगवान'**, **'भावे विद्यते देवा।'** ।। ॐ।।

वर्णसंकर

प्रश्न– महाराजजी! अर्जुन को शंका थी कि युद्ध करेंगे तो इतने लोग मरेंगे कि स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। लोग वर्णसंकर हो जायेंगे जिससे सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने गीता में कहीं भी इस शंका का समाधान नहीं किया कि वर्णसंकर क्या है? कैसे होता है?

उत्तर– श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रत्येक शंका का समाधान कर दिया था। शस्त्र-संचालन की तैयारी के समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिए, जिससे मैं इन युद्ध की इच्छावालों को भली प्रकार देख लूँ कि मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना उचित है। श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा किया, तो अर्जुन ने उस अठारह अक्षौहिणी जनसमुदाय में अपने परिवार को खड़ा पाया। वहाँ अर्जुन ने अपने पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुर तथा सुहृदों को देखा। इस गणना में कुल दस शब्द आये हैं जिसमें अपना परिवार, ननिहाल का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद और गुरुजन ही थे। अठारह अक्षौहिणी लगभग साढ़े छः अरब के करीब होता है। (महाभारत की गणना के अनुसार चालीस लाख के समकक्ष होता है।) इतने जनसमूह में अर्जुन को केवल अपना सुहृद्, सम्बन्धी रिश्तेदार और परिवार दिखाई पड़ा; अन्य कोई नहीं? कहीं इतने रिश्तेदार भी होते हैं? नहीं होते! वस्तुतः महाभारत अन्तःकरण की लड़ाई है।

अर्जुन ने सुहृदों को देखा। देखते ही काँपने लगा, रोमांच हो आया। बोला– भगवन्! मैं अपने ही परिवार को मारकर क्या सुखी होऊँगा? कुलधर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन-धर्म लुप्त हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है, युद्ध करने से शाश्वत धर्म नष्ट हो जायेगा। पुरुषों के संहार से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, पिण्ड-परम्परा समाप्त हो जायेगी। कुल की स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर पैदा होंगे और वह वर्णसंकर कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। हम लोग समझदार होकर महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं। अर्जुन ने यह नहीं कहा कि केवल हम ही भूल करते हैं, बल्कि उसने श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाया कि आप भी भूल करते हैं। अर्जुन ने कहा कि जिनके लिए हमें भोग इच्छित हैं, ये सभी तो जीवन की आशा त्यागकर मौत के मुहाने पर खड़े हैं, फिर मैं अकेला यह साम्राज्य लेकर क्या करूँगा? अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा।

यहाँ पर अर्जुन दो प्रश्न मुख्य रूप से रखता है। पहला तो यह कि सनातन धर्म लुप्त हो जायेगा– सनातन-धर्म के लिए वह आहें भरता है। दूसरा प्रश्न था कि वर्णसंकर

हो जायेगा। श्रीकृष्ण ने इसका एक ही उत्तर दिया कि अर्जुन! इस विषम-स्थल में, जिसकी समता का कोई स्थल विश्व में नहीं है, तुझे अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? जिस क्षमता का युद्ध मैं बताता हूँ, उस क्षमता का संघर्ष निःसन्देह कुछ भी नहीं है।

तो क्या शाश्वत-धर्म की सुरक्षा के लिए व्यग्र होना अज्ञान है? वर्णसंकरता के जघन्य दोष से बचा लेने का प्रयास भी क्या अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं--हाँ अर्जुन! जिसे तू सनातन-धर्म कहता है, न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी इसका आचरण किया है न यह परम कल्याण करनेवाला है और न यह कीर्ति को ही बढ़ानेवाला है। सिद्ध है, अर्जुन जिसे सनातन-धर्म समझता था, न तो वह सनातन धर्म था और न उसे वर्ण की सही जानकारी ही थी। वह अर्जुन का भ्रम मात्र था। तभी तो उसने कहा--

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

(गीता, २/७)

"धर्म के विषय में मोहितचित्त मैं आप से पूछता हूँ। आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। मुझे वही उपदेश कीजिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।" अर्जुन परमकल्याण से वंचित नहीं रहना चाहता। श्रीकृष्ण ने पहले तो सनातन-धर्म की व्याख्या की, तदनन्तर वर्णसंकर पर प्रकाश डाला। अब आइये वर्णसंकर पर विचार किया जाय। तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! इस कर्म को किये बिना न तो कोई उस परमनैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। कर्म ही इस मानव-जीवन की सफलता है किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिए कर्म करने से न तो कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है। सिद्ध है कि कर्म उस आत्मा तक पहुँचाता है; जिसके पश्चात् फिर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। पहले भी इस कर्म को किये बिना न तो कोई पाया है और न भविष्य में कोई पा सकेगा। कर्म ही उसकी प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है। यही मानव-तन की सार्थकता है।

"पार्थ! मुझे भी तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष नहीं है तथा प्राप्त होने योग्य किंचित् वस्तु भी अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं कर्म में बरतता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जाय और मैं वर्णसंकर का कर्ता कहा जाऊँ।"

गीता की दृष्टि से कर्म का तात्पर्य आराधना ही है, जिससे आराध्य प्रसन्न होते हैं, जिससे आत्मा का साक्षात्कार होता है, जो संसार-बन्धन से सदा-सदा के लिए मुक्ति दिलाता है।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर होना तो सुना गया; किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण एक नयी बात कहते हैं कि स्वरूप में स्थित महापुरुष यदि चिन्तन-क्रम को नहीं करता तो सब लोग वर्णसंकर हो जायेंगे। वस्तुतः इस जीवात्मा का शुद्ध वर्ण परमात्मा है-

हंसा तूँ सुबरन बरन, हलकी तेरी चाल।
एक तला के बीछुरे, विकल फिरे बेहाल।।

यह हंस (जीवात्मा) वस्तुतः 'सुबरन'- शुद्ध वर्ण का है। केवल स्वरूप विस्मृत हो जाने से विकल होकर दर-दर भटक रहा है। इस आत्मा को परमात्मा तक की दूरी तय करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष का नाम कर्म है। इसी कर्म को करके पूर्वकाल में जनक इत्यादि महर्षियों ने नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त किया था जिसके पश्चात् कर्म किये जाने से न तो कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है। फिर भी ऐसे महापुरुष कर्म में ही बरतते हैं; क्योंकि यदि ऐसे महापुरुष सावधान होकर कर्म में न बरतें तो लोग प्रायः उनकी नकल करेंगे कि महाराजजी तो प्रायः बैठे रहते हैं, भजन तो करते ही नहीं। ऐसे अन्धानुकरण से वे श्रेयपथ से च्युत हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति जब चिन्तन-पथ में है, वह अपने वर्ण की ओर- शुद्ध स्वरूप परमात्मा की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है, किन्तु जब वह आराधना से हट जाता है तो सिद्ध है कि वह प्रकृति की भँवर में फँसाव ले रहा है। यही वर्णसंकर का होना है। परमात्मा ही हमारा शुद्ध वर्ण है। उसकी ओर अग्रसर न होकर जड़ प्रकृति में भटकना ही वर्णसंकर होना है।

सारांशतः श्रीकृष्ण का आशय है कि इस कर्म को किये बिना उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को न किसी ने पाया है, न भविष्य में प्राप्त कर सकेगा। कर्म अर्थात् आराधना अनिवार्य है। किन्तु जो कर्म करके आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट हो गया उसके द्वारा कर्म किये जाने से न कोई लाभ है, न छोड़ने से हानि ही है फिर भी वह महापुरुष पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए कर्म में बरतता है। कदाचित् वे कर्म में न बरतें तो उन महापुरुष की तो कोई क्षति नहीं लेकिन उनका अनुकरण करनेवाला समाज वर्णसंकर हो जायेगा। समाज महापुरुषों का अनुकरण करता ही है क्योंकि वे सभी जीवात्माओं के मूल केन्द्र में स्थित हैं। जिस प्रकार समुद्र की ओर सभी नदियाँ स्वभावतः झुकती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र परमात्मा है। परमात्मा से ही सभी संचालित होते हैं। उसी कक्षा में महापुरुष भी स्थित होता है इसीलिए सभी जीवात्माएँ महापुरुषों का अनुसरण करती ही हैं। केवल कोरे उपदेश से साधन-क्रम पकड़ में आता भी नहीं। महापुरुष क्रियात्मक ढंग से उन उपदेशों को अपने आचरण में ढालकर लोक-शिक्षण का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यदि महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो कतिपय साधक साधना

स्थगित करके महापुरुष की नकल करके अपना पूर्णत्व जताने लगते हैं। इससे वे पूर्ण नहीं हो जाते बल्कि स्वरूप से भटककर वर्णसंकर हो जाते हैं।

तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा कि ज्ञानी को चाहिए कि कर्म में लगे हुए अज्ञानियों को चलायमान न करे बल्कि स्वयं कर्मों का भली प्रकार आचरण करता हुआ उनसे भी करावे। यदि महापुरुष ऐसा नहीं करता तो वह वर्णसंकर का कर्ता होगा; क्योंकि साधक उसका अनुकरण करके साधना से विरत हो जायेंगे, आत्मिक पथ से च्युत हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में वर्णसंकर हो जायेंगे। ठीक इसी प्रकार, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उन मनीषियों से तुलना करते हुए कहा कि यदि वे महापुरुष सावधान होकर क्रिया में न बरतें अथवा मैं न बरतूँ तो वर्णसंकर का कर्ता होऊँ।

जहाँ तक स्त्रियों के दूषित होने से उत्पन्न वर्णसंकरता का प्रश्न है, महापुरुषों की दृष्टि में वह कोई दोष नहीं हैं; किन्तु सामाजिक संगठन के लिए रक्त की शुद्धता अपरिहार्य है। वह जीवन की मर्यादा है, कल्याणपथ-अन्वेषण की पहली सीढ़ी है। दाम्पत्य सत्य के लिए समाज में नितान्त आवश्यक है। उसमें अमेरिकियों की तरह नष्ट नहीं होते बल्कि बाल-माधुर्य बचा रहता है। प्रश्नकर्त्ता अर्जुन, सभी पाण्डव, स्वयं पाण्डु, व्यास सब-के-सब वर्णसंकर थे। इतना ही नहीं, अधिकांश महापुरुष लौकिक दृष्टि से वर्णसंकर ही थे। उनकी तो मुक्ति नहीं होनी चाहिए थी। 'नरकेऽनियतं वास' का विधान होना चाहिए था; किन्तु वर्णसंकरता उनके रास्ते में व्यवधान नहीं डाल सकी। महापुरुषों के इतिवृत्त से प्रमाणित है कि माता-पिता की त्रुटियों का कर्तव्य-परायण पथिक पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

ईसा मसीह वर्णसंकर थे। उनकी माँ का विवाह हुआ तो सात महीने का लड़का पेट में था। लोगों ने 'मरियम' को कुलक्षणा कहकर उन्हें समाज एवं नगर से निकालने का विचार किया (लगता है पातिव्रत धर्म उस समय जेरूसलम में प्रचलित था। आज तो कोई नहीं निकलता) फिर, स्वप्न दिखाई पड़ा कि इनके पेट में जो बालक है वह पवित्रात्मा है। बाद में लोगों ने जोड़ दिया कि वह पवित्रात्मा से गर्भवती हुई। वस्तुतः कोई पुण्यात्मा ही पेट में था न कि परमात्मा मरियम से गन्धर्व विवाह करने आया। अस्तु, ईसा बड़े अच्छे महापुरुष हुए। विश्व का काफी बड़ा भाग उनका अनुसरण करता है। भारतीय विचारधारा, भारतीय दर्शन ही उनके उपदेशों में भी है। प्राप्तिवाले सभी महापुरुषों का उपदेश एक ही जैसा है; क्योंकि एक ही सत्ता को सभी ने देखा तो दूसरा कोई कहेगा क्या? प्राप्तिवाले महापुरुष समाज के बीच कभी दरार डाल ही नहीं सकते। वे कभी नहीं कहते कि आप हिन्दू हैं, वह ईसाई है, तुम बौद्ध, जैन, पारसी या सिख हो। महापुरुषों

के नाम पर उनके अनुयायी पीछे दरार डालते रहते हैं। स्वार्थ-सिद्धि के लिए महापुरुष के नाम से वे अनेक भ्रान्तियों, रूढ़ियों, सम्प्रदायों का प्रचलन करते रहते हैं। प्रायः प्रत्येक महापुरुष के साथ ऐसा होता आया है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर सबके उपदेशों पर कुरीतियाँ पनप गयी हैं। यदि किसी ने उस सत्ता का स्पर्श पा लिया, जो सबकी आत्मा में संचारित है फिर वह मानव-मानव में दरार कैसे डालेगा? यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह लक्ष्य से अभी दूर है।

कबीर 'लहरतारा तालाब' पर पड़े मिले। अनुयायियों ने गढ़ना प्रारम्भ किया कि प्रकाश-पुंज आकाश से उतरा। बहुत देर मँडराता रहा, एक कमल पर केन्द्रित होकर गिरा, बालक बन गया। जुलाहे की स्त्री गयी और ले आयी। इस प्रकार स्वयं परम चेतन परमात्मा ही कबीर के रूप में प्रगट हुआ। माता-पिता के संयोग से उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। लेकिन कबीर ने अपना परिचय दिया कि मैं ही कबीर हूँ, ऐसी बात नहीं; आप भी कबीर हो सकते हैं-

कबिरा कबिरा क्या करै, सोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बस करे, सोई दास कबीर।।

कबीर अच्छे हैं, कबीर महात्मा हैं- क्या कबीर-कबीर रट लगा रखा है? **'सोधो सकल शरीर'**- स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों की शोध कर लो। किन्तु आशा और तृष्णा के रहते वह शोध सम्भव नहीं है। अतः **'आशा तृष्णा बस करे'**- आशा, तृष्णा जिसने भी वश में किया, **'सोई दास कबीर।'** जितना हमने किया, आप भी कर लें तो आप भी कबीर बन जायँ। **'काया का बीर सोई कबीर।'**

ठीक इसी प्रकार वशिष्ठ उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वाल्मीकि कोल थे। कोलों में उठना-बैठना, खाना-पीना, शादी-विवाह सब था, किन्तु महर्षि हुए। क्षत्रिय विश्वामित्र अन्ततः महर्षि बने। मछोदरी के लड़के व्यास वर्णसंकर थे; किन्तु सर्वोपरि ब्रह्मर्षि कहलाये। वस्तुतः माता-पिता की भूलों का उत्पन्न होनेवाले बालक पर कोई प्रभाव नहीं पडता। **'अपनी करनी, पार उतरनी।'**- सभी अपनी करनी लेकर आते हैं। माता-पिता, स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी जन्म-जन्मान्तरों के बदले हैं; जिसे कोई पिता बनकर, कोई पुत्र बनकर चुकाता रहता है। 'बदला' वर्णसंकर नहीं होता। वस्तुतः वर्णसंकर का अर्थ यह है कि यदि आत्मज्ञ महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो उसी की नकल करके जो लोग क्रिया में नहीं बरतते, वे वर्णसंकर हो जाते हैं।

।। ॐ ।।

ज्ञानयोग एवं कर्मयोग

प्रश्न- महाराजजी, ज्ञानयोग और कर्मयोग में क्या अन्तर होता है? दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

उत्तर- रणक्षेत्र में अपने ही परिवार को खड़ा पाकर अर्जुन युद्ध से कतराने लगा। उसने कहा कि अपने स्वजनों को मारकर मैं सुखी कैसे हो सकूँगा? तीनों लोकों के राज्य में तथा पृथ्वी के धनधान्य-सम्पन्न अकंटक साम्राज्य में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। अतः इतने के ही लिए मैं युद्ध नहीं करूँगा। इससे तो भिक्षा माँगकर खाना ही श्रेयस्कर है। हाँ, इसके आगे कोई सत्य हो तो मेरे प्रति कहिये, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। श्रीकृष्ण उसे समझाते हैं- अर्जुन! इस युद्ध में हारोगे तो भी देवत्व मिलेगा और जीतोगे तो महीम् स्थिति ही प्राप्त हो जायेगी। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में दैवी सम्पत्ति अर्जित करते-करते यदि शरीर का समय समाप्त हो गया तो देवत्व तो मिलेगा ही, पार पा जाने पर उस महामहिम परमात्मा में स्थिति मिल जायेगी, जहाँ से महिमा प्रसारित होती है। अतः जय-पराजय, हानि-लाभ, सिद्धि-असिद्धि को समान समझते हुए युद्ध कर।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि अपने हानि-लाभ पर स्वयं विचार करते हुए युद्ध कर। युद्ध तो करना ही पड़ेगा। हानि-लाभ का स्वयं विचार करके साधन तो पूरा करना ही पड़ेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठने का नाम ज्ञानयोग नहीं है। बहुत से लोग साधन किये ही बिना कहते हैं, "मैं आत्मा हूँ, पूर्ण हूँ। आत्मा ही अजर-अमर और शाश्वत है"- ऐसा चिन्तन करना ज्ञानयोग है, किन्तु श्रीकृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर, अमर, अपरिवर्तनशील इत्यादि बताया, वहाँ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहाँ तो श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। वह तो महापुरुष की स्थिति है, साधन नहीं। वह तत्त्वदर्शन है, ज्ञानयोग नहीं। वस्तुतः स्वयं पर निर्भर होकर कर्म करने का नाम ज्ञानयोग है। "मैं इस भूमिका में हूँ, भविष्य में उस सोपान से गुजरूँगा। यदि पार पाता हूँ तो महामहिम स्थिति अन्यथा देवत्व तो निश्चित ही है"- इस प्रकार अपने भविष्य को दृष्टिगत रखते हुए स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त होने का नाम ही ज्ञानयोग है।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी है। इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन! ज्ञानयोग से तू जिस स्थिति को प्राप्त होगा, उसी को

कर्मयोग के आचरण से भी प्राप्त कर सकेगा। दोनों का लक्ष्य एक है, क्रिया एक है। हाँ! करने का तरीका दो है। तो भला उस कर्मयोग में करना क्या होगा? "अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। ऐसा समझ कि फल है ही नहीं, कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो।"- यही है कर्मयोग। इसमें साधक की अपनी कोई कामना नहीं रहती। वह इष्ट पर निर्भर होकर चलता है इसलिए इसे निष्काम कर्मयोग भी कहते हैं। इसमें अनुरागी अपने आराध्य के आश्रित होकर उनके हाथ में मात्र यंत्र बनकर चलता है। अनुरागी यह तो जानता है कि कभी-न-कभी पार अवश्य लगेगा किन्तु कब और कितना लगा?- इसे वह नहीं जानता। उसके द्वारा जो भी पार लगता है वह कर्ता की उपलब्धि नहीं, आराध्य की देन है।

अध्याय तीन में अर्जुन प्रश्न करता है कि भगवन्! निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा आप ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बताते हैं, तो फिर आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को कर्मयोग में भयंकरता दिखाई पड़ी। ज्ञानयोग उसे सरल लगा; क्योंकि ज्ञानयोग में हारने पर देवत्व है। शरीर का अन्त हो जाने पर सफलता नहीं मिली तो देवत्व है, लाभ ही है और यदि जीत जाते हैं, शरीर के रहते मन के पूर्ण निरोध तक पहुँच जाते हैं तो सर्वस्व मिलता है। महामहिम स्थिति मिलती है। दोनों प्रकार से मिलना ही है। स्वतंत्र रहकर अपना हानि-लाभ समझते हुए चलना है, अतः अर्जुन को सरल लगा। निष्काम कर्मयोग में कर्म करते रहने का अधिकार है, फल की वासना न हो। ऐसा समझ कि फल है ही नहीं। कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर कर्म करने के लिए तत्पर हो जाओ।

हाँ, एक झीना-सा प्रलोभन अवश्य है कि कभी-न-कभी कर्म-बन्धनों से मुक्त अवश्य हो जाओगे लेकिन जो कुछ समझाया गया उससे वर्तमान में तो कुछ मिलनेवाला नहीं है, फिर ऐसा कौन होगा जो अकारण खाक छानता फिरे। यद्यपि आगे यह निष्काम कर्मयोग महान् विभूतियों का आलोक दर्शानेवाला होता है; किन्तु क्षण-प्रतिक्षण की उपलब्धि से बेखबर साधक को प्रारम्भ मे यह निरस प्रतीत होता है। इसलिए अर्जुन ने कहा कि आप मुझे निष्काम कर्मयोग की भयंकरता में क्यों फँसाते हैं? निष्काम कर्मयोग अर्जुन को भयंकर लगा।

तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा पहले कही गयी हैं। पहले का आशय सतयुग या त्रेता में नहीं बल्कि अभी-अभी जो अध्याय दो में कह आये हैं- ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की निष्काम कर्मयोग से; किन्तु किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्याग देने का कोई विधान नहीं है।

न तो ऐसा ही है कि कर्मों को आरम्भ न करके कोई निष्कर्मता की परमसिद्धि को प्राप्त कर ले और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से भी कोई ज्ञानी नहीं होता। इसलिए ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही होगा। छठें अध्याय में श्रीकृष्ण ने पुनः इस पर बल दिया कि कर्म और अग्नि को छोड़नेवाला ज्ञानी नहीं हो सकता। यहाँ उन्होंने केवल क्रिया को ही लिया है। कर्म किया ही नहीं तो कैसा निष्कर्मी?

श्रीकृष्णकाल में भी ऐसी भ्रान्ति प्रचलित थी इसीलिए उन्होंने निराकरण किया कि अकर्मण्यता कदापि निष्कर्मता नहीं है। क्योंकि कोई भी पुरुष क्षणमात्र कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर वह कर्म करता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न सत्, रज, तम तीनों गुणों का उतार-चढ़ाव है, तब तक उसी के अनुरूप कार्य होते ही रहेंगे। हाँ, जब यज्ञ की पूर्तिकाल में ज्ञानामृत का पान करनेवाला पुरुष शाश्वत सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है, वहाँ पर प्रकृति ही विलय हो जाती है, इसलिए उन्हें कर्म नहीं बाँधते। उस ज्ञानाग्नि में कर्म दग्ध हो जाता है। किन्तु जब तक प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक कर्म नितान्त आवश्यक है। इतने पर भी बहुत से लोग हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं, श्रीकृष्ण कहते हैं- वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं, धूर्त हैं। अतः ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। दोनों के बीच क्रिया एक ही है, कोर्स एक ही है, डिग्री एक जैसी है। अन्तर इतना ही है कि निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर, अपने को निछावर करके कर्म करता है और ज्ञानयोगी अपनी सदृशता से अपना बलाबल समझते हुए पूर्तिपर्यन्त उसी कर्म में प्रवृत्त रहता है। जब तक उस शाश्वत को न पा लें, कर्म में प्रवृत्ति अभीष्ट है।

जब कर्म करना ही होगा तो **'नियतं कुरु कर्म त्वं'** *(गीता, ३/८)*- अर्जुन! तू निर्धारित किये कर्म को कर! वह निर्धारित कर्म है क्या? **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** *(गीता, ३/६)*- यज्ञ की प्रक्रिया ही एक मात्र कर्म है। इसके अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ किया जाता है क्या वह कर्म नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, वह तो इस लोक का एक बन्धन है। इसी यज्ञ की प्रक्रिया को ज्ञानयोग में करना है और यही प्रक्रिया निष्काम कर्मयोग में भी करनी होती है। दोनों में वही यज्ञ किया जाता है। यज्ञ के अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ भी किया जाता है वह इसी लोक का बन्धन है, कर्म नहीं; क्योंकि कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** *(गीता, ४/१६)*- अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाता है, बाँधता नहीं।

अब अर्जुन ने भली-भाँति समझ लिया कि ज्ञानमार्ग हो अथवा कर्ममार्ग हो, दोनों ही प्रणालियों में कर्म तो करना ही होगा। क्रिया दोनों में एक ही है। तब उसने जानना चाहा कि दोनों में अच्छा कौन पड़ेगा? कौन-सा मार्ग सुविधाजनक रहेगा। उसने प्रश्न किया -

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। *(गीता, ५/१)*

भगवन्! कभी तो आप निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं तो कभी ज्ञान-दृष्टि से कार्यों की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से किसी को निश्चय करके कहिये, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! परमकल्याण तो दोनों करनेवाले हैं। संन्यास अर्थात् ज्ञान-दृष्टि से कर्म और निष्काम कर्मयोग दोनों में से प्रत्येक परमकल्याण करनेवाला है; किन्तु ज्ञानयोग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी से आकांक्षा रखता है- ऐसा निष्काम कर्मयोगी सदैव संन्यासी समझने योग्य है। संन्यास, सांख्य अथवा ज्ञानयोग के द्वारा जिस परमतत्त्व को प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोग के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। दोनों एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं। मूढ़लोग ही दोनों को अलग-अलग कहते हैं, न कि विवेकीजन। फलरूप में दोनों को जो एक देखते हैं उन्हीं की दृष्टि यथार्थ है। किन्तु अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना संन्यास का प्राप्त होना दुर्लभ है। ज्ञानयोग में क्रिया वही है जो निष्काम कर्मयोग की है। निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना कोई ज्ञानी नहीं होता। कर्म तो वही करना ही होगा। भगवत्-स्वरूप का मनन करनेवाला योगयुक्त पुरुष तत्क्षण ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। वह योगयुक्त अर्थात् ब्रह्म से संयुक्त पुरुष, जिसने इन्द्रियों और अन्तःकरण को विशेष रूप से जीत लिया है, कर्म करते हुए भी लिपायमान नहीं होता।

युक्त पुरुष करते हुए भी लिपायमान क्यों नहीं होता? श्रीकृष्ण कहते हैं- **'युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** *(गीता, ५/८)*- वह तत्त्व से संयुक्त है इसलिए देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, भोजन करते, सोते, श्वास लेते, त्याग इत्यादि से सारे कार्य करते ऐसी धारणा उसे उपलब्ध हो जाती है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में ही प्रसारित हो रही हैं। यह युक्त पुरुष के लक्षण हैं। प्राप्ति के पश्चात् युक्त पुरुष की रहनी का चित्रण है। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी उससे अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार युक्त पुरुष संसार में रहते हुए भी उससे अलग रहता है। यह योगयुक्त पुरुष के लक्षण हैं, न कि ज्ञानमार्ग की साधना का चित्रण है। आजकल प्रायः लोग कहा करते हैं कि

हम तो ज्ञानी हैं, हमारी इन्द्रियाँ अपने अर्थों में बरत रही हैं, हमारे लिए कोई कर्म नहीं है, इत्यादि। ऐसी भ्रान्तियाँ श्रीकृष्णकाल में भी थीं। उन्हीं पर कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि यह योगयुक्त पुरुष के लक्षण हैं और युक्त एक स्थिति-विशेष है। युक्त पुरुष के लक्षण का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। *(गीता, ६/१८)*

विशेष रूप से वश में किया चित्त जिस समय परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है उस समय सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह पुरुष योगयुक्त कहा जाता है। ऐसा पुरुष कर्मों में लिपायमान नहीं होता। जब तक यह स्थिति नहीं मिल जाती, कर्म तो करना ही होगा। श्रीकृष्ण इस बिन्दु पर बार-बार बल देते हैं कि ज्ञानमार्ग में भी कर्म छोड़ने का विधान नहीं है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। *(गीता, ६/१)*

फल के आश्रय से रहित होकर जो **'कार्यम् कर्म'**- करने योग्य प्रक्रिया-विशेष को करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाओं को त्यागनेवाला, कर्म को त्यागनेवाला न तो संन्यासी हो पाता है और न योगी ही हो पाता है ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। *(गीता, ६/२)*

अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान; किन्तु कोई भी पुरुष संकल्पों का त्याग किये बिना संन्यासी अथवा योगी नहीं हो पाता। संकल्पों का उतार-चढ़ाव मन पर होता है। मन का निरोध होने पर ही संकल्पों का शमन सम्भव है। अब संकल्पों का निरोध कैसे हो? कहने मात्र से तो संकल्प छूट नहीं जाते। इसलिए श्रीकृष्ण उपाय बताते हैं-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। *(गीता, ६/३)*

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले पुरुष को चाहिए कि कर्म करे। कौन-सा कर्म? 'कार्यम् कर्म', 'नियत कर्म' जो यज्ञ की प्रक्रिया है। काम, क्रोध, लोभ त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है। कर्म करते-करते योग की पराकाष्ठा पा लेने पर **'शमः कारणमुच्यते'**- सर्वसंकल्पों का अभाव है। जिस समय इन्द्रियों के भोगों में पुरुष आसक्त नहीं होता और कर्म करने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है, उस समय

'सर्वसंकल्प संन्यासी'– सभी संकल्पों का अभाव होता है। वही संन्यास है, वही योग है। बीच में न कहीं संन्यास, न योग ही है। अतः पुरुष को चाहिए कि अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति में न पहुँचावे। सिद्ध है कि आत्मा का उद्धार होता है और पतन भी होता है। कर्म के द्वारा मनसहित इन्द्रियों का जिसने भली प्रकार निरोध कर लिया है उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है। जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं, उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः संन्यास अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, **'कार्यम् कर्म'**– करने योग्य प्रक्रिया-विशेष तो करना ही होगा। इस प्रकार स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण ने दोनों मार्गों में कर्म की अनिवार्यता पर बार-बार बल दिया।

श्रीकृष्ण ने अपनी भक्ति पर बल देते हुए कहा– **'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।'** *(गीता, ११/५५)*– अर्जुन! **'मत्कर्मकृत्'**– मेरे द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ कर्म मेरे लिए ही कर। **'मत्परम्'**– मेरे परायण होकर कर। **'मद्भक्तः'**– मेरा अनन्य भक्त हो। किन्तु **'संगवर्जितः'**– संगदोष में रहते हुए इस कर्म का होना असम्भव है। असंग रहकर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में जो बैरभाव से रहित है वह मुझे प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोग अपनाने का परामर्श दिया। तब अर्जुन ने बारहवें अध्याय में प्रश्न किया कि भगवन्! इस प्रकार जो भक्त निरन्तर आपकी उपासना करते हैं और दूसरे, जो अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? अर्जुन अब भी यही सोच रहा कि जो श्रेष्ठ है उसी को पकडूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि मेरे में मन को एकाग्र करके भजन-ध्यान में **'नित्ययुक्त'**– निरन्तर लगे हुए श्रद्धा के साथ जो मुझ (सगुण, सदेह परमेश्वर को, जो समक्ष वर्तमान है) को भजते हैं, वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण एक योगी थे। साधकों को उन्होंने इंगित किया है कि परमात्मा के चिन्तन की अपेक्षा परमात्मा में स्थित ऐसे महापुरुष का भजन श्रेयस्कर है, जो साधक के समय में वर्तमान हों। ऐसे महापुरुष श्रीकृष्ण की तरह शरीर के आधारवाले होते हुए भी शाश्वत स्वरूप की उपलब्धि वाले होते हैं। उनके लिए शरीर तो रहने के लिए एक मकान मात्र होता है। ऐसे महापुरुषों के निर्देशन पर भजन में अग्रसर होना ही निष्काम कर्मयोग है। इसी को श्रीकृष्ण भी अतिश्रेष्ठ मानते हैं।

दूसरी ओर ज्ञानमार्गी, जो इन्द्रियों को अच्छी प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय, एकरस, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, परमात्मा को लक्ष्य

बनाकर उसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं; **'सर्वभूतहितेरता:'** *(गीता, १२/४)*- ऐसे महापुरुष मेरे को ही प्राप्त होते हैं, किन्तु **'क्लेशोऽधिकतरः तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।'** *(गीता, १२/५)*- उन पुरुषों के रास्ते में क्लेश अधिक हैं। कौन-सा क्लेश अधिक है? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'देहवद्भि:'**- देहाभिमानियों को वह अव्यक्त गति प्राप्त होना दुःखपूर्ण है। ज्ञानमार्गी सोचता है, आज साधना में मैं यहाँ पर हूँ, मैं इतनी मंजिल तय करूँगा, मैं स्वयं को प्राप्त करूँगा।- इस प्रकार 'मैं-मैं' कहते वह लक्ष्य से बहुत दूर रह जाता है और उसके चारों ओर 'मैं' का आवरण तन जाता है। ज्ञानमार्गी अपने ही बल पर साधन में प्रवृत्त होता है और प्राय: वह देहाभिमान में परिणीत हो जाता है। ज्ञानमार्ग में यही विघ्न विशेष है।

किन्तु निष्काम कर्मयोग में जो मेरे आश्रित होकर सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में समर्पण करके अनन्य भाव से निरन्तर **'ध्यायन्त:'**- ध्यान करते हैं, **'उपासते'**- मेरी उपासना करते हैं, **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'** *(गीता, १२/७)*- उन्हें मैं संसाररूपी समुद्र से उद्धार कर देता हूँ। ऐसे लोगों की **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** *(गीता, ९/२२)*- योग की रक्षा मैं स्वयं कर लेता हूँ। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग में सुविधा विशेष है क्योंकि अनुरागी की हार-जीत का दायित्व आराध्य पर होता है। अनुरागी मन, क्रम, वचन से निर्भर हो जाय फिर तो सारी जिम्मेदारी आराध्य देव की, उन महापुरुष की हो जाती है।

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी।। (मानस, ३/४२/५)

अत: बन्धुओ! चिन्तन-क्रम में प्रवृत्त होने पर निष्काम कर्मयोग और ज्ञान-पथ दोनों आप की मुट्ठी में हैं, आपके लिए हैं। किसी महापुरुष के संरक्षण में, श्रद्धा आप्लावित नेत्रों से चिन्तन में लगे रहने पर आप निष्काम कर्मयोगी की संज्ञा पा जायेंगे। अथवा प्रण-प्रधान बुद्धि से हार्दिक साहस बटोरकर स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त रहने पर ज्ञानमार्गी कहलायेंगे। कर्म तो हर हालत में करना ही होगा। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। उस कर्म के पालन करने की दो दृष्टियों (ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग) का श्रीकृष्ण ने सविस्तार वर्णन मात्र किया है। जागृति के लिए तो अनुभवी महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा उस क्रिया को आचरण में ढालने का चिरन्तन विधान है।

।। ॐ ।।

गीतोक्त युद्धस्थल

प्रश्न– महाराजजी! कुरुक्षेत्र की स्थिति को लेकर आजकल मत-मतान्तर, समाचार पत्रों में देखने को मिलते हैं। गीतोक्त कुरुक्षेत्र कहाँ है?

उत्तर– देखिए, गीता एक यौगिक शास्त्र है। गीता पढ़ते सभी हैं, पढ़ना भी चाहिए। यह बात अलग है कि प्रारम्भ में अधूरी जानकारी मिलती है किन्तु अधूरी जानकारी ही पूरी जानकारी के लिए प्रेरणा देती है इसलिए पढ़ना आवश्यक है। गीता कोई विरला महापुरुष जानता है और उनके संरक्षण में कोई विरला अधिकारी साधक ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं। आज गीता पर सैकड़ों टीकाएँ मिलती हैं, पचीसों मत हैं जिनकी आधारशिला गीता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक ही बात कही होगी, फिर एक ही शास्त्र को लेकर इतना विचार-विभिन्नता क्यों? वस्तुतः मनुष्य जिस वातावरण में पलता है उसका प्रभाव बुद्धि पर पड़ता ही है। अपनी बुद्धि के अनुसार ही लोग शास्त्र का आशय लगाते हैं। राजनीतिज्ञ के हाथ में गीता पड़ी तो कहा, "स्वदेशी कपड़ा बेचो, यही निष्काम कर्म है। विदेशी कपड़ा बेचना सकाम कर्म है।" रूढ़िवादियों के अनुसार, "जिसका जो पैतृक पेशा है वही उसका कर्म है।"– गीता यही कहती है। नेतागण कहते हैं, "जो कुछ हमारे सामने है उसे हम करें। यदि हम उसमें घूस लेते हैं तो सकाम कर्मयोगी हैं, नहीं लेते तो निष्काम कर्मयोगी हैं।" सेठ-साहूकार कहते हैं कि, "गीता में व्यवसाय को कर्म माना गया है।" यही कारण है कि शास्त्र तो एक ही उपदेश करता है परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उसे अपने परिवेश में ढाल लेता है। श्रीकृष्ण ने जिस क्षेत्र में युद्ध का चित्रण किया है, यह केवल वही जान सकता है जो श्रीकृष्ण की स्थिति के समीप अथवा उन्हीं की स्थिति वाला हो। साधन के क्रमिक उत्कर्ष द्वारा श्रीकृष्ण के स्तर तक पहुँचा हुआ पुरुष ही अक्षरशः बता सकेगा कि जब गीता कही गयी थी, उस समय श्रीकृष्ण के मनोगत भाव क्या थे? घर बैठे लेख पढ़कर हिमालय के दृश्यों की केवल कल्पना की जा सकती है, वास्तविक आनन्द के लिए तो हिमालय पर चढ़ना होगा। वहाँ पहुँचने पर आपके समक्ष भी वही दृश्य होगा जैसा आपने पढ़ा था। इसी तरह गीता योगदर्शन है, क्रियात्मक पथ है। केवल अध्ययन करके किंवा उसे कण्ठस्थ करके भी कोई गीता के रहस्यों को जान लेने का दावा नहीं कर सकता।

आपका प्रश्न है कि जिस कुरुक्षेत्र में लड़ाई हुई थी वह कहाँ है? कुछ लोग कहते हैं कि काशी और प्रयाग के बीच कुरुक्षेत्र है तो कुछ लोग उसे हरियाणा में बताते हैं। किन्तु गीता में ऐसा कुछ भी नहीं है। प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र ने पूछा--

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।। *(गीता, १/१)*

टीकाकारों ने इसका अर्थ बताया है कि संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? टीकाकार ने क्षेत्र का अर्थ भूमि कहा है जबकि शास्त्रकार का यह आशय नहीं था। जिन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने क्षेत्र का वर्णन किया, उन्होंने यह भी बताया कि वह क्षेत्र है कहाँ? **'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'** *(गीता, १३/१)*- अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है। जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, इसका संचालक है।

इस प्रकार शरीर ही वह क्षेत्र है जिसमें लड़ाई हुई। इसमें धर्म एक क्षेत्र है। कुरु एक क्षेत्र है। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र- मनुष्य में जब धृष्टता आ जाती है, वह देखते हुए भी नहीं देखता और जिनके हृदय में धृष्टता का राष्ट्र ही बसा हो उसे देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए धृतराष्ट्र अन्धा है। अज्ञान मोह को जन्म देता है। मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दुःशासन, कर्मरूपी कर्ण, विकल्परूपी विकर्ण, भ्रमरूपी भीष्म, द्वैत का आचरणरूपी द्रोणाचार्य, आसक्तिरूपी अश्वत्थामा और संशयरूपी शकुनि इत्यादि सभी आसुरी सम्पद् हैं। कुरुक्षेत्र- 'कुरु' अर्थात् करो! आज करते हो और अनन्त सृष्टि में करते जाओ। इन्हीं के बीच जीवरूपी विदुर फँसा है। जो है तो कौरवों की ओर किन्तु उसकी सीधी दृष्टि पाण्डवों पर है।

दूसरी ओर है धर्मक्षेत्र, जिसमें पुण्यरूपी पाण्डु है, कर्तव्यरूपी कुन्ती है। जब तक पुण्य साथ नहीं देता, तब तक मनुष्य कर्तव्य समझकर जो कुछ भी करता है, उसके बन्धन का कारण होता है, क्योंकि पुण्य जागृत हुए बिना कर्तव्य-अकर्तव्य का निदान नहीं हो पाता। इसलिए पाण्डु के साहचर्य के पूर्व कुन्ती ने जो कुछ पैदा किया वह था कर्ण। आजीवन कुन्ती के पुत्रों से लड़ता रहा। पाण्डवों या दैवी सम्पद् के लिए सबसे बड़ा घातक यदि कोई था तो वह था कर्ण। पुण्य जागृत होते ही धर्मरूपी युधिष्ठिर, भावरूपी भीम, अनुरागरूपी अर्जुन, नियमरूपी नकुल, सत्संगरूपी सहदेव का आविर्भाव हो जाता है। जहाँ सद्गुरुरूपी श्रीकृष्ण आत्मा से जागृत होकर शरीररूपी रथ के सारथी बनकर साधक का पथ-संचालन करते हैं। वे हजारों मील दूर रहें किन्तु जागृति के पश्चात् साधक के इतना समीप रहते हैं जितना हाथ, पाँव, नाक इत्यादि; बल्कि इससे भी समीप, क्योंकि वे तो आत्मा में ही संचारित होते हैं।

यही है धर्म का क्षेत्र, और वह परमधर्म परमात्मा ही है। श्रीकृष्ण कहते हैं, "यह आत्मा ही परमसत्य, सनातन और शाश्वत है।" ब्रह्म की भी तो यही परिभाषा है। आत्मा

अशोष्य है, अकाट्य है तो ब्रह्म की भी यही उपाधि है। तात्पर्य यह है कि दर्शन के पश्चात् आत्मा ही परमात्मा से अभिन्न हो जाती है किन्तु आत्मा को इस स्वरूप में सबने नहीं केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अतः उस परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति ही धर्मक्षेत्र है। श्रीकृष्ण कहते हैं--अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। जो इसका पार पा लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। वह इसमें फँसा नहीं बल्कि इसका संचालक है। वह आपके अन्दर भी संचालन-क्रिया पैदा कर सकता है और स्वयं तो पूर्ण है ही।

इस प्रकार इसी शरीररूपी क्षेत्र में दो प्रवृत्तियाँ अनादि हैं- एक दैवी सम्पद्, दूसरी आसुरी सम्पद्। इन्हीं को क्रमशः विद्या और अविद्या, कुरुक्षेत्र अर्थात् दूषित रूखवाला क्षेत्र और धर्मक्षेत्र अर्थात् परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाला क्षेत्र कहकर सम्बोधित किया गया। वस्तुतः शरीर ही एक क्षेत्र है। जब इसमें बहिर्मुखी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तब यही क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाता है। इसी शरीर में जब परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति सबल हो उठती है तो यही शरीररूपी क्षेत्र उस धर्म से संयुक्त हो जाता है, तब यही धर्मक्षेत्र कहलाता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का प्रारम्भिक जीवन! व्यक्ति वही है लेकिन सत्पुरुष का साथ हुआ तो **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना।'** ब्रह्म के समानान्तर स्थितिवाले हो गये।

यह मन है तो अन्धा! अज्ञान से आच्छादित रहता है। (अज्ञान भी मन का एक स्तर है) अतः अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र! धृतराष्ट्र है तो अन्धा किन्तु संयमरूपी संजय के माध्यम से यह देखता और समझता है। अज्ञान इसका सहज है। इसलिए पूर्तिपर्यन्त मन में संस्कार मात्र भी जीवित है, इसकी दृष्टि सदैव कुरुक्षेत्र की ओर रहेगी। अयुक्त मन को एक ही इन्द्रिय घसीटकर पतित कर देती है- **'मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।'** *(पञ्चदशी, ६/६८)* अतः पूर्तिपर्यन्त खतरा है-

हम जाने मन मर गया, मरा हो गया भूत।
मरते ही पुनि उठि लगा, ऐसा मना कपूत।।

'मुएहु मन मनसिज जागा' की उक्ति चरितार्थ होती है, ऐसा यह शत्रु है। इसलिए वह अन्धा अन्त तक दुर्योधन का पक्ष लेता रह गया। जबकि भली प्रकार जानता था कि पाण्डव सत्य पर हैं।

सैन्य निरीक्षण- सैन्य निरीक्षण भी युद्धस्थल के आध्यात्मिक स्वरूप को उद्भासित करता है। कौरवों की सेना ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डव पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना थी। दोनों पक्षों को मिलाने पर यह गणना साढ़े छः अरब के लगभग होती है। प्रायः उतनी, जितनी आज विश्व की जनसंख्या है। इतनी जनसंख्या कुरुक्षेत्र के सीमित मैदान

में कट गयी, जानकर आश्चर्य होता है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में ठीक ऐसा ही है। कौरव पक्ष में दस इन्द्रिय और एक मन यही ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। अक्ष दृष्टि को कहते हैं। मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टि से जिसका संचालन है वही है कुरुक्षेत्र, अविद्या की पार्टी। मन और इन्द्रिय यदि अपने विषयों की ओर उन्मुख है तो मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दुःशासन, काम, क्रोध, मद, लोभादि आसुरी प्रवृत्तियाँ रहेंगी ही। यही वह कुरुक्षेत्र है, इसी को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। दूसरी ओर योग की सात भूमिकामयी दृष्टि से जिसका गठन है वह है धर्मक्षेत्र, जिसमें अनुरागरूपी अर्जुन, कर्तव्यरूपी कुन्ती, भावरूपी भीम, धर्मरूपी युधिष्ठिर, सत्संग, नियम इत्यादि हैं। और सबके मूल में हैं सद्गुरुरूपी श्रीकृष्ण जो आत्मा से जागृत होकर रथी के रूप में पथ-संचालन करते हैं। इस प्रकार यह दैवी सम्पद् भी अनन्त हैं। दो दृष्टियों से सेनाओं का मूल्यांकन शास्त्रकार ने किया है, न कि वहाँ आमने-सामने कहीं कुछ खड़ा था।

वीरों का स्वरूप- इस क्षेत्र में स्थित वीरों का स्वरूप भी आध्यात्मिक ही है। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व दुर्योधन ने द्रोण से कहा कि अपने शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गयी पाण्डवों की सेना को देखिये! इन लोगों की यह सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है जबकि हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है, जिसमें समितिंजय, कृपाचार्य इत्यादि हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण पाण्डवों को जीत सकते हैं। वस्तुतः कृपा का आचरण ही कृपाचार्य है। इष्ट और अपने बीच यदि सूत भर अन्तर है तो साधक को कृपा का एक आचरण ही पराभूत कर देगा। "दया बिनु सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।।" सीताजी न दया करतीं, न लंका में भोगना पड़ता। लक्ष्यप्राप्ति के पूर्व साधक कृपा के आचरण में उलझा तो कृपाचार्य समितिंजय बन जायेंगे, पूरे दैवी सम्पत्ति पर विजय पा लेंगे। किन्तु प्राप्ति के पश्चात् कृपा तो योगी का स्वरूप है। किन्तु अधूरी अवस्था में कृपा भी खतरा है।

उत्साहवर्धन करते हुए दुर्योधन ने निर्देश दिया कि भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है अतः हमलोग सभी मोर्चों पर भली प्रकार रहते हुए भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। दुर्योधन संकेत करता है कि भीष्म चले गये तो फिर हमलोगों के लिए कोई चारा नहीं है। अतः भीष्म वह कौन-सी शक्ति है, जिसपर समग्र कौरव समूह निर्भर है? आप सब युद्ध न करें बल्कि भीष्म की रक्षा करें! वस्तुतः भ्रम ही भीष्म है। जब तक हमारे आपके भीतर भ्रम विद्यमान है, विकार अजेय हैं। जहाँ भ्रम का निदान हुआ तहाँ बन्धनकारक कर्म भी समाप्त हो जायेगा, मोह भी समूल नष्ट हो जायेगा।

भीष्म की एक विशेषता थी कि उनकी इच्छा-मृत्यु थी। **'इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया। कह कबीर जे इच्छाविवर्जित भ्रम नहीं तहँ भरमाया।।'** इच्छा ही काया और इच्छा ही माया है। इच्छा ने ही जगत् की उत्पत्ति की है। जब तक इच्छा है तब तक भ्रम तो जीवित रहेगा ही। इच्छा का अन्त नहीं दिखता किन्तु एक बिन्दु ऐसा भी है जहाँ जाकर इच्छा समाप्त हो जाती है और वह बिन्दु है- भगवत्प्राप्ति की इच्छा। भगवान अलग हैं और हम अलग हैं तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक है। किन्तु उनके प्राप्त होने पर उनसे श्रेष्ठ कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता, ऐसी अवस्था में वह इच्छा, वह भ्रम निर्मूल हो जाता है। यह भीष्म की इच्छा-मृत्यु का रहस्य था। प्राप्ति के साथ ही इच्छा सर्वथा निर्मूल हो जाती है।

भीष्म उत्तरायण की प्रतीक्षा करते थे। सुरा की ऊर्ध्वरेता स्थिति ही उत्तरायण है। इंगला-पिंगला जिनमें क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य का निवास है, ऐसी श्वास की गति सुरा है। वही जब प्रकृति से उपराम होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, ईश्वर में प्रवाहित होने लगती है, उस स्थिति में भीष्म सदा-सदा के लिए मर जाता है; क्योंकि भगवान में भ्रम तो होता ही नहीं।

दूसरी ओर दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है। भावरूपी भीम! भीम था तो सबसे बलवान्, किन्तु वह वृकोदर था। उसका स्थान था उदर। आज भरा है तो कल खाली। भाव का निवास भी तो हृदय ही रहता है। भाव सबसे शक्तिशाली भी है। **'भावे विद्यते देवा।'**- यदि भाव हो तो वह परमदेव परमात्मा भी विदित हो जाता है। **'भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।'** *(मानस)*- भाव में वह महान् शक्ति है कि भगवान को भी वश में कर लेता है। अब इससे बड़ी कौन-सी शक्ति होगी? किन्तु यह इतना नाजुक है कि आज भाव है तो कल अभाव में बदलते देर नहीं लगती। इसलिए दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित यह सेना जीतने में सुगम है। साधारण विघ्नों का धक्का लगते ही भाव मिट जाता है।

दोनों पक्षों की शंखध्वनि- तत्पश्चात् दोनों पक्षों की शंखध्वनियाँ हुईं जिससे युद्धक्षेत्र की अलौकिकता की पुष्टि होती है। शंखध्वनि का तात्पर्य अपने लक्ष्य का उद्घोष करना है कि यदि हम सफल हुए तो क्या कर दिखायेंगे, कौन-सी सुख-सुविधा देंगे। कौरवों की ओर से एक ही शंखध्वनि होती है। पितामह भीष्म ने सिंहनाद के समान गरजकर शंख बजाया। जंगल से आप गुजरें और खुले में शेर की गर्जना सुनाई पड़ जाय तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे। सिंह भय का प्रतीक है। भय प्रकृति में है, भगवान में नहीं। अतः भ्रमरूपी भीष्म यदि सफल होता है तो भय की और भी गहरी पर्तों पर आपको

खड़ा कर देगा। संसार में तो आप पहले से हैं ही, जिसमें भय ही भय है। भ्रम प्रबल होते ही आप भय से और भी अधिक प्रभावित हो जायेंगे। इससे आगे कौरवों की गति नहीं है। माया के हजार बन्धन हैं तो लाख हो जायेंगे, अनन्त हो जायेंगे, भय की ओर ही मात्रा बढ़ती जायेगी। इसके आगे और कोई घोषणा नहीं है। फिर कौरवों की ओर से कई बाजे बजे, नगाड़े बजे; किन्तु शंखध्वनि नहीं हुई।

तदनन्तर पाण्डवों की ओर से शंखध्वनि हुई। अलौकिक रथ (वह लौकिक रथ भी नहीं था कि चार पहियों या चार घोड़ों वाला रहा हो) पर बैठे हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया। इन्द्रियों की पंच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, जो प्रारम्भ में विकृत थीं) को 'जन' की श्रेणी में नियुक्त कर देना अन्तर्यामी सद्गुरु पर निर्भर करता है। सद्गुरु आत्मा से जागृत होकर इन पाँचों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमित कर उन्हें जन की स्थिति में ढाल देता है, उन्हें सेवक बना देता है। इन्द्रियाँ बाधक नहीं, सहयोगिनी बन जाती हैं। यह स्थिति सद्गुरु-कृपा की ही देन है। श्रीकृष्ण भी एक योगी ही थे, सद्गुरु थे। अर्जुन प्रणत होता है, **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'** *(गीता, २/७)*- भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ, धर्म के विषय में मोहित मैं आपकी शरण हूँ। वही उपदेश कीजिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। निःसन्देह अर्जुन एक शिष्य है और योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु के स्थान पर हैं।

'पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।'- अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। 'अनुरागरूपी अर्जुन।' यदि तीव्र अनुराग है तो साधक दैवी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, जो परमदेव परमात्मा में विलय करानेवाली है। इसीलिए अर्जुन का नाम धनंजय भी है। **'पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।'** *(गीता, १/१५)*- वृकोदर भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। भाव सफल होता है तो इष्ट में प्रीति और प्रवृत्ति होती है। यही पौण्ड्र है।

नकुल ने सुघोष नामक शंख बजाया। नियमरूपी नकुल। ज्यों-ज्यों आप नियम में प्रवृत्त होते जायेंगे, अशुभ का दमन और शुभ घोषित होता जायेगा। इसी प्रकार सहदेव ने 'मणिपुष्पक' शंख बजाया। सत्संगरूपी सहदेव! महर्षियों ने प्रत्येक श्वास को मणि की संज्ञा दी है- **'तेरी हीरा जैसी स्वाँसा, बातों में बीती जाय रे।'** पत्थर की मणि तो कठोर है जो बाहर मिलती है लेकिन यह श्वासरूपी मणि कुसुम सदृश कोमल है। आज है तो कल के लिए निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। श्वास टूट गयी तो सदा के लिए चली जाती है इसलिए बहुमूल्य है। अतः एक भी श्वास इष्ट के नाम से खाली न जाय। श्वास-प्रश्वास में गमन की क्षमता आ जाय, 'रिनक-धिनक धुनि अपने से उठे' तो

एक-एक श्वास मणि की श्रेणी में आ जाती है। श्वास-प्रश्वास की यह क्रिया सत्संग द्वारा जागृत हो जाती है और एक भी श्वास व्यर्थ न जाय, यह सत्संग पर निर्भर करता है। यदि सत्संग कामयाब होने लगता है तो उस मणि पर, श्वास-प्रश्वास पर अधिकार दिला देता है।

'अनन्त विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।' (गीता, १/१६)- 'युद्धे स्थिर सः युधिष्ठिरः।' इस आत्मिक संघर्ष में वही स्थिर रह पाते हैं जिनके अन्तःकरण में धर्म का संचार हो। धर्मरूपी युधिष्ठिर। परमधर्म परमात्मा ही है। धैर्यपूर्वक अभ्यास करते-करते साधक जब परमधर्म का स्पर्श पा जाता है अर्थात् धर्म जब हृदय में कामयाब हो जाता है तो **'अनन्त विजयम्'**- उस अनन्त, अखण्ड, व्यापक ब्रह्म पर विजय मिल जाती है। यह असम्भव से सम्भव हो जाता है।

लीजिए! कहीं 'अनन्त विजय', कहीं 'देवदत्त', कहीं 'पौण्ड्र', कहीं 'पांचजन्य' जैसे शंख बज रहे हैं और स्वयं सूत्रकार का कहना है कि सभी शंख, सभी घोषणाएँ दिव्य हैं, अलौकिक हैं, लौकिक नहीं। संसार के प्रति इनकी दृष्टि थी ही नहीं। अब आप ही बताइए कि यह कैसा युद्ध-क्षेत्र है?

अर्जुन विषाद- युद्धस्थल में अर्जुन ने कहा- भगवन्! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। मैं देख तो लूँ कि किनसे लड़ना है? श्रीकृष्ण ने रथ बीच में खड़ा किया तो अर्जुन काँपने लगा। उसे पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और सुहृद् दिखाई पड़े। अठारह अक्षौहिणी सेना में अर्जुन को पिता का परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पड़ा। क्या सब-के-सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे? नहीं, वस्तुतः भगवत्पथ में चराचर जगत् ही युद्ध के रूप में उपस्थित है। अतः यह कहना असम्भव है कि संख्या प्रमाण क्या है? दो दृष्टियों से सेना का विभाजन मात्र है। इनमें अर्जुन ने अपने परिवार और हितैषियों को ही खड़ा पाया। सबसे पहले अर्जुन ने उन्हें देखा और व्यग्र हो उठा। देखिए, अनुरागरूपी अर्जुन। अनुरागी जब इष्ट के पथ पर अग्रसर होता है तो पारिवारिक आसक्ति उसके समक्ष विकराल रूप लिये आती है। पूज्य परमहंसजी कहते थे, "मरब और साधू होब बराबर है।" मरना और साधू होना बराबर है। संसार में और कोई जीवित है भी किन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं, कभी नहीं। यदि कुछ भी आसक्ति बनी है तो उसका कल्याण नहीं होता, जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए इतना बड़ा प्रतिबन्ध है। मन से विस्मरण करना और मरना एक-जैसी ही बात है। सांसारिक बन्धन मन की कल्पना मात्र है। इन सम्बन्धों का विस्मरण भी मरण ही है।

चेतनारहित होने पर सभी सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। अतः साधक के लिए लौकिक स्नेह-सम्बन्धों का विस्मरण ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार साधक के समक्ष सर्वप्रथम यही समस्या रहती है कि अबोध बच्चों, मामा का परिवार, चाचा का परिवार, सगे-सम्बन्धियों का त्याग कैसे किया जाय? इनके प्रति भी तो कुछ धर्म होता है। इनका पालन-पोषण भी तो कर्तव्य है। यही तो सनातन कुलधर्म है। धर्म के नाम पर प्रायः ऐसी कुरीतियाँ सदा ही पनपती रही हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ तथा अद्यावधि ऐसी ही भ्रान्ति है कि स्पर्श करने या उनका एक ग्रास चावल खाने से, एक घूँट पानी पीने से सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। ऐसी ही एक कुरीति का शिकार अर्जुन भी था। वह भी इन्हीं की दुहाई देने लगा कि अपने ही परिवार का क्षय करने से वह कुलक्षय के दोष का भागी बनेगा और इस प्रकार सनातन-धर्म भी नष्ट हो जायेगा। वह यह नहीं कहता कि हम भूल कर रहे हैं बल्कि कहता है कि हमलोग महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं अर्थात् श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाता है कि आप भी पाप करने जा रहे हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन इस विषम स्थल में तुझे अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? विषम अर्थात् जिसकी समता का कोई स्थल है ही नहीं। जिस युद्ध की बात मैं कर रहा हूँ उसके समानान्तर कोई युद्धक्षेत्र ही नहीं है। कुलधर्म नष्ट हो जायेगा, यह अज्ञान की बात कैसी, क्यों? अर्जुन सनातन धर्म के लिए विकल था। क्या सनातन-धर्म की रक्षा की बात करना अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं- हाँ, अज्ञान ही है। न तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा इसका कभी आचरण किया गया, न संसार में कीर्ति बढ़ानेवाला है और न तो यह परमकल्याण ही करनेवाला है। सम्भावित पुरुषों ने जिसका आचरण नहीं किया, सिद्ध है कि वह अज्ञान ही है।

अर्जुन ने समर्पण कर दिया कि भगवन्! धर्म के विषय में मैं मूढ़चित्त हूँ। मैंने सुना है कि यही धर्म है। सत्य क्या है, मैं नहीं जानता। जो सत्य हो उसे आप मेरे प्रति कहिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। पृथ्वी अथवा त्रिलोकी के धन-धान्यसम्पन्न साम्राज्य के लिए भी मैं युद्ध नहीं करना चाहता। क्योंकि देवताओं का स्वामी होने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले इस शोक को दूर कर सके। इससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु हो तो आप उसे मेरे प्रति कहिए। विलक्षण था वह युद्धक्षेत्र, जो भौतिक उपलब्धियों के लिए नहीं वरन् उससे भी श्रेष्ठ स्थिति के लिए आपका आह्वान करता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि सत्य वस्तु का तीनों काल में अभाव नहीं है और असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अर्जुन! यह आत्मा ही परमसत्य है, यही सनातन है। अग्नि इसे जला नहीं सकती, वायु इसे सुखा नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता। शरीर के मरने पर भी यह मरता नहीं। यह अजर, अमर, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है और यही सनातन है। भौतिक क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाला कोई पदार्थ जिसका स्पर्श भी नहीं कर पाता, उसका नाम सनातन है, तो केवल खाने-खिलाने से, एक घूँट पानी पीने से वह सनातन नष्ट कैसे होगा? हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो सकती है, वह भ्रष्ट नहीं हो सकता। ऐसी ही शंकाओं का निराकरण श्रीकृष्ण ने गीतोक्त कुरुक्षेत्र में किया था और ऐसा ही था वह युद्धस्थल, जिसमें विकारों से लड़कर सनातन एवं अव्यय स्थिति की प्राप्ति का मार्ग सद्‌गुरु श्रीकृष्ण ने अनुरागी अर्जुन को बताया; केवल बताया ही नहीं, उस पर चला भी दिया।

प्रश्न- महाराजजी! कुरुक्षेत्र को आप विजातीय पार्टी कहते हैं लेकिन उस कुरुक्षेत्र में तो कौरव और पाण्डव दोनों ही सेनाएँ एकत्र हुई थीं।

उत्तर- कौन कहता है कि आध्यात्मिक कुरुक्षेत्र में दोनों सेनाएँ एकत्र हुईं। श्रीकृष्ण कहते हैं **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'**- धर्मक्षेत्र में और कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छावाले एकत्र हुए थे; इसे क्यों नहीं याद रखते? धर्म एक क्षेत्र है, कुरु एक अलग क्षेत्र है।

प्रश्न- क्या महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है?

उत्तर- ऐसी बात नहीं है कि महाभारत युद्ध नहीं हुआ। युद्ध अवश्य हुआ। महापुरुषों ने उस संघर्ष को दृष्टान्त बनाकर उसी के माध्यम से हृदय-देश में प्रकृति और पुरुष के बीच संघर्ष का चित्रण किया। घटना घटी न होती तो उदाहरण कहाँ से आते? महाभारत, गीता इत्यादि मात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं। श्लिष्ट एवं यौगिक शब्दों में लिखे गये इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक रहस्य अनुस्यूत हैं जिनपर चलकर विश्व का कोई भी मानव परमकल्याण की अनुभूति कर सकता है। यही मानव-तन की चरम उपलब्धि भी है।

वस्तुतः प्रत्येक शास्त्र की रचना दो दृष्टियों से हुआ करती है। तत्त्वज्ञ मनीषियों का यही चिरन्तन विधान रहा है। शास्त्रों की संरचना में उनके दो अभिप्राय रहे हैं, एक तो इतिहास को जीवित रखना, जिससे भावी पीढ़ी को संसार में जीवनयापन का मर्यादित मार्ग-दर्शन मिल सके। पिता-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता, सुहृद, मित्र तथा पूज्य गुरुजनों के प्रति आदर्श व्यवहार का प्रशिक्षण इन शास्त्रों के माध्यम से प्रदान करना मनीषियों का

प्राथमिक लक्ष्य रहा है किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से हमारे कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। इससे कल्याण की भूमिका अवश्य तैयार होती है किन्तु इतने से ही वह परमकल्याण सम्भव नहीं जो परमतत्त्व की उपलब्धि से होता है। आत्मिक पथ को प्रशस्त करना, यौगिक प्रक्रिया का सम्यक् जागरण कराना तथा उस पर मानव-मात्र को चलाना शास्त्र-रचना का मूल हेतु है। इस पहलू के निरूपण में उस घटित घटना को महापुरुष उदाहरण के लिए ले लेते हैं, जिसे साधक सरलता से हृदयंगम कर लेता है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञ मनीषियों ने रोचक, भयानक कथानकों के बीच-बीच में यथार्थ का भी संकेत किया जिससे अधिकारी उसे ग्रहण कर सकें और उस पर चलकर जन्म-मृत्यु की असह्य यातनाओं से छुटकारा पाकर परमश्रेय को प्राप्त कर सकें।

।। ॐ ।।

गीतोक्त युद्ध

प्रश्न– महाराजजी! गीता में युद्ध का स्वरूप क्या है?

उत्तर– देखिये, देश-विदेश में जहाँ जिसने गीता का नाम भी सुना है वह इतना अवश्य ही सोच लेता है कि गीता महाभारत युद्ध की प्रवेशिका मात्र है। इतना ही नहीं, गीता का नाम लेते ही मानव-मन युद्ध की ओर चला जाता है। परन्तु शास्त्रकार की सूक्ष्म दृष्टि पर विचार करें तो यह अकाट्य निर्णय है कि बाह्य युद्ध नहीं अपितु अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियों का संघर्ष है, इसलिए गीता योगशास्त्र है। सम्पूर्ण गीता में भौतिक संघर्ष अथवा मारकाट का एक भी सूत्र नहीं है।

१- अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। अठारह अक्षौहिणी में अपने ही परिवार, सुहृद् और गुरुजनों को देखकर वह युद्ध से कतराने लगा। सनातन-धर्म और कुलधर्म की दुहाई देने लगा। तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों की तरह वचन कहता भर है परन्तु पण्डित लोग जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी शोक नहीं करते; क्योंकि आत्मा न तो मरता है, न किसी को मारता है। कौन्तेय! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर हैं। इसलिए अर्जुन! तू उनको सहन कर।

क्यों? क्या हिमालय की लड़ाई थी जो अर्जुन सर्दी सहन करता? अथवा क्या रेगिस्तान की लड़ाई थी जो गर्मी सहन करता? कुरुक्षेत्र तो एक समशीतोष्ण स्थली है। कुल अठारह दिन ही तो लड़ाई हुई। श्रीकृष्ण ऐसा निर्देश क्यों देते हैं? वस्तुतः यह एक अन्तःकरण की लड़ाई है। सुख-दुःख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी इनका सहन करना एक योगी पर निर्भर करता है। अतः योग की प्रवेशिका वालों के लिये ही इसका विधान है।

२- तदनन्तर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं होता और सत्य का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं। यह आत्मा ही परमसत्य है और शरीर नाशवान् है, इसीलिए तू युद्ध कर। तो क्या पाण्डव-पक्ष के शरीर अविनाशी थे? वे भी तो शरीरधारी थे। इससे यह तो निश्चित नहीं होता कि अर्जुन कौरवों को मारे, पाण्डवों को नहीं। जिधर भी शरीर दिखायी पड़े, उधर ही मारना चाहिए था। फिर, जब शरीर नाशवान् है, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है तो श्रीकृष्ण किसकी रक्षा में खड़े हैं? अर्जुन कौन था? क्या कोई पिण्डधारी था? श्रीकृष्ण की ही मान्यता है कि नाशवान् शरीर के लिए श्रम करनेवाले यथार्थ नहीं जानते। इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु वृथा ही

जीते हैं। अतः यदि श्रीकृष्ण किसी की शरीर-रक्षा के लिए खड़े थे तब तो वे भी अविवेकी, पापायु और व्यर्थ जीनेवाले सिद्ध होंगे; क्योंकि शरीर को तो रोका नहीं जा सकता। अतः स्पष्ट है कि गीता सांसारिक युद्ध से सम्बन्धित नहीं है।

पुनः काटने से क्या शरीर कट जायेगा? टहनियों के काटने से क्या वृक्ष सूख जायेगा? असम्भव! वस्तुतः जो जिसको जितना दबाता है, बदले में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। यह शरीर भी जन्म-जन्मान्तरों में चुकाया जानेवाला बदला है। शस्त्र से काटने मात्र से शरीर-क्रम के समाप्ति की सम्भावना नहीं है क्योंकि शरीर संस्कारों पर निर्भर है। अतः शरीर का सर्वथा अन्त तभी होगा जब जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का अवसान होगा। तभी इस शरीर और आत्मा का सदा-सदा के लिए विच्छेद होता है। संस्कारों में जो कुछ भी है, संकल्पों में उभड़कर आता है। अतएव जिन महापुरुषों ने संकल्प-विकल्प की गति का निरोध कर लिया उन्होंने मन के सर्वथा निरोध के साथ ही अन्तःकरण में परमतत्त्व, शाश्वत, सनातन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पा लिया। **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'** उन पुरुषों द्वारा सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन के समत्व और संसार जीतने का क्या सम्बन्ध है? जिसने संसार जीत लिया वह रुका कहाँ? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**- ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी उत्थान करते-करते इतना निरुद्ध हुआ कि निर्दोष और समत्व की स्थितिवाला हो गया, अतः **'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।'** *(गीता, ५/१८)* वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी अवस्था में शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए टूटता है, इसके पूर्व कभी नहीं। अतः शरीर का वास्तविक नाश चिन्तन-भजन पर निर्भर करता है, न कि तलवार द्वारा काटने पर।

३- अध्याय दस में भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया कि अर्जुन! सप्तर्षि और उनसे भी पूर्व होनेवाले सनकादि चारों ऋषि मैं ही हूँ, सूर्य में प्रकाश मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ। इसी प्रकार विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा कि, अर्जुन! मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, अनन्त हैं। तुम्हें बहुत जानने से क्या प्रयोजन? जितनी भी ऐश्वर्ययुक्त वस्तुएँ हैं, मेरे ही अंश से उत्पन्न जान। जुए में छल से जीतनेवालों की विजय मैं हूँ। यदि यह साधारण जुआ है तब तो भगवत्प्राप्ति के साधनों में इसे भी गिना जाता क्योंकि जीतने पर भगवान मिलते; किन्तु सम्पत्ति चाहे जो मिल जाय, जुए से भगवान मिलते किसी को दिखायी नहीं पड़े। वास्तव में प्रकृति ही एक जुआ है, धोखे का एक आवरण है। विवेक-वैराग्य से, सतत लगनपूर्ण साधना से ब्रह्मज्ञ पुरुषों के संरक्षण से जो भी प्रकृति पर विजय

पा लेता है उसी की विजय सच्ची विजय है। इसी विजय के अन्त में भगवान रहते हैं, न कि साधारण जुए के अन्त में। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने कहा, मैं सबमें व्याप्त हूँ।

इसे सुनकर ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने कहा, "भगवन्! आपने जो कुछ कहा सर्वथा सत्य है, मैं मानता हूँ। इसे सुनकर मेरा अज्ञान, मोह नष्ट हो गया।" क्या वस्तुतः अर्जुन का मोह नष्ट हो गया था? क्योंकि इसी के ठीक पश्चात् भगवान के विराट् स्वरूप का दर्शन कर अर्जुन गिड़गिड़ाने लगा। कहीं ज्ञानी को भय होता है? अर्जुन को अभी तक कोरी सैद्धान्तिक जानकारी ही थी। अर्जुन भी इस बात को जानता था। अतः उसने प्रार्थना की कि, भगवन्! जैसा आपने बताया है, बल, ऐश्वर्य और विभूतियों से परिपूर्ण आपके उस स्वरूप को मैं देखना चाहता हूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त, अनन्य सखा अर्जुन से कहा--ले, तू मेरे उसी स्वरूप को देख। अब, आकाश से पाताल तक सर्वत्र फैले हुए मेरे तेज को देख! मेरे ही अन्तर्गत आदित्यों, वसुओं और अश्विनीकुमारों को देख! मरुद्गणों को देख! चराचरसहित सम्पूर्ण विश्व को मेरे अन्तराल में एक ही स्थान पर खड़ा देख! इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-तीन श्लोक तक बताते चले गये लेकिन अर्जुन आँखें मलता ही रह गया। तब सहसा भगवान रुक जाते हैं। कहते हैं--अर्जुन! तू मुझे इन आँखों से नहीं देख सकता (क्योंकि भगवान तो अगोचर हैं, मन-बुद्धि से सर्वथा परे हैं।) अब मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ कि तुम मुझे देख सको।

भगवान तो सामने खड़े ही थे। अर्जुन ने देखा। सहस्रों (अनन्त) सूर्य से भी अधिक उनके तेज को देखा। सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ा। अर्जुन को दिग्-भ्रम हो आया (क्योंकि सूर्य से तो ही दिशा का बोध होता है)। वह बोला- भगवन्! आपका यह असह्य तेज देखकर मैं दिशाओं को भी नहीं जान पा रहा हूँ- 'दिशो न जाने'। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से आप को जानते हैं। आप जिसे जना दें वही आपको जान पाता है। वस्तुतः भगवान जिस भक्त को बताना चाहते हैं उसके अन्तराल में स्वयं दृष्टि बनकर सामने स्वयं खड़े हो जाते हैं। केवल वही देख पाता है, अन्य कोई नहीं।

अर्जुन ने बताया--आपके अन्तर्गत मैं चराचर जगत् को स्थित देखता हूँ। रुद्र, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगणों के समुदाय सभी आपके अन्तराल में स्थित हैं। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण सबके सब बड़े वेग के साथ आपके भयानक मुखों में चूर्ण होते जा रहे हैं। न मैं आपके आदि को देख पाता हूँ, न अन्त को ही देख पाता हूँ और न मध्य का ही निर्णय कर पाता हूँ। रोमांच हो गया, धनुष गिर गया। प्रार्थना करने लगा--"भगवन्!

भोजन अथवा शयन के समय, एकान्त अथवा सखाओं के बीच मैंने कभी आपको 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा!'-ऐसा कुछ कह दिया था, उन त्रुटियों को आप क्षमा करें।"

छोटी-छोटी बातों के लिए अर्जुन क्षमा-याचना करने लगा। कभी 'कृष्ण' अर्थात् काला कह दिया था। क्या कृष्ण कहना भी कोई अपराध है? कृष्ण का रंग साँवला था ही, गोरे कैसे कहे जाते? यादव कहना भी कोई अपराध नहीं था; क्योंकि यदुवंश में श्रीकृष्ण ने जन्म ही लिया था। और कहा भी क्या जाता? सखा कह देना भी अपराध नहीं था क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन को सखा कहकर सम्बोधित करते थे; किन्तु जब अर्जुन ने उनके प्रभाव को देखा तो इन क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा। उसने देखा कि श्रीकृष्ण न तो काले हैं, न गोरे हैं, न यादव हैं और न सखा ही बल्कि यह तो परात्पर ब्रह्म अव्यक्त सत्ता हैं। जिस पर दया करते हैं उसी को दिखाई पड़ते हैं। इधर दृष्टि बनकर खड़े हो जाते हैं उधर स्वयं रहते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने श्रीकृष्ण को तत्त्वतः देखा।

भगवान बोले, "अर्जुन! मेरे स्वरूप को जैसा तूने देखा है वैसा तेरे सिवाय **'न दृष्टपूर्वम्'**- न तो कोई पहले देख पाया है और न कोई भविष्य में देख सकेगा।" तब तो गीता हम सबके लिए व्यर्थ है; क्योंकि भगवान को देखने की योग्यता केवल अर्जुन तक सीमित रह गयी। स्वयं श्रीकृष्ण पहले बता आये हैं कि इसी कर्म को करके बहुत से मनीषी मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं--**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।** *(गीता, ४/१०)*। यहाँ ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि मेरे स्वरूप को पूर्व में तेरे अतिरिक्त न कोई देख पाया, न भविष्य में कोई देख सकेगा। अन्ततः श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं? अर्जुन कौन था? 'अनुरागरूपी अर्जुन!' अर्जुन अनुराग का प्रतीक है। कहना न होगा कि भगवान अनुरागी को ही मिलते हैं--

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।
किये जोग तप ज्ञान बिरागा।। *(मानस, ७/६१/१)*

इष्ट के अनुरूप राग अनुराग है और अनुरागी ही अर्जुन है। अनुरागविहीन न तो पहले ही किसी ने भगवान को प्राप्त किया और न भविष्य में ही कभी कोई प्राप्त कर सकेगा। भगवान **'अनुरागिन के उर बसैं, उदासीन के शीश।'**

४- इतना ही नहीं अपितु श्रीकृष्ण ने अपनी प्राप्ति का उपाय भी बताया-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। *(गीता, ११/५५)*

अर्जुन! जो मेरे द्वारा निर्धारित कर्म करता है, मेरे परायण होकर कर्म करता है, किन्तु **'संगवर्जितः'**- संगदोष के रहते इस कर्म को नहीं किया जा सकता; अतः संगदोष

से अलग रहकर जो कर्म करता है, जो सम्पूर्ण भूत-प्राणियों से सर्वथा वैरभाव से रहित है, वही मुझे देख सकता है, जैसा तूने देखा है। संगदोष से रहित होकर नितान्त एकान्त में अर्जुन किससे लड़ता? फिर यदि अर्जुन लड़ता तो वह भगवान के स्वरूप को नहीं देख पाता। यदि वह प्रण करके जयद्रथ या कर्ण को मारता है तो 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' की भगवद् आज्ञा का तिरस्कार करता है। किन्तु अर्जुन लड़ता है। बिना वैर के लड़ाई कैसी? इस प्रकार गीता में एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जो बाह्य मारकाट का समर्थन करता हो। वस्तुतः यह अन्तःकरण की लड़ाई है।

५- अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण ने बताया- अर्जुन! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं। एक तो देवों-जैसा और दूसरा असुरों-जैसा। अभय, अन्तःकरण की स्वच्छता, इन्द्रियों का दमन, आर्जवम्, क्षमा, दया, अद्रोह, निरन्तर चिन्तन, वास्तविक जानकारी इत्यादि चौबीस लक्षण दैवी सम्पद् के गिनाये, जो सब-के-सब किसी पहुँचे हुए महापुरुष में ही सम्भव हैं। आंशिक रूप में आप में, हममें भी हो सकते हैं। इसी तरह दम्भ, दर्प, मात्सर्य, काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त मनुष्य अनन्त आशा, अनन्त तृष्णा एवं अपरिमेय चिन्ताओं से युक्त रहता है। वह सोचता है कि मेरे पास इतना धन है, भविष्य में इतना हो जायेगा। मैं ही ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। स्त्री-पुरुष के संयोग से जो कुछ उपलब्ध है, मात्र इतना ही सत्य है, आगे ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। "आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों के लिए होती है जबकि दैवी सम्पद् परमकल्याण और शाश्वत स्थिति के लिए होती है। पाण्डव! तू शोक मत कर क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है, तू मुझमें निवास करेगा।" सुधीजनों से कहने की आवश्यकता नहीं है कि दैवी सम्पदा की सभी योग्यताएँ ईश्वरोन्मुख साधकों के लिए है, न कि किसी सांसारिक योद्धा के लिए।

इसी क्रम में श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष विचार करता है, "वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रु भी भविष्य में मेरे द्वारा मारे जायेंगे।"- ऐसा सोचनेवाला अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाला है। उस आत्मा और मुझ परमात्मा के बीच प्रकृति की परतें पड़ती जाती हैं, वह मुझ परमात्मा से दूर हो जाता है। ऐसे क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार अधोगति और नीच योनियों में ही गिराता हूँ।" इतनी स्पष्ट चेतावनी सुनकर भी क्या अर्जुन लड़ता? यदि अर्जुन प्रण करके जयद्रथादि किसी को लड़ाई में मारता तो वह भी अधोगति और नीच योनियों का पात्र होता। फिर तो आसुरी योनियों में जाना चाहिए था, जबकि

भगवान स्वयं कहते हैं कि, "अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा।" अर्जुन यदि लड़ता तो परमकल्याण को न पाता, भगवान को न पाता। खुले हुए नरक का द्वार देखकर भी क्या कोई लड़ेगा? कभी नहीं। मूर्ख भले ही लड़े किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण का शिष्य तो कभी नहीं लड़ेगा। अतः पूरी गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो बाह्य मारकाट का समर्थन करे। संसार में झगड़े होते रहते हैं लेकिन जो जीतता है विजय उसकी भी नहीं होती। जब शरीर ही नाशवान् है तो शरीर के उपयोग की वस्तु कब तक साथ देगी? संसार में होनेवाली लड़ाई तो बदले हैं जिसमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार चुकाये जाते हैं। वास्तविक युद्ध तो अन्तःकरण की लड़ाई है, जिसमें एक बार जीत लेने पर हारने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

६- अध्याय आठ में श्रीकृष्ण ने कहा--"अर्जुन! प्रयाणकाल में मनुष्य जिसका स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है प्रायः उसी को प्राप्त होता है और जो पुरुष अन्तकाल में मेरा चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है वह साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।" तब तो बड़ा सस्ता सौदा है। जनम भर मौज करें, मस्ती काटें, जब मरने लगेंगे तो भगवान का स्मरण कर लेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं ऐसा हो ही नहीं सकता। उस समय स्मृति भ्रमित रहती है, बुद्धि विकल रहती है। नवीन विचार आ ही नहीं सकते। आजीवन जिस भाव का अभ्यास रहता है, अन्तकाल में भी वही चिन्तन अनायास खड़ा हो जाता है। अतः अर्जुन! तू आज से ही मेरा चिन्तन कर। कल तो कभी आता ही नहीं। यदि करता है तो आज से ही कर और युद्ध भी कर।

अब निरन्तर चिन्तन और युद्ध कैसे सम्भव है? हो सकता है कि हम डण्डा फेंकते रहें; वाण चलाते रहें और 'जय कन्हैया लाल की' 'जय भगवान' कहते जायँ। किन्तु नहीं; इस प्रकार के चिन्तन से काम नहीं चलेगा। उस चिन्तन का विधान भी स्वयं श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में स्पष्ट करते हैं- **'अभ्यास योगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।'** *(गीता, ८/८)*- अर्जुन! उस चिन्तन का विधान है कि परम वैराग्य में स्थिर होकर, संगदोष से अलग रहकर, एकान्त-देश का सेवन करते हुए, इन्द्रियों को विषयों से भली प्रकार समेटकर, चित्त को सब ओर से खींचकर मुझमें लगाये। सिवाय मेरे किसी दूसरे विषय-वस्तु का चिन्तन न करते हुए मेरा निरन्तर चिन्तन करे।" इस प्रकार भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का चिन्तन न आये। यदि आता है तो भजन नहीं है। एकान्त-देश में जहाँ साधक के अतिरिक्त कोई नहीं है, युद्ध किससे होगा? पुनः चिन्तन की विधि इतनी सूक्ष्म है कि इष्ट के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का स्मरण तक न हो। मान लीजिए कि आपके सामने रखी वस्तु ही श्रीकृष्ण है तो उनके सिवाय पृथ्वी, गिलास,

पुस्तक, 'मैटर' क्षेत्र की कोई भी वस्तु ध्यान में आ जाय तो चिन्तन नहीं है। जब चिन्तन इतना सूक्ष्म है तो युद्ध कैसे होगा। जिसकी आँखें बन्द हैं, दृष्टि स्थिर है, तो चित्त को सब ओर से समेटकर जिसने इष्ट में लगा रखा है, वह लड़ेगा कैसे? साधारण लड़ाई में तो शत्रु की गतिविधि क्षण-क्षण पर परखते रहते हैं। ध्यानस्थ व्यक्ति युद्ध किस प्रकार करेगा? अतः गीता साधारण युद्ध का उद्बोधन नहीं है।

वस्तुतः जब साधक चिन्तन में अग्रसर होता है, चित्त को सब ओर से समेटकर इष्ट में निरोध करने लगता है तो मायिक प्रवृत्तियाँ बाधा के रूप में प्रत्यक्ष हैं। मन उड़ने लगता है। इन मायिक प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। वास्तविक युद्ध तो इस आध्यात्मिक क्रिया में ही है इसीलिए अर्जुन प्रश्न उठाता है कि, भगवन्! इस मन को मैं वायु से भी तेज चलनेवाला पाता हूँ। इसका रुकना तो असम्भव ही है। श्रीकृष्ण उसे उत्साहित करते हैं, **'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।'** अर्जुन! इसमें कोई संशय नहीं कि मन बड़ा दुर्जय एवं चंचल है। बड़ी कठिनाई से वश में होनेवाला है; किन्तु **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'** *(गीता, ६/३५)*- अभ्यास और वैराग्य द्वारा अयुक्त मन को भी निरुद्ध किया जा सकता है। मन को एक स्थान पर बार-बार सब ओर से समेटने का नाम अभ्यास है और वैराग्य का आशय है- देखी और सुनी विषय-वस्तुओं में राग का सर्वथा त्याग। जहाँ भी चित्त जाय, वहाँ से समेटकर इष्ट में लगाने का नाम ही अभ्यास है। दीर्घकाल तक अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह मन शनैः-शनैः निरुद्ध होते-होते सर्वथा रुक जाता है। अतः अर्जुन! तू अभ्यास कर। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने चिन्तन का जो स्वरूप बताया उसके लिए वैराग्य और अभ्यास ही एकमात्र माध्यम है जिसमें चित्त को सब ओर से समेटकर केवल इष्ट में लगाना होता है।

इसी रहस्य की ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण गीता के तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक में कहते हैं कि, अर्जुन! **'अध्यात्म चेतसा'**- ध्यानस्थ चित्त से **'युद्धस्व'**- युद्ध कर। यदि चित्त ध्यान की ओर उन्मुख है, आँखें बन्द हैं, सुरत की डोर लग रही है तो युद्ध किससे होगा? किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- युद्ध कर। वस्तुतः सुरत की डोर लगाते समय जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार उभरकर सामने आते हैं। संग-दोषजनित वर्तमान का दोष, यहाँ तक कि कुछ क्षण पूर्व का टकराव भी दृश्य बनकर सामने आता है। इन विजातीय संकल्पों का पार पाना ही युद्ध है अन्यथा जिसका चित्त ध्यान में केन्द्रित है वह भला किससे लड़ेगा?

७- इसी सन्दर्भ में इन शत्रुओं पर भी विचार कर लिया जाय जिनसे लड़ना है। तीसरे अध्याय में अर्जुन ने पूछा- भगवन्! जो कुछ आप कहते हैं, यदि वह सत्य है,

फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? श्रीकृष्ण ने बताया, **'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।'** *(गीता, ३/३७)*- अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही इस रास्ते के महान् शत्रु हैं। यही ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करनेवाले तथा ज्ञानियों के निरन्तर के शत्रु हैं। इन्द्रियाँ और मन इनके निवास-स्थान हैं। इसलिए भरतर्षभ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके कामरूपी इस दुर्जय शत्रु को मार। जब शत्रु अन्दर है तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? अतः यह अन्तःकरण की लड़ाई है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है। अंतःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। एक परमकल्याण करनेवाली है तो दूसरी अधोगति की ओर ले जानेवाली है। जब साधक चिन्तन द्वारा दैवी सम्पद् की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इसका पार पाना ही युद्ध है।

८- शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण बताते हैं कि संसार ही एक शत्रु है। **ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।** *(गीता, १५/१)*- संसार पीपल का वृक्ष है। जिसमें ऊपर आत्मा ही मूल है, नीचे प्रकृति ही शाखाएँ हैं। यह अविनाशी भी है। जो इसे जानता है वह वेद के तत्त्व का ज्ञाता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। *(गीता, १५/२)*

अर्जुन! इस संसार-वृक्ष की तीनों गुणरूपी जल के द्वारा बढ़ी हुई शाखाएँ, विषय-भोगरूपी कोपलें देव, मनुष्य और तिर्यक् योनियों में सर्वत्र फैली हुई हैं। अन्य योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है। इसीलिए देवता भी मानव-तन से आशावान् हैं। अतः मानव-तन अति दुर्लभ है। इस मानव-योनि में कर्मों के अनुसार बाँध लेनेवाली अहम् और ममतारूपी जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। अतः इस संसाररूपी शत्रु को असंगतारूपी शस्त्र से काट! यहाँ संसार ही एक शत्रु है।

९- छठें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह आत्मा ही अपना शत्रु और मित्र है, विश्व में और कोई शत्रु या मित्र नहीं है। जिस पुरुष द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और अधम योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः अर्जुन! तू अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार कर। यहाँ काम शत्रु, क्रोध शत्रु, संगदोष शत्रु, संसार शत्रु तथा इन्द्रियों के अधीन रहनेवाली आत्मा

को भी शत्रु कहा गया है। हिन्दू शत्रु, मुसलमान शत्रु, ईसाई शत्रु या राज्य हड़पनेवाले को शत्रु नहीं कहा गया। जब शत्रुओं का यही स्वरूप है तो कोई बाहर किसी से क्यों लड़ेगा? जब शत्रु घर में है तो बाहरवालों से लड़ना कौन-सी बुद्धिमानी है?

दुनिया में झगड़े होते रहते हैं। आज जीते तो कल हारे! विश्व-विजय का सपना देखनेवाला सिकन्दर भी आहें भरता रह गया। संसार नश्वर है। यदि इतने के लिए ही कोई सिर पीटता है तो सिद्ध है कि वह अविवेक से आवृत्त है। जो स्वयं नश्वर है, उसमें हम ढूँढ़ क्या रहे हैं? वहाँ विजय कहाँ? वास्तविक युद्ध इस आध्यात्मिक प्रक्रिया में है जिसमें एक बार विजय पा लेने पर पुनः कभी हार नहीं होती। इस प्रक्रिया में मन के निरोध के साथ ही संसार का निरोध हो जाता है, संस्कारों का निरोध हो जाता है। मनसहित इन्द्रियों के निरोध होते ही आत्मा अनुकूल और विदित हो जाती है। उस दिग्दर्शन के साथ ही जीवात्मा उस परमतत्त्व में प्रवेश पा जाती है, विलय हो जाती है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता। यह ऐसी विजय है जिसके पीछे कभी हार नहीं होती।

क्रमशः साधना के सही दौर में पड़कर अनुभवी महापुरुष के संसर्ग और कृपाप्रसाद से जब हृदय में यौगिक क्रिया जागृत हो गयी, वे प्रेरक अभिन्न होकर, आत्मा से रथी बनकर रथ-संचालन करने लगें तो क्रमशः चलाते-चलाते, प्रकृति की भँवर से निकालते हुए साधक को अपने समकक्ष उसी स्थान पर खड़ा कर देंगे जहाँ से फिर पीछे लौटकर जीवात्मा आवागमन में नहीं आती। यह ऐसी विजय है, जिसके पश्चात् काल, कर्म और प्रकृति पर विजय मिल जाती है। साधक पुरुषत्व में चेतन का प्रतिबिम्ब पा लेता है। फिर तो काल, कर्म और प्रकृति उस पुरुषत्व में विलीन हो जाती है। इस स्तर पर पहुँचकर साधक स्वयं कल्याणस्वरूप, एकरस, अविनाशी, अव्यक्त और स्रष्टा का प्रतिबिम्ब पा जाता है। यही इस आध्यात्मिक युद्ध का परिणाम है। उस प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों ने निर्णय पाया कि **'ॐ ईशावास्यमिदँ्सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'** *(ईशा.उप. मन्त्र १)*- सर्वत्र ईश्वर का वास है। दूसरे शब्दों में, किंचित् मात्र भी जगत् है ही नहीं, तो कोई नष्ट कहाँ होगा? गड्ढा है ही नहीं तो कोई गिरेगा किसमें? अतः पूर्णता प्राप्त कर लेने पर पुनरावर्तन का विधान नहीं है। यही शाश्वत विजय है। वास्तव में गीता अन्तःकरण की लड़ाई है। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद् कल्याण के लिए है तो आसुरी सम्पद् नीच योनियों में ले जानेवाली होती है। साधक जब परमतत्त्व की ओर, विद्या की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इन प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। बाहरी मार-काट गीता का अभीष्ट नहीं है। ।। ॐ ।।

सनातन-धर्म (हिन्दू-धर्म)

प्रश्न- महाराजजी! आजकल हिन्दू-धर्म में अनेक रूढ़ियाँ, अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। सभी अपने को सनातनधर्मी कहते हैं। कृपया बताया जाय कि सनातन धर्म क्या है?

उत्तर- धर्म में समय-समय पर भ्रान्तियाँ पनप जाया करती हैं। सनातन-धर्म के नाम पर भी पनपती आयी हैं; किन्तु उन युगों में भी ऐसे महापुरुष होते आये हैं जो उस दलदल से समाज को निकालकर प्रशस्त पथ पर खड़ा कर देते हैं। भगवान राम ने यही किया। श्रीकृष्ण ने यही किया। बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, नानक, तुलसी सभी ने यही किया। आज भी कुछ रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, भले ही उनका स्वरूप कुछ दूसरा है।

आज भी अधिकांश तथाकथित सनातनधर्मी नहीं जानते कि वस्तुतः सनातन-धर्म है क्या? देखा जाता है कि कोई पीपल की पूजा करता है, कहता है- सनातन-धर्म है। भूतों की पूजा, वह भी सनातन-धर्म, देवी-देवताओं की पूजा भी सनातन-धर्म, तीर्थों की पूजा भी सनातन-धर्म मानी जाती है। यहाँ तक कि तैंतीस करोड़ देवताओं की गणना किसी समय में हुई थी और अब भी वे पनपते, बढ़ते जा रहे हैं। भुइयाँ रानी, सन्तोषी माँ जैसी देवियों का सृजन होता जा रहा है। चित्रकूट क्षेत्र में लोमड़ी के बिल की पूजा होती है। एक विशेष पर्व पर कोल-भील उसकी पूजा करते हैं। मजीरा लेकर बिल के चारों ओर नाचते-कूदते गाते हैं- **'लोहखरी के बिल से निकली भवानी लपलप टेबरी खाइयो माँ!'** अर्थात् लोमड़ी के बिल से भवानी निकलेगी और जो नैवेद्य (उबला हुआ महुआ) हम अर्पित करेंगे, वह लपलप सेवन करेगी और बदले में हम लोगों का कल्याण-साधन जुटायेगी।

इसी प्रकार नाग-पूजा, बैल-पूजा, हाथी-पूजा तथा कुत्ते की भी पूजा होती है। तुकाराम नामक एक मस्त महात्मा थे। एक बार उन्होंने भगवान को भोग लगाने के लिए भोजन तैयार किया। इतने में एक कुत्ता रोटी लेकर भाग चला। तुकाराम ने सोचा कि भगवान का भोग कुत्ता नहीं खा सकता। सिद्ध है कि भगवान ही कुत्ते का रूप धारण करके आये हैं। बस, घी का कटोरा लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ पड़े कि- महाराज! रोटी सूखी है। आपके गले उतरेगी कैसे? घी तो लगा देने दें। भावावेश में दौड़ते रहे। वही तुकाराम बड़े अच्छे सन्त हुए। लोगों ने पूछा-महाराज! रोटी कौन ले गया था? तुकाराम बोले- विट्ठल भगवान ले गये। उसी दिन से कुत्ते की पूजा आरम्भ हो गयी। यह पूजन उन्होंने चलाया नहीं था, वे तो अपने भावावेश में थे।

गुरु गोविन्द सिंह ने परिस्थितियों से बाध्य होकर एक बाज पाला, जो इस बात का प्रतीक था कि जैसे एक बाज पक्षियों के झुण्ड पर टूट पड़ता है वैसे ही प्रत्येक बहादुर को बनना चाहिए। केवल इस प्रेरणा के लिए उन्होंने बाज को माध्यम बनाया था। उनके पश्चात् अब सिख जहाँ बाज देख लेते हैं, उसके सम्मान की भावना लोगों में उभर आती है। इस प्रकार महापुरुषों के नकल पर भी अनेक रूढ़ियाँ पनप जाया करती हैं।

प्रारम्भ में शास्त्रार्थ और दिग्विजय ही विद्वता का प्रमाणपत्र था। शास्त्र तो नपे-तुले हैं, उनपर कितना विवाद हो? शास्त्र के श्लोक कम पड़ने लगे तो गढ़े जाने लगे। किसी ने पूछा कि ये श्लोक किस शास्त्र के हैं, तो उत्तर मिला कि ब्राह्मण विद्वान् स्वयं रचयिता हैं, हमने स्वयं बनाये। दिग्विजय उन्हें मिली। श्लोक बनाने की परिपाटी ही चल निकली। मान्यताएँ बदलीं कि केवल वाणी के विवाद से क्या होता है? आचरण होना चाहिए। शास्त्रार्थ के साथ किसी ने सूर्य को एकटक देखा, कोई एक टाँग पर खड़ा रहा, कोई काँटे पर सो रहा, दिग्विजय उन्हें मिली। तपस्या का वास्तविक रूप न जाने कितनी दूर छूट गया। चमत्कारों से रूढ़ियों को बल मिला।

शिक्षा के अभाव में भी भ्रान्तियाँ जुड़ती गयीं। उस समय स्त्रियों और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। वैश्यों को अधिकार तो था किन्तु चारों वर्णों की उदरपूर्ति के रोजगार से अवकाश कहाँ? चारणों ने क्षत्रियों की झूठी प्रशंसा से उन्हें अकर्मण्य बना दिया। सम्मान मिलता ही है तो क्यों पढ़ें? शिक्षा-दीक्षा केवल ब्राह्मणों की वस्तु रह गयी। आज की तरह उनकी पढ़ाई की जाँच करनेवाला कोई बोर्ड भी नहीं था। मनुस्मृति का उल्लेख है कि ब्राह्मण को बासी नहीं खाना चाहिए; किन्तु खोवे से बनी वस्तु या घी से निर्मित पकवान को घी मिलाकर, तलकर खा सकते हैं। वाह! हम मालपुआ खायें और हमारी हजारों पीढ़ी मालपुआ छानें। उस समय उन्होंने अपनी भावी विनाश को नहीं देखा; आज सभी अपना तेज भूल बैठे हैं। दोष उनका भी नहीं था। स्वच्छन्द हो जाने पर ऐसी भूलें होती ही हैं। उनके स्थान पर जो भी जाति होती वह भी यही सब करती।

अरबवालों का भारत पर आक्रमण हुआ। हिन्दुओं का भोजन चल रहा था कि एक मुसलमान उधर से आ निकला। कुहराम मच गया कि एक यवन ने चौके में पाँव रख दिया। पण्डितजी ने निर्णय दिया कि धर्म तो नष्ट हो गया। वे लोग दस फुट की दूरी पर भोजन कर रहे थे लेकिन धर्म नष्ट हो गया। उनके राम-कृष्ण सदा के लिए परिलुप्त हो गये। वे या तो अल्लाह-अल्लाह कहने लगे या आत्महत्या करके मर गये। धर्म के लिए वे मरना जानते थे, मिटना जानते थे लेकिन यह नहीं जानते थे कि धर्म है क्या? धर्म तो हो गया छुईमुई। हम तो जहर से नष्ट होंगे, शस्त्र से नष्ट होंगे लेकिन धर्म पाँव

रखने से नष्ट हो गया। छुईमुई तो छू जाने पर मुरझाती है और हाथ हटाते ही पुनः विकसित हो जाती है किन्तु यह धर्म बिना छुए ही नष्ट हो गया और ऐसा नष्ट हुआ कि कभी भी विकसित नहीं होगा।

हिन्दुओं की इन कमजोरियों से मुसलमान अवगत थे। उन्होंने पाया कि हिन्दुओं को मारने की आवश्यकता नहीं है। केवल इनकी कमजोरियों का अध्ययन करो और उन्हीं स्थलों का स्पर्श करो, वे स्वतः चींख-चिल्लाकर कहेंगे कि अब क्या करें? धर्म तो नष्ट हो गया! वे स्वतः मुसलमान होने के लिए बाध्य हो जायेंगे; क्योंकि हिन्दू समाज फिर उन्हें स्थान नहीं देगा। हमीरपुर जिले में ऐसे ही पैंसठ गाँव मुसलमान हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी थे। तीन-चार मुसलमान योजनाबद्ध होकर अर्धरात्रि में गाँव के एकमात्र कुएँ के आसपास छिप गये। उन्होंने सोचा कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण यहाँ सबसे पहले स्नान करने आयेगा। आते ही पण्डितजी को उन्होंने पकड़ लिया। उनके सामने कुएँ का पानी खींचा, पीया और कुएँ में डाल भी दिया। पण्डितजी को दिखाकर रोटी का एक टुकड़ा भी उन्होंने कुएँ में डाला और पण्डितजी को अपने यहाँ ले जाकर एक कोठरी में बन्द कर दिया। चौबीस घंटे पश्चात् उन लोगों ने पण्डितजी से पूछा, 'कुछ भोजन करेंगे?' पण्डितजी बोले, "कैसी बात करते हो। मैं ब्राह्मण हूँ, तुम यवन हो। तुम्हारा भोजन मैं कैसे कर सकता हूँ?" मुसलमानों ने पण्डितजी को छोड़ दिया। वे घबराये से गाँव में पहुँचे, पूछा-"कुएँ का पानी तो किसी ने नहीं पी लिया?" लोगों ने कहा- "एक ही कुआँ है, रोज यहीं से पीते हैं। आज क्या हो गया?" पण्डितजी ने बताया- "इस कुएँ की जगत पर यवन चढ़ गया। उसने पानी पीया, जूठा जल और रोटी का एक टुकड़ा भी मेरे सामने डाला। अब तो तुम सभी धर्मभ्रष्ट हो गये। सनातन-धर्म में ऐसा कोई उपाय नहीं कि तुम शुद्ध हो सको।" इस अप्रिय व्यवस्था को सुनकर बहुतों ने आत्महत्या कर ली; किन्तु गाँव के गाँव कितने लोग आत्महत्या करते? बच्चे बड़े हुए तो उनसे कोई शादी-विवाह भी नहीं करना चाहता था। जीने के लिए कुछ तो करना ही था। विवश होकर मुसलमान बन गये। आज भी वे हल-मूसल-बाँस गाड़कर शादी-विवाह की रस्म अदा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि शादी के समय एक मौलवी आता है, कलमा पढ़कर चला जाता है।

इसी तरह बंगाल का एक युवक था। तत्कालीन प्रथा के अनुसार आचार्य के यहाँ से अध्ययन पूर्ण करके घर लौट रहा था। रास्ते में नवाब का महल पड़ा। नवाब के साथ उसकी पुत्री बाहर का दृश्य देख रही थी। लड़की ने कहा, "अब्बाजान! जो युवक आ रहा है, इसके साथ मेरा निकाह करा दीजिए।" नवाब ने पूछा, "क्यों बेटी, तुम्हें यह

पसन्द है?" वह बोली, "हाँ!" स्वस्थ सुन्दर युवक! नवाब ने बुलवाया, कहा, "हमारी लड़की से शादी कर लो।" युवक बोला, "ऐसा कैसे हो सकता है? मैं ब्राह्मण हूँ, तुम म्लेच्छ हो।" युवक अकेला था। उसे कोठरी में बन्द कर दिया गया। युवक उस नवाब के यहाँ पानी भी नहीं पीता था। पानी पीने से धर्म नष्ट हो जाने का प्रश्न था। उपवास के नौवें दिन वह बेहोश हो गया। उसी बेहोशी में नवाब की लड़की ने फलों का रस पिलाया जिससे उसमें कुछ चेतना आ गई। युवक ने पूछा, "तुमने कुछ खिलाया तो नहीं?" लड़की ने कहा, "केवल फलों का रस पिलाया है।" युवक ने नाममात्र के लिए उससे निकाह किया और जान बचाकर वहाँ से भागा। युवक कश्मीर से कन्याकुमारी तक के धर्माचार्यों से मिला। अपनी समस्या रखी। तिथि निर्धारित कर एक गोष्ठी काशी में बुलाई गयी। देश के कोने-कोने से हजारों विद्वान् एकत्र हुए।

युवक ने सबको सम्बोधित करते हुए प्रार्थना के स्वर में कहा, "नवाब की लड़की ने धोखे से मुझे फलों का रस पिला दिया। मेरा दिल वही है, दिमाग वही है, रहन-सहन एवं आस्थाएँ सब कुछ पूर्ववत् हैं। मैं शुद्ध सनातनी हूँ। आप मेरे गुरुदेव हैं। आपका उत्तम शिष्य रहा हूँ। सभी विद्याएँ हमें उसी तरह याद हैं। मुझे यह कलंक न लगे कि मैं नष्ट हो गया।" वेद-शास्त्र उलटे गये। निर्णय मिला कि अब सनातन-धर्म में ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे तुम शुद्ध हो सको। युवक ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "आपलोग फिर से विचार कीजिए, हमारी आस्थाएँ वही हैं। हमारा कुछ भी बिगड़ा नहीं है। अनजान में केवल फलों का रस पिलाया गया। मेरा कोई दोष नहीं है।" तीन दिन तक पुनः शास्त्रार्थ चला और अन्ततोगत्वा वही निर्णय मिला कि अब सनातन-धर्म में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है। युवक प्रतिशोध की भावना लेकर गया, नवाब की लड़की को रख लिया। नवाब ने अपनी नवाबी भी उसे दे दी। वह विद्वान् युवक हिन्दुओं की कमजोरियों से पूर्णतः अवगत था ही, उसने आदेश दिया कि हिन्दुओं को बलात् खिलाओ-पिलाओ, मन्दिर और मूर्तियों को ध्वस्त करो। भारत का वह सबसे बड़ा मूर्तिभंजक निकला। औरंगजेब से भी अधिक कट्टर उसने अपने को प्रमाणित कर दिखाया। उसका नाम ही लोगों ने काला पहाड़ रख दिया। कहा जाता है कि हिन्दुओं के साथ उसने बहुत ज्यादती की। ज्यादती उसने की या हिन्दुओं ने उसके साथ ज्यादती की?

विचार कीजिए, धर्म की शरण हम क्यों ग्रहण करते हैं? इसलिए कि हम दुर्बल हैं, धर्म सबल है। हम मरणधर्मा हैं लेकिन धर्म शाश्वत है। हम धर्म की शरण इसलिए ग्रहण करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, जन्म-मरण से छुटकारा दिलाकर शाश्वत ब्रह्म में स्थिति दिलाये। हम तो काटने से मरें, जहर से मरें और धर्म इतना गया गुजरा हो गया कि

एक घूँट पानी पीने से, एक ग्रास चावल खाने से, रोटी के एक टुकड़े से नष्ट हो जाता है। जो फलों का रस पीने से नष्ट हो जाता है, वह हमारी रक्षा क्या करेगा? सिद्ध है कि वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कोई रूढ़ि पनप रही थी जो धर्म की संज्ञा पा गयी।

अंग्रेज आये तो उन्होंने भी यही किया कि हिन्दुओं को किसी तरह अपने साथ खिलाओ-पिलाओ। ईसाई मिशनरियाँ इसके लिए अधिक सक्रिय थीं। बाँदा जिले के मानिकपुर के पास इसी प्रकार की मिशनरी है। वे कोल-भीलों को अपनाते हैं, उनके दुःख-दर्द में दवा-कपड़ा बाँटते हैं, फिर उन्हें खाना खिलाकर छोड़ देते हैं और सुविधा बन्द कर देते हैं। प्रचार करा देते हैं कि यह भील ईसाई बन गया। भील जब अपने समाज में आता है तो सुनने को मिलता है, "तै क्रिस्तान होईगा। देख मोर भड़वा न छुइहे।" अर्थात् मेरे बर्तन न छू देना। भोलीभाली जनता धर्म-कर्म क्या जाने। सब लकीर के फकीर! यह धारणा व्यापक रूप से प्रसारित हो चली। यहाँ तक कि शहरों से लेकर जंगलों तक, उच्च से निम्न श्रेणी तक, मद्रास से मरुस्थलपर्यन्त- जहाँ कई-कई मील पर घर होते हैं, सर्वत्र एक ही धारणा बन गई कि पात्र मत छूना। तुम ईसाई हो गये।

भारतीय अपने को जगद्गुरु, विश्वगुरु कहेंगे किन्तु भारत से बाहर समुद्र पार करने में धर्म चला जाता है। जब पार ही नहीं होंगे तब विश्वगुरु कैसे होंगे! वस्तुतः सनातन-धर्म इतना अगाध और उदार है, जिसके बल पर भारत विश्वगुरु कहलाता है। विश्व का मानव भारत की अध्यात्म विद्या का ऋणी है। वशिष्ठ, अगस्त्य इत्यादि महर्षियों ने विश्व का भ्रमण किया था। ऋग्वेद में वशिष्ठ की समुद्र-यात्रा का उल्लेख है। आज यहाँ तक रूढ़ियाँ फैलीं कि समुद्र पार मत करो अन्यथा धर्म नष्ट हो जायेगा। कोलम्बस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता का प्रचार अमेरिका में हो चुका था। वहाँ की प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियों से ऐसा ज्ञात हुआ है। दक्षिण-पूर्वी एशिया तो पग-पग पर भारतीय सभ्यता से अनुस्यूत है। आज समुद्र-यात्रा से धर्म नष्ट हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार की कतिपय रूढ़ियाँ श्रीकृष्णकाल में भी प्रचलित थीं। उनमें से एकाध रूढ़ि का शिकार अर्जुन भी था। दोनों सेनाओं के बीच में उसके रथ को जब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने खड़ा कर दिया तो अर्जुन ने वहाँ अपना परिवार, मामा का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद् और गुरुजनों को ही खड़ा पाया। अर्जुन ने केवल अपने परिवार और सम्बन्धियों को देखा और कुछ भी नहीं देखा। रोमांच हो आया, अश्रुपात होने लगा। बोला- अपने ही परिवार को मारकर मैं कैसे सुखी होऊँगा? कुलधर्म सनातन है- ऐसा युद्ध करने से सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है- ऐसा युद्ध

करने से शाश्वत-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म पुरातन है, पुरातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर पैदा होगा, जो कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। अतः हम लोगों को धर्मरक्षा के लिए कोई उपाय तुरन्त करना चाहिए। हमलोग समझदार होकर भी महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं। हम भी भूल करते हैं- ऐसी बात नहीं, आप भी भूल करते हैं। श्रीकृष्ण को भी लांक्षित किया। ऐसा कहते हुए अश्रुपात करता अर्जुन धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया। बोला- गोविन्द! अब मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा।

तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने हँसते हुए-से कहा, "अर्जुन! तुझे इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? जिस स्तर का युद्ध मैंने बताया है, उसकी समता का कोई स्थल दुनिया में है ही नहीं। तूने यह तर्क कहाँ से लाकर रख दिया? तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? क्यों, अज्ञान कैसा? अर्जुन तो सनातन-धर्म की रक्षा के लिए उद्यत था। क्या सनातन-धर्म की रक्षा भी अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं- न तो श्रेष्ठ पुरुषों में कभी इसका आचरण किया, न तो यह स्वर्ग को और न कीर्ति को ही देनेवाला है। अर्जुन जिसके लिए आहें भर रहा था, सम्भावित पुरुषों ने कभी उसका आचरण ही नहीं किया। यदि सनातन-धर्म वही होता तो श्रेष्ठ पुरुष उसका आचरण अवश्य करते। सिद्ध है कि वह सनातन-धर्म नहीं, मात्र अर्जुन का अज्ञान था।

अर्जुन ने प्रश्न किया, "भगवन्! मैंने ऐसा सुना है कि कुलधर्म ही सनातन है। इसका पालनकर्ता ही वास्तविक सनातनधर्मी है। मैंने सुना भर है, देखा नहीं है। अब धर्म के रास्ते में मोहितचित्त मैं आपकी शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ। मुझे वह उपदेश कीजिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। किन्तु भगवन्! स्वर्ग के साम्राज्य-स्वामित्व और धन-धान्यसम्पन्न पृथ्वी के अकण्टक साम्राज्य में भी मैं उस कल्याण को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। अतः इतना ही मिलेगा तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। बल्कि यही लोग राज्य करें, हम भिक्षा पर ही निर्वाह कर लेंगे। (भीष्म, द्रोण इत्यादि गुरुजनों को मैं बाणों से कैसे मारूँगा? वस्तुतः आध्यात्मिक पक्ष ऐसा है जिसमें अन्त में 'गुरु न चेला पुरुष अकेला' रह जाता है। गुरु का गुरुत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व शिष्य के अन्तराल में प्रवाहित हो जाता है। न गुरु ही विलग रहता है, न प्रभु ही। उनका पृथक् अस्तित्व अन्ततोगत्वा मिट जाता है। यही उनका मरना है।) अतः इसके आगे भी कोई सत्य हो तो उसे मेरे प्रति कहिए।"

तब श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! तू शोक न करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों-जैसी बातें भर करता है। पण्डितों की जानकारी से तू बहुत दूर खड़ा है। पण्डित

लोग जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए शोक नहीं करते और जो जीवित हैं, उनके लिए खुशी भी नहीं मनाते; क्योंकि आत्मा न कभी मरती है, न जन्म लेती है। यह केवल वस्त्र बदलती है। अर्जुन ने पूछा था- इसके आगे भी कोई सत्य हो तो कहिए। श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा ही सत्य है। यह आत्मा परमसत्य है। आत्मा ही सनातन है। हमलोग कौन हैं? सनातनधर्मी! आत्मा शाश्वत है। हमलोग कौन हैं? शाश्वत-धर्म के अनुयायी! जो इस आत्मा को उपलब्ध करा देनेवाली प्रक्रिया नहीं जानता वह सनातन-धर्म का प्रत्याशी हो सकता है किन्तु सनातनधर्मी नहीं है। वह प्रक्रिया-विशेष सनातन धर्म की क्रिया कहलायेगी जिसके द्वारा उस आत्मा की प्राप्ति सम्भव है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी क्रिया को कर्म, निष्काम कर्मयोग के नाम से सम्बोधित किया है, जो यज्ञ की प्रक्रिया-विशेष है। इस आत्मा की प्राप्ति का वही एकमात्र उपाय है। मन के निरुद्ध अवस्था में ही उस आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन सम्भव है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि यह आत्मा अकाट्य है, अशोक्य है। वायु इसे सुखा नहीं सकता, पानी इसे गीला नहीं कर सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती, आकाश अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह अजर, अमर, शाश्वत और अमृतस्वरूप है। जिसमें मृत्यु का प्रवेश नहीं होता। प्रकृति में उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु उस सनातन का स्पर्श ही नहीं कर सकती तो एक घूँट पानी पीने से अथवा रोटी का एक टुकड़ा खाने से वह सनातन नष्ट कैसे हो सकता है? वह अजर-अमर सनातन मर कैसे सकता है? सिद्ध है कि धर्म के नाम पर कतिपय रूढ़ियाँ प्रचलित हो गयी थीं। उन्हीं के चंगुल में फँसकर सनातन धर्म को माननेवाला समुदाय अस्त-व्यस्त हो गया। वस्तुतः वह सनातन-धर्म नहीं था। उसके नाम पर एक रूढ़ि पनप गयी थी।

जब सनातन शाश्वत आत्मा सबके अन्दर है ही तो ढूँढ़ा किसे जाय? शरीर के भीतर अजर-अमर-शाश्वत कोई वस्तु दिखाई तो नहीं पड़ती। रात-दिन शोक, सन्ताप और मृत्यु ही दिखाई देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! यह आत्मा अचिन्त्य है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक वह आत्मा दिखाई नहीं देती। तब तक हमारे उपभोग के लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। जब तक इन्द्रियों और विषयों का भोग है तब तक हमारे लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अर्जुन! वस्तुतः आत्मा ही अजर, अमर और शाश्वत है। प्रश्न उठता है कि आप कहते हैं इसलिए मान लें। श्रीकृष्ण समाधान करते हैं- "अर्जुन! आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा कि आत्मा सत्य है, यही परम सत्य है,

शाश्वत और सनातन है।'' किसने देखा? तत्त्वदर्शियों ने देखा! न किसी प्रोफेसर ने देखा, न दस भाषाओं के जानकार ने देखा, न किसी समृद्धशाली ने ही देखा। इन विभूतियों से युक्त आत्मा को केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा।

अब एक नवीन प्रश्न खड़ा होता है कि तत्त्वदर्शिता क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि तत्त्व की चाहवाले पुरुषों को चाहिए कि कर्म करें। संगदोष से अलग रहकर, इन्द्रियों को वासनाओं से भलीप्रकार समेटकर, परम वैराग्य में स्थित रहते हुए, एकान्त-देश का सेवन करते हुए चित्त को ध्यान में लगावें। यह नहीं कि हम कुछ भी करते हैं तो कर्म करते हैं। इस योग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है। उस नियत विधि-विशेष की जानकारी होनी चाहिए। लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए। दीर्घकाल तक सतत अभ्यास करते-करते मन इतना सूक्ष्म हो गया कि काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर इत्यादि बाह्य प्रवृत्तियाँ अन्तःकरण से सर्वथा शान्त हो गयीं; विवेक, वैराग्य, ध्यान और समाधि उभरकर आ गये, पूर्णतः परिपक्व हो गये, उस समय वह साधक ब्रह्म को जानने योग्य होता है। आवश्यकता तो थी तत्त्व जानने की; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- ब्रह्म को जानने योग्य होता है, क्योंकि तत्त्व और ब्रह्म एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी योग्यता का नाम पराभक्ति है। भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर है, परिणाम देने की स्थिति में है। इस पराभक्ति के द्वारा ही पुरुष उस परमतत्त्व को जानता है।

उस समय परमतत्त्व जानने में तो आ जाता है; किन्तु वह तत्त्व है कैसा? श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ, अजर-अमर-शाश्वत-अव्यक्त जिन अलौकिक गुणधर्मों वाला हूँ उसको जानता है। अर्थात् भगवान जो हैं, जिन अलौकिक गुणधर्मों से संयुक्त हैं उनको जानता है और मुझको जानकर अर्जुन! तत्क्षण मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। पहले तो भगवान जानने में आता है और दूसरे ही क्षण अपनी आत्मा को ईश्वरीय गुणधर्मों से भरपूर खड़ा पाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी इसी स्थल के लिए संकेत करते हैं, **'तुम्हरिहिं कृपा पाव कोई कोई।'**- भगवन्! तुम्हारी ही कृपा से कोई-कोई ही तुम्हें पाते हैं। पाने पर उसका स्वरूप कैसा होगा? **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'**- तुम्हें जानकर वह तुम ही बन जाता है। श्रुति है **'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैव भवति।'**- ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। साधना की पूर्तिकाल में उस परमतत्त्व परमात्मा का जिसने दिग्दर्शन और स्पर्श किया तो उस क्षण उसे भगवान दिखाई पड़े किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी आत्मा को ही ईश्वरीय गुणधर्मों से परिपूर्ण, अव्यक्त और शाश्वत की श्रेणी में पाता है। श्रीकृष्ण परमात्मा को ही परमतत्त्व मानते हैं, न कि पाँच तत्त्व या पचीस प्रकृति को!

तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने, जिन्होंने भगवान को प्रत्यक्ष देखा, साक्षात्कार किया, उन्होंने देखा कि आत्मा ही परम सत्य है, आत्मा ही शाश्वत है, आत्मा ही सर्वत्र व्यापक है, इसके आगे कोई सत्य नहीं और यही सनातन है। अतः यदि हमें तत्त्व की चाह है, सनातन-धर्म की चाह है तो हमें आत्मा की प्राप्तिवाली प्रक्रिया-विशेष को समझना चाहिए और उस पर चलना चाहिए। आत्मानुभूति ही सनातन-धर्म है।

आत्मा देश में, विदेश में, यूरोप में, अमेरिका में, रहस्यमय सौरमण्डल एवं जो टापू खोज में न आये हों, उनमें भी सर्वत्र एक ही जैसी है, व्यापक है। सभी आत्माएँ उसी एक शाश्वत सत्ता की आशा करती हैं। यह बात अलग है कि संकटापन्न स्थिति में उस सत्ता की याद धुँधली पड़ जाय। अरबी भाषा में उसे खुदा कहते हैं। अंग्रेज उसी को 'सुप्रीम गॉड' कहकर पुकारते हैं, जिसे संस्कृत में ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। आत्मा सब में समान है। कोई यूरोप में पैदा हुआ हो अथवा विश्व के किसी कोने में, यदि वह उस आत्मतत्त्व की ओर अभिमुख है तो सनातनधर्मी है। आंग्ल भाषा के माध्यम से जल को वे 'वाटर' भले ही कह लें, 'सुप्रीम गॉड' कहकर वे उसी आत्मा की प्राप्ति करेंगे।

यदि हम आत्मा की प्राप्ति करा देने की प्रक्रिया से अवगत नहीं हैं तो हम सनातन-धर्म के प्रत्याशी भले हों, सनातनधर्मी नहीं हैं। जब तक भूत-प्रेत या इधर-उधर पूजाएँ करते रहते हैं तब तक हम सनातन-धर्म से अवगत नहीं हैं। इन्हीं रूढ़ियों में फँसकर छूने-खाने से नष्ट होने की घड़ी आई, जबकि आजकल कोई छूने-खाने से नष्ट नहीं होता। इसका कारण यह नहीं कि अब धर्म सबल है बल्कि लोग साक्षर हो गये हैं। वे पूछ बैठते हैं कि बताइये पण्डितजी! धर्म नष्ट कैसे हुआ? धर्म का स्वरूप क्या है? पण्डितजी तो यह भी नहीं जानते। चुप हो जाते हैं। अतः धर्म सबल नहीं हुआ बल्कि धर्म पर उँगली उठानेवालों का समूह बँट गया। छूने-खानेवाले लोग भी नहीं जानते कि वस्तुतः धर्म है क्या? कर्म है क्या?

अब यदि आपको उस क्रिया-विशेष को जानना है जिसका नाम धर्म है, सनातन आत्मा की प्राप्ति करनी है तो श्रीकृष्ण के शब्दों में तत्त्वदर्शी सद्गुरु के पास जाओ। निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करके उन्हें प्राप्त करो।

॥ ॐ ॥

जाति-प्रथा

प्रश्न- महाराजजी, आज की जाति-प्रथा कहाँ तक उपयोगी है?

उत्तर- देखिये, वर्ण-व्यवस्था को लेकर दुनिया में पर्याप्त झगड़े हैं। देश-विदेश में लाखों जातियाँ एवं उपजातियाँ प्रचलित हैं और न जाने कितनी अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। किन्तु गीता, रामायण इत्यादि प्रमुख भारतीय ग्रन्थों में ऐसा कुछ नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, दुनिया में सभी मनुष्य केवल दो प्रकार के होते हैं- एक देवता-जैसा, दूसरा असुरों-जैसा। इस विभाजन का आधार क्या है? वस्तुतः अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- एक दैवी सम्पद्, दूसरी आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों के लिए होती है और दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए होती है। जिस हृदय में दैवी सम्पद् कार्य करती है वह मनुष्य देवताओं-जैसा है और जिस हृदय में आसुरी सम्पद् कार्यरत है वह मनुष्य असुरों-जैसा है। एक अधोमुखी है तो दूसरी ऊर्ध्वमुखी। एक ईश्वर में विश्वास करती है तो दूसरी प्रकृति में। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों में ले जाने के लिए होती है, तो दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए होती है।

दैवी एवं आसुरी सम्पद् के लक्षण क्या हैं?- श्रीकृष्ण ने इस पर भी प्रकाश डाला। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, विवेक, वैराग्य, ईश्वर की वास्तविक जानकारी, शरणागति, सरलता- इस प्रकार चौबीस लक्षण गिनाये जो सब-के-सब तो किसी पहुँचे हुए महापुरुष में अथवा उनके समीप की अवस्थावाले में सम्भव है। आप में भी हो सकते हैं, हममें भी हो सकते हैं। यह दैवी सम्पत्ति परमकल्याण के लिए है। अर्जुन! तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है। तू मुझमें निवास करेगा। शोक मत कर।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, अनन्त तृष्णा- सभी आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् से आप्लावित पुरुष सोचता है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से जितनी वस्तु दुनिया में दिखाई पड़ती है, उतना ही सत्य है, ईश्वर नाम की कोई सत्ता नहीं है। मैं ही ईश्वर एवं ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। वह सोचता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य में इतनी और हो जायेगी। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और यश को प्राप्त होऊँगा। ऐसे पुरुष यज्ञ और दान भी केवल दिखावे के लिए ही करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर अनावश्यक है। वे प्रकृति में ही विश्वास करनेवाले हैं, इसीलिए असुर कहलाते हैं। परमदेव परमात्मा पर निर्भर

रहनेवाले सुर कहलाते हैं और सुरत्व से विमुख प्रकृति-प्रधान लोगों को असुर कहा जाता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति में दैवी सम्पत्ति संग्रहीत होती जायेगी, त्यों-त्यों वह देवत्व की ओर अग्रसर होता जायेगा। क्रमशः उन्नत होते-होते सर्वथा निरोधकाल में, ध्यान और समाधि की अवस्था में, वह परमदेव परमात्मा का प्रतिबिम्ब पा जाता है। दिग्दर्शन के साथ ही वह उसी परमतत्त्व परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर तो वह स्वयं परमानन्द स्वरूप है, शाश्वत है; जिसे श्रीकृष्ण ने इंगित किया--'अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। जीवभाव में नहीं।'

कभी-कभी मनुष्य दैवी सम्पत्ति की ओर अग्रसर तो नहीं हो पाता किन्तु मन में विकलता रहती है कि काश! हम भी करते। इस दशा में स्पष्ट है कि उसके अन्तर्गत वह दैवी सम्पद् कार्यरत है। देवता की ओर उन्मुख तो है किन्तु सफल नहीं हो पाता, कर नहीं पाता--ऐसी स्थिति में वह सामान्य मानव है। जब वह इस पथ पर चलने में सफल होता है तो देवताओं-जैसा है और जब वही प्रकृति-प्रधान होता है तब मानव भी नहीं है। उस समय मानवाकृति होते हुए भी वह असुरों-जैसा है। 'खाओ पीओ मौज करो' तक ही उनकी दृष्टि सीमित है। वे 'संसार' में शोध के लिए चलते हैं किन्तु जब शरीर ही नश्वर है तो उसका भोग्य 'संसार' कब सत्य होगा। इसीलिए शरीर के साथ ही उनकी सारी शोध शान्त हो जाती है, जबकि दैवी सम्पद् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है नष्ट तो कभी नहीं होती; **'अनेक जन्मसंसिद्धः'** तक का विधान है। मान लीजिए इस जन्म में आपसे थोड़ा भी चलते बना और शरीर का समय समाप्त हो गया तो भविष्य के जन्म में साधन वहीं से पुनः आरम्भ होता है जहाँ से छूटा था और क्रमशः चलते-चलते **'अनेक जन्मसंसिद्धः ततो यान्ति परां गतिम्।'** ***(गीता, ७/४५)*** अनेक जन्मों के परिणाम में वह वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परमसिद्धि अर्थात् परमात्मा है। श्रीकृष्ण कहते हैं- वह मेरा निजस्वरूप है।

जब से सृष्टि में सभ्यता आयी (वैसे सृष्टि अनादि है। कब से जागृति आयी- यह कहना असम्भव है। कोई भी आदिवासी नहीं है), सुदूर अतीत में यही दो जातियाँ थीं--सुर और असुर। देवासुर संग्रामों से शास्त्र भरे पड़े हैं। वास्तव में मनुष्य के यही दो स्वरूप हैं; आज के शब्दों में, एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक। यही विभाजन सदैव रहा है और रहेगा। वैदिककाल की यह शोध अक्षुण्ण है।

प्रश्न- महाराजजी! तब तो आज जो नास्तिक है, सदैव नास्तिक ही बना रहेगा?

उत्तर- नहीं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सभी के अन्तःकरण में दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति बलवती होती है तो दैवी सम्पत्ति प्रसुप्त होती है, लेकिन

वह मर नहीं जाती। कहीं ठोकर लगने से अथवा सत्संग से सत्संस्कार पड़ते ही दैवी सम्पत्ति उद्दीप्त हो उठती है और आसुरी सम्पत्ति सुप्त होती जाती है। शनैः-शनैः वह परमदेव का देवत्व प्राप्त कर लेता है। अन्तःकरण की दोनों प्रवृत्तियों का उतार-चढ़ाव तब तक रहता है जब तक इष्ट के अंक में प्रवेश नहीं मिल जाता। जब तक साधना इतनी उन्नत नहीं हो जाती कि ईश्वर उर-प्रेरक के रूप में संचालन करने लगे, तब तक आसुरी प्रवृत्ति कामयाब होती रहती है।

वाल्मीकि नास्तिक थे। डाका, चोरी, हत्या ही उनके स्वभाव में था। नारदादि ऋषियों को भी न छोड़ा। पेड़ से बाँध दिया। किन्तु उन महापुरुषों की संगति से उनके अन्तःकरण का दस्यु स्वभाव समाप्त हो गया और वे ब्रह्मर्षि के पद पर प्रतिष्ठित हो गए। संतों का संग करो, टूटी-फूटी सेवा करो, उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना पकड़ो। सब उसी पथ के पथिक हैं। नास्तिकता तो संगति के अभाव में पड़ी एक भँवर मात्र है। आस्तिकता, आत्मदर्शन की प्रवृत्ति सबमें है।

अन्तःकरण की इन्हीं दो प्रवृत्तियों के आधार पर मनुष्य दो जाति, दो स्वभाव अथवा दो प्रकार का होता है। सुदूर अतीत में देवासुर जातियों का उल्लेख इसी तथ्य को इंगित करता है। कालान्तर में किसी ने किसी पर विजय पायी, उसके नाम पर वंश एवं जाति-परम्परा का उद्‌भव हुआ। क्रमशः यक्ष, रक्ष, किन्नर, गन्धर्व इत्यादि जातियों का सृजन हुआ। मंडूक, वानर, ऋक्ष इत्यादि जातियाँ फैलीं। वे बन्दर और भालू नहीं, हमारे आपके ही पूर्वज थे, मनुष्य थे। जामवन्त अच्छे ज्योतिषी थे। क्या भालू ज्योतिषी होता है? कालान्तर में उन्हीं की औरस पुत्री जामवन्ती से श्रीकृष्ण का विवाह हुआ। क्या श्रीकृष्ण ने भालू से पाणिग्रहण किया? हनुमान भक्त और परम विवेकी थे। बालि सन्ध्या करता था। बालि का दोष केवल इतना था कि अपने छोटे भाई की पत्नी पर अधिकार कर लिया। बालि यदि पशु होता तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम मानवोचित उक्त नियम के उल्लंघन के लिए उसे दण्ड क्यों देते?

वस्तुतः वानर एक जाति थी, मण्डूक एक जाति थी, घोड़ा एक जाति थी। हैहय नरेशों का वर्णन पुराणों में मिलता है। शनैः-शनैः सभी जातियाँ अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। तदनन्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियाँ प्रकाश में आयीं। किसी समय इनका भी बहुत जोर था। अब तो इनमें भी एक जाति की लाखों उपजातियाँ बन गयीं। ब्राह्मणों में दो वेद पर अधिकार रखने वाले द्विवेदी, तीन पर अधिकार रखनेवाले त्रिवेदी, चारों वेदों के ज्ञाता चतुर्वेदी कहलाये। अग्निहोत्र करानेवाले अग्निहोत्री बन गये। शिक्षा देनेवाले उपाध्याय बने। उपाध्यायों में भी कई शाखाएँ निकलीं- खोरिया उपाध्याय, कटोरी

उपाध्याय, परात उपाध्याय आदि। स्पष्ट है, यज्ञों में किसी को परात लेने का अधिकार था तो किसी को कटोरा लेने का।

क्षत्रियों में राजाओं के लड़कों को राजपूत कहा गया। प्रतिहारी करनेवाले प्रतिहार कहे गये। महाराजा रघु के नाम पर रघुवंशी, इसी तरह सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, यदुवंशी क्षत्रियों का वर्ग बना। कुरु के नाम पर कौरव वंश चला, पाण्डु से पाण्डव वंश, किन्तु आज कोई कौरववंशी नहीं है, न पाण्डववंशी। महाराणा प्रताप के वंश की एक घटना है। किसी किले को हस्तगत करने के लिए राणा ने भरे दरबार में बीड़ा रखा। दो सरदारों में होड़ लग गयी। दोनों की टुकड़ियों ने अपना-अपना शौर्य दिखाना प्रारम्भ किया। मुगलों से घमासान युद्ध होने लगा। सूर्यास्त हो चला तो एक सरदार चिल्लाया कि मुझे सूर्यास्त के पूर्व किले में प्रवेश कर जाना है, अन्यथा मेरा प्रण पूरा नहीं होगा। हाथी किले के फाटक को नुकीली कीलों के कारण तोड़ने में हिचक रहा था। सरदार ने कीलों पर सीना लगाकर महावत को हाथी आगे बढ़ाने का आदेश दिया और कहा- 'हर हर महादेव' बोलते हुए मेरी लाश सूर्यास्त से पूर्व ही किले के भीतर पहुँचा देना।" ऐसा ही किया गया। हाथी के दबाव और कीलों से सरदार का सीना छलनी हो गया। दरवाजा टूटने ही वाला था कि अकस्मात् दूसरे सरदार की दृष्टि उस पर पड़ी, जो सीढ़ियाँ लगाकर अपने सैनिकों को किले के भीतर ले जाने के प्रयास में जीवन की बाजी लगा रहा था। उसने सोचा कि पहला सरदार तो मुझसे पहले ही किले में प्रवेश कर जायेगा अतः उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि मेरा सिर काटकर तुरन्त किले के भीतर फेंक दो। सैनिकों ने सेनापति की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया और कहना न होगा कि विजयश्री भी ऐसे उत्साहियों का ही वरण करती है। सूर्यास्त होने के पहले ही किला राजपूतों के हाथ में था। महाराणा ने दोनों सरदारों के नाम पर दो वंश चलाये। शक्ति के नाम पर शक्तावत और चूड़ा के नाम पर चूड़ावत वंश चला।

रीवाँ नरेश गुजरात नरेश के पुत्र थे, उनका नाम था व्याघ्रदेव। यहाँ लड़-भिड़कर उन्होंने रीवाँ राज्य की स्थापना की। उनके नाम पर बघेल वंश चला। विद्वत्ता, शौर्य, व्यवसाय और प्रादेशिक निवास से जातियों के गठन का विस्तार होता गया। गन्ध बेचनेवाले गाँधी, हीरे-जवाहरात के व्यवसायी जौहरी, सोने के व्यवसायी स्वर्णकार, लोहे का काम करनेवाले लुहार, भूननेवाले भड़भूँजा, तेल का काम करनेवाले तेली, हलवा बनानेवाले हलवाई, सोने की थाल में खानेवाले सोनथालिया, मूषक का आहार करनेवाले मूसहर, चमड़े का काम करनेवाले चमार, कोठार पर रहनेवाले कोठारी, भण्डार पर रहनेवाले भण्डारी, माला बनानेवाले माली, कपड़ा धोनेवाले धोबी, कन्नौज के रहनेवाले

कान्यकुब्ज, मगध के मागध, अम्बष्ठ, जायसवाल--क्या यह सब भी कोई जाति है? पूर्ण समृद्धशाली कौरव और पाण्डव जातियाँ भी नष्ट हो गयीं, जिनकी सुरक्षा के लिए संघर्ष हुए थे। हैहय इत्यादि समृद्ध जातियाँ खो गईं, तो क्या आज की जातियाँ सुरक्षित हैं? यह केवल तुच्छ पदवियों का मोह है। इसी प्रकार रूढ़ियों का प्रचलन बढ़ता गया और लोग संकीर्णताओं से घिरते गये। अब तो ये जातियाँ भी धुँधली पड़ती जा रही हैं। भविष्य में सम्भव है सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, कांग्रेस इत्यादि जातियाँ हों अथवा और कुछ हों। क्यों? क्योंकि अतीत की जातियाँ, जिनका निष्ठा से पालन प्रचलन था; लुप्त हो गईं तो इनके भी लुप्त होने में कोई सन्देह नहीं। वस्तुतः मनुष्य केवल दो प्रकार के होते हैं। श्रीकृष्ण का यही मत है।

प्रश्न- लेकिन, महाराजजी! श्रीकृष्ण तो मनुष्यों को चार प्रकार का मानते हैं- 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्।'

उत्तर- देखिये, गीता के चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं, **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चार वर्णों को मैंने रचा। तो क्या चार प्रकार के मनुष्य बनाये? नहीं, बल्कि **'गुणकर्म विभागशः।'**- गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। गुण एक कसौटी है जिस पर कसकर कर्म को चार श्रेणियों में विभक्त किया। इसी को अठारहवें अध्याय में और स्पष्ट करते हैं, **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**- कर्म बाँटे गये हैं न कि मनुष्य। मनुष्य तो दो ही प्रकार का है। अब आप इंग्लैण्ड में पैदा हुए हों या भारत में, अरब में अथवा दुनिया के किसी कोने में, यह दो प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक रहेंगी। मनुष्य या तो दैव (ईश्वर) प्रधान होंगे अथवा प्रकृति में विश्वास करनेवाले। दैव-प्रधान हैं तो देवताओं-जैसे, और प्रकृति-प्रधान हैं तो असुरों-जैसे होंगे।

इस प्रकार दैवी सम्पत्ति की प्रवृत्तिवाला प्रत्येक पुरुष धार्मिक है। परमात्मा ही तो एक सनातन है, इसलिए उसकी पिपासावाला सनातन-धर्मी है। अपने इसी देन के कारण भारत जगद्गुरु था। भारत ने ही विश्व को दैवी सम्पद् एवं परमदेव परमात्मा तक की दूरी तय करा देनेवाली प्रक्रिया दी। केवल पुस्तक पढ़ने से वह क्रिया नहीं आती। प्राप्तिवाले, अनुभवी महापुरुषों की शरण में टूटी-फूटी सेवा और उनके अनुसार थोड़ी-सी साधना करने से वह क्रिया जागृत हो जाती है, वे आराध्य आत्मा से खड़े होकर पथ-संचालन करने लगते हैं जिसके माध्यम से चलकर साधक उसी देवत्व में प्रवेश पा जाता है। इसलिए विश्व में कोई कहीं पैदा हुआ है, यदि दैवी सम्पत्ति की ओर अग्रसर है तो सनातनधर्मी है। हाँ, यह बात अलग है कि वह सनातन-धर्म का पिपासु मात्र है। सनातन-धर्म का शुद्ध अनुयायी वह तब होगा जब कोई अनुभवी महापुरुष 'सद्गुरु' मिल

जायँ और उसके हृदय से आत्मा को जागृत कर दें अर्थात् जिस सतह पर वह आत्मा है, उसे उसी सतह से जागृत कर, शनैः-शनैः पथ-संचालन करते हुए उस परम की ओर ऊपर उठा दे। उस दिन से वह सनातनधर्मी की श्रेणी में आ जाता है, इसके पूर्व वह पिपासु मात्र है।

अन्तःकरण की इन दोनों प्रवृत्तियों तथा मानव मात्र को अपने ही जैसा पाकर भारतीयों ने समग्र विश्व को स्थान एवं विलय दिया। गोपनीय अध्यात्मविद्या के माध्यम से क्रमशः उठाकर शाश्वत सत्य की गरिमा से उन्हें अवगत कराया। यही कारण था कि भारत विश्वगुरु बना। वाल्मीक रामायण का उल्लेख है कि राम के यज्ञ में, जिसमें समस्त प्रजा एवं ऋषि आमन्त्रित थे, भोजन परोसने इत्यादि की सेवा में राम ने अपने विश्वस्त अनुचरों एवं मित्रों को नियुक्त किया जिसमें विभीषण और उसका परिवार, जामवन्त एवं अंगद का परिवार भी सम्मिलित था, किन्तु इन अधम जातियों के हाथ से परोसा भोजन करने में ऋषियों, विप्रों एवं जनता को कोई आपत्ति नहीं थी। सभी ने तृप्ति के साथ भोजन किया और इन सेवकों की सराहना की। अतः छूने-खाने से धर्म कभी नष्ट नहीं होता।

वस्तुतः प्राप्तिवाले महापुरुष समाज के बीच कभी अन्तर नहीं डाल सकते। यह तो अधकुचलों की देन है। जो उस परम का दिग्दर्शन और मूल की स्थितिवाला है, जो कण-कण में व्याप्त है, वह समाज में भेदभाव नहीं डाल सकता। वह कभी नहीं कह सकता कि भारत में ही राम हैं, बाहर नहीं। यदि कोई ऐसा कुछ कहता है तो सिद्ध है कि वह अभी ईश्वर-तत्त्व को नहीं जानता। महापुरुषों के पश्चात् उनके नाम पर अपनी ख्याति अर्जित करनेवाले अथवा उदर-पोषण की प्रवृत्ति लेकर जीने-खानेवाले लोग़ ही सम्प्रदायवाद, रूढ़िवाद एवं मानव का विभाजन कर देते हैं। कबीर ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं--

कोई सफा न देखा दिल का।
साँचा बना झिलमिल का रे..........कोई।।
काजी देखा मुल्ला देखा, पण्डित देखा छलका।
औरों को बैकुण्ठ बतावे, आप नरक में सरका।।
बिल्ली देखा बगुला देखा, सर्प जो देखा बिल का।
ऊपर ऊपर बनल सफेदी, भीतर गोला जहर का।।
पढ़े लिखे कुछ वेद शासतर, भरल गुमान बरन का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लानत ऐसे तन का।।

कबीर कहते हैं कि ऐसे लोगों को धिक्कार है जो वेद-शास्त्र पढ़ें और शरीर का भेद बना रहे। तब उसने वेद पढ़ा ही कहाँ? कृत्रिम जातियाँ तो पैदा होती आई हैं, नष्ट हुई हैं, नित्य पैदा हो रही हैं, नष्ट हो रही हैं; पैदा होंगी और नष्ट भी होती रहेंगी। मनुष्य की केवल दो श्रेणियाँ, दो जातियाँ स्वाभाविक हैं। वास्तव में मनुष्य मात्र दो प्रकार के हैं। न चार प्रकार के, न हजार प्रकार के।

प्रश्न– महाराजजी ! यदि यही दो जातियाँ हैं तो असुर कहलाना कौन पसन्द करेगा?

उत्तर– करना तो नहीं चाहिए किन्तु अधिकांश पसन्द करते हैं। असुर का यह अर्थ नहीं कि दो सींगवाली, बड़े दाँतोंवाली, लाल-लाल आँखोंवाली कोई जाति रही हो। श्रीकृष्ण देवता थे, उन्हीं के सगे-सम्बन्धी पाण्डव मानव थे और सगे मामा कंस, सम्बन्धी बाणासुर, जरासंध, शिशुपाल सभी असुर थे। अच्छे आचरणों से मनुष्य ही देवता बन जाता है और बुराइयों पर चलकर वही असुर भी कहलाता है। असुर वह है जो परमदेव परमात्मा के देवत्व पर विश्वास न करे। बहुत से लोग आज भी ईश्वर को नहीं मानते। हैं वे असुर ही, नाम चाहे जो दे लें। आजकल प्रचलित जाति-प्रथा न तो स्वाभाविक है और न उपयोगी ही। जो स्वाभाविक है, 'नेचुरल' है, अनिवार्य है, उसे क्यों नहीं मानते? न भी मानें किन्तु वह आपके अन्तःकरण में प्रवाहित रहेगी।

।। ॐ ।।

विप्र

प्रश्न– महाराजजी, ब्राह्मण कोई जन्म से होता है कि कर्म-साधना से बनता है? विप्र का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर– देखिये, विप्र ही नहीं शूद्र भी माता से जन्म नहीं लेता। यह योगसाध्य है। भजन की स्थितियाँ हैं। वर्ण पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

> **ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप।**
> **कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।।** *(गीता, १८/४१)*

हे परन्तप! **'स्वभाव प्रभवैर्गुणैः'**– स्वभाव में जागृत गुणों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म विभाजित किये गये हैं। विभाजित वस्तु कर्म है, न कि मनुष्यों को विभाजित किया गया। स्वभाव परिवर्तनशील है, सदैव बदलता रहता है। स्वभाव के परिवर्तन से गुणों में परिवर्तन होता रहता है। अतः गुणों में परिवर्तन होने पर वर्ण-परिवर्तन होना स्वतःसिद्ध है। कर्म की चरमोत्कृष्ट अवस्था में, इच्छाओं सहित अन्तःकरण जीत लेने पर गुणसहित स्वभाव भी शान्त एवं विलीन हो जाता है। इसी अवस्था में परमकल्याण, परमतत्त्व की प्राप्ति होती है जिसे परमनैष्कर्म्य-स्थिति कहते हैं। गोस्वामीजी ने गीता का ही अनुवाद 'विनय पत्रिका' में कर दिया है– **गुन सुभाव त्यागे बिनु, दुरलभ परमानन्द।।** *(पद सं. २०३)*

गुण और स्वभाव के मिट जाने पर ही उस परमानन्द की प्राप्ति सम्भव है। गुणों के अन्तर्गत ही आवागमन है। स्वभाव के जीते-जी प्रकृति जीती है। गुण और स्वभाव के विलय हो जाने पर परमतत्त्व सहज ही प्राप्त हो जाता है। साधना के पूर्तिकाल में गुण और स्वभाव नहीं रह जाते अतः कोई वर्ण भी नहीं रह जाता। जब गुण ही नहीं हैं तो विभाजन किसका हो? वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी वर्ण नहीं रह जाता। आत्मा ही कैवल्य स्वरूप बच रहती है। इस प्रकार चारों वर्ण साधना के चार ऊँचे-नीचे सोपान हैं। कोई भी साधक स्वभाव और गुणों में परिवर्तन लाकर उच्च वर्गों में प्रवेश पा सकता है और अन्त में वर्णों से परे भी हो सकता है। वर्ण का निर्धारण जन्म से नहीं बल्कि स्वभाव में जागृत गुणों से होता है।

अब आइये विप्र की व्युत्पत्ति और पराकाष्ठा पर दृष्टिपात करें। श्रीकृष्ण कहते हैं–

> **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।**
> **ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।** *(गीता, १८/४२)*

तप (शाश्वत धर्म के लिये इन्द्रियों का तपाना ही तप है। उसके अनुरूप ढालना, उसकी कसौटी पर मन को कसना ही तप है।), इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, शुद्धता, अन्तःकरण की शान्ति, **'आर्जवम्'**- सरलता, वास्तविक क्रिया की जानकारी ज्ञान, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलब्धि, आस्तिक भाव- ये सब **'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'**- ब्राह्मण श्रेणी का कर्म है जो स्वभाव से जन्मा है, उत्पन्न हुआ है। यह ब्राह्मण श्रेणी के कर्म की प्रवेशिका है, निम्नतम सीमा है। ब्राह्मण श्रेणी की पराकाष्ठा में, प्राप्तिकाल में कोई कर्म नहीं रहता; क्योंकि गुण और स्वभाव ही लुप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण श्रेणी के कर्म करते-करते गुण स्वभाव से परे होते ही साधक वर्ण से परे हो जाता है। शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

कोई भी प्राणी कर्म का सही स्वरूप समझकर इस ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है, ब्रह्म में विलय पा सकता है। सबके लिए इसका समान विधान है। गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा--

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। *(गीता, २/४५)*

अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। तू तीनों गुणों से ऊपर उठ अर्थात् वेदों से ऊपर उठ। गुणों से ऊपर उठा तो वेदों से ऊपर उठ गया। किस प्रकार ऊपर उठ? निर्द्वन्द्व, नित्य, सत्त्व वस्तु में स्थित रहते हुए योगक्षेम को न चाहता हुआ, आत्मपरायण हो। प्रश्न उठता है कि हम ही उठें या और भी कोई ऊपर उठा है? वेदों या तीनों गुणों से ऊपर उठ जायेंगे तो हम क्या हो जायेंगे? हमारी स्थिति क्या होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(गीता, २/४६)*

सर्वत्र परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय (गड़ही) से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। क्षुद्र जलाशय में अधिक से अधिक शौच-क्रिया कर लेते हैं, इससे अधिक मनुष्य के लिये उसका कोई उपयोग नहीं रह जाता। ठीक इतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से रह जाता है। महापुरुष के लिए वेद नगण्य हैं किन्तु दूसरों के लिए तो वेदों का सब प्रकार से महत्त्व है। वेद ब्रह्म को ही विदित कराते हैं और जिसने ब्रह्म को ही जान लिया उसके लिए वेद का क्या महत्त्व? किन्तु वह गड़ही के रूप में है, क्योंकि इन्हीं वेदों को ही कल्याणोत्थान के लिए निरूपित करता है। अतः

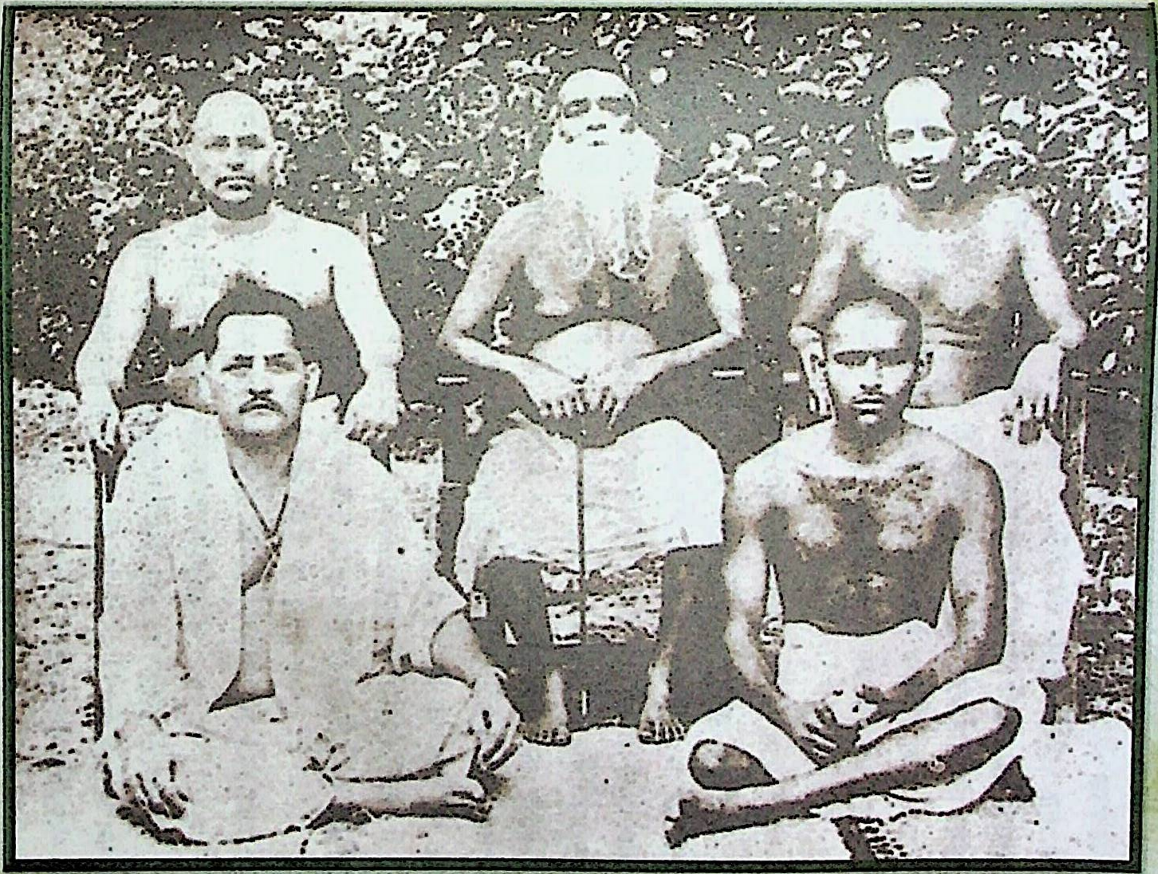

प्रथम पंक्ति : श्री एस.डी. चतुर्वेदी, स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी ।

द्वितीय पंक्ति : स्वामी श्री सच्चिदानन्द जी, पूज्य श्री परमहंस जी तथा श्री भगवानानन्द जी ।

अर्जुन! तू तीनों गुणों तथा वेदों से ऊपर उठ। ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन। आज अर्जुन क्षत्रिय है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण एक स्थिति-विशेष है। कोई भी साधक क्रमशः चलकर उस विप्रत्व में प्रवेश पा सकता है और उसको भी पार करके ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में पूर्णस्थिति ही प्राप्त कर लेता है जो विप्रत्व की उच्चतम सीमा है। स्वयं के लिये वह न विप्र है और न शूद्र; किन्तु अन्य के लिये वह विप्रस्वरूप है। अतः किसी जाति-विशेष के लिए ही (जैसा आजकल समाज में प्रचलित है) विप्रत्व का विधान हो, ऐसी बात नहीं है। यदि गीता सत्य है तो उसकी यही व्यवस्था सत्य है। इन्हीं शास्त्रों के माध्यम से हम समझ पाते हैं कि हमारा धर्म क्या है? कर्म क्या है? क्रिया क्या है?

उस विप्र के लक्षण क्या हैं? तत्त्ववित् पुरुष के लक्षण क्या हैं? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं--

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। *(गीता, ५/१८)*

विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल में, गाय, कुत्ता तथा हाथी में **'पण्डिताः'**- पूर्ण ज्ञानी लोग **'समदर्शिनः'**- समान दृष्टिवाले होते हैं। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म। न विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कोई अधिक विशेषता रखता है, न चाण्डाल कोई हीनता। क्यों? क्योंकि सबके अन्तराल में जिस शाश्वत आत्मा का संचार है वे महापुरुष उसी परमात्मा की स्थितिवाले हैं, सबके मूल में स्थित होते हैं। ऐसे महापुरुष की दृष्टि जब भी किसी पर पड़ती है, उसके आत्मिक प्रसार पर ही पड़ती है। आत्मा पर पड़ती है, चमड़ी पर नहीं। वह जीवात्मा उत्थान अथवा पतन जिस स्थिति में होती है, उसको वहीं से मार्गदर्शन उन महापुरुष द्वारा प्राप्त होने लगता है। यह ब्रह्मस्थित, प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष के लक्षण हैं, विप्रत्व की चरम सीमा है।

एक अन्य श्लोक में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि ब्राह्मण कब और कैसे होता है?-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमशः उत्थान करते-करते इतनी सूक्ष्म हो गई कि **'कामसंकल्पवर्जिताः'**- जहाँ काम और संकल्प नहीं रहते (काम और संकल्प से रहित होना ही मन की विजेतावस्था है क्योंकि संकल्प-विकल्प का उतार-चढ़ाव तो इस मन पर है) तो मन के निरोध के साथ ही **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**- जिसे हम नहीं जानते हैं, वह शाश्वत, जिसका नाम परमात्मा है, विदित हो जाता है। इसकी प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। उस ज्ञान

की अग्नि में **'दग्धकर्माणम्'**– कर्म सदा के लिये जल जाते हैं। कर्म अर्थात् आराधना भी समाप्त हो जाती है। आगे कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे ढूँढ़े, इसलिये कर्म सदा के लिए शेष हो जाते हैं। **'तमाहुः पण्डितं बुधाः'**– बोधस्वरूप महर्षियों ने ऐसे ही स्थितिवाले पुरुषों को पण्डित कहकर सम्बोधित किया है। उनकी क्रिया में लेशमात्र भी कसर नहीं है अतः यह ब्राह्मण की अधिकतम सीमा एवं पराकाष्ठा है। वह ब्रह्म को पूर्णरूप से जानता है। ब्रह्म पर है, परब्रह्म से संयुक्त है इसलिये विप्र है। द्वि अर्थात् द्वैत पर जय पानेवाला है, इसलिये द्विज है।

अतः ब्राह्मण, विप्र, द्विज साधना का ही एक स्तर-विशेष है, न कि कोई जन्मना ब्राह्मण होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र **'स्वभावजम्'**– स्वभाव तथा **'स्वभाव प्रभवैर्गुणैः'**– स्वभाव से होनेवाले गुणों से निर्धारित होते हैं। कालान्तर में अपभ्रंश हो जाने से लोगों ने अन्तःकरण की वस्तु को बाहर देखने का प्रयास किया इसलिए बहुत-सी जाति, उपजाति और सम्प्रदाय पैदा हो गये। सभी मत-मतान्तर केवल उदर-पोषण की लिप्सा एवं मान-सम्मान की भावना को लेकर बने हैं और बाह्य आडम्बर मात्र हैं। जिससे दबते बना दबा, जिसे दबाते बना दबाया। अन्यथा योगदर्शन, गीता, रामचरित मानस अथवा इसी स्तर के प्रत्येक महापुरुषों की वाणी में अन्य कुछ नहीं मिलता। भगवान महाबीर, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, गुरुनानक[१] और तुलसी इत्यादि सभी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों शब्दों का प्रयोग किया, चारों को स्वीकार किया लेकिन सबकी दृष्टि एक ही है कि आराधना के ही क्रम को चार श्रेणियों में बाँटा गया जिसमें ब्राह्मण एक पवित्र स्थल है। ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा में ब्रह्म में विलय दिलानेवाले सारे लक्षण होते हैं। विलय के पश्चात् वह स्वयं में न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य है न शूद्र। यही ब्राह्मणत्व की पराकाष्ठा है। हाँ, दूसरों के लिए वह ब्रह्म का परिचायक, उपदेशक और प्रेरक है। ब्रह्म में विलय दिला देने की उसमें क्षमता है इसलिये वह विप्र ही पुकारा जाता है। नहुष को शाप किन विप्रों ने दिया था? जिन तपोधनों ने उन्हें शाप दिया वे जन्म से कहाँ कुलीन थे? अतः कोई भी व्यक्ति क्रिया पर चलकर विप्र बन सकता है, आप भी बनें। उस वास्तविक क्रिया की जानकारी के लिये तत्त्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जायँ क्योंकि वही वस्तुतः विप्रत्व के ज्ञाता हैं। धर्मशास्त्रों[२] का यही निर्णय है।

गीता के अनुसार ब्राह्मणत्व अर्जित किया जाता है। यह एक स्थिति है-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधाः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्चविहिताःपुरा।। *(गीता, १७/२३)*

ओम्, तत् और सत् परब्रह्म परमात्मा का नाम है जो ब्रह्म के ही श्रीमुख से प्रसारित हुआ है। इसी ओम्, तत् और सत् के द्वारा यज्ञ, वेद और ब्राह्मण रचे गये हैं। अस्तु, ब्राह्मण एक रचना है।

यज्ञ एक निर्जीव क्रिया है। जिसमें एक परमात्मा में निष्ठा, सद्गुरु के ध्यान, उनकी सेवा, इन्द्रियों के संयम, मन के निरोध, श्वास-प्रश्वास के यजन से जहाँ प्राणायाम की स्थिति आयी तो सनातन ब्रह्म का दर्शन और प्रवेश यह यज्ञ का पूर्तिकाल है। जहाँ यज्ञ पूर्ण हुआ तहाँ वेद रचे गये। जो तत्त्व अविदित था विदित हो गया। अतः वेद भी रचना है। जिसने उस प्रभु को विदित कर लिया, ब्रह्म का दर्शन, स्पर्श और स्थिति पा गया, वह ब्राह्मण है। अतः ब्राह्मण एक रचना है न कि संसार के मनुष्यों की कोई प्रजाति।

।। ॐ ।।

---

१. गुरुनानक- "योग शब्द गियान शब्द ते ब्राह्मन।" ज्ञान और योग शब्द में पाये जानेवाले भेद को जो यथार्थतः जानता है, विप्र है।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय अष्टम ब्राह्मण में जनक की यज्ञसभा में याज्ञवल्क्य गार्गी को बताते हैं- गार्गी! उस परमतत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। जो उस अक्षर को जानता है, वही ब्राह्मण है।

वास्तव में जो भी व्यक्ति ब्राह्मणत्व के गुणधर्मों से युक्त है, वही ब्राह्मण है। वही सृष्टि में सर्वोपरि, एकमात्र पूजनीय है, इसमें दो राय नहीं है। अतः महापुरुषों की जाति, वेष इत्यादि बाह्य गुणधर्मों पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

भिक्षा

प्रश्न- महाराजजी! गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भोगना भी श्रेयतर मानता है। कृपया बतलावें वह भिक्षा कैसी है?

उत्तर- भिक्षा के दो रूप हैं। एक तो हरिभक्त भिक्षान्न ग्रहण करता है, बदले में वह भजन-चिन्तन का कुछ अंश उस दाता भक्त के लिए व्यय करता है, उसे श्रेय-सुलभ आशीर्वाद देता है। यह परिव्राजक के लिए गृहत्याग के अनन्तर विधेय है, जो भजन में अनवरत प्रवृत्त रहता है। भिक्षा के इस स्वरूप से अधिकांश विश्व परिचित है। गौतम बुद्ध इत्यादि भारतीय मनीषियों ने विविध तरीकों से श्रमणों के लिए भिक्षा पर बल दिया और दाता के लिए मंगलकामना की पुष्टि की। इससे साधक को सदैव अपनी दीनता का बोध होता रहता है, साथ ही शुभ संस्कारों के सृजन से परिव्राजकों की लौकिक व्यवस्था का दायित्व समाज अनुभव करता है। इसीलिए ईसा मसीह ने भी अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि, "केवल एक कुर्ता पहनकर, हाथ में पात्र लेकर तुम लोग विचरण करो। जो तुम्हारी सेवा करेगा, तुम्हारे लिए भिक्षा की व्यवस्था करेगा, उसका कल्याण प्रभु करेंगे। जो तुमलोगों का सम्मान करता है, वह मेरा सम्मान करता है।"

भिक्षा का दूसरा रूप सूक्ष्म और गहन है। गृहत्याग से हिचकिचाने वाले श्रद्धालु सनातन तत्त्व में स्थित महापुरुष, परमप्रभु परमात्मा से श्रद्धा निवेदन कर बदले में कल्याण की माँग करते हैं। यह भी भिक्षान्न ही है। **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'** ***(तैत्तिरीय उपनिषद्, ३/२)***- ब्रह्म ही वह अन्न है जो आत्मा की पूर्ण तृप्ति करानेवाला है। कृष्णस्वरूप में स्थित महात्माओं के सर्वांगीण पूजन से परमतत्त्व की माँग ही भिक्षा है। जिन पुरुषों में चिन्तन-क्रम में प्रवृत्त होने की क्षमता नहीं है, ममत्व के सभी तागों को बटोरकर जो इष्ट के चरण-कमलों में बाँधने में सक्षम नहीं है, ऐसे लोगों के लिए श्रद्धा, सेवा एवं भक्तिभाव से आप्लावित होकर स्वरूपस्थ प्रभु से ब्रह्मान्न की याचना करते रहना ही कल्याण का लम्बा किन्तु सफल साधन है। यह सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए आराध्य उपलब्धि की भिक्षाजनित विधि है; किन्तु संघर्षरत साधकों के लिए भिक्षा की आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जन्म-जन्म से चलनेवाला तथा अधिकारी साधक था। पारिवारिक आसक्तिवश स्वजन-सम्बन्धियों में रहते हुए वह परमकल्याण की कामना करने लगता है, बचाव का रास्ता ढूँढ़ने लगता है। कहीं भी उपाय न देखकर भिक्षान्न स्वीकार करने को उद्यत हो

जाता है, किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण-जैसे सद्गुरु की पीयूषवर्षिणी प्रवचन-धारा से अर्जुन की कायरता समाप्त हो गई और वह उस परम पावन पथ में प्रवृत्त हो गया। प्रारम्भ में अर्जुन साधन-पथ पर बिना चले ही, स्वजन-सम्बन्धियों में रहते हुए परमकल्याण की आशा करता है और ऐसा सम्भव न देखकर कृष्णस्वरूप महापुरुष की दया, कृपा से जितना कुछ भिक्षान्न मिल जाय उतने से ही सन्तोष कर लेना चाहता है किन्तु सद्गुरु श्रीकृष्ण उसे उत्साहित कर प्रकृति-पुरुष के युद्ध में लगा देते हैं, साधना की कसौटी पर कसकर, तराश कर परमकल्याण का अधिकारी बना देते हैं।

।। ॐ ।।

शत्रु

कुटिल कर्म ही शत्रु है, आतम हने दुकाम।
महामित्र इक राम है, 'अड़गड़' करनीं थाम।।

भावार्थ– कुटिल कर्म ही शत्रु है। दूषित कुकृत्य ही आत्मा की हत्या है। महानतम सहायक एकमात्र राम हैं। यदि उस राम की आवश्यकता है तो करनी को मन के अन्तराल में रोकने का प्रयत्न करें।

भगवान् कर्ता है अथवा अकर्ता?

प्रश्न – भगवन्! गीता के अनुसार, "निमित्त मात्रो भव सव्यसाचिन्"– मनुष्य तो निमित्त मात्र है, फिर उसे दोषी क्यों ठहराया जाता है? मोटर एक्सीडेण्ट होने पर भी कोई मोटर को दोषी नहीं ठहराता। वह तो चालक की कला की त्रुटि है। अतः भगवान से संचालित जीव को दोषी क्यों कहा जाता है? भगवान के इशारे के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तो मनुष्य को पाप का भागी बनाना कहाँ तक न्याय है?

उत्तर– देखिये, वास्तव में भगवान ऐसा नहीं करते। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! न वह प्रभु करता है, न कराता है और न क्रिया के संयोग को ही जोड़ता है। मान लीजिए वह न करता हो, न कराता हो किन्तु जुगाड़ तो लगा सकता है। किन्तु नहीं; वह क्रिया के संयोग को भी नहीं जोड़ता। इतने पर भी अर्जुन! जो लोग कहते हैं कि परमात्मा करता है उनकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, इसलिए वे कुछ-न-कुछ कहते रहते हैं। वास्तव में भगवान नहीं करते।

इसी को स्पष्ट करते हुए अध्याय अठारह में वे कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच माध्यम हैं- कर्ता, न्यारे-न्यारे करण, नाना प्रकार की चेष्टायें, आधार और दैव। यह मन कर्ता है। जिन साधनों से कर्म किये जाते हैं, करण कहलाते हैं। यदि शुभ कर्म करते हैं तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकान्त-देश का सेवन, धारावाही चिन्तन, प्रवृत्ति, आर्जव इत्यादि करण हैं। इनके द्वारा हम उधर प्रवृत्त होते हैं। यदि अशुभ कर्म होता है तो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, अनन्त चेष्टायें इत्यादि करण होंगे। इनके द्वारा ये कर्म रूप लेते हैं। इच्छायें अनन्त होती हैं, चेष्टायें भी नाना प्रकार की होती हैं लेकिन सबकी पूर्ति नहीं होती। उनमें से जिस इच्छा के साथ आधार मिल जाता है, अनुरूप वातावरण मिल जाता है, वही आधार है और पाँचवाँ हेतु दैव है। दैव होनी या प्रारब्ध को कहते हैं। शुभ या अशुभ कर्म के होने में बस ये पाँच कारण हैं, फिर भी जो कहता है कि कैवल्य स्वरूप परमात्मा कर्ता है, प्रेरक है, वह अविवेकी है। वह यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते।

महाभारत के युद्ध में उस अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में, जो महाभारत की गणना के अनुसार लगभग चालीस लाख होता है, वर्तमान गणना के अनुसार छः अरब होता

है, केवल अर्जुन ही भगवान का निकटवर्ती रहा जिसके लिए भगवान स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं- **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** *(गीता, ११/३३)* अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खड़ा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। मैं निश्चित कहता हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। तेरे लिए मैंने पहले ही इनको मार रखा है। भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि सभी मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इन मारे हुए को मार और यश प्राप्त कर।

लीजिए! एक स्थल पर कहते हैं कि कैवल्यस्वरूप परमात्मा को कर्ता माननेवाला मूढ़बुद्धि है, अविवेकी है, उसकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, वह यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते और यहाँ भगवान स्वयं खड़े हो गये कि अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खड़ा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। मुझ पर भरोसा रख। मेरे आश्रित हो।

अन्ततः वह महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वास्तव में भगवान और माया के बीच में 'ग्रेविटी' है, एक रेखा है। एक निर्धारित अवस्था तक माया प्रेरणा करती है, उसके पश्चात् ईश्वर प्रेरक हो जाता है। साधना के सही दौर में पड़कर निर्धारित सीमा पार कर लेने पर ईश्वर प्रेरक हो जाता है। जब तक साधक माया के क्षेत्र में है तब तक उससे प्रत्येक कार्य के होने में न्यारे-न्यारे करण ही माध्यम हैं। किन्तु जब साधक माया की परिधि पार कर ले जाता है, ईश्वरीय आकर्षण-क्षेत्र तक पहुँच जाता है, ऐसे पथिक की बागडोर इष्टदेव अपने हाथ में ले लेते हैं। ऐसे भक्त के लिए वे स्वयं कटिबद्ध रहते हैं और यहाँ तक कि **'जहाँ भगत मेरो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ। पाछे लागा सदा रहूँ, कबहूँ न छाड़ूँ साथ।।'** इस अवस्था के पश्चात् यदि कोई पथिक स्वयं पतित होना चाहे तो हो नहीं सकता। भगवान उसे पतित होने ही नहीं देंगे। वे बचा लेंगे, जैसे नारद को बचाया। अर्थात् उस सीमा के पार होने के बाद भगवान करते हैं।

अतः प्रत्येक पुरुष को चाहिए, चाहे वह गृहस्थ आश्रम में रहे या कहीं भी रहे, प्रातः-सायं नियमित रूप से उस आराध्य देव के स्वरूप का चिन्तन करे। रुचि के अनुसार किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम को ले ले। श्रीकृष्ण ने तो ओम् जपने का निर्देश दिया है, **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।'** *(गीता, ८/१३)*- अर्जुन! 'ओम्' अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका तू जप कर और ध्यान मेरे स्वरूप का धर। मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण कर। ध्यान मेरा और नाम ओम् का जप।- क्योंकि प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक

महापुरुष का नाम वही होता है जिसे वह प्राप्त है। अतः परमात्मा श्रीकृष्ण एक योगेश्वर थे, सद्गुरु थे।

प्रश्न– महाराजजी! कृष्ण-कृष्ण कहना यदि अपराध है तो जो लोग कृष्ण का जप करते हैं, क्या वे भ्रम में हैं?

उत्तर– देखिये, 'कृष्ण कृष्ण जप'– ऐसा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नहीं कहा। इतना ही नहीं, अर्जुन को कृष्ण कहना अपराध प्रतीत हुआ।

प्रारम्भ में अर्जुन श्रीकृष्ण को सखा मानता था। बुद्धि में कुछ उनको तेज अवश्य मानता था किन्तु धनुर्धरों में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानता था। श्रीकृष्ण का विराट् रूप देखने पर अर्जुन बहुत भयभीत हुआ। वह गिड़गिड़ाने लगा। क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा। कहने लगा– भगवन्! आपको न महर्षिगण जानते हैं और न देवता ही जान पाते हैं; क्योंकि आप ही सबके आदि कारण हैं। आप स्वयं ही अपने आपको जानते हैं। मैंने कभी आपको हे सखा!, हे यादव!, हे कृष्ण! कहकर सम्बोधित किया था।– इन त्रुटियों के लिए आप मुझे क्षमा करें। पिता जैसे प्रिय पुत्र की भूलों को क्षमा करता है, सखा जैसे सखा की भूलों को सहन करता है, इसी प्रकार मेरी उन त्रुटियों को भी आप क्षमा करें। जब अर्जुन ने ऐश्वर्य विभूतियुक्त उस परम स्वरूप को देखा तब उसने महसूस किया कि ये न कृष्ण (काले) हैं न गोरे, न सखा हैं न यादव। यह तो अनन्त, अव्यक्त, शाश्वत, सनातन, परात्पर ब्रह्म हैं। इस प्रकार अर्जुन ने कृष्ण कहने की अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की। यह तो अर्जुन की अनुभूति थी कि कृष्ण कहने में उसे संकोच हो रहा था। क्योंकि वे रंग-रूप से परे हैं। कालान्तर में भाविक भक्तों ने उनका नाम भी जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार उसका फल भी पाते हैं। ईश्वर का कोई भी नाम श्रद्धा और विश्वास से जपने से निश्चय कल्याण होता है।

अतः श्रद्धानुसार कोई भी दो-ढाई अक्षर का नाम ॐ, राम, शिव, कृष्ण में से लें। उसका चिन्तन करें और उसी के अर्थस्वरूप इष्ट का ध्यान करें। यदि सद्गुरु मिल जायेंगे तब तो सोने में सुगन्ध ही है। वे नाम का जो वास्तविक प्रवेश है, उसकी जागृति एवं संचार करा देंगे, जो यथार्थ है। नहीं तो **'यथाभिमतध्यानाद्वा।'** (पातञ्जल **योगदर्शन, १/३९**) जो आपके अभीष्ट मत में सहायक हो ऐसे किसी का भी स्वरूप पकड़ लें। इससे आपका पुण्य और पुरुषार्थ बढ़ेगा, जिससे आप शनैः-शनैः प्रकृति के क्षेत्र से पार होते जायेंगे और जहाँ इष्ट के आकर्षण क्षेत्र में आप पहुँचे तहाँ फिर वह प्रभु ही संचालक हो जायेगा।

गीता के अध्याय नौ में श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! मैं अव्यक्त हूँ। सबमें समान रूप में व्यापक हूँ। मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय है किन्तु जो मेरा अनन्य भक्त है वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ। अर्थात् भक्तों के लिए ही वे रथी हैं। 'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन' *(मानस, ७/११२/१)* अवश्य हैं; किन्तु 'सो केवल भगतन हित लागी।' *(मानस, १/१२/५)*- भक्त के लिए भगवान सदैव तत्पर हैं।

॥ ॐ ॥

देवता

सभीं जगत के देवता, जोर लगावे जाय।
जब लगि सतगुरु सीख ना, मूरख गोता खाय।।
प्रथम सीढ़ी के देवता, अवसि लगावे पार।
आगे सीढ़ी अनन्त की, गुरु महिमा आधार।।
देवन पूजा एक तक, अरथ पाय बस बोल।
मन चाहो परतत्व को, सतगुरु संगत डोल।।

–स्वामी अड़गड़ानन्द

योगविधि ही यज्ञ है, जगत् हवन-सामग्री है

प्रश्न- महाराजजी, भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार, यज्ञ सम्पूर्ण पापों से निवृत्ति दिलाता है। (गीता, ३/१३) यज्ञ की पूर्तिकाल में यज्ञकर्ता पुरुष सनातन ब्रह्म का दर्शन पाता है और उसी ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है (गीता, ४/३१)। यज्ञ तो होते ही रहते हैं किन्तु सनातन ब्रह्म जैसा सर्वोत्कृष्ट परिणाम देखने को नहीं मिलता। अतः यज्ञ का स्पष्ट स्वरूप बताने की कृपा की जाय?

उत्तर- महाराजजी ने बताया, "हो! भगवान ने स्वयं यज्ञ का रूप समझाया है। गीता के अनुसार योगविधि यज्ञ है, **'दैवमेवापरे यज्ञम्'** *(गीता, ४/२५)*- जिसमें बहुत से योगी अपने हृदय में दैवी सम्पत्ति को अर्जित करते हैं। अन्य बहुत से योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। साधना और उन्नत हो जाने पर-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। *(गीता, ४/२७)*

सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को, प्राणों के व्यापार को, ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मा में संयमरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मा के मिलन का नाम योग है। साधना और उन्नत हुई तब वही योगी श्वास को प्रश्वास में तथा प्रश्वास को श्वास में हवन करते हैं अर्थात् वे श्वास से जप करते हैं। साधना और उन्नत हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोककर प्राणायाम के परायण हो जाते हैं। न हृदय के अन्तराल में किसी संकल्प का अभ्युदय होता है और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प अन्दर प्रवेश कर पाते हैं। प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाना- प्राणायाम मन की निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है। वह सनातन ब्रह्म का दर्शन और प्रवेश पा जाता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। *(गीता, ४/३१)*

प्रश्न यह है कि यज्ञ करने का अधिकार किसे है? अगली ही अर्धाली में कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष के लिए पुनः मनुष्य शरीर सुलभ नहीं है तो परलोक कैसे सुलभ होगा? अर्थात् यज्ञ करने का अधिकार मानव-तन को है। उनका जन्म चाहे जहाँ हुआ हो - उत्तरी ध्रुव में, अरब, आस्ट्रेलिया या भारत में- इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इस प्रकार योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने यज्ञ के तेरह-चौदह बिन्दुओं पर प्रकाश डाला, जैसे- आरम्भ में किसी यज्ञस्वरूप तत्त्वदर्शी महापुरुष के प्रति समर्पण, उनके स्वरूप को हृदय में पकड़ना, उन महापुरुष के द्वारा ही साधन को आगे बढ़ाना, दैवी सम्पद् को हृदय में अर्जित करना, जो परमदेव परमात्मा के देवत्व तक की दूरी तय करा दे।

देवत्व अर्जित करने के लिए संयम आवश्यक है। इसलिए इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को **'संयमाग्निषु जुह्वति'** *(गीता, ४/२६)*- संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। आप एकान्त में बैठे हैं, किन्तु कोई शब्द इत्यादि कान में पड़ते हैं तो उनके आशय को बदलकर योगपरक बनाकर ग्रहण कर लेना और जब ईश्वरीय अनुभूति का संचार हुआ तो योगाग्नि में हवन, श्वास-प्रश्वास का जप, प्राणों के व्यापार का निरोध, निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम सनातन शाश्वत ब्रह्म-दर्शन, स्पर्श और स्थिति यह सब यज्ञ है।

इस यज्ञ में कहीं भी अग्नि नहीं जलती और न ही तिल, यव का हवन या किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता ही होती है। आवश्यकता है तो केवल अपने ही मन के संयम की; क्योंकि संसार मन के अन्तराल में ही विद्यमान है। और जहाँ निरुद्ध मन का भी विलय हुआ, संसार विलीन हो जाता है- **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।'** *(गीता, ५/१६)* उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में (मृत्यु के पश्चात् नहीं) सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, जिनका मन समत्व में स्थित हो गया। समत्व की स्थिति और संसार के जीतने से क्या सम्बन्ध? वस्तुतः ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी निर्दोष और सम की स्थितिवाला हो गया इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। संसार से सम्बन्ध-विच्छेद और ब्रह्म से सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतः वह शाश्वत सनातन ब्रह्म के दर्शन के साथ ही उसमें स्थित हो जाता है।

सात्विक पुरुष इसी यज्ञ को समर्पण के साथ श्रद्धापूर्वक करते हैं। राजसी पुरुष इसी यज्ञ को कामना व दम्भ से युक्त होकर करते हैं; किन्तु तामसी पुरुष यज्ञ के नाम पर कुछ गढ़ लेते हैं। नाम तो यज्ञ ही रहता है किन्तु यज्ञ रहता नहीं। "आसुरी वृत्ति को प्राप्त पुरुष कहता है- मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, यश को प्राप्त करूँगा। वह शास्त्रविधि से रहित नाममात्र के यज्ञ को दम्भपूर्वक करता है। किन्तु अर्जुन! वह अन्तर्यामी रूप से अपने और दूसरे के हृदय में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाला होता है, न कि भजता है। ऐसे क्रूरकर्मी, पापाचारी, नराधमों को मैं बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ।" *(गीता, १६/१७)* मनुष्य से शत्रुता करके लोग बच भी जाते हैं किन्तु यहाँ तो

भगवान से ही शत्रुता हो गयी। ऐसे आसुरी स्वभाववाले क्या बच जायेंगे? भगवान कहते हैं- नहीं! वे क्रूरकर्मी हैं, पापाचारी हैं। भले ही यज्ञ का नाम दे रखा हो किन्तु वे शुद्ध पाप का आचरण करनेवाले हैं। वे नराधम अर्थात् मनुष्यों में अधम हैं। ऐसे लोग भगवान को प्राप्त न होकर उत्तरोत्तर निम्न योनियों में ही गिरते हैं। उत्तरोत्तर अधम योनियों में पतन ही नरक है।

अतः यज्ञ के नाम पर कुछ भी कर डालना यज्ञ नहीं है। यज्ञ एक निश्चित विधि है। वह भगवान के श्रीमुख से गीता में अभिव्यक्त है। किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा ही उस यज्ञ का सूत्रपात होता है, उसकी जानकारी होती है, इसलिए सन्तों की संगति करनी चाहिए। किसी अच्छे महापुरुष का शरण-सान्निध्य, घड़ी-आध घड़ी उनकी टूटी-फूटी सेवा से भजन की जागृति और यज्ञ में प्रवेश मिल जाता है।

।। ॐ ।।

एक भाविक का प्रश्न

प्रश्न– *एक समय पूज्य महाराजजी से एक भाविक ने प्रश्न किया, "महाराजजी! यह रामायण तेली, कुम्हार, श्वपच, कोल, किरात और कलवारों को अधम पुकारती है। जिससे प्रतीत होता है वर्ण कोई धर्म नहीं है। यह तो मनुष्यों का बँटवारा है। इस पवित्र रामायण में जहाँ* 'मानउँ एक भगति कर नाता' *वहाँ यह वर्णाधम और वर्णीय चित्रण का अभिप्राय क्या है?*

उत्तर– महाराजजी ने बताया कि सत्पुरुष का सान्निध्य न प्राप्त होने से ऐसी भ्रान्तियों का सृजन हो जाया करता है; वस्तुतः रामायण में ऐसी भ्रान्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। आपकी जिज्ञासा उत्तरकाण्ड के कागभुशुण्डि–गरुड़ संवाद प्रकरण की है। जिसमें कागभुशुण्डिजी ने अपने से लाखों वर्ष पूर्व के एक कल्प में दोषों से परिपूर्ण युग कलियुग का चित्रण किया है, जिसमें सभी स्त्री–पुरुष अधर्म परायण और वेद के प्रतिकूल आचरणवाले थे। **'कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्गन्थ।'** *(मानस, ७/९७)*, **'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।'** *(मानस, ७/९७/१)* न तो वर्ण–धर्म थे और न उनके पालन का स्थान ही। **'बरनाश्रम धर्म अचार गए।'** *(मानस, ७/१०१/छन्द ४)*– वर्ण–धर्म के आचरण तिरोहित हो गये, समाप्त हो गये। सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये फिर भी दम्भियों ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके धर्म के नाम बहुपंथ प्रगट कर दिया, जैसे– **'मिथ्यारम्भ दम्भ रत जोई। ता कह संत कहइ सब कोई।।'** *(मानस, ७/९७/४)* झूठ–मूठ का कोई आडम्बर खड़ा कर दिया। लोग कहने लगे–अच्छे सन्त हैं। **'पर त्रिय लंपट कपट सयाने।' 'तेइ अभेद वादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर।।'** *(मानस, ७/९९/१–२)* आचरणहीन अपने को अभेदवादी कहने लगे। ज्ञानी कहलाने लगे। उन्हीं दम्भियों ने मनुष्य–मनुष्य में ऊँच–नीच का बँटवारा भी कर दिया और वर्ण–धर्म को मान्यता दे दी। **'जे बरनाधम तेलि कुम्हारा।'** *(मानस, ७/९९/५)*– तेली–कुम्हार अधम हैं– यह उन दम्भियों के हृदय की उपज थी, न कि यह रामचरित मानस में प्रतिपादित सिद्धान्त है। उन्हें अधम कहना धर्म नहीं है। धर्म तो ग्रस लिया गया था। तुलसीदासजी इस अधमता को अस्वीकार करते हैं तभी तो इसे दम्भियों की व्यवस्था कहते हैं। उन दिनों निरक्षर, लोलुप, कामी, आचरणहीन, शठ तथा वृषली स्त्रियों के स्वामी भी विप्र बन बैठे थे। **'द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी।'** *(मानस, ७/१००/छन्द)*– उनकी पहचान जनेऊ थी। विचार करें, जब विप्र के यही लक्षण हैं तो इनसे सेवा लेने पर उभय लोक कैसे नष्ट होगा? यह तो लाखों वर्ष पूर्व घटित कागभुशुण्डिजी का मात्र

संस्मरण है। उसके एक हजार जन्मों के पश्चात् वे स्थितप्रज्ञ महापुरुष हुए। सत्ताइस कल्पों तक उन्होंने नीलगिरि पर निवास किया। तब से अब तक के अन्तराल पर ध्यान न देकर उसे आज के समाज का चित्रण मान बैठना भ्रान्ति नहीं तो क्या है?

रामराज्य में वर्णधर्म की पुनः स्थापना हुई। **'बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग।।'** *(मानस, ७/२०)* राम के राज्य में (परमात्मा के पथ में जहाँ प्रवेश मिल गया उसके पश्चात्) साधक अपने-अपने वर्ण अर्थात् नियतकर्म को करने की क्षमता अनुसार 'निरत' अर्थात् विरक्त होकर **'चलहि वेद पथ लोग'**- वेद अर्थात् अन्तःकरण में मिलनेवाले ईश्वरीय निर्देशनों के आलोक में अहर्निश चलते हैं। जिसके परिणाम में भय, रोग, शोक और वियोग से परे शाश्वत सुख की प्राप्ति करते हैं।

रामराज्य में **'राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।'** *(मानस, ७/२०/४)* - चारों वर्णों के लोग एक परमात्मा राम की ही भक्ति करते थे। नारियों को भजन का समान अधिकार था। सभी वर्णों के नर-नारी परमगति, मोक्ष के अधिकारी थे।

'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।'- रामराज्य में चारों वर्णों के लोगों की अल्पमृत्यु नहीं होती थी क्योंकि इस साधन-पथ में बीज का नाश नहीं है। **'सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।।'** (मानस, ७/२०/५) - चारों वर्णों के लोग सुन्दर और नीरोग होते थे। ज्यों-ज्यों कोई ईश्वर-पथ पर अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों ईश्वरीय आभा प्रस्फुटित होने लगती है। 'काम वात कफ लोभ अपारा'- जैसे रोगों से मुक्ति मिलने लगती है। इस पर चलनेवाले साधक को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आक्रान्त नहीं कर पाते। **'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।'**- आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। एक बार मिल जाने पर यह कभी आपका साथ नहीं छोड़ती। इस सम्पत्ति का प्राप्तकर्ता कभी अपने को असहाय नहीं पाता। ईश्वर का वरदहस्त सदैव उसे प्राप्त रहता है। **'नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।'** *(मानस, ७/२०/६)* साधक की जो श्रेणी है उसी स्तर का निर्देशन प्रभु से मिलता रहता है। यह वेद-पथ प्रभु पढ़ाते हैं और वह समझता है। इसलिए सबके सब प्रबुद्ध हैं। कल्याण के जो लक्षण चाहिए सब उसमें विद्यमान हैं। **'सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी।'** *(मानस, ७/२०/८)*- रामराज्य में शूद्र हैं अवश्य, वैश्य भी हैं किन्तु हैं वे पण्डित! अपनी श्रेणी का उन्हें भली प्रकार बोध है। प्रश्न-परिप्रश्न या शंका-समाधान-हेतु उन्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं रहती। अपौरुषेय वाणी ही उनका सदा समाधान करती है। उन्हें आवश्यकता है तो सदा केवल गन्तव्य पर चलने

की। चित्त की स्थिति में परिवर्तन होते ही भगवान उन्हें तुरन्त बता देते हैं। सभी कृतज्ञ, प्रत्युपकार-परायण तथा निश्छल हैं।

रामराज्य में सरयू के राजघाट पर चारों वर्णों के लोग भेदभाव की भावना से मुक्त होकर एक साथ स्नान करते थे। अस्पृश्यता की गर्हित प्रथा संज्ञान में न थी। वास्तव में यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। इस श्वास के जप में अल्पज्ञ श्रेणीवाले का मन कम, मध्यमा श्रेणीवाले का उससे अधिक लगता है, जबकि ब्राह्मण श्रेणीवाला ध्यानस्थ होकर समाधिस्थ हो जाता है। कोई उन्नत अवस्था में है तो कोई आरम्भिक स्तर पर है। किन्तु घाट तो एक ही है जहाँ चारों वर्णों के साधक पहुँचते और स्नान करते हैं। जो भी रामराज्य की परिधि में आता है उसे चार वर्णों के क्रमोन्नत साधन में प्रवृत्त होना है, और यही धर्म है।

जाति-पाँति कोई धर्म नहीं है। सम्पूर्ण रामचरितमानस में कहीं भी इस कुत्सित प्रथा का समर्थन नहीं किया गया है। मनुष्य किसी-न-किसी व्यवसाय से विभूषित परिवार में जन्म लेता है, कोई महर्षि कुम्भज की तरह घड़े में पड़ा मिलता है। वह जाति नहीं, केवल मनुष्य के रूप में जन्म लेता है। वह भगवान की करुणा का परिणाम है, भाग्यशाली है, क्योंकि मानव-तन साधन का धाम है, मोक्ष का दरवाजा है। कुलीन अथवा खाते-पीते परिवार को ही भगवान के यहाँ वरीयता मिलने जैसी भी कोई बात नहीं है। मानव-शरीरं किसी कुलीनता की अपेक्षा नहीं रखता। वह कर्मों का रचयिता है, संस्कारों का दास नहीं। मनुष्य शरीर मिल गया तो आपका भाग्य पूर्ण है। केवट लोक-वेद दोनों में सब प्रकार से नीच माना जाता था। **'साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा।।'** *(मानस, २/१८६/७)*- उसके भाग्य में राम-भक्ति की रेखा नहीं थी; किन्तु जब राम ने अपना लिया, **'राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें।।'** *(मानस, २/१९५/२)*- वह तीनों लोकों में पवित्र पुरुष हो गया। भगवान को प्राप्त कर लिया। जिसकी छाया छू जाने मात्र से स्नान करने का विधान समाज ने बनाया था, वह भी भगवान को पा गया। वशिष्ठ ने उसे गले लगाया। आज लोग किसी गरीब को अपनाते हैं तो कहते हैं कि वह हमारा है, किन्तु वहाँ नीचे जमीन पर बैठो- भगवान इस तरह से नहीं अपनाते हैं। केवट को उन्होंने कहा, **'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेउ पुर आवत जाता।।'** *(मानस, ७/१९/३)*- तुम मुझे उतने ही प्रिय हो जितना भरत। हे तात! सदैव आते रहना। अपने घर का दरवाजा ही खोल दिया। आप्तपुरुषों की वाणी में जाति की पैरवी कहीं नहीं है।

उन भाविक ने पुनः निवेदन किया, "भगवन्! वाल्मीक रामायण में है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने शम्बूक का मात्र इसलिए वध किया था कि वह शूद्र होकर तपस्या कर रहा था- इसका क्या आशय है? क्योंकि वाल्मीकि भी अस्पृश्य श्रेणी से उठे थे। उन्हें तो राम ने सादर दण्डवत् किया था- **मुनि कहुँ राम दण्डवत कीन्हा।'** *(मानस, २/१२४/१)*

पूज्य महाराजजी ने उन्हें बताया कि यह भी एक आध्यात्मिक, साधनात्मक कथानक है कि शम्बूक ने तपस्या आरम्भ की, जिससे ब्राह्मण बालक मर गया। वर्षों तक इसके कारण की शोध चलती रही। राम ने उधर तलवार से शिरोच्छेदन किया, इधर बालक जी उठा। बिना किसी शल्य-क्रिया के ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा अभी तक देखने-सुनने में तो नहीं आयी।

शम्बूक शूद्र था अर्थात् अल्पज्ञ श्रेणी का आरम्भिक साधक था। ऐसे साधक प्रायः उच्छृंखल हो जाते हैं, **'सोचिइ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी।।'** *(मानस, २/१७१/६)*- शूद्रकाल में कागभुशुण्डिजी से भी ऐसी भूल हुई थी। उन्होंने न केवल भजन में बैठने की भूल की अपितु (विप्र अवमानी) गुरुदेव का अपमान कर बैठे, जिसका प्रायश्चित उन्हें करना पड़ा। अल्पज्ञ साधक उन्नत साधकों की नकल करने लगते हैं। इससे उनमें उन्नत अवस्था तो नहीं आती प्रत्युत आरम्भिक स्तर की साधनात्मक जागृति भी प्रसुप्त हो जाती है। यही ब्राह्मण बालक का मरना है। शम्बूक समत्व की वृत्ति की नकल करनेवाले साधक का प्रतीक है। वह वृक्ष में उलटा लटककर तपस्या कर रहा था। **'संसार बिटप नमामहे'** *(मानस, ७/११/छन्द ५)*- वह संसार-वृक्ष में, गर्भवास में उलटा लटका हुआ था; किन्तु शम्बूक समत्व प्राप्त ब्रह्मस्थित महापुरुष की नकल करने में लगा था। इससे जो ब्रह्म-आचरण जागृत हुआ था वह भी प्रसुप्त हो जाता है; किन्तु जब भगवान रथी हो जाते हैं तो साधक को पतित होने नहीं देते। त्यागरूपी तलवार से वे उसे उस स्तर से गिरा देते हैं। वर्षों का मरा हुआ ब्राह्मण बालक जी उठता है। ब्रह्माचरण पुनः जागृत हो जाता है और इस प्रकार योग की साज-सँभार करते उसे लक्ष्य तक की दूरी तय करा देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं **'परधर्मो भयावहः'** *(गीता, ३/३५)*- अल्पज्ञ श्रेणीवाला साधक, यदि उन्नत की नकल करता है तो भय अर्थात् आवागमन को प्राप्त हो जाता है। स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार आचरण करनेवाला क्रमशः परमश्रेय को प्राप्त कर लेता है।

।। ॐ ।।

धर्म के नाम

पूज्य गुरु महाराज जी के समक्ष भक्तों द्वारा जब 'हिन्दू' के विषय में पूछा गया तब पूज्य गुरुदेव ने कहा, "हो! नाम तो प्राचीन है क्योंकि भारत के सुदूर वनप्रान्तों - असम, मेघालय, ब्रह्मा, बहुत दूर-दूर तक जहाँ इस्लाम धर्म की व्यवस्थाएँ नहीं थीं, वहाँ भी पूर्ण श्रद्धा से स्वीकृत है।" 'ग्यारह सौ वर्ष पूर्व सिन्धुघाटी से यह नाम उत्पन्न हुआ'- यह बात आधारहीन है। मूलभाषा संस्कृत, धर्मशास्त्र गीता और गौरवपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ महाभारत, जिसमें सृष्टि के आरम्भ से द्वापर तक का गौरवपूर्ण इतिहास वर्णित है- इन सब पर कड़े प्रतिबन्ध लग जाने से इन भ्रान्तियों ने जन्म लिया कि 'हिन्दू' शब्द कहाँ से आया, आर्य कहाँ से आये और सनातन क्या है? किन्तु यह सब गीतोक्त शब्द हैं।

गीता के आरम्भ में ही भगवान ने कहा-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। *(गीता, २/२)*

अर्जुन! इस विषम-स्थल में तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? न यह कीर्ति बढ़ानेवाला है, न कल्याण करनेवाला है, न ही पूर्व वरिष्ठ महापुरुषों ने भूलकर इसका आचरण ही किया। **'अनार्यजुष्टम्'**- यह अनार्यों का आचरण तुमने कहाँ से सीखा? गीता आर्य-संहिता है। सिवाय आत्मा के किसी का अस्तित्व नहीं है। जो उस परमात्मा के प्रति निष्ठावान है, आर्य है। उस आत्मा को विदित करने की विधि (योग-विधि) यज्ञ को जो आचरण में ढालता है, वह आर्यव्रती है और इसके परिणाम में जिसकी आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है- वह आर्यत्व-प्राप्त है।

आत्मा सनातन है। जो उसका पुजारी है, सनातनधर्मी है। उस परमात्मा का निवास बताते हुए भगवान कहते हैं-

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। *(गीता, १३/१७)*

अर्जुन! वह ज्योतियों का भी ज्योति है, अन्धकार से अति परे कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, पूर्णज्ञाता, जानने योग्य और ज्ञान द्वारा सुलभ परमात्मा सबके हृदय-देश में निवास करता है। हृदय में निवास कर वह करता क्या है? इस पर अध्याय १५/१५ में कहते हैं-

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।

अर्जुन! मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ। मुझसे ही स्वरूप की स्मृति, अनुभवी उपलब्धि और बाधाओं का शमन होता है। वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदान्त का कर्ता और वेदवित् भी मैं ही हूँ। अठारहवें अध्याय में भगवान ने बताया- **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** *(गीता, १८/६१)* अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों अर्थात् प्राणियों के हृदय में निवास करता है। इतना समीप है तो लोग जानते क्यों नहीं? भगवान बताते हैं कि मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर सब लोग भ्रमवश भटकते ही रहते हैं, इसलिये नहीं जानते।

जब ईश्वर हृदय में है तो शरण किसकी जायँ? पूजा किसकी करें? अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। *(गीता, १८/६२)*

अर्जुन! उस हृदयस्थ ईश्वर की शरण जाओ, सम्पूर्ण भाव से जाओ। उसकी कृपा-प्रसाद से तू परमशान्ति, शाश्वतधाम को प्राप्त कर लोगे। इसी हृदयस्थ ईश्वर के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति 'हिन्दू' कहलाता है। जगत्‌रूपी रात्रि के अन्धकार में भी उस ज्योतिर्मय परमात्मा का प्रकाश सदा प्रवाहमान है, प्रेरणा देता रहता है। रात्रि में तो चन्द्रमा (इन्दु) ही प्रकाश करता है, अतः 'हृदि इन्दु स हिन्दू'- प्रत्येक को इसी का साधक होना है। सृष्टि में मानवमात्र को इसी की शरण जाना है, इसलिये 'हिन्दू' शब्द सार्वभौम है। जो आशय हिन्दू का है, वही सनातन का है और वही आर्य का है। अस्तु, अस्तित्व के प्रति निष्ठावान 'आर्य', सनातन आत्मा में श्रद्धा रखनेवाले 'सनातनधर्मी' और हृदयस्थ ईश्वर का उपासक होने से 'हिन्दू' कहलाते हैं। कालक्रम से बदलते हुए ये तीनों नाम पर्याय हैं, एक ही सन्दर्भ के संदेश हैं और इन सबका एक ही धर्मशास्त्र 'गीता' है।

।। ॐ ।।

सन्तों का उद्भव एवं उनकी परम्परा

परमपूज्य परमहंसजी का जीवन पूरा का पूरा उन महापुरुषों से मिलता है, जो आदि से लेकर आज तक होते आये हैं; जैसे- राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि से लेकर तुलसी, कबीर आदि हुए हैं। आज का मानव इन प्राचीन महापुरुषों को जिन युक्तियों के द्वारा सम्बोधित करता है, उनका यही तो रूप है कि दो या तीन को जीवनदान, कुछ रोगियों एवं पागलों का ठीक होना आदि। पूज्य परमहंसजी में इन सब का पाया जाना एक साधारण बात थी। मनुष्य अपने समझने के लिए चाहे जो भी बना ले, परन्तु उन महापुरुषों के अन्दर की वस्तु यह नहीं है। मारने, जिलाने अथवा रोग-निवारण से उन महापुरुषों की उपलब्धि का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो उनकी ऐसी आभा है जो स्वाभाविक घटित होती रहती है। जब कोई चलकर वास्तव में ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब ये रश्मियाँ स्वाभाविक कार्य करती रहती हैं और भली-बुरी जैसी जिनकी मनःस्थिति पाती हैं, वैसा ही उनका निदान करती रहती हैं। हाँ, प्राचीन महापुरुषों के पीछे अनुयायियों ने शनैः-शनैः पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुछ न कुछ उपाधि देते हुए अवतार आदि बड़ी-बड़ी संज्ञाओं से विभूषित कर दिया और अपने-अपने लिए प्रतीक बना लिया; किन्तु महापुरुषों के यहाँ भेदजन्य संघ या संस्था नहीं होती।

महापुरुष किसी देश-काल में जब भी हुए हैं, वास्तव में उन्होंने उस परमसत्ता को एक ही जैसा पाया है। कारण कि सबके ऊपर नियंत्रण करनेवाली परमसत्ता एक ही जैसी रहा करती है अर्थात् वह भगवान एक ही जैसा है। यदि वास्तव में किसी ने उस परमात्मा की उपलब्धि की है तो वह समाज के बीच दरार नहीं डाल सकता। तुम खुदा के साथ हो गये और हम गॉड के- इसी प्रकार अनन्त शाखाएँ हो सकती हैं। यदि कोई दलबन्दी की दरार डालता है तो सिद्ध है कि अभी वह पाया नहीं है। महापुरुष के लिए आप सब एक ही मानव के रूप में हैं। यदि आप अधिकारी की स्थिति में हैं तो महापुरुष प्रकृति के दलदल की एक सीमा से उठाकर दूसरी सीमा को पार कराता है।

महापुरुष जिस इष्टमयी युक्ति से पथिक को साधना में उत्तरोत्तर उठाते हैं वह लिखने में नहीं आती। अधिकारी के हृदय में स्वयं महापुरुष प्रेरक के रूप में खड़े हो जाते हैं। अधिकार के अर्जन में हममें सर्वभावेन श्रद्धा एवं लगन की आवश्यकता है। इसमें किसी जाति व कुल के लिए प्राथमिकता हो, यह भूल है।

जब प्राचीन कथानकों पर दृष्टि डाली जाती है तो उनमें किसी जाति-विशेष का वर्णन नहीं मिलता। देवासुर-संग्राम में दो जातियों का अभ्युदय हुआ, पहली देवता एवं

दूसरी असुर। उसके बाद यक्ष, रक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग और यवन के रूप में मनुष्य का जन्म हुआ एवं आगे चलकर इस मनुष्य ने वानर, रीछ, मण्डूक आदि में पलटा खाया। शनैः-शनैः मानव आर्य का रूप लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में बदल गया। यह बदलना बन्द नहीं होगा, कारण कि यह सामाजिक सद्व्यवस्थाओं का चक्र है। मनुष्य सदैव अपने रहन-सहन के तरीके को सुलझाता आया है, यही कारण है कि अपने को दलों में विभक्त कर अनेक रूढ़िगत परम्पराओं का अनुयायी बताने लगा है। हो सकता है कि आगे चलकर मानव और कोई रूप ले ले, क्योंकि प्रत्येक द्वीप में यही होता आया है। इन शारीरिक व्यवस्थाओं के सुधार से उस परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। उस परमात्म-धर्म की प्रक्रिया मन से क्रियान्वित होती है और क्रमशः मन के अचल, स्थिर व पूर्ण निरोध हो जाने पर इष्ट-दर्शन के साथ पूरी होती है।

यदि अनुराग व विरह-वैराग्य है तो आवश्यक नहीं कि आप सही माता-पिता के पुत्र हों तभी ब्रह्मर्षि व सन्त की स्थिति में आयेंगे। महर्षि वशिष्ठ उर्वशी के उदर से उत्पन्न हुए थे, परन्तु उनके ब्रह्मत्व में कोई कमी नहीं थी। महर्षि वाल्मीकि कोल के संयोग से और ब्रह्मर्षि व्यास मछोदरी (मत्स्यपालिका) के संयोग से उत्पन्न हुए थे किन्तु उनके ऋषित्व में कोई अन्तर नहीं था। कबीर तालाब के किनारे शैशवकाल में मिले। ईसा अपनी माँ के अविवाहित काल में ही सात माह के उदर में थे, इतने पर भी पूर्ण सन्त हुए। अतः भगवत्-पथ में माता-पिता की त्रुटियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, भगवत्-पथ का पथिक इन्द्रिय-संयम की पूर्ण कसौटी के बिना उस लक्ष्य को नहीं पाता। चिन्तन की प्रवेशिका से ही यह संयम आवश्यक है।

अब इन महापुरुषों को विशेष तारीफ का कलेवर पहना देना तो उन लोगों की देन है जो महापुरुष को हृदय से पकड़ने में असफल रहे और कोरी भावुकता से भरे हैं। अब उन महापुरुषों पर विचार करें, जिनके पीछे संकीर्णता पैदा हो गई है, जिनके परिणामस्वरूप संघ का निर्माण हो गया। भावुक उन्हें ईश्वर का इकलौता बेटा कहते हैं। बड़े-बड़े अक्षरों में इतना अवश्य लिख देते हैं कि ईश्वर ने अपने इकलौते बेटे को स्वर्ग से भेजा। इसका मतलब अब ईश्वर के पास कोई और पुत्र नहीं है एवं कोई दूसरा पुत्र हो भी नहीं सकता; किन्तु महात्मा ईसा ने बताया कि केवल मैं ही ईश्वर का पुत्र हूँ, अब नहीं होंगे, ऐसी बात नहीं। ईसा ने कहा- मेरे पास आओ, इसलिए कि ईश्वर के पुत्र कहलाओगे। सन्त के पास आने का तात्पर्य है- सन्त के साधना स्वरूप में आना।

कबीर के अनुयायी कहते हैं कि तालाब के किनारे वह प्रकाश एकत्रित हुआ और बालक बन गया- यह कोरी भावुकता है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि भविष्य में कोई

कबीर होना ही नहीं चाहिए। अतः परमात्मा ही पिण्डरूप में ढल गया, किन्तु उन महापुरुष ने अपनी वाणी में अपना परिचय देते हुए कहा है कि--

कबिरा कबिरा क्या करै, सोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बस करै, सोई दास कबीर।।

जब कबीर ने महापुरुष की स्थिति प्राप्त कर लिया तब समाज कुछ कल्याण के कारण देखकर कहने लगा कि कबीर बड़े अच्छे महापुरुष हैं, वे तो योगी हैं आदि। तब कबीर ने अपना परिचय देते हुए कहा कि क्या कबीर-कबीर की रट लगाए हो, सम्पूर्ण शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) की शोध करो। आशा और तृष्णा को वश में कर लो, बस तुम कबीर हो। कबीर एक स्थिति है, वह रहनी पाकर सभी कबीर हो सकते हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि महापुरुष किसी देश, जाति एवं कुल-विशेष के नहीं होते। उनकी उपलब्धि सार्वभौमिक चेतन में होती है, अधूरी अवस्था में नहीं। परमपूज्य श्री परमहंसजी भी ऐसे ही आदर्शों में थे। अब चाहे हम भारतीय हों अथवा विदेशी, हिन्दू हों या यवन, सिख, ईसाई अथवा कोई भी हों; यदि उस आत्मा को परमकल्याण की स्थिति में प्रत्यक्ष पाना है, तो सभी सामाजिक सीमाओं को तोड़कर किसी महापुरुष के प्रति अपने को समर्पित करना होगा।

हाँ, स्वयंसिद्ध कुछ समस्याएँ मानव के समक्ष हैं। यह मौलिक रूप से विचारणीय है कि मनुष्य किसी-न-किसी कुल-विशेष में पैदा होता है और पैदा होते ही उसमें कुल-धर्म के संस्कार पड़ने लगते हैं। धीरे-धीरे वह कुल-धर्म की सीमा में बँध जाता है और उसी को परमशान्ति का लक्ष्य मान बैठता है, परन्तु समाज में अनेकानेक कुल पाये जाते हैं। इस तरह तो वह लक्ष्य भी अनेक रूपों में दिखाई देगा, जबकि वस्तुतः वह एक ही है। यथार्थतः यदि हम परमकल्याण की ओर बढ़ना चाहते हैं तो हमें इस संकीर्ण कौटुम्बिक सीमा का परित्याग कर व्यापक विचारों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। जब हम कुटुम्ब-धर्म से आगे बढ़कर जैसे ही विकासोन्मुख होने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वैसे ही अपनी जाति का ममत्व हमें जाति-धर्म के बन्धन में पूर्णतया आबद्ध कर लेता है।

यदि कोई सच्चा अनुरागी है, उसकी समझ कार्य कर रही है तो उसे जाति-धर्म को भी ठीक उसी प्रकार तिलाञ्जलि दे देनी होगी, जैसे कि कुल-धर्म को। ऐसी अवस्था में ही वह ससीम से असीम की ओर बढ़ सकेगा, व्यष्टि से समष्टि का स्पर्श कर सकेगा; क्योंकि वह भगवान नाम की अलौकिक वस्तु एक ही है, भाषा-भेद से भले ही उसे अनेक रूपों में सम्बोधित किया जाय। जाति-धर्म की सीमा का परित्याग कर जैसे

ही हम साधनोन्मुख होते हैं, वैसे ही अनेक मत-मतान्तरों का बन्धन हमें पुनः अनेकात्मकता की संकीर्णता में जकड़ लेता है। इसी बीच कतिपय नैतिक आदर्शवादियों के सम्पर्क से कुछ अनुरागी देश-प्रेम की ओर उन्मुख हो जाते हैं। वे अपने देश का विकास ही चाहते हैं, उसी को सर्वोपरि मानते हैं और उसके लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। परन्तु क्या भारत भर ही देश है? क्या परमात्मा यहीं तक ही सीमित है? इस प्रकार अनेक देश होने के कारण वह एकरस सत्ता तो अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होगी। यदि वस्तुतः आप परमशान्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो देशभक्ति की सीमा व देशभक्ति के भ्रम का परित्याग कर सार्वभौमिक विचारों को आत्मसात् करना पड़ेगा। इस सीमा के आगे बढ़ने पर मज़हब (सम्प्रदाय) साधक को सीमाबद्ध कर लेते हैं। कोई राम को मानता है तो कोई रहीम को, कोई ईसा को मानता है तो कोई बुद्ध को, कोई महाबीर स्वामी को मानता है तो कोई खुदा को। इस प्रकार हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, जैन, बौद्धिस्ट आदि अनेक मज़हबी रोगों से साधक ग्रसित हो जाता है; किन्तु इन अनेक मज़हबों से ईश्वर की अभिन्न स्थिति नहीं मिल सकती जो कि व्यापक है। अन्ततः जब अनुरागी साधक कुल-धर्म, जाति, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, देश-प्रेम एवं विविध मज़हबों के द्वन्द्व को तिलांजलि देकर असीम सत्ता का अन्वेषण करने लगता है तभी क्रमागत प्रगति के पश्चात् उस सर्वव्यापी स्वरूप का साक्षात्कार होता है, जो सभी कुल-धर्मों एवं जातियों में है। सभी सम्प्रदायों में विभिन्न मत भले ही क्यों न हों, पर हर देश व धर्म का वही सर्वोपरि परमचेतन स्वरूप है जो शुद्ध, बुद्ध, असीम एवं व्यापक है। इसी परमतत्त्व की उपलब्धि मानव-जीवन का अमर लक्ष्य है।

।। ॐ ।।

श्री परमहंसजी की लोकोक्तियाँ

-:: १ ::-

प्रायः भाविक समाज पूज्य महाराजजी से निवेदन करता था कि, "महाराजजी! मैं भी आश्रम के सेवकों की तरह आपकी सेवा में रहूँगा और भजन करूँगा।" उनके इन विचारों पर श्री गुरुदेव भगवान कहते थे- "हो! आन के मुँहें चने की रोटी बहुत नीक लागत है! पियर-पियर लेकिन गटई धरत है।" उसके साथ नियमरूपी नमक चाहिए, प्रेमरूपी पानी चाहिए तभी वह निगलते बनता है। चित्त ही चना है। चित्त की प्रवृत्तियों को समेटना तथा उनका निरोध करना ही निगलना है। इस चित्त के पूर्ण निरोध के साथ ही उस परमतत्त्व का आलोक है, जहाँ जीवात्मा समाहित हो जाती है।

-:: २ ::-

वस्तु के अभाव में भाविकों की ओर से किसी कार्यक्रम का प्रस्ताव आने पर महाराजजी कहते थे- "हूँ, सुवा न सुतारी, चले हैं बन के व्यापारी।", "उकताइल कुम्हार नखे से माटी खने।" इस तरह उकताने से कहीं कार्य होता है। सूत न कपास जुलाहे से लट्ठम लट्ठा। "पहले प्रबन्ध करो, पुनः धैर्य और शान्ति से कार्य आरम्भ करो। घोड़े के दिन और आदमी के दिन सदैव एक जैसे नहीं रहते; बदलते देर नहीं लगती।" इस प्रकार समझाते हुए, विभूति-प्रसाद देते हुए आप सस्नेह एक छड़ी लगा देते थे। यह छड़ी आशीर्वाद के रूप में इष्ट के निर्देशानुसार ही लगती थी।

-:: ३ ::-

किसी अनन्य भक्त को कठिनाइयों, रोग इत्यादि से घबराया देखकर पूज्य महाराजजी सान्त्वना देते थे- "हो...! माया के और भगवान के सदा ही से लड़ाई है। मोर बढ़ती माया देखै नहीं चाहत है। आखिर शंखिया बाजी, पर बाबा के खिझाय के। जो, विभूति ले फिर सब ठीक होई जाई।"

कोई भाविक कार्य में सफल होते-होते सहसा असफल हो जाय और आकर महाराजजी से प्रार्थना करे, तब वे कहते थे, "राति भर गायेन बजायेन, सबेरे बबुआ के नूनियै नाहीं।" देखिये तो! इसे कितना सचेत किया, यहाँ से कितना प्रण करके गया फिर भी आलस्य और निद्रा में समय खो दिया। बेटा! "आलस्य निद्रा जमुहाई। तीनों काल के भाई।" जाओ, आलस्य त्यागकर कार्य करो। हताश होने की आवश्यकता नहीं है। कोई उलझन आये तो प्रातः-सायं मेरा स्मरण कर लेना। मन से आते-जाते रहोगे तो सब ठीक रहेगा।

-:: ४ ::-

अनुसुइया आश्रम में आनेवाले भक्तों की सुख-सुविधा का महाराजजी बड़ा ध्यान रखते थे। उनकी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु आश्रम में सदैव रहती थी। उनके लिए प्रतिदिन दाढ़ी बनवाने की व्यवस्था, चाय-काफी का प्रबन्ध, तेल-साबुन-कंघी-शीशे की व्यवस्था में महाराजजी ध्यान रखते थे यद्यपि आश्रम के लिए इनका कोई उपयोग नहीं था। भक्तों को महाराजजी बड़े स्नेह से खिलाते-पिलाते और अपने हाथ से प्रसाद देते थे। भोजन की इतनी पुष्कल व्यवस्था तो अब कहीं देखने को भी नहीं मिलती। घी से तर रोटियों से लेकर नित्य नवीन व्यंजन प्रतिदिन सर्वसुलभ था। भक्तों के भोजन के अवसर पर महाराजजी किसी-न-किसी बहाने आसन से उठकर उनके बीच पहुँच ही जाते थे, उनसे कहते थे, "हो! चूतर टेकि के बैठो! उकड़ बैठकर खाने से पेट में सिलवट पड़ि जात है। आधा पेट खाइल और जवानी क मरल बराबर होत है।" परसनेवाले साधुओ से बिगड़कर कहें, "अरे, अँचार तो दिया ही नहीं। अब मैं क्या करूँ? अरे! ये सब भले घर के अच्छा खाने-पीनेवाले लोग हैं। थोड़ा घी और डाल। खिचड़ी के चार यार। दही, पापड़, घी, अचार। इसे एक रोटी और दे दो।" जब समझ लें कि अब इन सबका पेट भर गया और तो किसी तरह नहीं लेंगे तो कह उठते थे, "अरे यार! हम तो भूल ही गये। बड़ी अच्छी बर्फी आई है, रखी है। अब उसके साथ एक-एक रोटी और चल जायेगी।" महाराजजी का अमित स्नेह पाकर भाविक विभोर हो उठते थे।

किन्तु साधुओं के आहार-विहार पर पूज्य महाराजजी सतर्क दृष्टि रखते थे। जब वे देख लें कि कोई साधक भजन न करके केवल खाने पर ही उतारू है तो बिगड़ते हुए कहें, "खाये रहो बेटा! बाबा का आटा, बाबा का घी। शाबास-शाबास बाबाजी! न भजन, न चिन्तन। अरे साधू को सूक्ष्म और सात्विक आहार करना चाहिए। दो कौर कम खाना चाहिए, कम सोना चाहिए और संयमपूर्वक निरन्तर भजन में संलग्न रहना चाहिए। भागो यहाँ से! बाँधो बिस्तर! विरह-वैराग्यशून्य अकर्मण्यों की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।" इतने से ही साधक में ग्लानि एवं शान्ति की लहर दौड़ जाय और पुनः खानपान के व्यसन से छूटकर वह अनवरत साधना में प्रवृत्त हो जाय।

महाराजजी का 'स्पेशल' प्रसाद गाँजा था। एक सज्जन साधू बनने के लिए आश्रम आये। श्रद्धावश झाड़ू लगा रहे थे। कुछ लोग चिलम पी रहे थे। एक ने उन सज्जन से भी कहा, "क्या आप भी दम लगायेंगे?" वे सज्जन तत्क्षण झाड़ू फेंककर चिलम की ओर लपके। वे चिलम के पास पहुँचे ही थे कि महाराजजी बिगड़ पड़े, गँवार कहीं का! भाग यहाँ से! आया साधू होने। खाने को मिले, ऊपर से ज्ञान मिले तब तो दुनिया ही साधू

बन जायेगी। ये त्याग सीखने आये हैं। देखिये, कैसा झपट रहे हैं चिलम के लिये! हर दे, हरवाह दे, पीछे से खोदे के पैना दे! जाओ, घर पर अपना बाल-बच्चा देखो। सुख-दुःख तो आता-जाता रहता है। अभी तुम्हारे साधू बनने का समय नहीं आया है। जब वह समय आयेगा तो भगवान ही सहायता कर देंगे, बुला भी लेंगे, तभी पार लगोगे।" इस प्रकार साधकों की सूक्ष्म गतिविधियों पर पूज्य महाराजजी सतत सतर्क दृष्टि रखते थे। इस तरह की प्रताड़ना से आश्रमीय साधकों एवं सुननेवाले भाविकों को भी साधनात्मक दिशा मिलती थी।

-:: ५ ::-

प्रारम्भ में अनुसुइया में बहुत कम दर्शनार्थी आते थे, किन्तु महाराजजी के निवासोपरान्त शनैः-शनैः भक्तों की संख्या बढ़ने लगी। महाराजजी कुछ-न-कुछ प्रसाद सबको देते थे, जिसे सभी सादर ग्रहण करते थे। कभी-कभी कोई कर्मकाण्डी भी आ जाते थे जो भगवान के नाम पर कुछ करते थे किन्तु वास्तविक क्रिया से अनभिज्ञ रहते थे। उनके पथ को प्रशस्त करने के लिए पूज्य महाराजजी उन्हें छाछ तथा कुछ अन्य प्रसाद देते हुए कहते थे, "लो, पानी पी लो! बहुत दूर से आये हो। धूप में मुँह सूख गया है।" पण्डित बोलते, "महाराजजी! अभी तो हमने स्नान-ध्यान नहीं किया है। सोचते थे कि गंगा-स्नान कर लेते।" महाराजजी बोल पड़ते थे, "हूँ लिपटै के चमाइन, भूखा रहे इतवार। पण्डितजी, पण्डित बने हैं! अरे लो प्रसाद, पानी पियो। ज्ञान ही गंगा है। स्वाँसा में सुरत लग जाने पर ही वह ज्ञान मिलता है। प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। श्वास में सुरत के तद्रूप हो जाने पर ही वह इष्ट विदित होता है।"

-:: ६ ::-

कभी-कभी आश्रम के ही शिष्य महाराजजी के समक्ष कोई सुझाव प्रस्तुत करते तो आप एक दृष्टि उस शिष्य पर डालें और चुप रहें। जब वह कुछ दूर हट जाय, सुनने की स्थिति में रहे, तब पास बैठे भाविकों की शिक्षा के लिए महाराजजी कहते थे, "हो, देखत हो! अण्डा कहे बच्चा से चूँ-चूँ मत कर। हमार जनमावल हमहीं के ज्ञान सिखावत है। अभी क्या हुआ है? परीक्षा की घड़ी तो अभी आगे पड़ी है। जब माया परीक्षा लेती है तो बूढ़े जवान हो जाते हैं। नामर्द मर्द बन जाते हैं- **'शृंगी की भृंगी करि डारी, पराशर के उदर विदार।'** वे सभी योगी ही तो थे। कल का जोगी और गोड़े ले जटा। बक-बक लगाए है। अरे, जितना पूछा जाय, उतने का ही उत्तर देना चाहिए। साधक को मन और इन्द्रिय से मौन रहना चाहिए।"

ऐसी प्रताड़ना मिलने पर कोई-कोई साधक दो-एक दिन के लिए मौन धारण कर लेते थे। महाराजजी उन्हें सुनाते हुए कहते थे, "वाह! मौनी बने हैं। केवल बोलना बन्द

करने से क्या होगा? जिह्वा से न बोला जाय किन्तु मन और इन्द्रियों में तरंग है तो वह मौन कहाँ? साधक को चाहिए कि पूर्तिपर्यन्त बाह्य वातावरण को कदापि स्थान न दे। चलते-चलते साधक जब आकाशवत् हो जाता है तभी उस लक्ष्य के दिग्दर्शन के साथ मौन होता है। चढ़ते-चढ़ते साधक जब पुलई (टुनई या चोटी) तक पहुँचा और पोल पा गया तब पावा मौन।"

-:: ७ ::-

प्रायः कुछ श्रद्धालु घर से रूठकर क्षणिक वैराग्य के आवेश में पूज्य महाराजजी से निवेदन करते थे, "महाराज! अब मैं आपकी शरण में रहूँगा।" ऐसे उद्गारों पर पूज्य महाराजजी उसे सान्त्वना देते हुए बोले- "क्या हुआ? घर से क्यों निकल पड़े?" वह व्यक्ति अपनी व्यथा व्यक्त करता था, "महाराज, संसार एकदम स्वार्थी है। भाई, पुत्र, पत्नी कोई भी आज्ञाकारी नहीं है। कोई मेरी सुनता ही नहीं है।" इस पर महाराजजी हँसते हुए से एक कथानक सुनाया करते थे, "तोर मोर अनुराग जगा, आवा चलीं वन के। झर गया तो आवा चलीं घर के।।" एक पति-पत्नी थे। कभी-कभी पतिदेव पर वैराग्य सवार हो तो कहते कि अब तो मुझे घर अच्छा नहीं लग रहा है। श्रीमतीजी भी कहतीं, "आप ठीक कह रहे हैं, मुझे भी घर-गृहस्थी से कोई लगाव नहीं रह गया।" दोनों घर से निकले और जंगल में भगवान का भजन करने लगे। किसी तरह पाँच-सात दिन भूख-प्यास सहन करें तो सारा वैराग्य उतर जाय, घर ही दिखायी दे। पतिदेव तब कहते- "अब तो यहाँ मन नहीं लग रहा है।" इस पर श्रीमती सुझाव देतीं, "अभी क्या बिगड़ा है? "आवा चलीं घर के"- चलो घर चला जाय।" और दोनों घर चल दें।

उस श्रद्धालु को सम्बोधित करते हुए महाराजजी कहते थे, "तुम्हारा वैराग्य भी ऐसा ही है; मर्कट वैराग्य। जाओ घर! अपना कामकाज देखो। घर-गृहस्थी में यह हड़हड़-भड़भड़ तो लगा ही रहता है। चार बर्तन इकट्ठा होने पर खन-खुट हो होता ही है। तुम भी भले घर, भले वातावरण में पले हो। जाओ, सब ठीक हो जायेगा।"

-:: ८ ::-

भगवान राम की तपस्थली एवं ऋषियों की मनन-चिन्तन भूमि होने के कारण चित्रकूट महात्माओं के लिए आकर्षण का विशिष्ट केन्द्र है। दूर-दूर से साधक, अनुरागी, भाविक योगी तथा महापुरुष इस क्षेत्र में दर्शनार्थ पहुँचते ही रहते हैं। अनुसुइया आश्रम में आनेवाले अभ्यागतों के बारे में महाराजजी को पहले से ही अनुभव हो जाता था। अन्दर से अध्ययन करते महाराजजी उनके भोजन, प्रसाद, सेवा, रहने की व्यवस्था का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। ढोंगी भी आश्रम में आया-जाया करते थे। उनके पहुँचने से

पूर्व ही महाराजजी कह देते थे, "हूँ... 'मीटर' खटकत है। इनकी बहिनियाँ राखों, कौनो ढोंगी-ढपाली ससुरारी से कूँड़ा लिये चले आ रहे हैं। उन्हें खाने को दो, बैठने को दो, तापने को दो, पीने को गाँजा दो और सोने को बिस्तर दो।" समीप बैठे भाविकों में कौतूहल होने पर आप बताते थे, "कोई आ रहा है, अभी देखना। कुपात्र को दान देने से दाता ही नष्ट हो जाता है।"

इतने में ही किसी ओर से महात्मा वेश में कोई आता दिखायी पड़ जाता था और दूर से ही अपना कुछ प्रदर्शन करते हुए आश्रम की ओर आने लगता था। महाराजजी तड़ककर बोलते, "हूँ नानी के आगे ननिअउरे क बखान! हमें सिद्धि दिखावे आवत हैं, एकरि बहिनियाँ के राखों।" इतने पर भी जब वह अपना प्रदर्शन बन्द न करे तो आप पुनः कहते थे, "हूँ.... जटा फकिरऊ और आचरण गिरस्तऊ! करे कहाँ घर है? एतना पाप होई कि हजारन जनम बैल बनके ढोये का पड़ी! बेटा, रोये का आँसू न मिली! अरे जब वेश में आ ही गया तो किसी अनुभवी महात्मा की शरण पकड़, जिससे वह क्रिया जागृत हो जाय जो भगवान् से सीधा भेंट करा देती है। अब से भी कुछ बिगड़ा नहीं है। कहे कबीर जनम क उढ़री। जब से चेते तबे से सुधरी।।" कुछ भूले-भटके साधू तो महाराजजी के दो-चार उपदेशों से अपनी जीवन-दिशा बदल देते। किन्तु जीविका के लिए साधु-वेश धारण करनेवाले ढोंगी 'गुरुजी-गुरुजी' कहते हुए वहाँ से खिसक जाते थे।

-:: ६ ::-

जब कभी कोई अच्छा साधक कुछ समय साधन-पथ पर चलने के पश्चात् लड़खड़ा जाय तब आप उसे घण्टों उपदेश देते और उसके लिये कल्याण का चिन्तन करते थे। उसकी अनुपस्थिति में अन्य साधकों को समझाते हुए पूज्य महाराजजी कहा करते थे-

धरी न काहू धीर, सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहिं काल महुँ।। *(मानस, १/८५)*

वही बच पाते हैं, जिसको स्वयं इष्ट (सद्गुरु अथवा भगवान) ही हाथ पकड़कर बचा लें। कुछ कालोपरान्त जब वही साधक अपनी उन भूलों के लिए महाराजजी से अनुनय-विनय करने लगे, तब आप कहते थे- हूँ...., चलो ठीक है। जो घूमकर लड़ता है, कायर नहीं कहा जाता। अब संग-दोष से दूर रहो। महापुरुष की शरण में रहकर चलो। यदि कुछ आयु साधन के लिए मिल जाती है तो परिस्थिति सुधरते देर नहीं लगेगी। इष्ट से यदि हवा भर भी दूरी है, तब तक माया पीछा करती है और सफल भी हो जाती है। इसलिए सदैव डरना चाहिए। साधक जहाँ अपने बल पर आया कि "मैं ज्ञाता हूँ, मैं ध्याता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं ध्यानी हूँ" तहाँ समझना चाहिए कि माया ही सफल हो चली-

माया बस्य जीव अभिमानी। ईश बस्य माया गुणखानी।। *(मानस,७/७७/६)*

अभिमान ही 'जीव' की संज्ञा देता है।

-:: १० ::-

पूज्य महाराजजी कथानकों के माध्यम से भी पथिकों का पथ प्रशस्त किया करते थे, जो स्थायी प्रभाव अंकित करता था। प्रस्तुत प्रसंग भी उन्हीं कथानकों में से एक है-

दो विद्यार्थी गुरुकुल में संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे। शिक्षा के समापन पर जब वे घर की ओर चले तो उन्हें चिन्ता हुई कि जीविकोपार्जन कैसे हो? सद्गृहस्थ आश्रम के संचालन में यदि अधिक नहीं, तब भी अभ्यागत की सेवा, पारिवारिक जीवन-निर्वाह हेतु धन नितान्त आवश्यक होता है। दोंनों सहपाठियों में से एक ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहा-

"देत भुवालं फरत लिलारं न विद्या न च पौरुषम्।।" उसका आशय था कि हम राजा से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग करेंगे। राजा ही सब कुछ है। यदि राजा कृपा कर दे तो हमारा लिलार (भाग्य) फलीभूत हो सकता है, हम सुखी रहेंगे, अन्यथा न तो विद्या काम आती है और न पौरुष ही काम आता है।

दूसरे सहपाठी ने इस मन्तव्य से असहमति व्यक्त की। उसने कहा कि भगवान तथा भाग्य की अपनी सत्ता है। राजा किंवा कोई हो, उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता है। ऐसा कहते हुए उसने श्लोक में संशोधन प्रस्तुत किया- **'फरत लिलारं देत भुवालं न विद्या न च पौरुषम्।'**

अर्थात् जब भाग्य साथ देता है तभी राजा भी देता है अन्यथा न तो विद्या काम आती है और न पुरुषार्थ ही साथ देता है।

सम्पूर्ण रास्ता समाप्त होने को आया किन्तु इस विवाद का हल न निकला। अन्ततोगत्वा दोनों ने राजा से इस विवाद के निर्णय का आग्रह किया। अभिमानी नरेश को भी अपनी प्रशंसा अच्छी लगी। स्पष्ट निर्णय न देकर उसने प्रशंसक को एक वस्त्र में काशीफल (कुम्हड़ा) प्रदान किया, जिसमें छिद्र करके हीरे-जवाहरात भरे गये थे। भाग्यवादी युवक को उसी प्रकार के दूसरे वस्त्र में उतना ही सत्तू प्रदान किया गया और कहा गया कि आप लोग एक महीने पश्चात् आवें, तभी इस विवाद का निर्णय होगा।

काशीफल पाने वाले युवक ने सहपाठी से रास्ते में कहा, "भाई! एक महीने से मुझे सत्तू खाने की प्रबल इच्छा हो रही है। क्यों न हम दोनों अपना-अपना पुरस्कार आपस में बदल लें।" दूसरे ने कहा- "ऐसी बात है तो तुम्हीं सत्तू खा लो।" राज-प्रशंसक युवक

ने सत्तू लेकर काशीफल अपने साथी को दे दिया और तालाब पर सत्तू खाकर अपने घर की ओर चल पड़ा।

भाग्यवादी बालक ने घर पहुँचने पर काशीफल तोड़ा तो हीरे-जवाहरात पाकर ईश्वर को धन्यवाद दिया। गृहोपयोगी सुख-सामग्रियों की व्यवस्था करते उसे देर न लगी। नियत समय पर दोनों युवक राजसभा में उपस्थित हुए, तो राजा ने पूछा कि उनके वे दिन कैसे बीते? भाग्यवादी बालक ने काशीफल प्राप्त होने की घटना का वर्णन करते हुए बताया कि उसका वह माह बड़े आनन्द से बीता, जबकि राज-प्रशंसक ने अपने अवसाद एवं दैन्य की चर्चा की।

राजा को भी अपनी भूल का भान हुआ। अपने अहंकार पर पश्चाताप करते हुए उसने निर्णय दिया कि यदि भाग्य फलीभूत है तो उसका कुछ भी निमित्त बन जाता है। पूज्य महाराजजी इस प्रसंग का रोचक प्रस्तुतीकरण करते हुए कहते थे कि भाग्य राजा या किसी दूसरे के बनाने से नहीं बनता-

जो जस करे सो तस फल चाखा।। *(मानस)*

पूर्व का संस्कार ही भाग्य बनता है। किन्तु वह आया कहाँ से? वह भी तो हमारे आपके द्वारा किये गये कर्मों का फल ही तो है। वस्तुतः अच्छा कर्म करने से अच्छे संस्कार बनते हैं, जो- **'मेटत कठिन कुअंक भाल के।'** *(मानस, १/३१/६)* यदि मंत्र जपने की युक्ति उपलब्ध हो जाय तो भाग्य का असाध्य कुअंक भी मिटाया जा सकता है। भजन से कुसंस्कारों का पहाड़ भी काटा जा सकता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, निर्माता है। अतः कर्म करना चाहिए। कर्म का वास्तविक अर्थ आराधना है।

-:: ११ ::-

योगी प्रत्येक कार्य स्वेच्छा से नहीं, अपितु भगवान का यंत्र बनकर करता है। वह निमित्त मात्र होता है। किन्तु सामान्य मानव अपनी करनी के साथ-साथ परिस्थितियों अथवा होनी से अधिक प्रभावित होता है। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए महाराजजी एक कथानक सरस शैली में इस प्रकार कहते थे-

एक ब्राह्मण देवता राजकीय पुरोहित थे, घोर जंगल में राज्य की वरिष्ठ पाठशाला के आचार्य थे। उस युग की मान्यता के अनुसार पाठशाला जन-कोलाहल से दूर निर्जन एकान्त में होती थी, जिससे छात्रों पर संग-दोष का कुप्रभाव न पड़ सके।

राजकन्या युवा हो चली थी। विवाह-हेतु आवश्यक निर्देश के लिए पुरोहित को दरबार में बुलाया गया। राजा ने पुत्री से प्रणाम कराते हुए उसके भाग्य एवं विवाह-व्यवस्था के सन्दर्भ में पुरोहित से जानना चाहा। कन्या के शुभ लक्षणों एवं सौन्दर्य

को देखते ही पुरोहित की विवेक-बुद्धि असन्तुलित हो गई। उसने अपने चेहरे को उदास बनाते हुए शुष्क शब्दों में कहा- "राजन्! खेद है कि यह कन्या इस आयु के पश्चात् जहाँ जायेगी, वहाँ सर्वनाश हो जायेगा और यदि यहाँ रहेगी तो यहाँ भी सर्वनाश निश्चित है; रेखायें कुछ ऐसा ही कहती हैं। इस कुयोग के निवारण का एकमात्र उपाय है कि तैरने वाले ठोस सन्दूक में वायु इत्यादि की व्यवस्था करके कन्या को नदी में प्रवाहित कर दें। यदि कोई इसे पायेगा तो उसके लिए कन्या का अनिष्टकारी प्रभाव टल जायेगा।"

राजा ने बहुत विचार के पश्चात् निश्चित किया कि यदि गाँव के कारण देश का नाश हो तो गाँव का तथा व्यक्ति के कारण कुटुम्ब का नाश हो तो व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिए; अतः व्यथित हृदय से पण्डितजी की बात मान लिया। पुरोहित ने अपनी देखरेख में ही कन्या को सन्दूक में बन्द कराया, नदी में प्रवाहित कराया और राजा को आशीर्वाद देकर दौड़ते-भागते अपने विद्यालय पहुँचे। शिष्यों को उन्होंने एकत्र किया और कहा- "बच्चो! देखो, एक सन्दूक नदी में तैरता आ रहा है। तुम सब नदी के किनारे उसकी प्रतीक्षा करो। उसे निकालकर इस कोठरी में बन्द करके बाहर से ताला लगा देना। कोई शोरगुल हो तब भी दरवाजा न खोलना- यह मेरा आदेश है।" गुरुभक्त शिष्यों ने 'आज्ञा शिरोधार्य' कहकर नदी-तट पर सन्दूक की प्रतीक्षा करना आरम्भ किया।

बहते हुए उस सन्दूक को एक शिकारी राजकुमार ने देखा। शिकार से श्रान्त-क्लान्त होकर नदी-तट पर वह विश्राम कर रहा था। कुतूहलवश उसने सिपाहियों को आदेश दिया और सिपाही बात की बात में उस सन्दूक को किनारे लाये। सन्दूक खोलते ही अनिंद्य सुन्दरी राजकन्या निकल पड़ी। राजकुमार को बड़ा अचम्भा हुआ और उस कन्या का परिचय जानने के लिए अधीर हो उठा। राजकुमारी ने अपनी सारी गाथा कह सुनायी। वृत्तान्त सुनने के पश्चात् राजकुमार ने प्रश्न किया कि अब तुम्हारी कहाँ जाने की इच्छा है? राजकुमारी ने कहा, "घर से निकल जाने के पश्चात् अब मेरा है ही कौन? अब तो संसार में मेरे एकमात्र आश्रय आप ही हैं।" कन्या की समर्पण भावना का समादर करते हुए राजकुमार ने जंगल में ही उससे विधिवत् विवाह किया। शिकार में पकड़े गये जीवित भालू को उसी सन्दूक में बन्द कर, यथावत् प्रवाहित कर सपत्नीक स्वदेश लौट गया।

तैरता हुआ वह सन्दूक जब पाठशाला के समीप पहुँचा तो बच्चों ने उसे निकाला और गुरुजी के आदेशानुसार उसे कोठरी में बन्द करके ताला लगा दिया, जिसमें गुरुजी भी थे। पण्डितजी ने धड़कते हृदय से ज्योंही सन्दूक खोला त्योंही भूखा-प्यासा, सताया हुआ भालू उन पर झपट पड़ा। पण्डितजी ने उससे मुक्त होने का प्रयास किया, बच्चों

से दरवाजा खोलने के लिए आदेशों का ताँता लगा दिया किन्तु गुरुभक्त शिष्यों ने कोई ध्यान न दिया।

क्रमशः पण्डितजी का स्वर धीमा पड़ने लगा। भागदौड़ में पण्डितजी के हाथ एक खड़िया आ गयी। शिष्यों के उपदेशार्थ उन्होंने यह श्लोक लिखा-

मम इच्छा दैव नास्ति, दैव इच्छा परबलम्।
राजद्वारे राजकन्या, विप्र भालू भच्छतम्।।

अर्थात् मेरी इच्छा उस कन्या को प्राप्त करने की हो गई थी किन्तु दैव की वैसी इच्छा न थी। दैव की इच्छा प्रबल होती है। हस्तरेखा के अनुसार कन्या राजरानी बनकर किसी राजप्रासाद में पहुँच गई किन्तु मुझ विप्र को भालू खा गया।

भावी ही भालू है। भावी, होनी गति, दैव, संचित, प्रारब्ध, भाग्य, ललाट रेखा तथा संयोग प्रायः समानार्थक एवं एक दूसरे के पर्याय ही हैं। इसी को कबीरदासजी ने व्यक्त किया है- **करम गति टारे नाहिं टरी।**
मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी, शोधि के लगन धरी।।
सीता हरन मरन दसरथ को, बन में विपति परी।।

होनी होकर ही रहती है; किन्तु उसका प्रभाव ऐसे साधक पर नहीं पड़ता जो भगवान पर निर्भर रहता है। **'भाविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी।'** किन्तु कब? **'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी।'** *(मानस, १/६८/५)*-जब पथिक की बुद्धि तपस्या में अनुरक्त हो जाय। प्रेम ही पार्वती है। जब यही कुमारी (बुद्धि) तप, चिन्तन, भक्ति का आश्रय ग्रहण करने लगे तो भाग्य के असाध्य कुअंक मिटाये जा सकते हैं- **'मेटत कठिन कुअंक भाल के।'** *(मानस, १/३१/६)*

-:: १२ ::-

जब कभी साधन-परायण पथिक में कमजोरी दिखलाई पड़े और उस कमजोरी की अवहेलना करके जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ में गँवाने लगे अथवा किसी भी पुरुष को अनधिकार चेष्टा में पायें, जो मूल पतन का ही कारण होती है, तब पूज्य महाराजजी बैठे हुए व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा करें- "हो... नाम तो अँधियारी बारी, होम करे के पल्लव नाहीं।" अरे एके केहू त समुझाइ दे कि प्रकृति की अनन्त सतहे हैं। बेटा बहुत सम्हल के चलै के चाही, नहीं तो-

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।। *(७/११७/८)*

जब माया के बन्धन के टूटने का समय आता है तब माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है, अपनी सारी शक्ति लगा देती है। ऋद्धियाँ प्रदान करती है; यहाँ तक कि सिद्ध

बना देती है। वही उपक्रम रचती है जिससे वह पुनः माया में लौट आये। ऐसे में साधक को निरन्तर श्वास में लगे रहना चाहिए। मन कहीं-न-कहीं जगेगा। यदि भजन से छुट्टी दोगे तो माया में जगेगा। यदि श्वास चिन्तन में नहीं लगाओगे तो यह कुछ-न-कुछ करता रहेगा, बैठेगा नहीं। न जाने यह क्या रूप लेगा। सदा इससे डरना चाहिए। इस धक्का-धुक्की की अवस्था में साधक सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाता, वहाँ एक ही सहारा है कि इष्ट के निर्देशनों का मन, वचन, कर्म से पालन भर करता रहे। ऐसे पथिक के लिए आज्ञापालन ही भजन है। यदि पालन में त्रुटि नहीं है तो साधक शीघ्र ही लक्ष्य को बेध लेगा। इस योग की जागृति के पश्चात् ही साधक निमित्त मात्र हो जाता है। भजन तो भगवान करावत हैं।" इस प्रकार श्री महाराजजी साधना के गूढ़तम रहस्यों को इतनी सरल भाषा में व्यक्त करते कि सत्संग में बैठे हुए साधारण व्यक्ति भी आध्यात्मिक पथ की ओर अग्रसर हो उठते।

-:: १३ ::-

जब पूज्य महाराजजी की दी हुई शिक्षा तथा अन्तस्प्रेरणा के निर्देशनों में कोई स्वेच्छा से परिवर्तन करके मनमुखी (मनमाने) निर्णय से कार्य सम्पादित करने की चेष्टा करने लगे तब आप उसकी भूलों तथा गतिविधि से अवगत कराते हुए कहा करें- "एके देखौ मेहरिया में बैठके ज्ञान कथत है। अरे! पूर्तिपर्यन्त खतरा है, एक इंच भी भगवान से दूरी है तो माया कामयाब हो सकती है।"

इतना सुनने पर कोई-कोई साधक दबे स्वर में बोले- "लेकिन महाराजजी, मन में कोई भाव-कुभाव भी तो नहीं है!" तब आप डपटकर कहा करें- धत् गँवार कहीं का। बेटा,

हम जानी मन मर गया, मरा हो गया भूत।
मरने पर भी आ लड़ा, ऐसा मना कपूत।।

अरे! मन में यदाकदा जो शान्ति दिखाई पड़ती है वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो तभी सम्भव है जब स्वयं भगवान उसे प्रमाणित कर दें। जब तक मन के स्थान पर भगवान प्रसारित न हो जायँ, तब तक मन को मिटा हुआ नहीं मानना चाहिए।

'गुरु के वचनों में गुंजाइश, कलियुग की तिकड़मबाजी।'

फिर आप एक उदाहरण देते हुए हँसते हुए कहें कि घोर जंगल में एक आश्रम था। जिसमें एक महापुरुष के संरक्षण में कई शिष्य साधन-भजन में संलग्न थे। उनमें से एक शिष्य के मन में प्रबल वैराग्य का उदय हुआ और निर्द्वन्द्व विचरण एवं तीर्थ देखने की कामना जागृत हुई। कई दिनों से वह निरन्तर गुरुदेव से तीर्थाटन की आज्ञा माँग रहा

था कि तीव्र वैराग्य के पालन-हेतु उन्मुक्त विचरण की अनुमति प्रदान कीजिए; किन्तु उन समर्थ महात्माजी ने कहा, "नहीं बेटा, अभी तुम्हारे अन्दर वह क्षमता नहीं है। अभी तो तुम मेरे संरक्षण में हो, बाहर निकलते ही पता नहीं किस घाट लग जाओ। अतः अभी तो अहर्निश साधना में ही संलग्न रहो। वह समय आने में काफी देर है।" किन्तु दो-चार दिनों बाद शिष्य पुनः बोला कि, "महाराज अब तो अत्यन्त प्रबल इच्छा हो रही है।

उन महात्मा ने किंचित् रोष से कहा- देखो, माया बड़ी दुर्धर्ष होती है। जाना ही चाहते हो तो जाओ किन्तु एक बात स्मरण रखना कि, "गुरु के वचनों में गुंजाइश कलियुग की तिकड़मबाजी।" शिष्य ने कहा- 'जो आज्ञा' और सहर्ष प्रणाम करके चल पड़ा। जब वह कुछ दूर चला गया तो सोचने लगा कि महाराजजी के कथन का क्या अभिप्राय है? अर्थ समझ में नहीं आ रहा था, अतः वह लौट पड़ा और महाराजजी के चरणों में प्रणाम कर उनके कथन का आशय पूछा, तो महाराजजी ने कहा- जब शिष्य गुरु की आज्ञा में अपने मन से उलटफेर करने लगता है तो वही कलियुग प्रभावशाली हो जाता है और साधक का पतन हो जाता है। शिष्य ने हाथ जोड़कर पूछा कि, महाराज! मेरे लिए क्या आज्ञा है? तो महात्मा ने कहा कि माई-दाई के चक्कर में मत पड़ना। उन्हें दूर से ही प्रणाम कर सदैव उनसे सजग रहना। दूसरी आज्ञा यह है कि कहीं अपना अथवा गुरु महाराजजी का नाम बढ़ाने के चक्कर में आश्रम, धर्मशाला इत्यादि निर्माण-कार्यों में न उलझ जाना। गुरु महाराज का नाम तो तुम्हारी करनी और गुरुत्व की प्राप्ति होने पर ही होगी। तुम्हारे रूप में गुरु ही प्रस्फुटित हो जायँ और तुम भी खो जाओ, वही उपलब्धि का क्षण है। अन्तिम चेतावनी यह है कि सिद्ध मत बनने लगना। यह सिद्धियाँ भी माया ही प्रदान करती हैं। पहले वह परमतत्त्व परमात्मा सिद्ध हो जाये, उसकी उपलब्धि ही परमसिद्धि है। इसके पश्चात् जो कुछ रास्ते में मिलनेवाली सिद्धियाँ हैं, बाधक नहीं रह जातीं। यही कलियुग की तिकड़मबाजी है। इससे सदैव सजग रहना, इससे बचना और जो मेरा उपदेश है उसमें जरा भी फेरबदल न कर लेना, यही आदेश है।

साधक ने बड़ी प्रसन्नता से प्रणाम किया और कहा कि महाराजजी आपकी कृपा से सब ठीक हो जायेगा। और वहाँ से चल पड़ा। गुरु के आदेश उसे अत्यन्त सरल प्रतीत हुए। विचरण करते-करते उसने एक पहाड़ी पर आसन लगा दिया। समाचार फैलते देर न लगी कि एक बड़े सिद्ध महात्मा दिन-रात जागरण करके अपने भजन में संलग्न रहते हैं, युक्तियुक्त तथ्यपूर्ण बातें करते हैं। शनैः-शनैः भीड़ बढ़ने लगी। उसी भीड़भाड़ में साधना-पिपासा लेकर एक नवयौवना भी पहुँच गयी। बोली कि, महाराज! हमने बहुत

ढूँढ़ा, आज आपके दर्शन से आँखें तृप्त हुईं। कृपया गुरुमंत्र प्रदान करें, जिससे घोर संसार-सागर से मेरा भी उद्धार हो सके।

महात्मा सरलचित्त होते ही हैं; साधना का क्रम समझाकर विदा कर दिया और बताया कि यहाँ कुटी में रात्रि में किसी के रहने का विधान नहीं है क्योंकि इससे भजन में बाधा पड़ती है। पहले दिन तो वह चली गई किन्तु दूसरे दिन प्रातः पुनः सेवा में उपस्थित हो गई। सायंकाल महात्मा ने उससे पुनः घर जाने का आग्रह किया, तो उसने कहा कि दो-एक दिन गुरु-चरणों का सामीप्य तो मिले। आश्रम में रहकर, सेवा करके एवं चरणामृत पान करके जीवन सार्थक तो करने दें। इसी प्रकार की प्रार्थना करते-करते अन्ततोगत्वा एक दिन आश्रम में निवास करने की अनुमति भी उसने प्राप्त कर ही लिया।

संग-दोष का प्रभाव होकर ही रहा। धीरे-धीरे दो-चार सन्तानें भी हो गईं। पहले तो भाविक भक्त उन्हें हृदय से मानते थे किन्तु जब उनकी स्थिति पतन के गर्त में पहुँच गई, तब उन्हें कोई भी नहीं पूछता था। पहले कोई कमी न थी, अब माँगने पर भी पूर्ति नहीं होती थी। लोगों को तो जो कहना था कहते ही थे, किन्तु वह युवती भी बिगड़ा करे। एक दिन उसने कहा कि जब भिक्षा माँगने चलना ही है तो छोटे बच्चे को गोद में क्यों नहीं ले लेते! उससे चला नहीं जा रहा है। पहले पैदा करते समय इसका ध्यान नहीं था क्या?

अब तो साधू को महान् दुःख हुआ। वह सोचने लगा कि कहाँ तो हम इतने महान् पुरुष की सेवा कर रहे थे, और आज हमारी यह दशा हो गई है। उन्होंने मना भी किया परन्तु मन की तरंगों ने न माना। महान् दुःख के उन क्षणों में आकाशवाणी हुई- "गुरु के वचनों में गुंजाइश, कलियुग की तिकड़मबाजी। बेटा! बार-बार मना करने पर भी नहीं माने। अब से भी सम्भल जाओ।" साधक साहसी था। उसने तुरन्त लड़कों और स्त्री को छोड़ा और बहुत दूर निकल गया। अज्ञात स्थान पर पहुँचकर सोचने लगा कि सर्वस्व खोकर पुनः गुरुदेव के पास कैसे जाऊँ। अतः पूर्ण तपस्या का अर्जन करके ही उनकी शरण में चलूँगा। ऐसा दृढ निश्चय करके नदी के किनारे एक टीले पर आसन जमाकर बैठ गया।

कुछ ही समय में चतुर्दिक ख्याति फैल गई कि महात्मा बड़े अच्छे हैं। विकल की तरह दिन-रात भजन में ही लगे रहते हैं। भाविकों की भीड़ पुनः बढ़ने लगी। अच्छे-अच्छे सत्संगी वृद्ध लोग नियमित आने लगे। एक आसन में और उसी लगन से उन्होंने बारह वर्ष व्यतीत कर दिया। अन्तराल में शक्ति और सम्बल भी प्रतीत होने लगा।

भाविकों के चाहने पर भी वहाँ अपने लिए कोई भवन भी बनने नहीं दिया। केवल फूस की झोपड़ी में रहा करते थे।

एक दिन वह साधु नित्यक्रिया के लिए दूर की पहाड़ी पर निकल पड़े। अचानक सामने ही एक चट्टान स्वर्ण के समान चमकती दृष्टिगोचर हुई। महात्मा ने स्पर्श किया और पाया कि वह तो शुद्ध सोना है। शौच से लौटने पर भी आँखों के समक्ष वही चट्टान कौंधने लगी। उन्होंने विचार किया कि जंगल में इस चट्टान का क्या उपयोग है? यदि यहाँ आश्रम, धर्मशाला, पाठशाला बन जाय तो इससे गुरु महाराजजी की ही कीर्ति फैलेगी। हमें तो कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो गुरु महाराजजी के लिए ही यह सब कर रहा हूँ। ऐसा विचार कर बहुत समय से नियमित सत्संग करनेवाले वृद्ध भाविकों से उन्होंने अपना मन्तव्य व्यक्त किया कि यहाँ पर एक आश्रम, धर्मशाला, कूप, पाठशाला बन जाय तो देश का ही कल्याण हो जाय। वृद्ध बोल पड़े कि महाराज! आपने ही तो कभी इसकी अनुमति न दी थी, यह तो हमलोगों के लिए परमकल्याण की बात है कि आज आपने आदेश दिया। अस्तु, अब हम सब चन्दा किये लेते हैं और कल से ही निर्माण कार्य प्रारम्भ हो जायेगा।

महात्माजी ने कहा कि नहीं, चन्दे की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल मिस्त्री, गाँव के सभी लोग एकत्र होकर एक साथ कार्य प्रारम्भ करें, सबको पैसा भगवान देंगे। दूसरे दिन ही कार्य प्रारम्भ हो गया। सैकड़ों लोग पैमाइश नींव खोदने में लग गये। शाम को वे महात्मा शौच गये, एक स्वर्णखण्ड उठा लाये और वयोवृद्धों को समर्पित कर कहा कि इसे बेचकर सबका पारिश्रमिक दे देना तथा अन्य कारीगरों को भी आमंत्रित कर देना। कारीगरों की भीड़ सहस्रों तक पहुँची और वे महात्मा उसी अनुपात में स्वर्णखण्ड लाकर वृद्धों को देते रहे, जिसे भाविक वृद्ध कारीगरों में वितरित कर देते। आश्चर्य तो सभी को था; किन्तु उन वृद्धों के हृदय में तीव्र कौतूहल होने लगा कि महाराज इतना स्वर्ण कहाँ से ले आते हैं। यह क्रिया जानकर हम भी अपने गृहकार्य की व्यवस्था, नाती-पोतों का विवाह भी आसानी से कर लेते। आपस में बहुत विचार करके उन्होंने सलाह किया और महाराजजी से निवेदन किया कि आप प्रतिदिन सोना ले आते हैं आपको कितना कष्ट होता है। यह कार्य तो हमलोग ही कर सकते हैं। क्या आपका हमारे ऊपर विश्वास नहीं है? आप तो इसे छूते भी न थे; आपको यह शोभा भी नहीं देता। आप केवल स्थान भर बता दें और यहीं आसन पर विराजें। आपके आदेशानुसार हमलोग वितरण करते रहेंगे।

जब बड़े-बूढ़े पीछे पड़ गये तो महात्मा ने विचार किया कि मेरे भक्त ठीक ही तो

कहते हैं। फिर मुझे स्वर्ण से क्या लेना-देना है? यदि यही लोग प्रबन्ध कर लिया करें तो और भी अच्छा है, अतः इन सबको वह स्थान दिखा ही दें। ऐसा निश्चय करके उन सबको साथ लेकर उस स्वर्णचट्टान की तरफ चले। संकेत किया और कहा कि इस स्थान से स्वर्ण लेकर वितरण किया करो। बूढ़ों का अभीप्सित सामने ही था। उन्होंने आपस में संकेत किया और झपटकर महात्मा को धर दबोचा। समीप के वृक्ष में बाँधने लगे। महात्माजी ने कहा कि अरे! क्या तुम्हारी बुद्धि खराब हो गई है। सनक तो नहीं गये। तुम्हें स्वर्ण लेना है तो ले लो, हमें क्यों बाँधते हो? जानते ही हो कि हमें धन की कोई आवश्यकता भी नहीं है। यह तो परमार्थ में ही मैं लगा रहा था। किन्तु लोभाक्रान्त तथा विवेकरहित वृद्धों ने उधर कोई ध्यान न देकर उन्हें बाँध ही दिया और निश्चिन्त मन से स्वर्ण-चट्टान की तरफ बढ़े। किन्तु यह क्या! वृद्धों के स्पर्श से ही वह चट्टान तो ऊबड़-खाबड़ पत्थर के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी जो अब किसी भी उपयोग में आने लायक न रही। वयोवृद्ध भक्त अब तो उदास हो उठें। कहाँ तो मन ही मन सात पुश्तों तक के प्रबन्ध तक की योजना थी; लड़के-बच्चों की शादी-विवाह की सोच रहे थे, किन्तु अब तो महात्माजी की सेवा और विश्वास से भी गये। सभी ने विचार किया कि अब यदि महात्माजी को खोल भी दें तो कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है। अतः बदनामी के डर से, महाराज के आग्रह पर भी न खोला और आगे बढ़ गये।

तीन-चार दिन उसी तरह बँधे रहने पर महात्मा पुनः महान् दुःख में डूब गये कि कहाँ फँस गये? कल तक सभी इशारे पर नाचते थे, आज आगे-पीछे कोई भी नहीं है। कष्ट के उन क्षणों में मस्तिष्क में आकाशवाणी गूँज उठी, "गुरु के वचनों में गुंजाइश, कलियुग की तिकड़मबाजी। बेटा! कहा था कि चिन्तन-परायण पुरुष को लोककीर्ति, आश्रम, कुटी इत्यादि में नहीं फँसना चाहिए, जैसे-तैसे निर्वाह कर लेना चाहिए। यथा लाभ में सन्तोष करके वैराग्य की रक्षा करनी चाहिए। बहुत मना करने पर नहीं माने। अब तो बेटा! तुम गिर ही गये।"

महात्मा अधर में लटके ही थे कि आराध्य की प्रेरणा से चरवाहे उधर से निकले और महात्माजी को बँधा देखकर उन्होंने बन्धन खोल दिया। चरवाहों ने बहुत पूछा किन्तु महात्मा मौन धारण कर वहाँ से चल पड़े और अपने गुरुदेव की स्मृति में अधीर होकर रोने लगे। सोचते थे कि गुरुदेव के पास कौन-सा मुख लेकर जाऊँ? इस बार भी आज्ञा का पालन नहीं हो सका। किन्तु अब तो भजन पूर्ण करके कुछ अर्जन करके ही जाऊँगा। उन्होंने निर्जन एकान्त में तपस्थान चुना और इस बार बड़ी सतर्कता और निष्ठा से

योग-प्रक्रिया में तल्लीन हो गये। बारह वर्ष बीत गये। भजन से सन्तुष्ट होकर अब वे गुरुधाम की ओर बढ़े।

गुरुदेव का आश्रम अभी दस-बारह मील दूर था कि शाम होने को आई। महात्मा ने गाँव के बाहर ही तालाब के किनारे भजन करते रात्रि व्यतीत किया। सूर्योदय के पूर्व ही एक व्यक्ति पास के मार्ग से निकला, महात्मा को देखा, तुरन्त सिर पटककर उतने ही वेग से आगे बढ़ गया। महात्मा से न रहा गया। पूछ ही बैठे कि ऐसी कौन-सी विपत्ति है जो भागे जा रहे हो? वह व्यक्ति, जो स्वर्णकार था, लौट पड़ा और बोला, "महाराजजी! परिवार में एक ही लड़का है, न जाने कौन-सी बीमारी हो गई है कि सभी वैद्य, डाक्टर जवाब दे गये। यही अन्तिम बच्चा है। सब ओर से हताश होकर वैद्य के यहाँ जा रहा हूँ। सम्भव है भगवान उन्हीं को यश देना चाहते हों।"

महात्मा की सावधानी तनिक विस्मृत हुई और अपना तपोबल उन्हें याद आ गया। झटके से उन्होंने अपनी जननेन्द्रिय के पास से एक बाल तोड़ते हुए कहा, "इसका ताबीज बनाकर बच्चे को पहना दे। देख, फिर क्या होता है?" वह व्यक्ति सोनार तो था ही, ठोंक-पीटकर ताबीज बनाकर बच्चे के गले में डाल दिया। बच्चे की स्थिति में सुधार होने लगा। बच्चा उठने-बैठने लगा और कुछ ही घण्टों में स्वस्थ हो चला। स्वर्णकार के परिवार के लोग बारी-बारी से तालाब की ओर जाने लगे। कोई दूध लिये है तो कोई दही, तो कोई कुछ अन्य मिष्ठान्न ही लिए चला आ रहा है। गाँव का जमींदार बड़ी देर से इन बातों को देख रहा था। वह भी शौच इत्यादि के लिए तालाब की ओर गया था।

वह स्वर्णकार भी दिखाई पड़ा। जमींदार ने पूछ ही तो लिया, "अरे सुखुआ! तूँ बार-बार घरभर इधर कहाँ जात है? तोरे लरिकवा के का हाल है?" तब वह बोला, "मालिक! वह तो ठीक हो गया।" जमींदार को आश्चर्य हुआ। पुनः पूछा, "किसकी दवा की? कैसे ठीक हो गया?" स्वर्णकार ने कहा, "मालिक दवा तो किसी की कारगर न हुई। हाँ, एक महात्मा इसी तालाब पर आये हैं, उन्हीं के आशीर्वाद से ठीक हुआ है। महात्मा क्या साक्षात् भगवान हैं। बड़े सिद्ध हैं।"

गाँव भर में चर्चा फैल गई। जमींदार, छोटे-बड़े सभी लोग तालाब पर एकत्र होने लगे। कोई लड़की के विवाह की प्रार्थना सुना रहा था, कोई जन्मजात रोगी था, कोई पागल था, किसी को निर्धनता ने परेशान कर रखा था- इत्यादि समस्यायें आने लगीं। दुनिया ही दुखी है तिसपर गाँवभर वहीं था। अतः समस्याओं का ढेर लग गया। महात्मा जाना भी चाहते तो सभी उनके पैरों के नीचे लेट जाते थे। तब महात्मा वहीं आसन पर बैठ गये और समझाने लगे कि हम कुछ भी नहीं जानते, आप लोग भ्रमवश मेरा पीछा

कर रहे हैं। किन्तु सभी के सामने प्रमाण बहुत ही बड़ा था। सभी कहने लगे कि आप महापुरुष हैं, अपने को छिपा रहे हैं। सम्भावित पुरुष अपने को छिपाते ही हैं।

धीरे-धीरे साँझ होने को आई और लोगों को अपने घर, पशुओं की व्यवस्था का ध्यान आया। लोग उकताने लगे तो जमींदार ने सुनार से पूछा- "करे सुखुआ! इ त बता कि तोरे लरिका के महाराज का दिहे रहे?" तब वह बोला, "मालिक! मैं वैद्य के पास जा रहा था कि महाराज दिखाई पड़े। मैंने सोचा कि बच्चे का अन्तिम समय है, शायद दुआ ही लग जाय। जब मैं प्रणाम करके आगे बढ़ा तो इन्होंने पूछा कि ऐसी क्या व्यग्रता है कि भाग रहे हो? जब मैंने लड़के की दयनीय दशा सुनाई तो इन्होंने अपनी जननेन्द्रिय के बगल का एक बाल उखाड़कर उसे ताबीज में भरकर पहनाने को कहा, जिससे बच्चा स्वस्थ हो गया।"

जमींदार ने कहा कि तब महाराजजी को क्यों परेशान कर रहे हो, जब इन बालों में इतना गुण है तो प्रार्थना करके महाराजजी के सब बाल ही क्यों नहीं ले लेते हो। बाल निर्जीव होते हैं। कभी-न-कभी कटते ही हैं, नाई बुलवा कर कटवा लो और हमलोग आपस में बाँटकर महाराजजी को जाने दें।

इतना सुनने पर वह नाई घर की ओर दौड़ गया क्योंकि उस्तरा तो घर पर ही था। महात्माजी के बगल में एक अत्यन्त गरीब आर्त भक्त भी खड़ा था। उसने सोचा कि बड़े आदमियों का मामला है, पता नहीं उसके हिस्से में बाल आयें या न आयें। यदि बाल न मिला तो दुःखी का दुःखी ही रह जाऊँगा। अधीरता से सोचते-सोचते उसने अचानक लपककर महात्माजी के बालों में हाथ लगाया और नोंचकर भागा। फिर कौन प्रतीक्षा करता। बात-की-बात में सभी टूट पड़े और महाराजजी के सिर से पाँव तक का एक रोआँ भी न बचा। नाई कुछ देर से पहुँचा। रही सही कसर उसने पूरी कर दी। वस्तु जब समाप्त हो गई तो महात्मा को ही लेकर सब क्या करते, अतः वहीं महात्मा को छोड़कर सभी अपने घर चले गये।

अब तो वे साधू मेड़ पर अकेले विकल पड़े-पड़े विलाप करने लगे तथा बार-बार गुरुदेव का स्मरण करने लगे। पुनः आकाशवाणी हुई, "गुरु के वचनों में गुंजाइश कलियुग की तिकड़मबाजी। बेटा! तू फिर गिर गया।" साधू को विश्वास हो गया कि अब हमारे करने से कुछ नहीं होगा। जैसे भी हो गुरुदेव की शरण में अविलम्ब पहुँचें। अतः उसी प्रकार बिलखता, विलाप करता गुरुदेव के आश्रम में पहुँचा। गुरुदेव ने कहा, "क्यों बेटा! अब घूमने की इच्छा नहीं है? बेटा तू श्रेष्ठ से श्रेष्ठ है, मगर चाह करके भ्रष्ट है।" गुरुदेव ने उस साधक की दयनीय दशा पर तरस खाकर उसके पुनरुद्धार का प्रयास

किया और अपने प्रभूत अनुभवों द्वारा समझाते हुए कहा, "बेटा! भगवान की आज्ञा मानना, उसका पालन करना ही भजन है। अरे! भजन तो स्वयं भगवान ही कराते हैं। साधक को तो निमित्त मात्र बनकर खड़ा रहना चाहिए। तुमने अपनी कल्पित क्षमता से वैराग्य तथा तीर्थाटन का संकल्प बनाया और पथ से विचलित हो गये। जब तक भगवान हृदय में प्रकट होकर निर्देश न देने लगे तब तक अपने मन से कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए और किसी महापुरुष की शरण पकड़कर सर्वतोभावेन उन्हीं के आदेशों का पालन करना चाहिए। साधक के लिये यही भजन है।"

-:: १४ ::-

तत्त्वदर्शी महापुरुष अपनी इच्छा-शक्ति से कर्म को बदल सकता है। यही आशीर्वाद कागभुशुण्डिजी को भी था। भगवान जब अपना लेते हैं तो इच्छा ही इच्छा-शक्ति बन जाती है- **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** *(मानस, ७/११३/४)* महाराजजी इसी सन्दर्भ में एक कथानक सुनाया करते थे, जो इस प्रकार है- दो भाई थे। एक भाई नित्य एक तत्त्वदर्शी महात्मा के सत्संग में जाता था। लगन से उनकी सेवा किया करता था। दूसरा भाई विख्यात वेश्या के कोठे पर प्रतिदिन जाता, शराब पीता था। पहला भाई रोज समझाता था, "देखो! हम लोग भले घर के हैं। तुम्हें यह शोभा नहीं देता। सत्संग में चला करो। यही हमारा कर्त्तव्य है। एहि तन कर फल विषय न भाई।" किन्तु दूसरे भाई पर कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता था।

कुछ काल पश्चात् पहला भाई रात में सत्संग से लौट रहा था। रात अँधेरी थी। पाँव में एक खूँटी गड़ गई। इस पार से उस पार हो गई। खून ही खून फैल गया। किसी तरह घर पहुँचा। सवेरा होने से कुछ पहले दूसरा भाई वेश्या के यहाँ से लौटा तो रास्ते में हार पड़ा मिला। लाखों का हार मिला। प्रसन्नता से घर पहुँचा तो भाई कराह रहा था, बोला, "ले, और कर ले सत्संग! फल मिला। अरे चार दिन की जिन्दगी है! मौज-पानी ले ले। देख, मुझे लाख रुपये का हार मिला और तुम्हें पाँव में खूँटी लग गई। सत्संग से क्या मिला? टिटनेस हो जायगा तो मर भी जायेगा।" छोटा भाई बोला- "नहीं! सन्त-दर्शन से कभी अनिष्ट नहीं हो सकता।" बड़ा बोला, "सामने दिखाई तो दे रहा है। पाँव चीरे बैठा है, कहता है अनिष्ट नहीं होता।" तय किया गया कि ज्योतिषी से विचार कराया जाय कि हार क्यों मिला और खूँटी क्यों गड़ी?

दोनों अपनी-अपनी कुण्डली लेकर ज्योतिषी के पास गये। उनकी विद्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। कुण्डली सामने रखी गई। ज्योतिषी ने एक कुण्डली उठाई, चौंका!- "यह व्यक्ति तो आज सवेरे मर गया होगा। सवेरे-सवेरे ऐसी कुण्डली क्यों ले आये?" दोनों

ने कहा- "महाराज! दूसरी कुण्डली भी देखें।" ज्योतिषी ने देखा, बोला- "विलक्षण कुण्डली है। इतनी शुभ कुण्डली तो हमने जीवन में कभी नहीं देखी। इस पुरुष को आज राजा होना चाहिए। मैं उस भाग्यवान से अभी मिलना चाहता हूँ।" ज्योतिषी ने सोचा, होनेवाला राजा से पहले ही मिल लेने पर धाक जम जायेगी, सदैव सम्मान मिलेगा।

भाइयों ने बताया कि कुण्डली हमीं दोनों की है। ज्योतिषी ने कहा- "अरे! ऐसा कैसे हो सकता है। ज्योतिष तो गलत हो ही नहीं सकता। तुम अभी तक जीवित कैसे हो? बताओ तुम लोग करते क्या हो?" छोटे भाई ने बताया, "मैं नित्य महात्मा की सेवा में जाता हूँ, उनकी वाणी सुनता हूँ, उपदेशानुसार जीवन में कुछ ढालने का प्रयास करता हूँ, चिन्तन के लिए भी समय निकालता हूँ।" ज्योतिषी ने सिर हिलाया और दूसरे भाई से पूछा- "तुम क्या करते हो?" वह बोला- "मैं तो शराब पीता हूँ, वेश्या के यहाँ जाता हूँ और यह भाई मुझे नित्य बिगड़ता है।"

ज्योतिषी ने समाधान किया कि तुम गलत करते हो। तुम्हारे छोटे भाई को आज मर जाना चाहिए; किन्तु महापुरुष के दर्शन, सत्संग, सेवा के प्रभाव से इसे मात्र खूँटी ही गड़ गई। इसकी आयु बढ़ गई। तुम्हें आज राजा होना चाहिए था किन्तु कुकृत्य करते-करते पुण्य क्षीण हो गया। एकाध लाख का हार मिल गया। दो-चार महीने में फूँक-तापकर उसे भी बराबर कर दोगे। फिर तो न पुण्य है न पुरुषार्थ। उस दिन से बड़ा भाई भी सत्संग में जाने लगा। बुराइयाँ छूट गईं।

वस्तुतः मनुष्य कर्मों का रचयिता है, शेष चौरासी लाख योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं। मानव-तन में भला-बुरा जैसा भी कर्म किया जाता है, उसी के अनुसार भविष्य की योनियों का सृजन होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन के द्वारा जिस कार्यकलाप को करके यह जीवात्मा शरीर त्यागता है उसी के अनुसार उत्तम अथवा अधम योनियों में प्रवेश करता है। **'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'** *(१५/२, गीता)*, मनुष्य-योनि ही ऐसी योनि है जिसमें कर्मों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ बन्धन तैयार होता है। शुभ कर्म करेंगे तो हाथ में शुभ रेखायें बन जायेंगी, अशुभ करेंगे तो शुभ रेखायें नष्ट हो जायेंगी, अशुभ शेष बचेगा। केवल मनुष्य योनि में ही कर्मों का सृजन होता है। अन्य योनियाँ मात्र उन कर्मों के भोग के लिए हैं। आज से लाखों वर्ष पूर्व शेर जंगलों में रहते थे। कोई शक्तिशाली मिला तो भाग खड़े हुए, कमजोर मिला तो फाड़ खाया। आज भी उनका वही स्वभाव है। उनका रहन-सहन, बुद्धि-विचार कुछ भी तो नहीं बदला। किन्तु मानव दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति करता जा रहा है। कभी वह पत्थरों से लड़ता था तो आज क्षेप्यास्त्रों से लड़ रहा है। अन्तरिक्ष

में जा रहा है। भौतिक आविष्कारों से हटकर यही मानव-मन ईश्वर की ओर अग्रसर हुआ तो सूक्ष्म होते-होते, मन का निरोध करते-करते परमतत्त्व परमात्मा तक को शोध निकालने में सक्षम हुआ। इस प्रकार मनुष्य कर्मों का रचयिता है, उसके आश्रित नहीं। सभी को चाहिए कि शुभ कर्म करें, अशुभ से बचें।

-:: १५ ::-

गुरु पूर्णिमा के पावन पर्व पर दसियों हजार की भीड़ अनुसुइया आश्रम में हो जाया करती थी। सैकड़ों माताएँ भी सपरिवार महाराजजी के दर्शनार्थ एकत्र हो जाती थीं। जब घर जाने की अनुमति हो, तो दो-एक महिलायें निवेदन करती थीं कि महाराजजी! अब मैं यहीं रहकर आपके सान्निध्य में भजन करूँगी। संसार में मेरा कोई नहीं रह गया है। महाराजजी कहते थे- "देखो हो! का कहत है? वैराग सवार है। घर में रहिहैं तो मारे गृहस्थी के साल भर फुरसत न मिली और इहाँ वैराग चढ़ा है, मरकट वैराग! अरे हम इहाँ अपने बहिन को रहने की अनुमति दें, माई को रखें अथवा बिटिया को रहने दें तो लोग का जनिहैं कि माई-बहिन हैं। लोग तो इहै कहिहैं कि बाबा मेहरिया रखे हैं। **यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धम् न करणीयम्।** हालाँकि मन-क्रम-वचन से तनिको दोष नहीं है फिर भी जो लोकदृष्टि के विरुद्ध है वह नहीं करना चाहिए। उससे समाज में गलत संस्कार पड़ते हैं।"

"नहीं! महाराजजी! आप महापुरुष हैं। आपको कोई कुछ नहीं कहेगा। यहाँ पर हमारा मन बहुत लगता है। यहीं भजन करने की आज्ञा दीजिए।"- महिलाओं के ऐसा कहने पर महाराजजी कहते, "हूँ! चामे की धोकरी कुत्ता रखवार। ताजा उतारा चमड़ा है, कितना ही वफादार कुत्ता है, ऊ जरूर छुई। जबै मौका पाई, दाँत जरूर लगाई। स्वभाव है न। अरे! मैं साधू हूँ, मोके कउनो फरक नाहीं। दो-चार औरउ ऐसन हैं जिनके ऊपर संगदोष का प्रभाव नहीं है, मोरे स्वरूप हैं; लेकिन जो नये साधक हैं उनके तो गुण-स्वभाव पुराने हैं। **गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द।** दस-बारह साल में तो साधक लाइन पकड़ता है, तब कहीं खतरा टलता है। अबै तो ई सब कुम्हड़ बतिया हैं। संग से जती नष्ट होई जात है। जो भाग! घर ही से भजन कर। मनै से आवा-जावा कर। कल्यान मैं करिहौं। साँझ-सबेरे मोर रूपवा देखा कर। कउनो एक नाम जपा कर। राम-राम जप। जो और पति की सेवा कर। जवन तैं इहाँ पइहै वह मैं वहीं दे देइहौं।" इस प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें घर भेज देते थे।

महाराजजी प्रायः भाविकों से कहते थे कि 'ओम्', 'राम', 'शिव' -किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम को चुन लो। सबका आशय एक है। 'ओम्' पर अधिक बल देते थे। कहते

थे, "मोरे रूपवा देखा कर। शरीरिया से कहूँ रहो, मनवा से आवा-जावा करो। सुबह-शाम, साँझ-बिहान जब याद आवै तब-तब मन से पहुँच जाया करो। जब भी मोरे रूप को एक भी मिनट हृदय में रोक लोगे तो जिसका नाम साधना है, वह भजन मैं तुम्हें प्रदान कर दूँगा। तुम्हारे हृदय से ही प्रेरणा करके भजन की प्रशस्त पटरी पर मैं खड़ा कर दूँगा; भगवान खड़ा करते हैं। **'तुलसिदास (मन) बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।'** *(विनय०, पद ८९)* तुम एक मिनट ध्यान तो धरो। 'ओम्' जपो तो।"

-:: १६ ::-

पूज्य महाराजजी कहा करते थे, "बेटा! जब माया परीक्षा लेत है तब बूढ़े जवान होइ जात हैं, नामर्द मर्द बनि जात हैं। साधु बनब आसान है लेकिन निबाहब कठिन है। **धरी न काहू धीर, सब के मन मनसिज हरे।** हो, माया बड़ी अपरबल है।"

घोर जंगल में एक आश्रम था। बड़े अच्छे तत्त्वदर्शी महापुरुष वहाँ निवास करते थे। दस-पन्द्रह शिष्य भी उनके संरक्षण में क्रिया तथा सेवा में संलग्न थे। एक दिन एक शिष्य बोला, "महाराजजी! आज्ञा हो तो वैराग्य कर आऊँ। तीर्थाटन की प्रबल इच्छा है।" महाराजजी बोले, "बेटा! अभी तुममें क्षमता नहीं है। माया बड़ी प्रबल है। उसकी सर्वत्र धार है। न जाने कब कौन-सा दाँव लगा दे, तुम जान ही नहीं पाओगे।" शिष्य ने कहा, "महाराजजी! बस आपकी कृपा बनी रहे तो माया क्या कर लेगी?" महाराजजी ने कहा, "हाँ, कृपा तो है लेकिन बचना! मैं भी तो कुछ कह रहा हूँ।" शिष्य ने प्रणाम किया, तो महाराज ने पुनः बचने के लिए सतर्क किया।

शिष्य अभी आश्रम से एक मील भी न गया होगा कि सामने से एक बुढ़िया तेजी से आती दिखाई पड़ी। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं किन्तु आँखों में तेज चमक थी। घोड़े की एक लगाम लिए वह उड़ती-सी चली आ रही थी। इधर-उधर देखती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। महात्मा को दया आ गयी। सोचा, लगता है बेचारी का घोड़ा कहीं खो गया है। बोला, "बुढ़िया, इधर कोई घोड़ा नहीं गया! तू लगाम लेकर कहाँ दौड़ी जा रही है?" बुढ़िया बोली, 'बाबा! यह महात्माओं को लगाती हूँ, घोड़ों को नहीं।" ब्रह्मचारी बिगड़ा, कुतिया कहीं की! कहती है महात्माओं को लगाम लगाती हूँ। जो करना हो कर! क्या उखाड़ेगी?" बुढ़िया बोली, "अच्छी बात है बाबा! बचना!" ब्रह्मचारी पुनः जोर से बिगड़ा। बुढ़िया आगे बढ़ गयी।

ब्रह्मचारी एक मील और आगे बढ़ा तो नदी पड़ी। नदी के पार एक बाला विकल होकर रो रही थी। मुँह लाल हो गया था। आँखें रोते-रोते सूज आयी थीं। पैरों में मेंहदी लगाये, सजी-सँवरी किसी भले घर की नववधू प्रतीत होती थी। पार होते ही महात्मा ने

दयावश पूछा, "तुम रो क्यों रही हो? तुम्हारे साथी क्या जंगल में भटक गये? तुम्हें क्या दुःख है?" बाला कुनमुनाई, उठी और धीरे-धीरे चलकर ब्रह्मचारी के पास आयी। पाँच रुपया उसके चरणों पर रखा, प्रणाम किया, बोली, "महाराज! मुझ-जैसी अभागिन इस सृष्टि में कोई नहीं है।" इतना कहकर वह पुनः वहीं जाकर बैठ गयी और रोने लगी। ब्रह्मचारी ने विचार किया- है बड़ी धर्मात्मा! इसके ऊपर कोई भारी आफत आयी है। इसकी सहायता करनी चाहिए। बोला, "कुछ बतायेगी भी कि बात क्या है?" बाला क्रमशः शान्त हुई, बोली, "महाराजजी! मैं मायके से आ रही हूँ। उस पार, वह जो गाँव दिखाई दे रहा है, मेरी ससुराल है। बीच में यह नदी बढ़ गयी। अब लौटती हूँ तो बड़ा अपशकुन माना जाता है। शुभ घड़ी में विदाई हुई है। उस पार कैसे जाऊँ? नदी बढ़ी है। बस यही दुःख है। अब तो हम न घर के रहे न घाट के। मर जाना शेष है। शेर-बाघ इस जंगल में खा लें, यही बाकी है। हमारी दुनिया का दीपक बुझ गया। महाराज! मुझ-जैसी अभागिन कोई नहीं है। आप दयालु हैं, सन्त हैं, आप से क्या प्रयोजन? आप जायँ। क्यों मुसीबत में पड़ते हैं? महाराजजी! अपनी करनी पार उतरनी। जैसा मैंने किया है, कौन भोगेगा?" उठी और दस रुपया पुनः पैर पर चढ़ाया, प्रणाम किया। बोली, "महाराज! तीरथ में जा रहे हैं। ले लें, गाँजा-भाँग में काम आयेगा।"

ब्रह्मचारी चलने लगा तो सोचा, क्या कोई उपाय हो सकता है? रास्ते में कहीं कोई दिखलाई भी नहीं पड़ रहा था। लौटा, बोला, "देखो! नदी में इतना वेग नहीं है जितना तुम समझती हो। केवल घुटने तक पानी है। तुम चलो तो।" नववधू बोली, "महाराज! हमको बहुत डर लगता है।" ब्रह्मचारी बोला, "अच्छा, यह डण्डा पकड़! हम पार कर देंगे।" जहाँ पानी के पास आयी, तहाँ छड़ी छोड़कर वधू बड़ी जोर से चींख पड़ी, वापस हो गयी और पुनः जाकर वहीं बैठ गयी। विकल होकर रोने लगी। ब्रह्मचारी अवाक् रह गया, बोला, "अब क्या हुआ?" रोती हुई बोली, "महाराज! मेरे अभाग्य का अन्त नहीं है। अब तो कोई उपाय नहीं है। हमारे पास सौ-सवा सौ रुपया है। यहाँ मुझे शेर-चीता तो खा ही जायेंगे, ये पैसे मेरे पास पड़े-पड़े सड़ जायेंगे, आप तीरथ-बरत में जा रहे हैं, इसे स्वीकार करें। किराया-भाड़ा, गाँजा-भाँग में काम आ जायेंगे। रुपया फेंका, प्रणाम किया और वापस वहीं जाकर रोने लगी। महात्मा दयार्द्र हो चले थे, पूछा, "बात क्या हुई। क्यों पीछे हट गयी?" वह बोली, "महाराजजी! पैर में महावर लगा है, वह तो पानी में धुल जायेगा। ससुराल में वे मुझे रखेंगे नहीं। कहेंगे, न जाने कितने दिन की चली है। महावर कहाँ छुड़ाकर आयी है।"

महात्मा ने सोचा, विपत्ति तो भारी है; किन्तु बेचारी है बड़ी धर्मात्मा। पूछा, "क्या कोई भी उपाय नहीं है?" "महाराज! आप जायँ।" ब्रह्मचारी ने कहा, "सुन तो लें, क्या

है?" वधू बोली, "अपने कन्धे पर बैठा लीजिए, हमारे पैर का रंग न छूटे और उस पार कर दीजिए।" ब्रह्मचारी बोला, "ऐसा कैसे हो सकता है?" वह बोली, "अरे महाराज! वह तो हमने पहले ही प्रार्थना किया। आप जाइये।"

ब्रह्मचारी संकोच में पड़ गया, सोचा- है बड़ी दयालु, साधुसेवी है। हमको इतना खर्च दिया। रास्ते की ओर आगे-पीछे देखा। कोई नहीं था। बोला, "शीघ्र कन्धे पर बैठ। हम पार कर दें।" ब्रह्मचारी के मन में उस समय कोई विकार भी न था। कन्धे पर बिठाया और नदी पार करने लगा। बीच धारा में पहुँचते ही नववधू ने ब्रह्मचारी के मुँह पर लगाम लगाकर पैर से एड़ लगा दिया। टिक-टिक हाँकने लगी। ब्रह्मचारी बिगड़ा, बदतमीज कहीं की! क्या करती है? ऊपर झाँका तो वही बुढ़िया। बोली, "कहा था न बाबा बचना! द्रवित हो ही गये। साधक के लिए दया का विधान कहाँ है। थोड़ा-सा चारा फेंका, उतने में ही फँस गये। तुम्हारे पीछे पुण्य प्रबल है। जंगलवाले महात्मा हृदय में बैठे हैं इसलिए बच गये अन्यथा तुम्हें तो अभी पटकर चढ़ बैठती। जन्मभर रोने को आँसू न मिलते।"

ब्रह्मचारी ने झुँझलाकर बुढ़िया को नदी में फेंका तो न कहीं बुढ़िया थी, न लड़की। सोचने लगा कि सचमुच माया प्रबल होती है। इसको तो हम पहचान ही नहीं सकेंगे। लौटा और आश्रम चला गया। महाराज ने पूछा, "वैराग्य कर आये?" ब्रह्मचारी बोला, "महाराज! आपकी आज्ञा नहीं मानी! बाल-बाल बच गये। माया मिली थी, कहा- गुरुजी तुम्हें पकड़े हैं नहीं तो अभी पटककर चढ़ बैठती। अब तो महाराज हम यहीं रहकर सेवा करेंगे।"

अतः साधक को तब तक गुरु-आश्रम में धक्का-मुक्की खाते हुए सेवा और साधना में लगे ही रहना चाहिए, जब तक साधना की पटरी पर अनवरत चलने की क्षमता न आ जाय। इसके पश्चात् **'कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा।।'** *(मानस, २/३११/५)* कोई अन्तर नहीं पड़ता। विचरण करने में खतरा है। माया की धार सर्वत्र है। **'काले मूड़ का एक न छाड़ी, अजहूँ आदि कुमारी।।'** कबीर कहते हैं कि माया से एक भी कुकृत्य नहीं बचा फिर भी वह आदि कुमारी बनी है। इसका कुछ नहीं बिगड़ता। यह सदैव युवा है। जितना ही इसका स्पर्श करेंगे, उतना ही यह युवा होती जायेगी।

माया दया के वेश में, सेवा के वेश में, अनन्त मार्गों में न जाने किस रास्ते से साधक पर कामयाब हो जाती है। साधक के लिए दया का विधान नहीं है। सीताजी ने दया की तो लंका में जाकर भोगना पड़ा। **'दया बिनु सन्त कसाई, दया करी तो आफत**

आई।' हाँ, दया-धाम की उपलब्धि होने पर महापुरुष दया का स्रोत ही बन जाता है। फिर तो **'खाय न खूटे, चोर न लूटे; दिन दिन बढ़त सवायो।' 'पूर्णमदः पूर्णमिदं'** वह पूर्ण है- भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में पूर्ण है। पूर्ण में से पूरा दान देने पर भी पूर्ण बच रहता है। ऐसे मनीषी दया के धाम ही हैं, उनसे सदैव कल्याण होता ही रहता है, और उन्हीं से दया की आशा भी की जाती है, किन्तु साधक के लिए दया का विधान नहीं है। साधक पहले अपनी तो परीक्षा दे ले, फिर दूसरों को डिग्री-डिप्लोमा देगा। हाँ, ऐसे साधन-परायण पुरुषों की सेवा से लाभ सदैव है। वे भले दया न करें किन्तु उनसे स्वतः मिलता है। पूर्तिपर्यन्त खतरा रहता है। इष्ट से एक इंच की भी दूरी है, तब तक माया कामयाब हो जाती है। वास्तव में साधु बनना आसान है लेकिन निर्वाह करना कठिन है। निर्वाह किसी महापुरुष की सेवा से ही होता है।

द्वार धनी के पड़ि रहे, धक्का धनी का खाय।
कबहुँक धनी निवाजिहै, (जो) दर छोड़ ना जाय।।

-:: १७ ::-

पूज्य महाराजजी से एक भाविक ने पूछा, "महाराजजी! योग कैसा होता है?" महाराजजी ने उसकी ओर देखा, बोले- हूँ, माँगे का भीख, पूछे गाँव का जमा! अरे! जोग कहिले से आवत है? घर पर कौन काम करते हो?" वह बोला, "महाराजजी! दुकान है। आजकल बड़ी घटी दे रही है। बरक्कत नहीं हो रही है इसीलिए आया हूँ।" महाराजजी ने कहा- "हूँ...भितराँ कुछ अउर भरा है, ऊपर से जोग पूछत् है। "नाम अन्हियारी बारी, होम करै के पल्लव नहीं।" अरे! जोग अधिकारी की वस्तु है। हूँ! जउने लिए आया है वही माँग! जो, विभूति उठा! अब देख का होत है! फिर आकर बताना क्या हाल है?" इसी प्रकार महाराजजी सबको समझा-बुझाकर वापस कर देते थे।

पास बैठे अनेक भाविकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो ही जाती थी। कुछ लोग विनयपूर्वक पूछ बैठते थे कि महाराजजी! भजन कैसे होता है? महाराजजी उन्हें सस्नेह समझाते थे कि देखो, सब लोग भक्ति का अर्थ नहीं जानते। लोग समझते हैं कि आँख बन्द कर लो या एकान्त में बैठकर कुछ समय बिता दो अथवा कोई काँटे पर सोता है, कोई खड़ा ही रहता है या महात्मा जंगल में बैठे रहते हैं, यही भजन है। लेकिन भक्ति के जितने भी दाता और ग्रहणकर्ता हुए हैं, उन सबका चरित्र देखने पर ज्ञात होता है कि भक्ति-भाव के लिए सेवा का बड़ा महत्त्व है। 'भज' का अर्थ ही सेवा करना होता है।

राजा दिलीप वशिष्ठ की गाय चराया करते थे। वे चाहते तो अपने स्थान पर दस-पाँच हजार नौकर लगा देते। किन्तु नहीं, नौकरों द्वारा सेवा कराना एक बचाव (गुंजाइश) निकालना है। हम स्वयं मन से लगें तभी हमारे अन्दर उन संस्कारों का सृजन होगा, मन निर्मल होगा, भक्ति पुष्ट होगी। यदि नौकरों द्वारा सेवा कराते हैं तो नौकरों को भले ही कुछ मिल जाय, भेजनेवाले के लिए तो खानापूर्ति ही हाथ लगेगी। इसीलिए महाराजा दिलीप चक्रवर्ती नरेश होते हुए भी स्वयं गुरुवर वशिष्ठ की सेवा में अपने कल्याण के लिए उपस्थित थे। संसार में अन्य सभी वस्तुएँ सुलभ हैं, केवल भक्ति ही एक दुर्लभ पदार्थ है। 'भग इति सः भक्ति।' भग प्रकृति को कहते हैं, माया को कहते हैं। इस माया का अन्त जिस क्षण हो जाय वही भक्ति की पराकाष्ठा है। प्रकृति का अन्त और परमात्मा में स्थिति ही भक्ति का अन्तिम परिणाम है। इस उपलब्धि के लिए विषयों में संलग्न मन को सब ओर से समेटकर उन चरणों में लगाना होग। इसीलिए दिलीप स्वयं सेवारत थे।

पुराणों में बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं, जिनमें अनुरागियों ने गुरुदेव की शरण में पहुँचकर ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिए प्रार्थना की। गुरुदेव ने सत्यकाम नामक शिष्य से कहा, "इन सौ गायों को जंगल में ले जाओ, इनकी सेवा करो। किसी का साथ न करना। एकान्त का सेवन करना। हम एक छोटा-सा नाम बता रहे हैं, इसी का जप करना और कोई आपत्ति-विपत्ति आये तो हमारी ओर देख लेना। जिस समय सहस्र गायें हो जायँ, आ जाना। उस समय हम तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे।" कभी कोई भाविक किसी महर्षि के पास पहुँचा और ब्रह्मविद्या का रहस्य जानना चाहा तो महर्षि ने उसे बारह वर्षों तक गोशाला की देखरेख करने को कहा। छान्दोग्य उपनिषद् की कथा है कि इन्द्र सौ वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् ब्रह्मविद्या के अधिकारी हुए।

वस्तुतः भक्ति, जो प्रकृति से पार स्थिति प्रदान करनेवाली है, उसका उतार-चढ़ाव इस मन पर है। आज हम निःसन्देह ब्रह्मविद्या चाहते हैं किन्तु कल तक हम क्या थे? मन तो आज भी वही है, हजारों मायिक ग्रन्थियों में उलझा है। क्षणिक वैराग्य मन का यथार्थ स्वरूप नहीं है। इसीलिए वे महापुरुष मन को योग्य बनाने के लिए कोई सेवा निर्धारित कर देते थे। उस सेवा से दस-बारह वर्षों के अन्तराल में पारिवारिक आसक्ति निकल जाती थी, संगदोष का कुप्रभाव नहीं पड़ने पाता था। उत्तरोत्तर ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा बढ़ती जाती थी, ब्रह्म का मूल्य समझ में आने लगता था। एक-एक दिन गिनना भारी पड़ता था। अनुरागी लालायित रहता कि कब अवधि समाप्त हो, कब क्षमता आए और मैं ब्रह्मविद्या प्राप्त करूँ। इसीलिए सेवा का सदैव विधान था। अनायास किसी को

साधना बता दी जाय, तो न तो ब्रह्मविद्या उपयोगी रहती है, न ब्रह्म। उस साधना को करने की क्षमता भी साधक में नहीं होती; किन्तु कुछ काल तक महापुरुष की सेवा करने से वही योग्यता स्वतः आ जाती है। सद्गुरुओं की शरण में जाने का विधान यही है कि **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** *(गीता, १८/६६)* सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर मन-क्रम-वचन से उनकी शरण में हो जाओ। जब मन से उनका स्पर्श करने लगेंगे तो उनके अन्दर जो योग्यता है, आपके भीतर भी स्वतः प्रसारित हो जायेगी।

हम भी जब महाराजजी की शरण में गये तो पूज्य महाराजजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया किन्तु हमारी समझ में कुछ आया नहीं। कुछ काल पश्चात् जब समझ में भी आया तो जब चिन्तन करने बैठते तो महाराजजी का स्वरूप सामने से हट जाय और एक विशालकाय मुर्रा भैंसा ध्यान में आकर खड़ा हो जाय। कई दिनों तक ऐसा होता रहा। हमने महाराजजी से निवेदन किया कि महाराजजी, आपका स्वरूप प्रयत्न करने पर भी ध्यान में नहीं आता और एक बड़ा भैंसा जिसकी कभी कल्पना भी नहीं थी, आकर सामने खड़ा हो जाता है। महाराजजी ने बताया- "बेटा! यमराज है। इसी से तो लड़ाई लेनी है। इसी की तो फाँसी काटनी है। अच्छा बताओ- चिन्तन में मन लगता है?" हमने कहा, "महाराजजी! उत्साह तो है; किन्तु भजन में बैठता हूँ तो दृश्यों की कतार लग जाती है। जो कभी याद नहीं था, बीसों वर्ष पहले भी जो घटना घटी थी, वह भी सजीव चित्रित हो उठती है।" महाराजजी ने निर्देश दिया, "यह ऐसे नहीं ठीक होगा। तुम चिन्तन के साथ समर्पित भाव से सेवा करो, बस!"

उस समय सेवा का वास्तविक अर्थ एवं महत्व भी हम नहीं जानते थे। गुरुदेव की आज्ञा थी, सोचा- चलो ठीक है। हाथ-पैर इधर-उधर चलते रहें किन्तु मन सदैव चरणों में लगा रहा। जब तक सेवा का वास्तविक महत्त्व मेरी समझ में नहीं आया, तब तक हम इसी प्रकार दिखावटी सेवा ऊपरी मन से करते रहे; किन्तु जब इष्ट गुरुदेव अनुभवों द्वारा बार-बार वही बात हृदय-देश से बताने लगे तब सन्देह दूर हो गया। तब से मन लगाकर सेवा करने लगे। ऐसा ही विधान पूर्व महर्षियों का था, अब भी है और ऐसा भविष्य में भी रहेगा।

जब तक मन साधना में प्रवेश पा नहीं लेता तब से पूर्तिपर्यन्त सेवा में समय देना होगा। यदि कोई सेवा छोड़कर चिन्तन में बैठ जाता है तो केवल शरीर बैठा रहता है। जिस मन को बैठना चाहिए वह तो हवा से बातें कर रहा होता है। कुछ दिनों तक साधक हठवश बैठे रहते हैं किन्तु साल-दो साल पश्चात् हताश होकर किसी आडम्बर को स्वीकार कर लेते हैं अथवा इधर-उधर बहकने लगते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन!

जो हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह दम्भाचारी है। अतः मन से इन्द्रियों को रोककर जो निर्धारित क्रिया करता है वही श्रेष्ठ है, वही योग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवाला है। इसीलिए सेवा का विधान है।

आज भले ही हमें विकार प्रतीत न हों किन्तु जो पहले से भरे पड़े हैं, बड़े स्नेह से जिनका कभी हमने चिन्तन किया था, वे कृत्य बरबस चिन्तन के समय आयेंगे। उनका शमन हुए बिना चिन्तन में मन नहीं लगेगा। केवल शरीर से बैठने से कोई लाभ नहीं है। इसीलिए महापुरुषों की सेवा का विधान है। महापुरुष के हृदय का वायुमण्डल शान्त रहता है। जहाँ भी वे रहते हैं उनसे निरोध के ही परमाणु प्रसारित होते रहते हैं। उनकी हर श्वास से तपस्या के संस्कारों का संचार होता रहता है। इसीलिए उनके दर्श-स्पर्श, सेवा तथा संसर्ग से जो योग्यता आज मन में नहीं है वह भी कुछ ही काल में आ जाती है। फिर तो मन मायिक पथ को छोड़कर इष्ट की पटरी पर क्रमशः गमन करने लगता है। साधना गति पकड़ने लगती है। भगवान राम कहते हैं-

सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति अस, सावधान सुनु काग।। *(मानस, ७/८६)*

सुशील बुद्धिमान्, प्रयत्नशील सेवक किसे प्रिय नहीं होता? पिता अपने सभी बच्चों पर समान स्नेह रखता है किन्तु जो पुत्र मन-क्रम-वचन से पिता का भक्त है, पिता की सेवा ही धर्म जानता है अन्य कोई धर्म नहीं जानता है, वह सुत पिता को प्राणों की तरह प्रिय होता है, भले ही वह मूर्ख क्यों न हो। इसी प्रकार, भगवान राम कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व मुझसे उत्पन्न है और सभी जीवों पर मेरी समान दया है; किन्तु उनमें भी जो मद-माया का त्याग करके मन-क्रम-वचन से मेरा भजन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तिहीन विरंचि भी सामान्य जीवों की तरह प्रिय हैं- **'सत्य कहउँ खग तोहिं सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।'** *(मानस, ७/८७ ख)*। प्राणप्रिय तो सेवक ही होगा।

इस प्रकार प्रारम्भ में महापुरुष की सेवा शरीर से की जाती है; किन्तु चिन्तन की एक निर्धारित सीमा पार कर लेने पर, किंचित् परिपक्वता में यही सेवा मानस-पूजा में ढल जाती है। साधना जागृत होने पर स्वतः साधक समझता जाता है और इष्टदेव पूर्तिपर्यन्त एक-न-एक नया रूप प्रदान करते रहते हैं, सेवा की विधि समझाते ही रहते हैं। प्रारम्भ में बताते हैं। इस तरह नाम पकड़ने की क्षमता आ गयी तब वे स्वयं ही छुट्टी देकर बाहर वाणी से, अन्दर अनुभवों द्वारा संचालित कर समीप के ही किसी एकान्त स्थान पर निवास के लिए भेज देते हैं, उसे अलग रहने की अनुमति प्रदान कर देते हैं। वहाँ साधक का मन भी लगने लगता है। अब तक सेवा शरीर से होती थी और उसके

बाद वह अब भी सेवा ही करता है किन्तु मन से करता है। दिन-रात उन्हीं महापुरुष की प्रार्थना करता है, उन्हीं के अनुरूप अपने को ढालता जाता है। मन द्वारा की गयी मानसिक सेवा शारीरिक सेवा से उत्कृष्ट होती है।

मानसिक सेवा के क्रमागत उत्कर्ष में साधक जब इष्ट के समीप की अवस्था तक पहुँच जाता है, प्राप्ति में अब तब लगा है, उस समय ये साधनाएँ छूट जाती हैं। एक नयी दिशा इष्टदेव स्वयं प्रदान करते हैं जो अनुभवगम्य है। गौतम बुद्ध भी पहले अथक परिश्रम कर रहे थे; किन्तु जब भजन पराकाष्ठा पर पहुँचा, वे प्राप्ति के लिए हठ करने लगे तो इष्ट से आदेश मिला की सितार के तार ढीले कर दो। यह श्वास ही सितार है। इसी से इष्ट के नाम का यजन होता है, जिह्व से नहीं। कबीर कहते हैं-

शब्द शब्द सब कोई कहे, वह तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवे नहीं, निरखि परखि कर लेह।।

शब्द-शब्द तो सभी कहते हैं। तालु और कण्ठ से स्वरों की उत्पत्ति की कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है। अक्षर ब्रह्म वाणी से उच्चरित होनेवाला नहीं है। चलते-चलते योगी जब विदेहावस्था में प्रवेश करता है उस समय अक्षर ब्रह्म, वह शब्द जागृत हो जाता है। उस शब्द का उतार-चढ़ाव इस श्वास-प्रश्वास पर निर्भर है। इसीलिए बुद्ध को आदेश मिला कि सितार के तार ढीले कर दो। तुरन्त उन्होंने भजन में न्यूनता कर दी। बहुतों ने सोचा कि बुद्ध साधन से च्युत हो गये किन्तु उन्होंने उसकी परवाह न की। उस अवस्था में पहुँचने पर प्रत्येक साधक के समक्ष यह स्थिति आती है। उस समय भी इष्ट की आज्ञा का पालन ही भजन है। वहाँ 'क्यों' का प्रश्न नहीं होता। यदि यह सेवा पार लग गयी, इष्ट सन्तुष्ट हो गये तो तत्क्षण अपने ही स्वरूप में प्रवेश दिला देते हैं। इस प्रकार पूर्तिपर्यन्त सदैव सेवा का विधान है।

इष्ट के इन आदेशों को केवल साधक ही सुनता है अथवा स्वरूप में स्थित कोई महापुरुष ही साधकों की गतिविधि को भली प्रकार जानते हैं- **कै जाने जिउ आपना, कै रे जनावे पीउ।** साधक जानता है अथवा वह प्रियतम जनावें। इसलिए महाराजजी प्रायः कहते थे कि साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती। जो लोग लिख-पढ़कर योग का प्रचार-प्रसार करते हैं उससे संस्कारों का सृजन भले हो जाय, योग नहीं मिलता।

सारांशतः सेवा दो प्रकार की होती है- एक तो शारीरिक और दूसरी मानसिक। इष्ट का स्वरूप पकड़कर हृदय में ही उन्हें धूप-दीप-नैवेद्य-माल्यादि अर्पित करना,

वन्दन-अर्चन मानसिक पूजा के अन्तर्गत हैं। अन्तर्देश में स्वरूप पकड़कर की जानेवाली यह सेवा उन्नत तथा सूक्ष्म है और इष्ट से सीधा सम्बन्ध जोड़ देनेवाली है। सेवा ही भजन की प्रवेशिका है और वही भजन की पराकाष्ठा भी है।

-:: १८ ::-

पूज्य महाराजजी कहा करते थे, "हो! महात्मा की सेवा करै में अउर खवावै में तनिकौ कसर न रखे के चाही। एमें जबरदस्तियौ किहा जाइ सकत है। एसे कल्यानइ होत है। हाथ सूखा साधु भूखा।" इस सन्दर्भ में महाराजजी एक कथानक भी सुनाया करते थे। एक बड़े अच्छे महात्मा थे। परमहंस स्वरूप में थे। टाट और ठाट में उन्हें कोई अन्तर नहीं था। अपने भजन की मुद्रा में विचरण किया करते थे। कभी मुट्ठीभर चना तो कभी घिउ घना। प्रायः स्वभाव से ही दिगम्बर थे। जब साधना पूर्ण हो चली तब इष्टदेव ने कहा- "कहीं स्थायी रूप से निवास करो।" किन्तु एकाकी विचरण और भजन में उन महात्मा को मस्ती मिलती थी इसलिए इष्ट की आज्ञा प्रणाम करके टाल देते, बैठे नहीं।

माघ का महीना! कड़ाके की ठंड! विचरणशील महात्मा को कोई व्यवस्था न दीख पड़ी। एक कुम्हार आँवें में से बर्तन निकालकर उसी में दीवाल के सहारे ढेर लगा रहा था। आँवे की विभूति कुछ गरम थी। महात्मा बोले, "कुम्भकार भाई! हमें रातभर यहाँ ठहरना है। तुम यह स्थान मुझे बैठने के लिए दो।" कुम्भकार ने सादर प्रणाम किया, बोला- "महाराज! मैं इन्हीं बर्तनों से जीविका चलाता हूँ। सभी तरफ बर्तनों का ढेर है। कहीं फूटफाट गये तो मर जाऊँगा। आप क्षमा करें। थोड़ी ही तो जगह है। आप बैठ भी तो नहीं सकेंगे।"

महाराजजी ने कहा, "हमें सोना नहीं है, केवल बैठकर भजन करेंगे और सवेरे चलते बनेंगे। तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं है।" महात्मा को बैठाकर कुम्हार बोला, "देखिएगा महाराज! ख्याल रखियेगा।" महात्मा बोले, "तूँ न घबड़ा! कोई नहीं ले जायेगा।" कुम्हार ने प्रणाम किया और "आप विश्राम करें"- कहता हुआ घर की ओर चला गया।

महात्मा उस गर्मस्थली में अबाध चिन्तन में रत हो गये। रात में दो-तीन बजे सोचा, थोड़ी कमर सीधी कर लें। हाथ-पाँव समेटकर वहीं लेट गये। तुरन्त आँख लग गयी, यद्यपि सोने का अभ्यास नहीं था। स्वप्न दिखाई पड़ा कि वही महात्मा एक सुरम्य स्थान पर बैठे हैं। हजारों लोग दर्शन कर रहे हैं। कुछ-न-कुछ चढ़ा रहे हैं। महात्मा उसे उठाकर बगल की कोठरी में बैठे-बैठे ही फेंकते जा रहे हैं। फेंकते-फेंकते महात्मा थक गये। सोचा, थोड़ा भोजन कर लें। जहाँ भोजन के लिए हाथ बढ़ाया कि एक सेठ थैली

अर्पित कर बोला, "महाराजजी! इसे कहीं परोपकार में लगा दें।" महात्मा बिगड़ पड़े, "ऐसी तैसी इन भक्तों की! चाँदी का जूता मार रहे हैं। कहते हैं परोपकार में लगा दें। तुम क्यों नहीं लगा देते? हमें बीच में डाल के फाँसी दिये पड़े हैं। न खाने को समय, न चिन्तन को।" -इस प्रकार प्रताड़ित करते हुए उस धन की थैली पर लात मारा। पैर थोड़ा बढ़ गया, जाकर नीचे वाली बड़ी हँड़िया में लगा। जहाँ वह फूटी, नीचे की आड़ हटी तहाँ भड़भड़ करते सभी बर्तन ऊपर से नीचे तक चकनाचूर हो गये।

महात्मा की नींद खुल गयी। पश्चाताप करने लगे- अरे! उस बेचारे ने जगह दिया, भलाई की। उसका इतना बड़ा नुकसान हो गया। गरीब मारा गया। सुबह आयेगा तब क्या कहेगा? हम चले जायँ तो बड़ी बदनामी होगी। जब हम बाबा हैं तो इस प्रकार मुँह छिपाकर जाना शोभा नहीं देता। लोग साधुओं को क्या कहेंगे? अवश्य यह कोई मायिक उपद्रव है। इसी उधेड़बुन में रात बीत गयी।

सवेरा हुआ। कुम्हार आया, बोला, "अरे महाराज! हम कल ही कह रहे थे कि लम्बा-चौड़ा गाँव है, कहीं भी रुक जायँ, हम गरीब को फाँसी न दें। लो, हमारे सभी बर्तन फूट गये। बरस भर की कमाई चौपट हो गयी। अब क्या होगा?" महात्मा को मौन देखकर कुम्हार निवेदन के स्वर में बोला, "आप बतावें तो! यह हुआ कैसे?" महात्मा ने स्वप्न की घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी और बताया कि किस प्रकार पाँव चल गया था। कुम्हार ने सोचा, महात्माओं के स्वप्न व्यर्थ नहीं जाते। लगता है कि ये सिद्धकोटि के महात्मा हैं। पुण्यवान् भक्तों की भीड़ यहाँ अवश्य होगी। लक्ष्मी इन भगवत्स्वरूप की सेवा करना चाहती है। न हो तो इनको यहीं रोक लूँ। कदाचित् हमारी भी कमी पूरी हो जाय और इनकी सेवा करने का सौभाग्य भी मिले। जो चढ़ेगा मैं ले लूँगा। ऐसा निश्चय कर बोला, "अच्छा तो महाराजजी! जो हुआ सो हुआ। अब आप यहाँ से कहीं न जायँ, हमारे ही यहाँ रुकें। मैं आपकी सेवा करूँगा।"

दयावश महात्मा रुक गये। दो महीने वहाँ रहे। वास्तव में वैसी ही भीड़ लगने लगी। कुम्हार को भी बड़ा सन्तोष मिला। कमी तो कभी की पूरी हो गयी थी। जब महात्मा ने समझ लिया कि अब कुम्हार को कोई अभाव अथवा कष्ट नहीं है, तब एक दिन अकस्मात् अन्यत्र चले गये। इष्ट-आज्ञा से एक स्थान पर निवास करने लगे तथा उसी स्थान से कल्याण का अजस्र स्रोत निकल पड़ा, समष्टि का कल्याण उनसे होने लगा।

महाराजजी कहा करते थे- हो! जब भगवान कृपा करत हैं त विपतियै सम्पति बनि जात है। जब भगवान आज्ञा दे दें, बैठ जाना चाहिए, दोष नहीं है। जब किसी वस्तु को

लेने के लिए कहें तो ग्रहण कर लेना चाहिए, तब दोष नहीं है। साधन-काल में वही दोष है किन्तु आदेश के पश्चात् वही हितकर हो जाता है।

नोट- *इस कथानक के महात्मा अन्य कोई नहीं, पूज्य गुरुदेव ही थे; परन्तु कहते इसी तरह थे।*

-:: १६ ::-

साधना में अनुशासन नितान्त आवश्यक है। अनुशासनविहीन कोई साधक इस भगवत्पथ पर सफल नहीं हो सकता। जन्म-जन्मान्तरों से चलनेवाले पथिक की बात अलग है। यही कारण था कि पूज्य महाराजजी अकारण ही साधारण-सी गलती पर ताड़ना प्रदान करते थे और जब कोई बहाना न मिले और साधक की बुद्धि साधना से कुछ हटती प्रतीत हो तो उसे सुनाकर कहें- "ऊपर झाडू नहीं लगा। कचड़ा होई। फलानी जगह ऊ काम बिगड़ा है।" अपने आप भुनभुनाया करें। वह साधक सुनकर, भाव-विभोर होकर जब छत पर झाडू लगाने लगे तो बिगड़े- "कौन है? मोरे कपारे पर झाडू फेरत है? ला! ला! धर! धर सारे के! पकड़!" ललकारने लगते थे। जब वह सामने आता था, वह सोचे कौन गलती हुई; तब तक दो डण्डे लगा दिया। जहाँ सब हट जायँ, मार खानेवाला साधक भी हट जाय तब शेष लोगों से हँसे और कहें कि- "सार का मैं एक महीना से ढूँढ़त रहेउँ। कहीं गलती में पावत नहीं रहे। आजु मिला।"

इस प्रकार जब वे समझते थे कि अब ताड़ना की ही आवश्यकता है तो कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ लेते थे, नहीं तो उन्हें छत और झाडू से क्या प्रयोजन? जिस प्रकार भले परिवार में लड़की जब युवा हो जाती है तो माता-पिता, घर के लोग उसकी देखभाल करते हुए, कर्मों में व्यस्त रखकर शादी तक निर्वाह करा देते हैं। ठीक इसी प्रकार एक सद्गुरु अपने नादान शिष्य को प्रकृति के द्वन्द्वों से निकालकर, उसकी साधना पार करा देते हैं। यदि वह ध्यान न दें तो अपने बल पर भवसागर पार होना असम्भव है।

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई।। *(मानस ७/९२/७)*

ब्रह्मा और शंकर की स्थिति वालों को भी यदि सद्गुरु उपलब्ध नहीं, तो वे भी भवसागर पार नहीं कर पाते।

राखइ गुर जौं कोप बिधाता।
गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।। *(मानस, १/१६५/६)*

यदि तकदीर रूठ जाय, किस्मत में घोर नरक और यातनायें लिख दी जायँ तो भी सद्गुरु बचा लेंगे; किन्तु यदि गुरु ही रूठ गये तो विश्व में भगवान नाम की कोई

वस्तु नहीं है। भगवान वैसे सर्वत्र हैं, हैं तो; किन्तु हमारे उपयोग के लिए नहीं होते। क्योंकि उन भगवान तक की दूरी तय करने का एकमात्र माध्यम सद्गुरु और उनसे निर्दिष्ट पथ है।

अब प्रश्न खड़ा होता है कि उनको ढूँढ़ा कैसे जाय? माया बड़ी प्रबल है-

माया ऐसी प्रबल है, तजि मालिक की छाप।
बनकर बैठी जगत में, कर्ता धर्ता आप।।

माया ऐसी प्रबल है कि जगत् में स्वयं कर्ता-धर्ता भगवान बनकर बैठ गई। देखा कि मन्दिरों में लोगों की आस्था है, तो वहाँ भी ढोंग धतूर बनकर प्रवेश पा गई। तीर्थों से लोगों का कल्याण होते देखा तो पण्डों के माध्यम से वहाँ भी धूर्तता खड़ी कर दी। अब देखा, सद्गुरु का बड़ा महत्त्व है तो गुरुओं की कतार खड़ी कर दी। **घर में बीबी झोंके भार। बाहर मियाँ सूबेदार।।** भीतर तो गुरुत्व नाम की कोई वस्तु नहीं, लेकिन बाहर से टीमटाम ऐसा कि मानो सचमुच के गुरु हैं। ऐसी परिस्थिति में कैसे ढूँढ़ा जाय कि ये महापुरुष पूर्ण हैं? एक महापुरुष वास्तविक हैं तो हजारों उसी कतार में बैठे हैं। सभी शुद्धता की गारण्टी देते हैं। आप ही बतावें, इनमें महापुरुष कौन है? कैसे पहचाना जाय? तो-

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर अन्ता।। *(मानस, ७/४४/६)*

पुण्य का बहुत बड़ा संग्रह जब तक प्रकट होकर साथ नहीं देता तब तक सन्त अथवा सद्गुरु नहीं मिलते। नहीं मिलते का यह अर्थ नहीं है कि दिखलाई नहीं देते। बिना पुण्य के वे ही नहीं, साक्षात् भगवान शंकर भी खड़े हों तो हम उन्हें भी चार खरीखोटी सुना ही देंगे- "देखो कैसा रूप बनाये खड़ा है? एनके ऐसन चाही? अभै त ए चारि आदमी क पेट भरे के लायक रहेन।" क्यों? जिन आँखों से सन्त अथवा सद्गुरु पहचाने जाते हैं वह दृष्टि ही पुण्यमयी है। इन चर्मचक्षुओं से हम उन्हें नहीं देख सकते। कारण यह है कि भगवान मन-बुद्धि से परे हैं। अभ्यास करते-करते निरोध की अवस्था में योगी मन-बुद्धि से उपराम होकर, भगवत् तत्त्व से संयुक्त होकर गुरुत्व में प्रवेश पाता है, तब वही सद्गुरु कहलाता है; सत्य से संयुक्त होता है, इसलिए सद्गुरु कहलाता है। मन-बुद्धि से उपराम हुए महापुरुष को हम मन-बुद्धि से कैसे जान पायेंगे? इसके लिए तो एक ही उपाय है- पुण्यपुंज। यदि सद्गुरु नहीं मिले हैं तो सिद्ध है कि पुण्य की कमी है, आप इसे अर्जित कीजिए, पुण्य-पुरुषार्थ को बढ़ाइये। जब भी वह प्रकट होकर साथ देगा, उस समय सन्त अथवा सद्गुरु जिस सिंहासन पर बैठे होंगे अथवा जिस दलदल में लोटते

होंगे, मिल जायेंगे। या तो आप ही वहाँ तक पहुँच जायेंगे अथवा वे ही आपके पास आ जायेंगे। विश्वास भी हो जायेगा। आप उनके हो जायेंगे और उनके द्वारा आपका पथ-संचालन भी हृदय से होने लगेगा। उसके लिए एक ही माध्यम है- पुण्यपुंज। जिन आँखों से सन्त अथवा सद्गुरु पहचाने जाते हैं वह दृष्टि पुण्यमयी है। और जब सद्गुरु ही मिल गये तब **'सतसंगति संसृति कर अन्ता'** उनका सत्व और सत्संगति संसृति एवं आवागमन का अन्त करनेवाली होती है। सद्गुरु या साधक बनावटी नहीं होता। **देखा देखी साधे जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग।।** कोई कार्य देखादेखी नहीं करना चाहिए। संयोग से भगवत्-पथ पर कदम रख ही लिया, वेश में आ ही गये, तो जब तक प्राप्ति न हो हमें हताश नहीं होना चाहिए। महाराजजी के पास जब कोई महात्मा आयें, तिलक-मुद्रा लगाये, तो महाराजजी बोले- "का है? ले पानी पी।" वह कहते, "महाराज थोड़ा स्वरूप बना लेइत त पीयित।" महाराजजी हँसते थे- "धत् तेरे की। वैरागी भये, मरि न गये।" महाराज को धीरे-धीरे लोगों ने समझ लिया था, इसलिए हँसने लगते थे।

वस्तुतः भगवत्पथ में कोई सम्प्रदाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कोई साधना की प्रवेशिका में है तो कोई मध्य में है और कोई करीब की अवस्थावाला है तो कोई प्राप्तिवाला। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं न कि कोई सम्प्रदाय। सम्प्रदाय तो अधकुचलों की देन है, जो लक्ष्य की प्राप्ति तो नहीं कर सके किन्तु ख्याति उन्हीं महापुरुषों की चाहते हैं। सनातन-धर्म के धुन्धग्रसित होने का मूल कारण यह भी है। श्रीकृष्ण के अनुसार भगवत्पथ में साधना एक ही है। **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।** ***(गीता, २/४१)*** - इस भगवत्पथ में क्रियात्मक बुद्धि एक ही है; दिशा एक है, क्रिया एक है और परिणाम भी एक ही है। पता नहीं, लोग बीच में दरार कहाँ से डाल देते हैं? सिद्ध है, उन्होंने पाया नहीं है। यदि वास्तव में किसी ने उस सर्वत्र व्याप्त सत्ता को पाया है तो वह समाज के बीच में दरार नहीं डाल सकता। यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह अधकुचला है। एक संन्यासी महाराज आये तो सीता का हरण कर ले गये। लक्ष्मण को शक्ति लगी थी, मरणासन्न थे, तो दूसरे मुनिराज ने हनुमान जी को अर्धरात्रि तक बरगलाये रखा। चक्रवर्ती नरेश प्रतापभानु का सर्वनाश कर दिया। सधुअई वेश ही ऐसा है कि जिसका बाहर कहीं गुजारा नहीं होता वे भी इसकी ओट में छिपाव ले लेते हैं। आज भी कम्बल चुरानेवाले साधू मिल ही जायेंगे। पहले की आदत तो छूटती नहीं। चोरी नहीं तो कमण्डलों की हेराफेरी ही करते हैं। परन्तु साधु कभी बुरा नहीं होता। साधु की ओट में असाधु भी घुस आते हैं, सम्प्रदाय उन्हीं की देन है। भजन की वास्तविक जानकारी तो सद्गुरु के क्षेत्र की वस्तु है।

-:: २० ::-

तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा से उनके संरक्षण में अभ्यास करते-करते इष्टोन्मुखी लगन जागृत हो जाती है। उस समय भी साधक के लिए आन्तरिक अनुशासन की बड़ी आवश्यकता होती है। साधना में संयम एवं दृढ़संकल्प का अत्यधिक महत्त्व है। क्योंकि कोई भी पथिक जब इस पथ पर अग्रसर होता है तो पहले कुछ दिन तक तो बड़ा उत्साह रहता है किन्तु कुछ ही काल पश्चात् यह मन बड़ा दुर्धर्ष हो जाता है। साधना में उसे अपनी मृत्यु दिखलाई देती है इसलिए वह पहले से भी विकराल हो जाता है। तुलसीदास जी को भी पहले तो अच्छा लगा था कि हम भजन करेंगे; किन्तु जब निकल पड़े तब वह मन छटपटाने लगा। मन की इस दशा को उन्होंने व्यक्त किया- **'बिगरत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घरो सो।'** ***(विनय पत्रिका, १७३)।*** भगवन्! संन्यास लेते समय तो बहुत अच्छा लगा कि भजन करेंगे लेकिन संन्यास लेते ही मन ऐसा बिगड़ा जैसा कच्चा घड़ा। कच्चे घड़े में पानी भर दें तो सब जगह से बुनकी-बुनकी करके सहस्रों छिद्रों से चूने लगता है, पूरा घड़ा समाप्त हो जाता है। यही दशा (गोस्वामीजी निवेदन करते हैं) हमारे मन की भी है। जितना आपका सनेह भरा था वह समाप्त हो गया। मन इतना विकराल हो उठता है कि लगता है इष्टोन्मुखी लगन ही नहीं रह गयी। ऐसी स्थिति में महापुरुषों ने मन को बार-बार डाँटा है, इस पर विवेक का अंकुश लगाया है।

प्रत्येक महापुरुष के समक्ष ऐसा अवसर आता है। पूज्य महाराजजी प्रायः कहते थे कि घोर जंगल में एक भजनानन्दी महात्मा रहते थे। रात-दिन भजन में संलग्न रहते थे। लोगों में उनकी अच्छी ख्याति थी किन्तु थे वे साधक ही। हाँ, अच्छी अवस्थावाले साधक थे। एक दिन उनके अन्दर संकल्प उठा कि कढ़ी होती तो खाते। दूसरे दिन से यही संकल्प बढ़ने लगा। जहाँ भजन में बैठे तहाँ दिखायी पड़े कढ़ी। इष्टदेव का ध्यान धरे तो कढ़ाई में बढ़िया-बढ़िया फुलौरी दिखायी पड़े। तब वे मन को समझाने लगे- "रे मन! कढ़ी में क्या रखा है? क्या इसी के लिए घर छोड़ा था? साधक को युक्ताहार करना चाहिए। आज कढ़ी की इच्छा कर रहा है, कल न जाने कौन-सी इच्छा करेगा? रे मन! तू भजन में लग।"-इस प्रकार स्वयं को बहुत समझाया किन्तु उनके अन्दर से वे भाव गये नहीं। पन्द्रह-बीस दिन के बाद ऐसी दशा हो गयी कि 'ओम्' जपने बैठें तो चार-छः बार के पश्चात् 'ओम्' तो छूट जाय, 'कढ़ी-कढ़ी' ही जपने लगे। पहले ध्यान में गुरु महाराज का रूप रहता था, अब कड़ाही में धरी-धराई कढ़ी गमका करे। नाम में कढ़ी, ध्यान में कढ़ी, चले तो कढ़ी। दिमाग हो गया कढ़ी-कढ़ी।

अब तो उन महात्मा को बड़ा पश्चाताप हुआ कि भगवन्! घर-बार छुड़ाया, घोर

जंगल में रहने का सुअवसर भी आपने दिया, महापुरुष की कृपा और सान्निध्य भी प्रदान किया, भजन की विधि भी बतायी; बीच में यह कढ़ी कहाँ से टूट पड़ी? मन को बहुतेरा समझाया किन्तु वह माना नहीं। तब महात्मा ने अपनी छड़ी उठायी और निकटतम गाँव की ओर चल पड़े, जो वहाँ से दो मील की दूरी पर था। गाँववालों ने महात्मा को देखा तो भाव-विभोर हो उठे। कहने लगे- "महाराज! लाख कहने पर भी आप गाँव में नहीं आते थे। आज हमलोगों का परम सौभाग्य है जो आप सहसा पधारे। हमलोगों के लिए क्या आज्ञा है?" महात्मा बोले- "पहले कढ़ी बनाओ।" गाँववालों ने कहा- "महाराज! यह कौन बड़ी बात है। अभी बनाए देते हैं।"

जब कढ़ी की तैयारी होने लगी तो महाराजजी ने कहा- "एक कड़ाही भरकर लगभग बीस सेर कढ़ी तैयार करना।" "जो आज्ञा महाराज!"- कहकर लोग कढ़ी बनाने में जुट गये। स्वादिष्ट और सुगन्धित कढ़ी तैयार हो गयी। महात्मा बोले- "भाई! किसी को मिलेगी नहीं। हम अकेले खायेंगे। उसे कमरे में रख दो। हम भी उसी कमरे में रहेंगे। बाहर से ताला लगा देना।" फिर तो "जैसी गुरु महाराज की आज्ञा!"- बाहर से ताला लग गया और भीतर महात्मा कढ़ी पर टूट पड़े।

पहले तो कढ़ी बड़ी स्वादिष्ट लगी। महात्मा ने एक किलो खाया, दो किलो खाया किन्तु कितना खाते? कढ़ी अच्छी ही न लगे, फिर भी महात्मा खाते चले गये। तीन किलो, चार किलो खाया। अरुचि हो गयी, एकदम घृणा हो गयी फिर भी वे खाते रहे। उसी कड़ाही में वमन भी होने लगा फिर भी खाते जाते थे, कहते थे- खाओ! खाओ! और खाओ। अरे! घर-द्वार छोड़ा, जिन्दगी में सब कुछ खाया लेकिन क्षुद्र मन तूने तुच्छ वस्तु के पीछे दो मील तक दौड़ाया, भजन छुड़ाकर लाकर यहाँ पटक दिया। महीने भर से कढ़ी-कढ़ी, कढ़ी-कढ़ी, न राम, न ध्यान! कढ़ी-कढ़ी! ले खा कढ़ी! वमन होती जाय उसको भी मिलाकर खाते जायँ। इतनी घृणा हो गयी कि उधर देखने से शरीर काँप जाता था, खाने को हाथ नहीं उठता था तो अन्त में उसी कड़ाह में कूद पड़े।

लोगों ने ताला खोला तो पूरे कमरे में कढ़ी ही कढ़ी दिखायी पड़ी, पूछा- "महाराज! यह क्या?" महाराज ने कहा कि चिन्ता न करो, अब सब ठीक हो गया। लोगों ने स्नान कराया, आश्रम तक पहुँचाया। उस दिन से कढ़ी तो क्या किसी भी वस्तु के खाने का संकल्प नहीं आया। वस्तुतः यह मन बड़ा दुष्ट है। जब आप चिन्तन-पथ में अग्रसर होंगे, पहले तो बड़ा अच्छा लगता है किन्तु जब आप उधर लग जायेंगे तो धीरे से एक पटरी खींच लेगा। जब आप भजन की पूरी सीढ़ी चढ़ जायेंगे तब भी कुटिलता से बाज नहीं आयेगा, उसी अनुपात का विघ्न भी उपस्थित करेगा।

ऐसा व्यवधान प्रत्येक महापुरुष के समक्ष आता है। महाराज भर्तृहरि उज्जैन के राजा थे। बड़ा सम्पन्न राज्य था। एक समय राजा को रानी में दोष दिखायी पड़ा। संसार से बड़ी घृणा हो गयी, वैराग्य उदित हुआ। गुरु गोरखनाथ की शरण में पहुँच गये। गोरखनाथजी वस्तुतः महापुरुष थे। उन्होंने साधना का क्रम बताया और भर्तृहरि उसी में लग गये। पागलों की तरह, दिगम्बर वेश में, केवल एक चिट लपेटे दिन-रात भजन में संलग्न रहते थे। कभी दो उपवास, कभी तीन उपवास आये दिन की घटना थी। वे दिन में एक बार भिक्षा के लिए निकलते थे। जो स्वतः मिल जाता, स्वीकार कर लेते थे। किसी से न माँगने का उन्हें आदेश था।

एक दिन उनका मन करने लगा कि जलेबी मिलती तो खाते। अब जलेबी दे कौन? भाविक तो बहुत थे, लेकिन किसी को क्या मालूम कि महाराजजी को जलेबी खाने की इच्छा है। एक दिन भर्तृहरि हलवाई की दुकान पर जाकर खड़े हो गये कि कोई भक्त आ जाय और दिला दे; लेकिन भगवान भी बड़े कौतुकी हैं, लम्बी परीक्षा लेते हैं। किसी के मन में जलेबी का भाव ही न आये। महीना, दो-महीना बीत गया। जब भजन में बैठे तो जलेबी, ध्यान में बैठे तो जलेबी, नाम जपे तो जलेबी, भर्तृहरि परेशान हो गये।

एक दिन विवश होकर वे किसी निर्माणाधीन मकान में दिनभर मिट्टी ढोते रहे। सायं उनको कुछ पैसे मिले। मिट्टी से लथपथ हाथों से पैसा लिया। दौड़ते हुए हलवाई के पास गये, 'जलेबी' कहते हुए पैसा फेंका। दुकानदार ने टोकरी में जलेबी भरकर दे दी। सस्ती का जमाना था, काफी मिल गयी। मन कहता था- तुरन्त प्रारम्भ हो जाओ। भर्तृहरि ने मन को समझाया- 'रे मन! तेरे कहने पर मैंने दिनभर मिट्टी ढोयी। देख तो! मिट्टी से सने हाथ हैं। इन्हें गंगा के किनारे धो तो लेने दे।' दौड़ते हुए गंगा के किनारे पहुँचे। हाथ-पाँव धोया। मन तो जलेबी पर था। रह-रहकर मुँह में पानी भर आता था। यह हो कि कितना शीघ्र जलेबी खा जायँ।

भर्तृहरि बैठकर विचार करने लगे- "ओह! ऐसी कौन-सी मिठाई थी जो हमने न खायी हो। केशर-कस्तूरी और मुहरों से छौंककर बननेवाली मिठाई हम खाते थे; किन्तु मैदे से बननेवाली साधारण जलेबियों के पीछे दुष्ट मन ने हमें गिरा दिया। ऐसा विचार आते ही भर्तृहरि जलेबियाँ लेकर बैठ गये। जलेबी मुँह तक ले जायँ- "बड़ी सुन्दर है। कैसी लाल-लाल कुरकुरी जलेबियाँ हैं। रस से ठसाठस भरी हैं।" इस प्रकार मन को ललचावें और एक-एक जलेबी पानी में फेंकते जायँ। जब अन्तिम जलेबी उठायी, पानी में फेंकने चले तो एक छाया सामने आकर खड़ी हो गयी। बोली- 'यह हमको दे दीजिए।' भर्तृहरि ने पूछा- 'तुम कौन!' वह बोली- "आपकी इच्छाशक्ति!" भर्तृहरि बिगड़े, "हरजाई

कहीं की! घर छोड़ा, द्वार छोड़ा, ऐसा कौन-सा मिष्ठान्न था जिसे तूने न खाया हो? किन्तु इच्छा देवी! तूने मुझे अन्ततोगत्वा फाँसी दे ही दी। तूने मुझसे दिनभर मिट्टी ढुलवायी, भजन छुड़वाया, अभी तुझे जलेबी देंगे ही?" इच्छाशक्ति ने कहा- "इस एक जलेबी को खा लें। अब आपको किसी वस्तु की इच्छा नहीं होगी।" भर्तृहरि ने उस जलेबी को खा लिया, पानी पीया और चल दिये। उनकी साधना सुचारु रूप से चलने लगी। उनके जीवन में एक समय ऐसी ही घटना और घटित हुई। बनारस-जैसे पानप्रेमी शहर महोबा की गलियों में भर्तृहरि नंग-धड़ंग चले जा रहे थे। कागज के ऊपर किसी ने पान थूक दिया था। चाँदनी रात थी। लपझप-लपझप वह पीक चमक रही थी। भर्तृहरि ने सोचा- "यह तो मणि हो सकती है। करोड़पतियों का मुहल्ला है। किसी बड़े आदमी की गिर गयी होगी। कोई न कोई तो उठा ही लेगा। क्यों न मैं ही ले लूँ? किसी सेठ-साहूकार को दे दूँगा, उसी से जीवनयापन करते हुए भजन करूँगा।" मन विचलित हो गया। जहाँ हाथ लगाया, तहाँ वह पीक से भर गया। हथेली रंग गयी। रोशनी में देखा तो पश्चाताप करने लगे- "रे दुष्ट मन! तू राजा था, चक्रवर्तियों-जैसा तुम्हारा रहन-सहन था। कौन-सी मणि तुम्हारे सामने से नहीं गुजरी। अरे दुष्ट! तू त्यागी है, महापुरुष का अनुयायी है। भगवान के लिए तू सब कुछ त्यागकर कटिबद्ध था। एक मणि के प्रलोभन में हमें गिरा दिया।" कई दिन उन्होंने उपवास किया, मन को बहुत फटकारा, फिर उसमें सबलता आ गई। यही भर्तृहरि भविष्य में पूर्ण तपोधन महर्षि हुए, जिन्होंने 'वैराग्यशतक' लिखा।

वस्तुतः इष्टोन्मुखी लगन जब जागृत होती है तो मायिक प्रवृत्ति उसका पीछा करती है। उसके निवारण के लिए मन को ही सबल और सक्षम बनाया जाता है, उसे अनुशासन में रखना पड़ता है। इन्द्रियाँ बड़ी चंचल हैं। ये सदैव विषयों में ही सुख चाहती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे नाबदान का कीड़ा बाहर नहीं आना चाहता। इसीलिए कोई साधक महापुरुष के संरक्षण में जाता भी है तो मन शीघ्र ही उचटने लगता है। जहाँ रोटी बनानी पड़ी, बर्तन मलना पड़ा, तहाँ मन सोचता है- "हटो, यहाँ बड़ा कष्ट है। क्या यही करने यहाँ आये हैं? चलो, कहीं बाहर भजन करें।" अरे! भजन क्या खाक करेंगे। महापुरुष के सान्निध्य में सेवा करते-करते इतनी क्षमता आ जाय कि चार घण्टे ध्यान में बैठ सकें, मन रुकने लगे तब बाहर भी भजन होता है। इतने के लिए ही तो महापुरुष की सेवा में रहा जाता है। इतने के पश्चात् महापुरुष आपको अपने पास रखेंगे भी नहीं। सद्गुरु जब किसी को अपनाता है तो गुरु ही बना देता है, चेला बनाकर नहीं रखता। वह झाड़ू लगवाने के लिए शिष्य नहीं बनाता। वह शिष्य को इसीलिए अपने पास रखता है कि यह

हमारी वास्तविक विद्या को सीखे, आचरण में ढाले और रामबाण की तरह इष्ट की ओर सनासन अग्रसर होता जाय।

बन्धुओ! धान के छिलके की भाँति जीव में मल स्वाभाविक है तथापि वह नष्ट अवश्य हो जाता है। अतएव उद्योगी बनो। कठोपनिषद् में निर्देश है, **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'**- उठो! जागो! महापुरुषों के पास जाकर उस क्रिया को सीखो।

-:: २१ ::-

संस्कारों से विवश व्यक्ति से भूल हो जाना स्वाभाविक ही है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूज्य महाराजजी के सामने जब कोई किसी की शिकायत लेकर पहुँच जाय और कहे कि इतनी उमर हो जाने पर भी वह ऐसी गलती कर रहा है तो हँसते हुए उससे महाराजजी कहते थे- "हो पके आम को पहले लोग धीरे-धीरे चूसते हैं। ज्यों-ज्यों उसका रस समाप्त होता जाता है लोग उसे और कसकर चूसते हैं। शरीर बूढ़ा होने से मन बूढ़ा नहीं होता, वासना उग्र ही होती जाती है। वह तो साधना और प्रभुकृपा से ही परिष्कृत होती है। एक स्थान पर दो औरते थीं। एक दूसरे से बड़ी ईर्ष्या थी। छिद्रान्वेषण चल रहा था। सहसा उग्र रूप धारण कर एक महिला बोली- "तूने तो धोबी कर रखा है।" दूसरी तमककर बोली- "तू कौन मुँह लेकर बात करती है? तू जो चमार रखे है! अभी वहाँ बातें कर रही थी।" पहली औरत तुरन्त सतर्क होकर बोली- "चुप-चुप! तैं राखि लिहे धोबी, हम राखि लिहे चमार। न तैं कहीं हमार, न हम कहीं तोहार।।" कौन दूध का धोया है? **'जो जस करे सो तस फल चाखा।'** काहे ओकरे चक्कर में पड़ा है। तू आपन देख! पाँव तर क बरल दिखातै नाहीं, पहाड़ पर बरेला!

इसी सन्दर्भ में महाराजजी एक कथानक भी सुनाते थे। किसी नदी के किनारे अच्छी वेशभूषा के महात्मा मछली भून रहे थे। एक विद्वान् पण्डित उसी रास्ते से निकले। देखकर बड़े आश्चर्य में पड़े, पूछा- "महाराज! आप मछली भून रहे हैं?" महात्मा बोले- "हाँ!" पण्डित ने पूछा- "खाते हैं क्या?" महात्मा ने उत्तर दिया- "हाँ!" पण्डित ने पुनः पूछा- "तब तो आप शराब भी पीते होंगे?" महात्मा ने कहा- "हाँ!" पण्डित ने फिर पूछा- "तब तो आप वेश्या-गमन भी करते होंगे?" तहाँ वे (किसी समय के अच्छे महात्मा) झल्लाये, तमतमाकर खड़े हो गये, बोले- "अरे पण्डित! जब हम पतित हो ही गये तो ऐसा कौन-सा कुकर्म है जो हम न कर लें? क्या बार-बार पूछते हो, खोपड़ी खा रहे हो? अपना रास्ता नापो, हम तो रोते हैं ही।"

महाराजजी कहते थे- "ई भगवत्पथ से अच्छा कुच्छौ नहीं है लेकिन ई है बड़ा कठिन! चढ़े त चाखे रामरस, गिरे त चकनाचूर।" अतः किसी की त्रुटि पर हँसना नहीं

चाहिए, स्वयं उससे बचना चाहिए। साधक को अपना ही दोष देखना चाहिए। जब तक भगवान न मिल जायँ, तब तक साधक का छोटा-सा दोष भी पहाड़ ही है क्योंकि तभी तो भगवान नहीं मिल रहे हैं।

भरतजी को भगवान से मिलने में केवल एक दिन ही रह गया लेकिन वे अधीर हो उठे। अपनी ही करनी की ओर उनका ध्यान गया। क्या भरत की करनी खराब थी? महर्षियों ने तो कहा था- **'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई।।'** *(मानस, २/३२३)* वर्तमान में तो भरत की करनी ही धर्म का मापदण्ड बन चुकी थी, फिर भी भरत अपने में ही दोष खोजते हैं। उनके चिन्तन में कितना दैन्य है। साधक से दीन संसार का कोई जीव होता ही नहीं। वह तो इष्ट की इच्छा पर, उनके संकेत पर नाचता है। अपने मन से कुछ भी करने की स्वतन्त्रता उसे नहीं रहती। हवा भर भी भगवान से दूरी है तब तक साधक को अपने को सही नहीं मानना चाहिए। पूर्तिपर्यन्त विरह-वैराग्य में न्यूनता नहीं लानी चाहिए। प्राप्ति के पश्चात् वही साधक साधनाओं से मुक्त हो जाता है, 'पेंशनीयर' हो जाता है; किन्तु इसके पूर्व उसे दीन बनकर साधना में ही रत रहने का विधान है। किसी के दोष से उसे क्या लेना-देना? **करै आपके; न माई के न बाप के।**

-:: २२ ::-

पूज्य महाराजजी कहा करते थे कि प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है किन्तु सद्गुरु के माध्यम से वह भी कट जाता है। इस प्रसंग में वे अपने को इंगित करते हुए एक कथानक सुनाया करते थे। एक समय एक साधक ने पूज्य महाराजजी से निवेदन किया- "महाराज! मन करता है गया हो लूँ।" महाराजजी ने कहा- "देखो! गया-वया में कुछ नहीं है। **'तीरथहू में खोजिया, गहरी बुड़्डी मार। जल पषान के बीच में, तिन पाया करतार।।'** तीर्थ-व्रत से पुण्य बढ़ता है, पुरुषार्थ बढ़ता है किन्तु उतना ही पर्याप्त नहीं है। उसका परिणाम होता है यौगिक क्रिया की जागृति। जब चिन्तनक्रम पकड़ में आने लगा है तब अब तुम्हारे लिए भजन में लगने से ही कल्याण है। अब तुम्हारे लिए गया-विधान नहीं है। एकान्त में अनवरत भजन-चिन्तन में लग जाओ।"

दो महीने पश्चात् साधक पुनः बोला- "महाराजजी! गया जाने का मन है।" कुछ ही दिन बाद पुनः कहने लगा- "गया जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। जब भजन में बैठता हूँ तो गया की याद आती है।" महाराजजी ने सोचा- "कल्याण तो हमारे पास है! ई गया करै जात है? इसे भुक्ति-मुक्ति तो मुझसे मिलनी है फिर यह गया-गया क्यों रटता है?"

उसके चिन्तन में महाराजजी प्रवेश करने लगे तो अनुभव में आया कि एक सेठ के यहाँ आठ-दस दाने चने पूर्वजन्म के बकाया हैं। वही दाने खींच रहे हैं। महाराजजी ने सोचा- "मोर भगत इतनी दूर जाय! आठ-दस ही दाने तो मिलने को है, खानेभर का भी नहीं मिलेगा। इधर वह आठ-दस दाना पीछा किए पड़ा है, गया की ओर खींच रहा है।"

पूज्य महाराजजी सर्वसमर्थ थे। उन्होंने सेठ के अन्तर्मन में प्रेरणा भर दी। सेठ के मन में भाव आया कि चलें तीर्थ कर आयें। वह सेठ यात्रा करते-करते चित्रकूट होते हुए अनुसुइया पहुँचा। स्वभाव एवं प्रथावश रुपया-बीस आना निकालकर महाराजजी के सामने रखने लगा। ऐसा करने में जेब से दस दाने चने भी गिरे। जहाँ चने पर महाराजजी की दृष्टि पड़ी तहाँ वे चौंके, बोले- "ऐं! कहाँ से आये हो?" वह बोला- "महाराजजी गया से आ रहा हूँ। वहाँ मेरी चने की आढ़त है।" महाराजजी ने कहा- "अच्छा-अच्छा ला वह चने भी मुझे दे दे।" सेठ संकुचित होकर बोला- "महाराजजी! यह तो जमीन पर गिर गया! दूसरा मँगा दें?" महाराजजी ने कहा- "अरे नहीं! तू यही चना मुझे बटोरकर दे।" महापुरुष की आज्ञा! विवश होकर सेठ ने उन दानों को उठाकर दिया। महाराजजी ने उसका हालचाल पूछा और आशीर्वाद देकर विदा किया।

इतने में वही साधक वहाँ आ गया। महाराज बोले- "ले बेटा! प्रसाद है। मेरे सामने ही जल्दी से खा जाओ।" शिष्य ने विनीत भाव से चना लिया, मुँह में डाला, पानी पी लिया। अब वह गया जाने का नाम भी न ले। चार-छः महीने बीत गये। एक दिन गुरुदेव स्वयं कहने लगे- "बेटा! साधक को इष्ट के भरोसे निराधार पर्यटन करना चाहिए। तुम चाहो तो मुझसे खर्च ले लो, न हो तो गया ही घूम आओ।" शिष्य बोला- "न जाने क्या हो गया महाराज! अब गया जाने को मन करता ही नहीं।"

वस्तुतः अन्न-जल का संस्कार बड़ा प्रबल होता है। वह न जाने कैसे, कहाँ उठाकर फेंक देता है। बलात् मनुष्य को घसीट लेता है। अतः प्रारब्ध में क्या भरा है- इस पचड़े में न पड़कर दो-ढाई अक्षर का कोई नाम चुन लें, उसका जप करें और किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा करें। महापुरुष अपनी इच्छाओं, संस्कारों का अन्त कर चुके होते हैं इसलिए उनकी सेवा में लगे रहनेवालों के प्रारब्ध का संक्रमण उनमें सहज ही होता रहता है; क्योंकि दबाव सदैव रिक्त स्थान (वैकुअम) की ओर ही बढ़ता है। दयालु महापुरुष उसे थोड़े में ही भोगकर सेवकों का कल्याण करते ही रहते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभावित करता एवं उससे प्रभावित होता है किन्तु भक्तों के भाव के अनुसार महापुरुष नियमबद्ध विधि-विधान में भी उलटफेर करने से नहीं हिचकते। भवितव्यता अनिवार्य है किन्तु पूर्णत्वप्राप्त महापुरुषों के संरक्षण में वह भी कट जाती है।

पूज्य महाराजजी प्रायः कहते थे-

पूरब की कमाई पश्चिम में गँवाई।
आगरे की खोज खबर कुछ नहीं पायी।
पायी तो दिल्ली के दलालों ने सौदा बिगाड़ दिया।
संग के सँघाती कहैं लाहौर लाहौर।
नाभा पटियाला के बीच एक अजब चीज पाई।
सहारनपुर का सहारा लेकर गाड़ी हरिद्वार आयी।।

रेलवे स्टेशनों के इस रूपक के माध्यम से महाराजजी समझाते थे कि पूर्वजन्म की कमाई इस जन्म में गवाँ रहे हो। आगे के जन्म का कुछ पता नहीं। कदाचित् थोड़ी बहुत खबर मिली भी तो दिलरूपी दिल्ली के दलाल - काम, क्रोध, लोभ, मोह, अनन्त इच्छाओं-वासनाओं ने सौदा बिगाड़ दिया, लक्ष्य से भटका दिया। संग के वास्तविक सँघाती कहते हैं लहाओ! लहाओ! आत्मोन्नति करो। नाभिकमल नाभा है, प्रेम पटियाला है। प्रेमपूरित हृदय से लगने पर एक अजीब वस्तु मिली - सुरत! इस सुरतरूपी सहारनपुर का सहारा लेकर तुम्हारे जीवन की गाड़ी समस्त वृत्तियाँ सिमटकर हरि के दरवाजे अर्थात् स्वरूप तक पहुँच गयी। इस प्रकार अनुरागपूरित हृदय से भजन करने की पूरी साधना गुरुदेव समझा दिया करते थे।

-:: २३ ::-

गुरु महाराजजी की शरण में जब अनेक युवा साधकों को प्रवेश मिल गया, महाराजजी प्रायः उन्हें सचेत करते थे- "हो! जवानी अँधेरी रात्रि है। इसमें कब ऊँचे-नीचे पाँव पड़ जायेगा पता नहीं चलता। इसलिए साधकों को उठते-बैठते, चलते-फिरते स्मृति के साथ रहना चाहिए। सुरत सदैव श्वास या गुरु के चरणों पर केन्द्रित रहनी चाहिए। किञ्चित् असावधानी होते ही स्मृतिविहीन साधक खतरे को ही आमंत्रित करता है। अतः सदैव भरत, सुतीक्ष्ण की तरह चिन्तन में अनुरक्त साधक ही सफल हो पाता है।

इस सन्दर्भ में पूज्य महाराजजी एक आख्यान सुनाया करते थे। बाल्यकाल से ही एक महात्मा भजन में अनुरक्त थे। आयु पचहत्तर-अस्सी की हो चली थी। भाविकों ने गाँव के बाहर तालाब के किनारे एक कुटिया का निर्माण उनके लिए कर दिया। उस शान्त एकान्त कुटीर में वह महात्मा अपने विगत जीवन का अनुशीलन करते तो उनके मुख से सहसा यह वाणी ध्वनित होती- "हूँ, अगली नीक, पिछली नीक, बिचली नाहीं नीक।" उनके मुख से ये शब्द प्रायः प्रस्फुटित हो जाया करते थे।

तालाब था ही। तीन ग्रामीण महिलायें जल भरने वहाँ आयीं और महाराजजी के मुख से ऐसा शब्द सुना तो उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने आक्षेप किया- "बाल पक गये, दाँत गिर गये किन्तु अभी यह सांसारिक गणित ही लगा रहे हैं।" अपनी बुद्धि के अनुसार उन्होंने आगेवाली को पीछे तथा मध्यवाली को आगे करके देखा किन्तु महाराजजी की वाणी के शब्द यथावत रहे। वे समझ तो गयीं कि महाराजजी का हमलोगों से कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी उन्होंने परिजनों से उल्टा-सीधा कह सुनाया।

आवेश के वशीभूत ग्राम्यजन लाठी लेकर चले कि ऐसा कौन साधू आ गया? अपने ही गुरु महाराजजी को पाकर वे ऊहापोह की स्थिति में कुटिया के पृष्ठभाग में चुपचाप बैठ गये। अकस्मात् महाराजजी के मुख से वही वाक्य ध्वनित हुआ। लोग उनके समक्ष प्रणत हुए, निवेदन किया- "आजकल आप यह कौन-सा मंत्र जपने लगे हैं महाराजजी! इसका आशय बताने की कृपा करें।"

उन महात्मा ने बताया- "बेटा! जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं- बचपन, यौवन और वृद्धावस्था। हम बाल्यकाल से ही साधू हैं। बचपन का समय अच्छा व्यतीत हुआ। गुरु महाराजजी की सेवा में मन लगा। भजन होता रहा। अब वृद्धावस्था भी सन्तोषजनक है, शान्ति है। भजन में कोई संकल्प-विकल्प की आवृत्ति नहीं होती; किन्तु बीच में युवावस्था में व्यवधान अधिक आये। वह तो गुरु महाराजजी की दया, कृपा थी अन्यथा रोने को आँसू भी न मिलते। इसीलिए मैं कहता हूँ कि भजन के लिए अगली अर्थात् बाल्यावस्था उत्तम है, पिछली वृद्धावस्था भी सन्तोषजनक है किन्तु बिचली अर्थात् युवावस्था तो संघर्ष में ही बीता, वह ठीक नहीं है। यह तो असिधारा तुल्य है। लोहे के चने चबाने जैसा है। इसे पार करने में सदैव सावधानी अपेक्षित है।

ग्रामीण श्रद्धालुजनों ने उन महिलाओं का मनोभाव कह सुनाया। महात्मा हँसे और कहे, "हमने तो उन्हें देखा ही नहीं। उनसे कहो कि भजन किया करें, तभी कल्याण है।"

अस्तु, साधक को बोलते, देखते, सुनते, कदम उठाते सर्वत्र संयमित और सन्तुलित होना चाहिए। जो इन प्रतिबन्धों से बँधकर चलता है, वही सफल हो पाता है अन्यथा उपलब्धि में एकाध जन्म का अन्तराल आ जाता है।

-:: २४ ::-

पूज्य महाराजजी की प्रत्येक वाणी सूत्ररूप में ही प्रस्फुटित होती थी। वार्ताओं के सहज स्वाभाविक चक्र में साधनात्मक उपदेशों की सरणियाँ अविकलरूपेण निःसृत हुआ करती थीं। महाराजजी प्रायः कहते थे कि कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो जाता

है। अनधिकारी को विद्या देने से दाता का अपकार तथा विद्या का नाश हो जाता है। **'यह न कहिअ सठही हठसीलहि।'** *(मानस, ७/१२७/३)* इत्यादि चौपाइयों का उद्धरण देकर अनेकशः ऐसे तथ्य को दृढ़ाया करते थे। पूज्य महाराजजी की वास्तविक विद्या, जिसे वे ब्रह्मविद्या कहते थे, गुरुदेव के कतिपय शिष्यों द्वारा आर्त अधिकारियों में अद्यावधि प्रसारित होती जा रही है। चिरन्तन विधान भी है कि सन्तजन आर्त अधिकारियों के लिए कृपण नहीं होते- **'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।'** *(मानस, १/१०६/२)*

प्रस्तुत कृति यथार्थ की ओर अग्रसर होने एवं तत्सम्बन्धी प्रारम्भिक विधि-निषेधों के परिपालनार्थ प्रेरणामात्र है। यह मानव मात्र के मानस-धर्म की ओर अभिमुख करती है जिसमें निश्चित कल्याण है। साधना के विस्मृतप्राय मानसिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन आज के विश्व के लिए पूज्य महाराजजी की अनुपम देन है। सामान्य बातचीत एवं गीतों में अध्यात्म का निरूपण करते-करते आप सुधबुध खोकर समाधिस्थ हो जाते थे। 'श्रीरामचरितमानस', 'गीता', 'पातञ्जल योगदर्शन' महाराजजी के प्रिय ग्रन्थ थे। मानस के लिए वे कहते- **'बाल आदि उत्तर कै अन्ता। बीच अयोध्या डूबै सन्ता।।'** बालकाण्ड की प्रारम्भिक चौपाइयों एवं किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा, शरद वर्णन को गुनगुनाते हुए पूज्य महाराजजी तल्लीन हो उठते थे। लोकजीवन में प्रचलित कई पद एवं भजन पूज्य महाराजजी को बहुत प्रिय थे, जैसे-

गुरु उड़ि चलो देशवा बिराना है।

*

छाओ-छाओ हो फकिरवा गगन कुटिया।।
आसन मारि मगन होई बैठे, ध्यान धरे लौकेला तिरकुटिया।।

*

मोरि सुरत सुहागिन जाग री।
का सोवत है मोह-निशा में, उठ के भजनिया में लाग री।
मोरि सुरत सुहागिन जाग री।
चित दे शब्द सुनो सरवन लगि, उठत मधुर धुन राग री।।
मोरि सुरत सुहागिन जाग री।।

*

शम्भु करैं असनान, गौरा पनिया भरें।।

*

भज ले मन राम सिया, राम सिया, राम।
राम नाम निर्मल नीर.....राम नाम कमल फूल....राम नाम
वेद मूल...राम नाम ओंकार...

*

शिव शिव जपत मन अनन्द।
कटत कोटि जम को फन्द।।'

*

ॐ गुरु शरणम् श्री हरि शरणम्।।

*

हरि ओम् सिद्धम्, हरि ओम् सिद्धम्।।

*

जब लगि राम नाम जीहा तू न जपिहै।
तब लौं तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै।।

पूज्य महाराजजी की प्रत्येक वाणी साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर एवं मनुष्य मात्र की जागृति, उत्थान एवं कल्याण के लिए समान प्रेरणा देती है। इस पर मनन करें, आत्मकल्याण के लिए कटिबद्ध होवें। अन्यथा **"धोबी बसि के क्या करे, दिगम्बरन के देश।।"** नागा लोगों के गाँव में धोबी अपनी कौन-सी कला दिखावे? सदुपदेशों के अनुसार आचरण की प्रेरणा प्रदान करना ही इस कृति का अभीष्ट है।

।। ॐ ।।

महाराजजी की विद्या

अनुसुइया में मेरे आने के दो दिन पश्चात् ही ब्रह्मचारीजी के साथ चित्रकूट जाने का अवसर प्राप्त हुआ। महाराजजी ने उनसे कहा, "इसे भी लेता जा, मार्ग में साधनात्मक उतार-चढ़ाव की सूक्ष्मता समझाना।" उन्होंने बताया कि हर समय भजन में लगे रहना चाहिए। एक भी श्वास चिन्तनविहीन व्यर्थ नहीं जानी चाहिए। हमने निवेदन किया, "अभी चलते हुए आप मुझसे जो वार्तालाप कर रहे हैं, क्या इस दशा में भी भजन सम्भव है?" उन्होंने बताया, "दस-बीस मिनट का अन्तराल कोई महत्त्व नहीं रखता है।"- यह समाधान मुझे युक्तिसंगत न लगा। मन में एक बात बैठ गयी कि एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जानी चाहिए। नियम तो नियम! इसमें शिथिलता कैसी?

आश्रम पहुँचने पर गुरुदेव ने समझाया कि साधक को अपनी टेक का पक्का होना चाहिए, हठी होना चाहिए। हठ ही हनुमान है। कैसी ही परिस्थिति क्यों न आ जाय, उसकी दृष्टि सीधे लक्ष्य पर ही होनी चाहिए। उपलब्धि अन्तरायों (मन के अन्दर के विकारों) से संघर्ष के अन्त का प्रतिफलन है।

साधक को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। मन में भी विषयों का चिन्तन नहीं आना चाहिए। वह सतत अभ्यास से सुदृढ़ होता है। **'संग तें जती कुमंत्र ते राजा।'** ***(मानस, ३/२०/१०)***- बेटा, संगदोष से बड़े-बड़े यती भी नष्ट हो जाते हैं। साधक को सदैव जागरुक रहना चाहिए। संगत अपने से अच्छों की करनी चाहिए। सूर्पणखा के नाक-कान काटे बिना कोई यती नहीं हो सकता। साधक के लिए संसार की प्रत्येक स्त्री माता ही है। फिर भी स्त्रियों की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहिए क्योंकि वह तो हमें पुत्र नहीं मानती। उसकी दृष्टि सांसारिक होना स्वाभाविक है। उसके चिन्तन का भी प्रभाव पड़ता है। बहुत आवश्यकता पड़ने पर ही लक्ष्मण की तरह केवल उनके चरणों में देख, उन्हें माँ समझ मन में प्रणाम कर ले। चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई संकल्प स्फुरित भी नहीं होना चाहिए।

नाम- महाराजजी ने कहा, 'ओम्', 'राम' या 'शिव' दो-ढाई अक्षर का कोई एक नाम पकड़ लो। अध्ययन करते-करते हमने पाया कि स्वयं महाराजजी ओम् का जप करते हैं। अतएव हमने भी उसी नाम का चयन किया। नाम-जप की विधि पर प्रकाश डालते हुए महाराजजी ने कहा कि एक ही नाम को चार श्रेणियों से जपा जाता है- बैखरी,

मध्यमा, पश्यन्ती और परा। नाम-जप की प्रारम्भिक अवस्था बैखरी है। बैखरी वह है जो व्यक्त हो जाय। इसमें नाम का स्पष्ट उच्चारण करना होता है, जिसे समीप बैठने वाला भी साफ सुन सकता है। मध्यमा में यही नाम मध्यम स्वर में जपा जाता है। जिह्वा मुँह के भीतर स्पन्दित होती रहे, होंठ हिलते रहे। यह जप कण्ठ से होता है; किन्तु अत्यन्त समीप बैठने वाले को भी सुनाई न पड़े। बिना बैखरी का निरन्तर जप किये मध्यमा जागृत नहीं होती और बिना मध्यमा वाणी का निरन्तर जप किए श्वास का जप पकड़ने की क्षमता नहीं आती। इसलिए बैखरी और मध्यमा का दीर्घकाल तक अभ्यास करते-करते जब मन शान्त हो जाय, टिकने की क्षमता आ जाय तो पश्यन्ती की प्रवेशिका आती है। यह जप श्वास से होता है। इसके लिए शान्त बैठ जाओ। मन को द्रष्टा की तरह खड़ा कर दो। श्वास कब भीतर गयी, उसे देखो। कितनी देर अन्दर रुकी, उसे जानो। कब बाहर निकली, उसे जानो। बाहर कितनी देर रुकी (लगभग आधा सेकेण्ड) उसे पहचानो। पुनः कब अन्दर गई, उसे जानो। जब मन जानने लगे तो धीरे-धीरे चिन्तन द्वारा उसमें नाम ढाल दो। श्वास भीतर गयी तो 'ओम्', बाहर आयी तो 'ओम्', अथवा श्वास में 'रा' और 'म' देखते रहो।

आरम्भ में यह अभ्यास पकड़ में नहीं आता। ऐसी परिस्थिति में जैसे शरीर पर कहीं तिल जैसा निशान होता है वैसा ही छोटा कोई बिन्दु जमीन पर चुन लो। दृष्टि वहाँ स्थिर कर दो। आँखें पूरी अथवा आधी खुली रखो। आँखें नहीं देखतीं, इनके पीछे विचार देखता है। उस विचार को हृदय में श्वास के पास ले जाओ। देखो श्वास कब अन्दर गयी, कब बाहर आयी। इस प्रकार आँख खुली की खुली रहे किन्तु जो बिन्दु देख रहे हो उसे देखना बन्द कर चिन्तन के द्वारा श्वास में नाम जपाओ। श्वास को न बढ़ाओ न घटाओ बल्कि स्वाभाविक रूप से (अवस्था-भेद से बच्चों में बच्चों-जैसी, वृद्धों मे वृद्धों-जैसी) चल रही है, उसी में नाम ढाल दो। अपनी ओर से दबाव मत डालो। केवल श्वास-प्रश्वास में नाम को देखते रहो। जिसकी पलक जितनी देर तक खुली रहती है, उसका मन उतना ही अधिक रुकता है।

मन एक मतवाले हाथी के सदृश है। इसे वश में करने के लिए एक मजबूत स्तम्भ और उतना ही मजबूत सीकड़ चाहिए। श्वास एक स्तम्भ है। सुरत की सीकड़ से मनरूपी मतवाले हाथी को श्वास से बाँध दो। पहले यह झूमता ही रहेगा, शनैः-शनैः परावाणी के प्रवेशकाल में यह शान्त हो जायेगा। अचल स्थिर ठहर जायेगा।

जब नाम में सुरत स्वाभाविक लग जाय, तैलधारावत् श्वास बाँस की तरह खड़ी हो जाय, क्रम न टूटे, तहाँ अजपा अर्थात् परावाणी में प्रवेश मिल जाता है। परावाणी के

प्रवेश के साथ ही नाम अपने अन्तराल में मन को टिकने का स्थान दे देता है। "मन अन्तर स मन्त्र।" जब नाम मन को अपने अन्तराल में रोकने में सफल हो जाय, दूसरा कोई संकल्प, कोई चिन्तन बीच में न आये तो यही साधारण नाम मन्त्र की श्रेणी प्राप्त कर लेता है। पहले श्वास में नाम को ढालना पड़ता था, अब वही नाम श्वास में स्वाभाविक रूप से रवाँ हो जाता है। नाम की, राम अथवा ओम् की धुन स्वतः उठने लगती है। सुरत स्वतः श्वास के साथ जुड़ने लगती है। उस समय यह जप अजपा की श्रेणी प्राप्त कर लेता है। उस समय नाम के अतिरिक्त मन में न कोई संकल्प उठता है और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश ही कर पाते हैं। केवल शब्द मात्र रह जाता है। **'सुरत समानी सबद में, ताहि काल ना खाय।'** मन की दृष्टि का नाम सुरत है। जब मन की दृष्टि शब्द में समाहित हो जाय, सुरत समाप्त हो जाय, शब्द मात्र रह जाय; जहाँ ऐसी अवस्था आयी, इसके साथ ही साधक उस परमचेतन का दर्शन, स्पर्श और प्रवेश पा लेता है जो काल से अतीत है।

ध्यान- नाम के साथ ही ध्यान के लिए रूप देखने का विधान है। वह भगवान तो **'तन बिन परस, नयन बिन देखा।'** सर्वत्र व्याप्त है किन्तु अमूर्त है, अरूप है। उसे पाने की कुञ्जी सद्गुरु के चरण ही हैं। अतः हृदय में सद्गुरु का स्वरूप देखना चाहिए। तू अपने हृदय में मेरा रूप देखा कर। **'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू'**- गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि हृदय एक अगाध स्थल है, एक कक्ष है। इसमें अच्छा-सा मानसिक आसन बिछा दें। उस पर अपने गुरु महाराजजी को बैठायें। उनका सम्पूर्ण रूप नख से शिखापर्यन्त देखें। उनके चरण दिखाई पड़े तो मन की दृष्टि को उनके चरणों और फिर नाखून में स्थिर कर दें। जिस दिन दो-एक मिनट उन चरणों को श्रद्धा से देख ले जाओगे, जहाँ उन चरणों पर ध्यान केन्द्रित हुआ तो जिसका नाम भजन है, वह तुम्हारे हृदय में जागृत हो जायेगा। जैसे शीशे में अपना चेहरा स्पष्ट दिखाई देता है, उतना ही स्पष्ट जब गुरु महाराजजी का रूप झलकने लगे तब ध्यान ठीक है। आरम्भ में तुम रूप पकड़ोगे किन्तु वह अस्पष्ट रहेगा। बार-बार भागता रहेगा। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'** *(गीता, ६/३५)*

महाराजजी द्वारा उनके रूप के ध्यान का निर्देश पाकर हमें चिन्ता हुई कि महाराजजी तो महात्मा ही हैं, शरीरधारी हैं, मुझे तो भगवान चाहिए। इनका रूप देखने से भगवान क्यों मिलेगा? किन्तु आदेश था इसलिए चिन्तन के आधे समय तक महाराजजी के रूप को देखने का प्रयास करते और उतना ही भगवान श्रीकृष्ण के विराट् स्वरूप

का ध्यान उस चित्र के अनुसार करते, जिसे हम अपने साथ ले गये थे। यह क्रम लगभग ढाई वर्ष तक चलता रहा। महाराजजी के अनुभवी प्रवेश के पश्चात् ही उस विराट् स्वरूप के प्रति मोह समाप्त हुआ। क्रमशः महाराजजी का रूप स्थायित्व लेने लगा, भीतर से महाराजजी बोलने-बताने लगे। वैसा बाहर देखने को मिलने लगा, तभी मन आश्वस्त हुआ।

आहार- नाम और रूप के साथ ही महाराजजी साधकोपयोगी चर्या के अनुपालन के लिए मुझे उत्साहित करते रहते थे। युक्ताहार-विहार पर महाराजजी बहुत बल देते थे। वे कहते थे कि साधक को एकाहार अर्थात् दिन में एक बार ही भोजन करना चाहिए। दिन में एक बार भोजन कर लेने पर रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन की पूर्ण मात्रा से एक रोटी कम ही खाना चाहिए। पेट खाली रहने से भजन में मन अधिक लगता है। पेट भरा होने से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेर लेता है जिससे साधक भटकशून्य खपतुलेहवास हो जाता है किन्तु भजन नहीं हो पाता है।

महाराजजी जैसा कहते थे, वे स्वयं करते भी थे। उनका आचरण ही उपदेश था। प्रातः नित्यक्रिया से निवृत्त होकर महाराजजी भजन में बैठ जाते थे। उनके साथ ही साधक भी यत्र-तत्र भजन में बैठ जाते थे। लगभग दस बजे महाराजजी भजन से उठते थे। उन्हें स्मरण आता तो बालभोग के रूप में सबको गुड़ की एक भेली दिलाते। बस चाय और स्वल्पाहार के नाम पर इतना ही मिलता था। कदाचित् उन्हें स्मरण न आये तो वह गुड़ भी नहीं मिलता था।

अनुभव- इन्हीं निर्देशों के आलोक में ज्योंही दो-ढाई महीने व्यतीत हुए, अनुभव दिखाई देने लगे। वस्तुतः पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाले भजन की शुरुआत अनुभव जागृत होने के पश्चात् ही है। इसके पूर्व का भजन प्रवेशिका के लिए प्रयास है। अनुभव का अर्थ होता है- अन अर्थात् अतीत और भव है संसार, अर्थात् भव से अतीत करनेवाली विशेष जागृति। जिस परमात्मा की हमें चाह है, वह हमारे आत्मा से अभिन्न होकर जागृत हो जाय और हमारा मार्गदर्शन करने लगे। यह जागृति तत्त्वदर्शी सद्गुरु द्वारा ही सम्भव है। अन्य कोई तरीका नहीं है। ध्यान में आनेवाला गुरु महाराजजी का रूप ही साधक को प्रत्येक श्वास पर सुझाव देते, सम्भालते हुए चलाता है। **'जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहि जेहिं सन्ता।।'** ब्रह्म तो अखण्ड है, अनन्त है। कण-कण में व्याप्त है। इसे पकड़े कहाँ से? गोस्वामीजी कहते हैं-अनुभव के द्वारा वह गम्य है, वहाँ पहुँचा जा सकता है। जो अनुभव के आलोक में भजन करते हैं, वे सन्त हैं। महाराजजी ने कहा- भगवान जब जागृत होते हैं तो इस पेड़ से बोल सकते हैं।

महाराजजी ने अंग-स्पन्दन के अनुभवों पर प्रकाश डाला। दाहिना कान फड़कने से भगवान कहते हैं इसे सुनो, यह वार्ता तुम्हें सुनने योग्य है। बायाँ कान स्पन्दित हो तो भगवान का निर्देश है मत सुनो, इसके सुनने का दुष्परिणाम तुम्हें साधना से भटकना पड़ेगा। इसी प्रकार दायीं आँख फड़के तो शुभदर्शन, बायीं आँख का स्पन्दन अशुभ दर्शन इंगित करता है। दाहिना होंठ फड़के तो बोलो, बायाँ फड़के तो मत बोलो। इसी प्रकार ठोढ़ी क्यों फड़कती है? पाँव क्यों फड़कता है? तलवा क्यों फड़कता है? इत्यादि पचासों संकेतों का निरूपण करते हुए आपने बताया कि इससे आगे अब तुझे भगवान पढ़ायेंगे। मेरा रूप तुम्हारे भीतर से तुम्हें पढ़ाता रहेगा। अनुभव दृश्य के रूप में भी आने लगे। जैसे लहलहाती खेती देखना--पुण्य की वृद्धि तथा गन्ना इत्यादि खड़ी फसल का कटना पुण्य क्षीण होना है। बालों का कटना पुण्य क्षीणता का द्योतक है। इन्हीं अनुभवों से ज्ञात हुआ कि वृत्ति ही बहन है, भक्ति ही माता है, ज्ञान ही पिता है। ये प्रतीकात्मक रूप अनुभव में आते रहते हैं।

अनुभव के संचार की अनन्त धारायें हैं; किन्तु स्थूल रूप में उसके चार भाग हैं- १. स्थूलसुरा सम्बन्धित अनुभव, २. स्वप्नसुरा सम्बन्धित अनुभव, ३. सुषुप्तिसुरा सम्बन्धी अनुभव, ४. समसुरा सम्बन्धी अनुभव। भगवान जब अपनाते हैं तो सदैव साधक की रक्षा में खड़े रहते हैं। तुम सोते रहो, भजन में बैठो अथवा किसी भी परिस्थिति में हो, भगवान वहाँ सदैव साथ हैं।

दाहिने अंग-स्पन्दन को शकुन और बायें अंग-स्पन्दन को अपशकुन मानते हैं। एक सकारात्मक है तो दूसरा निषेधात्मक; किन्तु इन दोनों संकेतों को देनेवाला भगवान ही है। पूज्य महाराजजी ने बताया कि योगी कभी स्वप्न नहीं देखता। जन्म-जन्मान्तरों के दृश्य अतीत के संस्मरण, वर्तमान में मन की अवस्था, भविष्य का संकेत स्वप्नों में आया करता है। इन संकेतों को समझने में कभी-कभी बुद्धि भी कार्य नहीं करती। ऐसी परिस्थिति में भगवान से सविनय प्रश्न करना चाहिए अथवा गुरु महाराजजी से समाधान करवा लेना चाहिए। ये दोनों अनुभव साधना की आरम्भिक अवस्था में महापुरुषों की टूटी-फूटी सेवा और उनमें श्रद्धा मात्र से जागृत हो जाते हैं। शेष दो अनुभव साधना की उन्नत अवस्था में होते हैं।

तीसरा अनुभव सुषुप्ति सुरा का है। साधना में सुषुप्ति काल वह है जब शरीर जागृत रहे किन्तु मन सुप्त हो जाय। मन शान्त, सम, स्थिर श्वास में प्रवाहित हो जाय अथवा ध्यानस्थ हो जाय उस भजनकाल में भगवान एकाध मिनट के लिए आपको चेतनाशून्य

करके कुछ बता देते हैं। जिस प्रकार शल्य चिकित्सक क्लोरोफार्म सुंघाकर चेतनाशून्य कर, आवश्यक चीर-फाड़कर पुनः होश में ले आता है, उसी प्रकार जब भगवान को कुछ बताना होता है तो भजनकाल में ही एक मिनट के लिए बेहोश करके कुछ दिखा-सुनाकर पुनः सचेत कर देते हैं। सुषुप्तिसुरा का यह अनुभव ध्रुव अकाट्य होता है।

चौथा अनुभव समसुरा सम्बन्धी है। यह परमात्म-स्थित महापुरुष के लिए है। महाराजजी कहते थे, "हो, जैसे टेलिफोन एक्सचेंज में सब कनेक्शन धड़ाधड़ काम करते हैं वैसे ही तरह-तरह की परिस्थितियाँ, साधकों की गतिविधियाँ मैं बैठे-बैठे देखता, मारता- पीटता उन्हें व्यवस्थित करता जाता हूँ। ऐसे महापुरुष को भगवान खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, लोगों से बातें करते किसी भी समय, सोते-जागते हर परिस्थिति में, अपना निर्णय देते रहते हैं। इन अनुभवों में आकाशवाणियों का भी समावेश है।

'तुलसिदास (मन) बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।' ***(विनय०, पद ८९)*** मन तभी वश में होता है जब प्रेरक के रूप में स्वयं सद्गुरु सार-संभार करने लगे। इसके बिना साधक नहीं समझ पाता कि मैं कब सही कर रहा हूँ और कब गलत कर रहा हूँ। **'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ।।'** ***(मानस, ७/४८/५)*** प्रायः लोग कहते हैं कि हमने बहुत विचार करके विकारों को हटाया। विश्लेषण करते-करते विकारों के तह तक पहुँच गये। विशेष दृष्टि से देखा। जैसे काम विकार आया तो हमने चिन्तन किया कि रूप क्षणभंगुर है। विषयासक्ति क्षणिक पागलपन है। हमने देखा और उसे अपने से अलग कर दिया। शान्त होकर बैठ गये किन्तु यह कोई तरीका नहीं है; क्योंकि सारी योजनाएँ तो मन बना रहा है। **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** ***(मानस, ३/१४/३)***- अपने मन से लिया गया प्रत्येक निर्णय माया के अन्तर्गत है।

ब्रह्मविद्या- इसी तारतम्य में ब्रह्मविद्या, मन को साधना की परिधि में बाँधकर रखने की कुञ्जी है। साधनाकाल में जितने भी अनुभव आते हैं, उन सबको समझने में यह सहायक है।

योग-साधना में नाम, रूप और ब्रह्मविद्या का सर्वोपरि स्थान है किन्तु ब्रह्मविद्या अधिकारी के लिए है। इसी परिप्रेक्ष्य में भजन की जागृति के पश्चात् महाराजजी ने मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, जिसमें रामायण की कथावस्तु का आध्यात्मिक रूपक प्रस्तुत किया गया था। यह विद्या अन्तःकरण की आसुरी तथा दैवी वृत्तियों का चित्रण है। जो

साधक एक ही बार में इसे याद कर ले, वह सर्वोपरि है। फिर भी आरम्भ के दस महीने तक हम इसे हृदयंगम न कर सके; किन्तु महाराजजी के निरन्तर निर्देशन पर हमने इसे याद करके एक वरिष्ठ सन्त को सुना दिया। उन्होंने कहा- रटने से क्या होगा? यह तब सार्थक है जब यह अन्तःकरण की वृत्तियों में ढल जाय। वैसा दृश्य भीतर दिखाई पड़ने लगे। एक नयी उलझन हमारे सामने खड़ी हो गयी।

महाराजजी ने कहा, "देखो, **'जुगुति वेधि पुनि पोइअहि, रामचरित वर ताग। पहिरहि सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग।।'** *(मानस, १/११)* राम के चरित्रों को युक्तिपूर्वक वेधकर अर्थात् इसका आशय यह है, इसका अर्थ यह है- इस प्रकार वेधकर, स्मृति के धागे में पिरोकर पहन लो। अभ्यास करो, मनन करो। हमने तो अभी सामान्य रूपरेखा दी है। विस्तार से तुम्हारे हृदय में मैं पढ़ाऊँगा। **'गुरोर्मौन व्याख्यानं छिन्नते सर्वसंशयम्।'** गुरु मौन व्याख्यान हृदय से देते हैं, जिससे सारे संदेह मिट जाते हैं। अब इसे चिन्तन द्वारा सूक्ष्म करना, विस्तृत करना तुम्हारा कार्य है। प्रतिदिन इसकी एक माला, एक आवृत्ति अवश्य किया करो।" हम इसके चिन्तन में लग गये। आरम्भ में इसमें आधा घण्टा लगता था। जब यह सूक्ष्म होने लगी, क्रमशः समय बढ़ने लगा और यह अभ्यास तीन घंटे तक पहुँच गया। यह समय ऐसे बीत जाय कि समय का भान ही न हो। एक ओर से आरम्भ कर इसका यह आशय, उसका वह अर्थ करते हम दूसरे छोर पर पहुँच जाते थे। बीच में तीन-चार बार इतर संकल्प आकर मन में विक्षोभ उत्पन्न करने का प्रयास करते, किन्तु आने से पूर्व ही जानकारी हो जाया करती थी। उसे काटकर हम तत्क्षण ब्रह्मविद्या में पूर्ववत् लगे रहते थे। नित्य एक माला की आवृत्ति से साधन सूक्ष्म होता जाता है और विस्तार में भटकनेवाले मन को घसीटकर एक ब्रह्म की धारा में प्रवाहित कर देता है। मस्तिष्क में ब्रह्मविद्या का एक-एक प्रसंग अलग-अलग तालिका-जैसा स्पष्ट हो गया। तब अनुभव में आया कि अब तुम्हें ब्रह्मविद्या आ गयी। इसके उपरान्त भी ब्रह्मविद्या चलती रही।

मन तो इतना बड़ा है जितना बड़ा संसार! किन्तु ब्रह्मविद्या के मनन से यह सिमट जाता है। उसी क्षण इस सिमटे हुए मन को श्वास में लगा दो। श्वास में दो-तीन घंटे जब मन और सिमट जाय तो उसी मन को स्वरूप के ध्यान में लगा दो। बस मन लगने लगेगा। मन नहीं लगता, यह शिकायत समाप्त हो जायेगी। भगवान शिव, कागभुशुण्डि और लोमश से लेकर अद्यावधि यह ब्रह्मविद्या गुरु-शिष्य परम्परा में सुरक्षित है। किन्तु यह गोपनीय है, अधिकारी के लिए है।

महाराजजी कहा करते थे, "भजन जागृत होने के पश्चात् हर समय मन के पीछे विचारों का पहरा लगाये रखो। मन को नाम, रूप या ब्रह्मविद्या में ही सदैव लगाकर रखो। यह अन्यत्र क़हीं भटकने न पाये। यदि मन को भजन से छुट्टी दोगे, यह माया में जायेगा। विरह हो, वैराग्य हो, इष्ट के प्रति श्रद्धा हो, हारिल पक्षी की तरह टेक *(हारिल एक पक्षी है। वह एक लकड़ी तोड़कर, पंजे में लेकर जमीन पर उतरता है, दाना चुगता है, वृक्ष पर जाते समय लकड़ी छोड़कर वृक्ष की शाखा पकड़ लेता है, उतरते समय पुनः पंजे में लकड़ी ले लेता है; लकड़ी का साथ कभी नहीं छोड़ता। इसी तरह साधक को भी टेक का पक्का होना चाहिए।)* अर्थात् प्रतिज्ञाबद्धता हो तभी सफलता मिलती है। जिस साधक में विरह नहीं, वैराग्य नहीं, भगवान को पाने की तड़फन नहीं है; उसके लिए भगवान नहीं हैं।"

।। ॐ ।।

भाव–सुमन

:: १ ::

अनुसुइया में श्री परमहंस जी, धूनी रमाये बैठे हैं।
नहिं वर्णन कर सके जुबां, वे दिल को चुराये बैठे हैं।।
सरकार हैं सर्वोपरि सुन्दर, वे ब्रह्म ऋषि कहलाते हैं।
गिरी महेंद्र शिर ऊपर है, चरणों से स्रोत बहाते हैं।।
साथी जिनके बन्दर मछली, आते तीतर के जोड़े हैं।
बाघम्बर बिस्तर है उनका, सत शान्त चदरिया ओढ़े हैं।।
मन्दाकिनि गंगा तट पर, केशरी किलोलें करते हैं।
मृग शावक फुदक रहे निर्भय, करुणा के झरने झरते हैं।।
यह सिद्ध भूमि भी धन्य हुई, जबसे सरकार विहरते हैं।
है ऐसी विकट घनी झाड़ी, अवलोकत दुर्जन डरते हैं।।
धूनी ऊपर हैं दो त्रिशूल, रुद्राक्ष की माला लटके हैं।
जहँ नित डमरू बाजे डिम–डिम, सत्संगी आगम कहते हैं।।
स्वयं परमानन्द, सच्चिदानन्द, अड़ाड़, अखण्ड भगवान ही हैं।
शरणं सत्‌गुरु बलदेव राम, आनन्द सहित शिव बैठे हैं।।

:: २ ::

सन्त मोहिं श्याम स्वरूप लखाओ।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, उर भृगुचरण दिखाओ।।
मरकत–माल, कंबु–कल–ग्रीवा, चरण कमल दरसाओ।
मति अति नीच, ऊँच रुचि चाहौं, सेवक कहँ अपनाओ।।
पीताम्बर अरु शंख चक्र गहि, रज सत तमहिं भगाओ।
विरही परमहंस थकि बैठे, उरझी अब सुरझाओ।।

:: ३ ::

श्री परमहंस स्वामी बिना दिल बेकरारी है।
करूँ मैं किस तरह वर्णन, यती–प्रेमी पुजारी है।।
कलाधर भाल पर झलके, हैं काले केश घुँघराले।
कबूतर के सदृश गर्दन, कमल युग नेत्र भारी हैं।।
बतीसी दाँत की चमके, अधर बिम्बा के फल लाजे।
कीर के तुण्ड सम नासा, विभूति अँग सँवारी है।
भुजा आजानु वृष सीना, उमर चालिस बयालिस की।
कदलि के खम्ब सम जंघा, कटि केहरि विदारी है।।
चरण जिनके बहुत कोमल, मनोहर नख सुधाकर हैं।
कहै बलिराज सुन अंगद, ए सुषमा सबसे न्यारी है।।

:: ४ ::

इस सघन तमिस्रा के नभ में तुम एक मनोरम चाँद खिले।
इस अमाँ निशा अँधियारी में, तुम पूनम बनकर आ निकले।।
हे परम पिता! हे परम इष्ट! हे जग त्राता! हे ब्रह्मनिष्ठ!
हे कर्ता–भर्ता संहर्ता! हे विश्व–विधाता! हे वरिष्ठ!!
वास्तविक सनातन मूल धर्म का आशय तुमने समझाया।
जग पड़ा विश्व, भूले भटकों तक ये नवीन दर्शन पाया।।
भक्तों की रक्षा में तत्पर, प्रतिपल आतम–पथ उन्नेता।
प्रारब्ध झेलते दीनों का, तुम अतुलनीय सुख–दुख जेता।।
अनसुइया जी के राजहंस! उन्नत ललाट पर शशि झलके।
कुन्दन–काया कर्पूर गौर, मृग शावक सी आँखें छलके।।
दुनिया में भक्त कहीं भी हों, सबके संकल्प पकड़ते हो।
तुम अकथनीय लावण्ययुक्त चिन्तन में कभी उभरते हो।।
हे चित् स्वरूप! आनन्द परम! तुमको प्रतिपल भजता हूँ।
यह आवागमन कटे प्रभुवर, प्रार्थना यही करता हूँ।।

मानवता का चरमोत्कर्ष

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न सुख समस्त योनियों को उतनी ही मात्रा में उपलब्ध है, जितना कि हमारे मन की मंजिल। स्त्री-पुरुष का संयोग, माता-पिता का वात्सल्य, राग-द्वेष एवं सम्पूर्ण विषयों का प्रसार समस्त जीवधारियों में समान रूप से है। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति से तुष्टि और प्रतिकूल विषयों का संयोग होते ही अत्यन्त शोक एवं ग्लानि का भाव तो पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है। जैसे कि किसी स्वस्थ बैल की तरफ संयोगवश यदि कोई गीदड़ या कुत्ता बढ़ता है तो वह तत्काल क्रोधित होकर उसे शृंग-प्रहारहेतु दौड़ पड़ता है किन्तु जब वही बैल किसी शेर के सामने पड़ जाता है तो भयातुर होकर अत्यन्त दैन्यावस्था में गिर पड़ता है। यदि इसी हर्ष एवं शोक की परिधि में ही मानव जीवनयापन करता है तो वह पशु-पक्षियों के सदृश ही है।

परमात्मा के साक्षात्कार की स्थितिवाले महापुरुषों ने इस मानव-तन की प्रशस्ति की है। वस्तुतः यह मानव-तन तभी सराहनीय है, जबकि उस परमपुरुष के चरणकमलों में सतत स्नेह हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह अपार्थिव स्नेह किस प्रकार प्रारम्भ हो? वह परमात्म-तत्त्व ईश्वर, सच्चिदानन्द और आदि, अलौकिक शब्दों से व्यक्त होनेवाला अमृतमय परमपुरुष चेतन सत्ता तो सर्वत्र समान रूप से ही व्याप्त है। आकाश, पाताल, सूर्य, चन्द्रमा, यहाँ तक कि प्रकृति के कण-कण में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्वरूप में उसी परमचेतन सत्ता का संचार हो रहा है। मनुष्य की हर प्रक्रियाएँ उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हैं। उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए करोड़ों प्रयत्नशील जिज्ञासुओं में से एकाध उसमें फना हो जाते हैं, ऐसे ही स्थितप्रज्ञ महापुरुषों ने समय-समय पर उस विश्वव्यापी सत्ता को खोजने की अनुपम युक्ति का दिग्दर्शन कराया है। जिस कार्य की पूर्ति के लिए उन्होंने इस पार्थिव शरीर को धारण किया, उसकी पूर्ति कर लेने के उपरान्त उस परम पावन रहनी में स्थूल शरीर का सम्बन्ध छोड़ गये। कालान्तर में उन महापुरुषों के पश्चात् उन्हीं के सत्प्रेरित शब्दों के ऊपर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों का जाल बिछ गया, जो एक भ्रान्तिपूर्ण दलदल बन गया।

सत्यपथ के आभासहेतु उस परमप्रभु का अन्वेषण परम आवश्यक है किन्तु 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की उक्ति को चरितार्थ करनेवाले हमारे बहुत से भाई चलने में श्रम तो करते हैं परन्तु पहुँचते नहीं, इसलिए हम सत्य को किधर से खोजें? उसके लिए

थोड़ी-सी प्रेरणा इस कृति से मिलेगी। जैसा कि पूज्य श्री गुरुदेव के शब्दों से स्पष्ट है कि साधन कोई करता नहीं बल्कि महापुरुष ही कराते हैं।

इस कृति में सम्प्रदाय विशेष का समर्थन अथवा खण्डन नहीं किया गया है, क्योंकि परम लक्ष्य से साक्षात्कार करानेवाली पीयूषवर्षी साधनात्मक क्रिया एक ही है। वस्तुतः यदि उस अदृश्य सत्ता की चाह है तो हमें निर्विवाद रूप से उसी प्रयोगात्मक पथ पर चलना पड़ेगा। अपौरुषेय निधि श्री गुरुदेव की अमरवाणी में श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रों एवं उपनिषदों का अध्यात्म-प्रसूत विलक्षण अर्थ प्रस्फुटित होता था परन्तु वह लिपिबद्ध नहीं किया गया; क्योंकि परमपूज्य महाराजजी सदैव यह कहते रहे हैं कि चरमोपलब्धि का गूढ़ रहस्य केवल उपयुक्त अधिकारियों के लिए ही है। वह पारलौकिक वस्तु तक पहुँचकर ही रहेगा।

चेतावनी व संस्कार सृजन के लिए दर्श-पर्श एवं पूछे गये प्रश्नों के उत्तर ही अन्य परिस्थितिवाले लोगों के लिए पर्याप्त हैं। उदाहरणार्थ यदि वैज्ञानिक अन्वेषण या साहित्यिक शोध-कार्य की विषय-वस्तु से सम्बन्धित कोई उच्चस्तरीय पुस्तक किसी प्रारम्भिक स्तर के छात्र को अध्ययनार्थ दे दी जाय तो क्या वह उसका महत्त्व समझ सकता है?

हाँ, कालान्तर में वही प्राथमिक स्तर का छात्र क्रमागत अध्ययनपटुता के विकासोपरान्त उस योग्यता को प्राप्त करेगा। अतः इसको छोटी बात नहीं समझना चाहिए। क्षमतोपलब्धि के बाद उपयुक्त स्तर मिलता ही है। यथा-

गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

(मानस, १/१०६/२)

यदि वस्तुतः कोई अधिकारी है तो उसके लिए कोई दुराव नहीं है। ईश्वर के लिए जिज्ञासु व परम उत्कण्ठावाला व्यक्ति ही इस पथ पर चलने योग्य है। भगवद्-भक्ति के अतिरिक्त आवागमन से छुटकारा पाना असम्भव है। यथा-

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ विषान।।

(मानस, ७/७८ क)

यदि कोई भगवद्-भजन के बिना कल्याण (मोक्ष) चाहता है तो ज्ञानी होने पर भी वह पशु है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके पास पूँछ नहीं है। अतः भजन में सन्देह होना अपनी ही हत्या है। भजन की यथार्थता पर सन्दिग्ध भाव जागृत होते ही प्रत्याशी परावर्त होकर दूसरे के ऊपर दोषारोपण करना प्रारम्भ कर देता है किन्तु मौलिक रूप

से दूसरों पर दोषारोपण करने से अपना ही अमूल्य समय नष्ट होता है। प्रत्येक प्रयत्नशील के जीवन का सौन्दर्य तो सतत् क्रियाशीलता में ही है जिसकी परिणति परमशान्ति या परमानन्द है।

परमपूज्य श्री परमहंसजी महाराज का पावन वृत्तान्त (जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति) जनमानस के उत्थानहेतु आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। हम इस आशा एवं विश्वास के साथ लेखनी रख रहे हैं कि आप प्राचीन परम्परागत आध्यात्मिक सत्यता एवं परमकल्याण के पथ को समझने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे।

अन्त में हार्दिक कामना प्रगट करते हुए उन्हीं महापुरुष सद्गुरु से प्रार्थना है कि समस्त प्रयत्नशील प्राणियों के ब्रह्मोन्मुखी प्रयास को सफल बनाने की कृपा करें।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

आद्योपान्त सम्पूर्ण योग–साधन–नाम, ध्यान, आहार, ब्रह्मविद्या का चिन्तन, यम–नियमों की जानकारी, उनका अनुष्ठान अनुभव जागृति के बिना व्यर्थ है किन्तु अनुभव की वह जागृति सर्वज्ञ सद्‌गुरु के बिना नहीं होती। अनुभव वह विशेष जागृति है जिसमें जिस परमात्मा की आपको चाह है वही परमात्मा आपके हृदय से रथी हो जाता है और सोते–जागते हर श्वास पर आपका मार्ग–दर्शन करने लगता है।

–स्वामी अड़गड़ानन्द

निवेदन

परमात्मा की जागृति, उनका अवतरण एवं उनसे निःसृत वाणी के प्रसारण का एकमात्र माध्यम महापुरुष ही हैं। इसी तथ्य को दृष्टिगत रख पूज्य परमहंस महाराज जी का लिपिबद्ध पावन जीवन वृत्तान्त जनमानस के उत्थान-हेतु सेवाभाव से प्रकाशित है।

इस कृति में परमहंस महाराजजी का आदर्श जीवन, आश्चर्यजनक घटनाएँ, आत्मानुभूति के चरमोत्कर्ष पर आसीन करानेवाली उनकी अमरवाणी बारहमासी, सदुपदेशों की झलकियाँ, लोकेतर शक्तियाँ एवं विद्या का संकलन है। जिसके माध्यम से जीवन-पथ पर चलनेवाले भाविकों का पथ-प्रदर्शन एवं हृदयंगम करने से सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा।

यह कृति प्राचीन परम्परागत आध्यात्मिक सत्य एवं परमकल्याण के पथ को समझाने का पूरा प्रयास है। अतः सत्य को कैसे और किधर से खोजा जाय, इसके लिए सम्यक् प्रेरणा इस कृति से आप अवश्य ग्रहण करेंगे।

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द जी आश्रम ट्रस्ट

२१ए, पहला महला, डॉ. आत्माराम रांगणेकर मार्ग, व्रज मंडल हॉल के ऊपर,
गिरगाँव चोपाटी, मुम्बई - ४०० ००७, भारत
फोन - (०२२) ६६५५५३०० ● फैक्स - (०९१-२२) २३६८३१०९,
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com ● वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com